श्री महावीर ग्रन्थमाला का २० वां पुष्प

पंडित चैनसुखदास न्यायतीर्थ

स्मृति ग्रन्थ

प्रकाशक :

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी

महावीर भवन, एस. एम. एस. हाईवे, जयपुर

सम्पादक मण्डल
पं० मिलापचंद शास्त्री

डा० कमलचंद सौगाणी

डा० कस्तूरचंद कासलीवाल

प्रबन्ध सम्पादक
ज्ञानचंद्र खिन्दूका

प्रकाशन तिथि : २५ जनवरी सन् १९७९

मूल्य : चालीस रुपये

प्राप्ति स्थान :

साहित्य शोध विभाग
दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी
महावीर भवन, एस एम एस हाईवे, जयपुर



मुद्रक
मनोज प्रिन्टर्स
गोदीको का रास्ता, किशनपोल बाजार,
जयपुर–३०२००३

प्रकाशकीय



पडित चैनसुखदास स्मृति ग्रंथ को पाठकों के हाथो मे देते हुए हमे अत्यधिक प्रसन्नता है। पडितजी सा० राजस्थान के ही नही किन्तु समस्त देश के समादृत विद्वान थे। वे साहित्य एव समाजसेवी थे। उन्होने देश एव समाज को एक नयी दिशा प्रदान की थी, यही नही युवा पीढी को उनसे सतत जागरूक रहने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी। अनेको के वे सबल थे और अनेको को उनसे मार्ग-दर्शन प्राप्त होता रहता था। कृशकाय होने पर भी वे अत्यधिक मानोबल वाले व्यक्ति थे। उनका साधु के समान जीवन था तथा गृहस्थी मे रहते हुये भी वे सन्त कहे जाने योग्य थे। उनकी विभिन्न सेवाओ के प्रति स्मृति ग्रंथ के प्रथम खण्ड मे विभिन्न विद्वानो, समाजसेवियो एवं राजनेताओ ने जो भावभीनी श्रद्धाञ्जलिया समर्पित की हैं उनसे उनके महान् व्यक्तित्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

पडितजी सा० का एव श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र के मंत्री एवं अन्य सभी कार्यकर्त्ताओ का सम्बन्ध अत्यधिक मधुर एव सौहार्दपूर्ण रहा। पडितजी द्वारा समय समय पर दिये गये अमूल्य सुझावो एव सतपरामर्श का खूब उपयोग किया जाता रहा। श्री महावीर क्षेत्र के तत्कालीन मत्री श्री रामचन्द्रजी खिन्दूका, सेठ बधीचन्दजी गंगवाल एवं श्री केशरलालजी बख्शी का उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। क्षेत्र द्वारा संचालित साहित्य शोध विभाग, छात्रवृत्ति फण्ड एव असहाय सहायता फण्ड के स्थापना मे पडितजी की सतत् प्रेरणा ने अत्यधिक योगदान दिया। यही कारण है कि उनके निधन पर आयोजित श्री महावीर क्षेत्र की प्रबन्धकारिणी कमेटी की शोक सभा मे पंडित जी की स्मृति मे एक स्मृति ग्रंथ प्रकाशन का तत्काल निर्णय लिया गया और उसी निर्णयानुसार यह स्मृति ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है।

स्मृति ग्रंथ को चार भागो मे विभक्त किया गया है। इसके प्रथम खण्ड मे पडितजी के जीवन पर विस्तृत प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है उनके जीवन का अध्ययन करने से पता चलता है कि उन्होने जिन सामाजिक

आन्दोलनो का नेतृत्व किया था वे आज सामाजिक इतिहास के बहुमूल्य पृष्ठ बन चुके है। स्मृति ग्रंथ के शेष तीन खण्डो मे जैनधर्म, दर्शन, इतिहास एव पुरातत्व से सम्बन्धित लेखो को स्थान दिया गया है।

यह स्मृति ग्रंथ महावीर ग्रथमाला का २०वा पुष्प है। इसके पूर्व १९ ग्रथो का प्रकाशन हो चुका है जिनकी विस्तृत सूची इसी स्मृति ग्रथ के पिछले भाग पर प्रकाशित है। इन पुस्तको मे राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो की ग्रथ सूची के पाच भाग जिनमे ४० हजार से भी अधिक हस्तलिखित ग्रथो का विवरण दिया गया है, उल्लेखनीय हैं। विश्वविद्यालयो मे प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रश, राजस्थानी एव हिन्दी साहित्य मे एव विशेषत जैन साहित्य के विभिन्न पक्षो पर शोध कार्य करने वाले विद्यार्थियो के लिये ये ग्रन्थ सूचिया वरदान सिद्ध हुई हैं। अनुसन्धान के क्षेत्र मे वर्तमान मे जो गतिशीलता दिखलायी दे रही है उसमे क्षेत्र द्वारा प्रकाशित साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ग्रथ सूचियो के अतिरिक्त हिन्दी पद संग्रह, राजस्थान के जैन सत, जैन शोध और समीक्षा, महाकवि दौलतराम कासलीवाल व्यक्तित्व एव कृतित्व, जिणदत्त-चरित एव प्रद्युम्नचरित जैसी कृतिया उल्लेखनीय हैं जिनके प्रकाशन से न केवल साहित्यिक क्षेत्र गौरवान्वित हुआ है अपितु साहित्य जगत् के अज्ञात एव अब तक उपेक्षित साहित्य सेवियो को भी प्रकाश मे लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है। इसी तरह प्रस्तुत स्मृति ग्रथ से पडितजी के जीवन एव साधना का मूल्याकन तो हो ही सकेगा किन्तु वह भविष्य मे विद्वानो तथा समाज सेवियो के लिये दीपस्तम्भ का भी कार्य करेगा ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है।

ग्रंथ के प्रवन्ध सम्पादक एव सम्पादक मडल के तीनो विद्वानो का मैं क्षेत्र कमेटी की ओर से अत्यधिक आभारी हूँ जिन्होने स्मृति ग्रथ के सम्पादन मे हमे पूर्ण सहयोग प्रदान किया। मै उन सभी विद्वान् लेखको का भी आभारी हूँ जिन्होने अपने महत्वपूर्ण लेखो को इस स्मृति ग्रन्थ मे प्रकाशनार्थ भेज कर इसके प्रकाशन मे सहयोग दिया।

अन्त मे मै पडितजी साहव के महान् व्यक्तित्व के प्रति हार्दिक श्रद्धाजलि समर्पित करता हूँ तथा आशा करता हू कि हम उनके बतलाये हुये मार्ग पर निरन्तर बढते हुये उनके स्वप्नो को साकार कर सकेंगे।

मोहनलाल काला
अध्यक्ष

प्रबन्ध सम्पादक की ओर से



पंडित चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ का समूचा जीवन अध्य-यन, मनन, अध्यापन एव साहित्यसृजन मे ही व्यतीत हुआ। 22 जनवरी 1899 को जन्म लेने के बाद पंडितजी का बचपन एव कैशोर्य अत्यन्त कठिन परिस्थितियो मे व्यतीत हुआ था लेकिन स्थित-प्रज्ञ के समान पडितजो ने इन सब ही विघ्नबाधाओं को सहन किया और अपने जीवन को सफलता और सिद्धिकी ऊंचाइयों तक ले गये। वे ऐसे यशस्वी विद्वान् थे जिन्हे सासारिक वेश मे रहते हुये भी ऋषि और तपस्वी का मान प्राप्त था। वे जन्म जात शिक्षक थे जो अध्यापन के लिये जीये न कि अध्यापन द्वारा। हिन्दी और प्राकृत के साथ सस्कृत साहित्य पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। वे जितने उत्कृष्ट वक्ता और व्याख्याता थे उतने सिद्धहस्त लेखक व कुशल सम्पादक भी थे। "जैन दर्शनसार", "भावना विवेक" और "पावन प्रवाह जैसी सस्कृत की मौलिक एव स्वतत्र रचनाओ मे उनके प्रगाढ पाडित्य के स्पष्ट दर्शन होते है। इसके साथ ही राष्ट्र और समाज मे व्याप्त बुराइयो, कुरीतियो और रुढियो के वे तीव्र आलोचक थे। उनने कितनी ही सामाजिक सस्थाओ को अपनी प्रेरणा और आशीर्वाद से सफल बनाया।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा सचालित साहित्यिक व धार्मिक गतिविधियों के विकास मे स्वर्गीय पडितजी का विशेष योग-दान रहा है। मेधावी किन्तु आर्थिक दृष्टि से परेशान विद्यार्थियो को छात्रवृत्ति देने, विधवाओं की सहायता करने एव वृद्ध व असमर्थ व्यक्तियो को अनुदान देने आदि की योजनाओ को क्षेत्र द्वारा प्रारम्भ करने में पडित साहब का बड़ा हाथ रहा है साहित्य प्रकाशन के कार्य मे क्षेत्र को पडितजी ने जीवन पर्यन्त बहुमूल्य निर्देशन दिया। पडितजी के प्रति मेरे पिताजी श्री स्वर्गीय

रामचन्द्रजी खिन्दूका जिनके मत्रित्व काल मे क्षेत्र से ये योजनाए प्रारम्भ हुई, पडित साहब मे बडी श्रद्धा रखते थे। क्षेत्र के कार्यों मे पडित साहब का सद्परामर्श व प्रेरणा उन्हे सदैव मिलती रही यदि मैं यह कहू कि पडितजी के प्रति श्रद्धा मुझे मेरे पिताजी से विरासत मे मिली तो भी अत्युक्तिनही होगी और मैं इस सम्बध मे अपने को भाग्यशाली मानता हू कि मुझे पडित साहब का भरपूर दुलार और विश्वास मिला। २५ जनवरी की रात्रि को मृत्यु के समय मैं इस महामानव के चरणो मे उपस्थित था।

पंडितजी के निधन के पश्चात् २६ जनवरी की शोकसभा मे दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महवीरजी ने क्षेत्रहितैषी इस मूर्धन्य विद्वान् के प्रति अति कृतज्ञतापूर्वक श्रद्धाजलि सर्मपित की और उनकी स्मृति मे स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित करने का निर्णय लिया—प्रस्तुत ग्रन्थ उसी निर्णय का परिणाम है। कुछ विशेष कारणो से ग्र न्थ के प्रकाशन मे पर्याप्त विलम्ब हुआ है जिनके लिये हम क्षमा प्रार्थी है।

इस ग्रन्थ को चार खडो मे विभाजित किया गया है। प्रथम खड मे स्वर्गीय पडितजी के जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर सामग्री है डाक्टर कस्तूरचन्दजी कासलीवाल ने बडे परिश्रम से पडितजी के जीवन पर विस्तृत लेख लिखा है जिसमे उनके जीवन के विभिन्न पक्षो पर प्रकाश डाला गया है और उनकी कृतियो का मूल्याकन किया गया है। राष्ट्र के विभिन्न विद्वानो एव विशिष्ट व्यक्तियो ने पडितजी को जो श्रद्धा सुमन प्रस्तुत किये है वे इस ही खड मे सग्रहीत है।

स्मृति ग्र थ के शेष तीन खडो मे धर्म एव दर्शन, साहित्य एव सस्कृति, पुरातत्व एव इतिहास सम्बन्धी लेख है—ये सब ही विषय पडितजी को अत्यन्त प्रिय थे और वे उनको लेख, व्याख्यान आदि मे प्राय समाविष्ट करते रहते थे।

स्मृति ग्रन्थ के संपादन मे डा० कमलचन्द सोगाणी उदयपुर, डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल एवं पडित मिलापचन्दजी शास्त्री ने अनवरत परिश्रम किया है जिसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। इनके कुशल और अनुभवी संपादन मे ही यह संकलन पूरा हो सका है।

मैं उन सब ही विद्वानो और लेखकों का भी अत्यन्त कृतज्ञ हूं जिनने अपनी श्रद्धाञ्जलिया व सारगर्भित लेख भेजकर इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

मै उन लेखको से भी क्षमाप्रार्थी हू जिनके लेखो को हम किन्ही कारणो से इस स्मृति ग्रन्थ मे स्थान देने में असमर्थ रहे है। दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी की प्रबन्धकारिणी कमेटी का आभार भी हम नही भूल सकते जिसने इस ग्रन्थ की महत्ता का मूल्याकन कर इसके प्रकाशन का सारा भार स्वयं वहन किया है।

ज्ञानचन्द्र खिन्दका

सम्पादकीय



जयपुर को अपने स्थापना काल से ही जैन संस्कृति का प्रमुख नगर रहने का सौभाग्य प्राप्त है। जैन समाज की संख्या एव प्रभुत्व की दृष्टि से इसे जैनपुरी कहा जाता है। यहा के शासन मे जैनो का गत २०० वर्षों से वर्चस्व रहा और वे शासन के सभी उच्च पदो पर जैन कार्य करते रहे है। साहित्यिक क्षेत्र मे यहा सैकडो जैन विद्वान् हुए जिन्होने साहित्य के माध्यम से देश मे एक नयी साहित्यिक क्राति को जन्म दिया। इस दृष्टि से महाकवि दौलतराम, महापडित टोडरमल, पं० जयचन्द्र छाबडा, बख्तराम साह, सदासुख कासलीवाल के नाम उल्लेखनीय हैं जो आज भी अखिल भारतीय स्तर के विद्वान् माने जाते हैं। यहा के विशाल और कलापूर्ण जैन मन्दिर जयपुर जैन समाज के प्राचीन वैभव का स्मरण कराते हैं। मन्दिरो की सख्या की दृष्टि के यहा का स्थान सर्वोपरि है। सामाजिक क्षेत्र मे भी जयपुर जैन समाज ने अपने विद्वानो, दीवानो एव सामाजिक कार्यकर्त्ताओ के माध्यम से सारे देश को प्रशस्त नेतृत्व दिया। इसीलिए आज भी जयपुर जैन समाज का नाम बडे गौरव से लिया जाता है।

प० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ भी महापडित टोडरमल, दौलतराम, जयचन्द छाबडा की कोटि के विद्वान थे जिनका समस्त जीवन समाज एव साहित्य सेवा मे समर्पित रहा, जिन्होने देश एव समाज के हितो को सर्वोपरि माना तथा अहर्निश इसी धुन मे जीते रहे। यही कारण है कि पंडितजी का नाम लेते ही जयपुर के नागरिक आज भी श्रद्धावनत हो जाते हैं तथा उनके गुणो की प्रशसा करते नही थकते। पडितजी सा० अत्यधिक प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे तथा ओजस्वी वक्ता, कुशल लेखक, आशुकवि, वरिष्ठ पत्रकार एवं सम्पादक सभी कुछ थे। वे दार्शनिक विद्वान् थे, सस्कृत एवं प्राकृत के प्रकाड ज्ञाता थे तथा सरस्वती के वरद पुत्र थे। किसी विद्वान् मे इतने अधिक गुण एक साथ मिलना सहज सभव नही है किन्तु पंडित जी सा० ऐसे सर्व गुण सम्पन्न थे जिसकी किसी से तुलना करना उनके गुणो की उपेक्षा करना है। तीस वर्षों से भी अधिक समय तक उनका जयपुर जैन समाज पर पूर्णतः

प्रभाव रहा और समाज की प्रत्येक गतिविधि उनके आशीर्वाद के साथ सम्पन्न हुई। इन वर्षों मे जयपुर जैन समाज को जानने के लिए प चैनसुखदासजी के पास जाना अनिवार्य माना जाता रहा।

स्मृति ग्रन्थ के तीनो सम्पादको को भी उनके शिष्य होने का सौभाग्य प्राप्त है। प्रतिवर्ष जब उनकी जन्म तिथि आती तो सामूहिक रूप से उनका शिष्य परिवार उनके चरणो मे श्रद्धा पुष्प समर्पित करने पहुचते। उसी समय उनके अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन की बात चलती। पडित जी सा० को यह बात मालूम पडने पर हमे बुलाकर उस पर निषेधाज्ञा प्रसारित कर देते। उस समय उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करने के अतिरिक्त हमारे पास कोई चारा नही बचता था। लेकिन फिर भी उनकी जन्म तिथि के दिन उनका शिष्य परिवार एव जयपुर नगर के सैकडो नागरिक उनके यशस्वी एव दीर्घ जीवन की कामना करते। यह क्रम १५-२० वर्षों तक बराबर चलता रहा। २२ जनवरी १९६९ को उनकी ७० वी जन्म तिथि उनकी रुग्णावस्था मे ही मनायी गयी तथा उनके शीघ्र ही आरोग्य लाभ की प्रार्थना की गयी। वे साधारण रूप से बीमार थे तथा किसी को भी यह आशका नही थी कि यह उनका अन्तिम जन्म दिन होगा। दिनाक २६ जनवरी १९६९ लगते ही वे सदा के लिए इस देह से मुक्ति पा गये। इसलिए उनका अभिनन्दन ग्रन्थ निकालने की कहानी अधूरी रह गयी तथा स्मृति ग्रन्थ ने अभिनन्दन ग्रन्थ का स्थान ले लिया।

प्रस्तुत स्मृति ग्रन्थ श्री महावीर क्षेत्र की ओर से प्रकाशित हो रहा है। इस क्षेत्र के विकास मे पडित जी सा० को कितनी रुचि थी यह इस ग्रन्थ के प्रकाशकीय तथा प्रबन्ध सम्पादकीय वक्तव्य से जाना जा सकता है। किसी विद्वान् की स्मृति मे देश के सर्वाधिक लोक प्रिय अतिशय क्षेत्र की ओर से स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित होना स्वय उस विद्वान् की महत्ता को प्रकट करता है। यद्यपि स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन का प्रमुख दायित्व उनके शिष्यो एव प्रशसको का माना जाता है। और वे यह चाहते भी हैं किन्तु इसके प्रकाशन मे श्रीमहावीर अतिशय क्षेत्र की प्रबन्ध कारिणी समिति ने तत्काल निर्णय लेकर जिस दायित्व का वहन किया है वह सर्वथा प्रशसनीय है।

स्मृति ग्रन्थ को चार खण्डो मे विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से सम्बन्धित है। उसमे देश के सम्मान्य विद्वानो समाज सेवियो तथा नेताओ ने पडित जी के अनिन्द्य एव पावन जीवन पर जो कुसुमाञ्जलि समार्पित की है वह उनके महान् व्यक्तित्व का परिचायक है। इन श्रद्धाजलियो एवं संस्मरणो मे पडित जी का अपने शिष्यो के प्रति सहज स्नेह उनके हितो के प्रति अहर्निश, जागरूकता, दुःखी और अभाव ग्रस्त

लोगो को देखकर उनकी सहायता के लिए चिन्तित होना, असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए उनका सहज सुलभ होना आदि कितने ही गुणो का परिचय प्राप्त हो सकता है। स्मृति ग्रन्थ के सम्पादक डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल ने उनके सम्पूर्ण जीवन एव साहित्य पर विस्तृत प्रकाश डाला है वह उनकी जीवन गाथा को जानने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि उनके सम्बन्ध मे इससे भी अधिक लिखा जा सकता था लेकिन स्थानाभाव के कारण वह सम्भव नही हो सका।

स्मृति ग्रंथ के शेष तीन खण्डो में धर्म, दर्शन, साहित्य, संस्कृति, इतिहास एव पुरातत्व विषयक लेखो को स्थान दिया गया है। इन लेखो की सख्या ४६ है जो देश के विभिन्न मूर्धन्य विद्वानो द्वारा लिखे हुए है। इन लेखो के आधार पर जैन धर्म एव दर्शन का सभी दृष्टियो से सामान्य ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और उसके महत्व को समझा जा सकता है एक ही ग्रन्थ मे हमने अधिक से अधिक उपयोगी लेखो को स्थान देने का प्रयास किया गया है। समाज मे महिला लेखको की सख्या भी बढ रही है और इस स्मृति ग्रन्थ मे ऐसी ही कुछ विदुषी महिलाओ के निबन्धो का प्रकाशन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अन्त मे हम विद्वान् लेखको के आभारी है जिन्होंने अपने महत्वपूर्ण लेख भेज कर स्मृति ग्रंथ के प्रकाशन मे सहयोग दिया। क्योकि यदि उनका सहयोग प्राप्त नही होता तो स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन की दिशा मे एक कदम भी आगे बढना संभव नही था।

हम क्षेत्र की प्रबन्धकारिणी कमेटी के सभी सदस्यो, अध्यक्ष श्री मोहनलालजी काला, प्रबन्ध सम्पादक श्री ज्ञानचन्द्रजी खिन्दूका के भी आभारी हैं जिन्होने स्मृति ग्रन्थ को प्रकाशित करवाकर एक अविस्मरणीय कार्य का सम्पादन किया और जिसके लिए वर्तमान पीढ़ी ही नही अपितु भावी पीढी भी सदा आभारी रहेगी।

मिलापचन्द शास्त्री

कमलचन्द सौगानी

कस्तूरचन्द कासलीवाल

विषयानुक्रम

खण्ड– १

श्रद्धाञ्जलियाँ, जीवन, व्यक्तित्व, कृतित्व एवं संस्मरण

१. मगल मन्त्र

२. गुरुदेव — अनूपचन्द न्यायतीर्थ — १

३ श्रद्धाञ्जलियाँ

आचार्य विमलसागर जी	२
मुनि श्री विद्यानन्द जी	२
क्षु. शीतलसागरजी	२
भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री वराह वेंकट गिरि	३
श्री हरिदेवजी जोशी मुख्यमन्त्री राजस्थान	३
श्री प्रकाशचन्द्रजी सेठी मुख्यमन्त्री मध्यप्रदेश	३
श्री मोहनलाल सुखाडिया राज्यपाल मैसूर	३–४
श्री शिवचरणजी माथुर खाद्य एवं रसद मंत्री, राजस्थान	४
श्री भक्तदर्शन भूतपूर्व शिक्षामंत्री भारत सरकार	४
श्री साहू शातिप्रसादजी जैन	५
प० हीरालाल शास्त्री संस्थापक वनस्थली विद्यापीठ	५
डा. पन्नालालजी साहित्याचार्य	६
प. प्रकाश हितैषी शास्त्री	६
श्री बा. जुगमन्दिरदासजी जैन कलकत्ता	७
श्री सरदार हुकमसिंहजी भूतपूर्व राज्यपाल राजस्थान	७

		श्री मूलचन्दजी पाटणी, बम्बई	७
		डा. नरेन्द्र भनावत, जयपुर	७–८
		डा वासुदेवसिंह काशी विद्यापीठ वाराणसी	८
		श्री रिषभदासजी राका	८
		श्री अभयकुमारजी जैन सम्पादक नवभारत टाइम्स, देहली	८–९
		श्री प्रो. रामसिंह तोमर शान्तिनिकेतन	९
		श्री परसादीलालजी पाटनी देहली	९
		श्री ज्ञानचन्द्रजी स्वतन्त्र	९
		श्रीमती चन्दाबाईजी आरा	९–१०
		श्री राजकुमारसिंहजी इन्दौर	१०
		श्री मोतीलालजी जोशी	१०
		श्री प्रेमचन्दजी जैन देहली	१०
		डा ज्योतिप्रसादजी जैन लखनऊ	१०
		डा नेमिचन्दजी शास्त्री आगरा	११
		श्री वाचस्पति उपाध्याय वाराणसी	११
		प० बाबूलालजी जैन जमादार	११
		श्री यशपालजी जैन देहली	११
		डा. राजारामजी जैन आरा	११
		श्री रामप्रसादजी लड्ढा	११
		डा सूर्यदेव पाण्डेय मुजफ्फरपुर	११
		डा कैलाशचन्दजी जैन उज्जैन	१२
		श्री रामचन्द्र जैन गगानगर	१२
		श्री सत्यभक्त दरबारी लाल वर्धा	१२
		श्री फतहचन्दजी सेठी अजमेर	१२
		श्री अगरचन्दजी नाहटा बीकानेर	१२
२.	पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ-व्यक्तित्व एव कृतित्व	डा कस्तूरचन्द कासलीवाल	१३–३८
३.	किसी को कैसे प्रोत्साहित किया जाता है	प्रो. भागचन्द जैन 'भागेन्दु'	३९
४.	पं चैनसुखदास जी और कुचामन विद्यालय	प० सत्यन्धर कुमार सेठी उज्जैन	४०–४२
५.	जयपुर मे पडित जी के प्रारम्भिक बीस वर्ष	प भंवरलाल न्यायतीर्थ जयपुर	४३–४४

६.	प्रतिभा के धनी	श्री प. कैलाशचद शास्त्री वाराणसी	
७.	व्यापक और विशिष्ट	श्री रूपनारायण काबरा	४६
८.	एक निरभिमान सहज व्यक्तित्व	श्री महावीर कोटिया, जयपुर	४७
९.	अर्हत प्रवचन एक दृष्टि	डा हरीन्द्र भूषण जैन	४८
१०.	जिनकी स्मृति ही आज हमारा संबल है	प. भवरलाल पोल्याका जैनदर्शनाचार्य	४९
११.	ज्ञानमूर्ति	श्री प्रेमचंद रावंका एम. ए.	५०
१२.	जन्मजात शिक्षक	श्री के. माधवकृष्ण	५१
१३.	बहुमुखी प्रतिभा के धनी	श्री जगन्नाथसिंह मेहता	५२
१४	पं चैनसुखदास ज्ञानी थे	डा. प्रेमसागर जैन बडौत	५३–५४
१५.	जयपुर के श्रीमान् चैनसुखदास तुम्हारी जय हो (कविता)	श्री स्व सुधेश जैन नागौद	५५
१६.	एक दार्शनिक विभूति	श्री प. गोविन्द नारायण शर्मा न्यायाचार्य	५६
१७.	एक अविस्मरणीय प्रसग	डा. दरबारीलाल कोठिया	५७
१८.	प. चैनसुखदास जी-एक संस्मरण	डा. पी. एल भार्गव जयपुर	५८
१९.	सच्ची श्रद्धाञ्जलि	प बंशीधर शास्त्री	५९
२०.	स्मृतियो के दर्शन में पडित जी	डा. देवेन्द्र कुमार शास्त्री नीमच	६०
२१.	प्रौढ विद्वान	श्री सर सेठ भागचद सोनी अजमेर	६१
२२.	एक संस्था एक तीर्थ	डा. गोकुलचन्द्र जैन	६२
२३	आजीवन स्मरणीय	प्रो. अमृतलाल जैनदर्शनाचार्य	६३
२४.	बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व	डा. कैलाशचन्द जैन उज्जैन	६४
२५.	मेरे जीवन निर्माता	श्री सुरज्ञानीचन्द न्यायतीर्थ श्री कपूरचन्द पाटनी	६५
२६.	निर्धन के राम	श्री गजानन्द डेरोलिया	६६
२७.	स्वनाम धन्य पूज्य पडित साहब	श्री सनतकुमार जैन विलाला	६७
२८.	युगनिर्माता	श्री वैद्य फूलचन्द जैन	६८
२९	सामाजिक शक्ति और शोभा के प्रतीक	डा कपूरचन्द जैन	६९
३०.	शोधार्थियो के हितैषी	डा. गंगाराम गर्ग वैद्य प्रभूदयाल कासलीवाल	७०
३१.	विविध गुणो के धनी	श्री घनश्याम गोस्वामी	७१
३२.	Tribute to Pandit Chainsukhdasji	Dr R. M. Kasliwal	72

खण्ड- २

धर्म एवं दर्शन

१.	निश्चय और व्यवहार	डा कमलचन्द सोगाणी उदयपुर	७३–७७
२.	जैन दर्शन मे सर्वज्ञसिद्धि	डा रामजीसिंह भागलपुर	७८–८५
३.	जैन दर्शन मे शब्द प्रमाण	कु हेमलता बोलिया	८६–१००
४.	नय	श्री सिद्धान्ताचार्य प कैलाशचन्द शास्त्री वाराणसी	१०१–११३
५	भारतीय दर्शन मे आत्मा	कुमारी प्रीति जैन एम ए रिसर्च स्कालर जयपुर	११४–१२३
६.	जैन दर्शनसार–परिशीलन	प गुलाबचन्द जैनदर्शनाचार्य जयपुर	१२४–१२७
७	जैन दर्शन मे अवयव समीक्षा	डा दरबारीलाल कोठिया न्यायचार्य	१२८–१३२
८.	परिग्रह परिमाण व्रत और समाजवाद	श्री पूर्णचन्द जैन एम ए शास्त्री	१३३–१४०
९.	जन दर्शन मे स्याद्वाद के अन्तर्गत प्रमाण ज्ञान का विषय	प. मूलचन्द जैन शास्त्री	१४१–१४६
१०	मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियो की दृष्टि मे भेद विज्ञान	डा (श्रीमती) पुष्पलता जैन नागपुर	१४७–१४९
११	जैन धर्म मे मूर्ति पूजा	श्री नीरज जैन सतना	१५०–१५५
12.	Characterstics of Jaina Mystsysm	Dr (miss) Shanti Jain Kota	156-169
१३.	ध्यान द्वारा आत्म सिद्धि	श्री रत्नचन्द्र जैन रत्नेश एम. ए एम. एड लामटा	१६५–१७२
14	Analytical Traatment of Trans-finite Numbers in Dhavala	प्रो. एल सी जैन खडवा	१७३–१८८

खण्ड- ३

साहित्य एव सस्कृति

२५	पुष्पदन्त और सूरदास का कृष्ण लीला चित्रण एक तुलनात्मक अध्ययन	डा. देवेन्द्रकुमार जैन नीमच	१८९–१९४

१६·	मध्यकाल के राजस्थानी जैन काव्यों का वर्गीकरण	डा देव कोठारी उदयपुर	१६५-२०५
१७.	भक्त कवियित्री चम्पादेवी-एक अध्ययन	श्रीमती सुशीलादेवी बाकलीवाल एम. ए जयपुर	२०६-२०८
१८.	अपभ्रंश के जैन प्रेमाख्यान काव्य	डा त्रिलोक पाण्डेय जबलपुर	२०९-२१७
१९.	जैन गुर्जर कवियों की हिन्दी सेवा	डा हरीश गजानन शुक्ल	२१८-२२३
२०	जैन गजल साहित्य एक परिचयात्मक आलेख	डा. भगवतीलाल शर्मा, डूंगरपुर	२२४-२३६
२१	जीवंधर चम्पू:एवं परिशीलन	डा भागचन्द जैन, नागपुर	२३७-२५०
२२.	महापडित टोडरमल	डा हुक्मचन्द भारिल्ल जयपुर	२५१-२५७
२३	महाकवि रइघू कृत एक नवीन उपलब्ध सचित्र रचना सतिणाह चरिउ	डा राजाराम जैन आरा	२५८-२६८
२४.	दोहा छन्द और उसका महत्व	श्री प्रेमचन्द रावकां एम. ए. शि. शास्त्री मनोहरपुर	२६९-२७२
२५.	अभयचन्द्र नाम के गुरु	श्री सत्यनारायण तिवारी	२७३-२७७
२६	आयुर्वेद जगत को राजस्थान के जैन विद्वानों की देन	श्री राजेन्द्र प्रकाश आ. भटनागर उदयपुर	२७८-२९५
२७.	सत्रहवीं शताब्दी की एक महत्वपूर्ण रचना भविसदत्त चरित-कवि श्री बनवारीलाल	डा गजाधरसिह एम ए., पी-एच डी.	२९६-३०३
२८.	हिन्दी के मध्ययुगीन निर्गुण मार्गी ज्ञाना श्रयी कवियो में जैनत्व की झलक	डा राजमल सराफ	३०४-३१०
२९	राष्ट्रीय चरित्र निर्माण मे महावीर की प्रेरणाए	डा० नरेन्द्र भानावत जयपुर	३११-३१४
३०.	महावीर की दृष्टि में वाणिज्य व्यापार की आचार मूलक निष्ठाएं	उदय नागोरी बी ए जैन सि, प्रभाकर	३१५-३२०
३१.	मुद्रित कुमुदचन्द्र प्रकरण एक अन्त परीक्षण	प्रो डा गुलाब चन्द्र चौधरी	३२१-३३६
३२.	प्राकृत साहित्य और लोक सस्कृति	डा प्रेम सुमन जैन उदयपुर	३३७-३३७
३३.	जैन कला मे भारतीय देव प्रीतको का रूपान्तर	श्री गोपी लाल अमर देहली	३३८-३४२

खण्ड– ४

इतिहास एव पुरातत्व

३४.	सराक (श्रावक) संस्कृति और हम	श्री प. बाबूलाल जैन जमादार बडौत	३४३–३४६
३५	जैन साहित्य एवं सस्कृति का केन्द्र राजस्थान	डा कस्तूर चन्द कासलीवाल	३४७–३५३
३६.	नर्मदा घाटी मे जैन संस्कृति का एक अज्ञात केन्द्र	प्रो० भागचन्द जैन भागेन्दु	३५४–३५६
३७	दिल्ली मे जैन मन्दिरो सम्बन्धी महत्वपूर्ण वर्णन	श्री अगरचन्द नाहटा बीकानेर	३५७–३६०
३८	महावीर और श्रेणिक के देहान्त का समय	प मिलाप चन्द कटारिया केकडी	३६१–३६४
३९	ग्वालियर के काष्ठासघी भट्टारक	प० परमानन्द शास्त्री देहली	३६५–३७५
४०	उपर गांव के जैन मन्दिर का अप्रकाशित शिलालेख	श्री रामवल्लभ सोमाणी जयपुर	३७६–३७७
४१.	राजस्थान के प्रमुख जैन तीर्थ	प अनूपचन्द न्यायतीर्थ जयपुर३	७८–३८७
४२	दशभक्त्यादि महाशास्त्र एक अप्रकाशित ग्रन्थ का ऐतिहासिक परिचय	प के भुजवलिजी शास्त्री मूडविद्री	३८८–३९६
४३	प० चैनसुखदास और भावना विवेक	प० मिलापचन्द शास्त्री जयपुर	३९७–४०५
४४.	हिन्दी जैन काव्य में दर्शनिक शब्दावली	कु अरूणलता जैन एम.ए. कायमगज	४०६–४१०
45	Place of Jaina Acharyas and Poets in history of Kannada Language	Dr A N Upadhye Kolhapur	411–416
४६	हरिवशकार जिनसेन की गुरू परम्परा	श्री प्रेम चन्द जैन एम.ए दर्शनाचार्य जयपुर	४१७–४१८

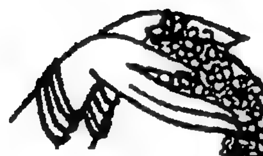


पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

जन्म २२ जनवरी सन् १८९९

स्वर्गवास २६ जनवरी सन् १९६९

खण्ड १



श्रद्धाञ्जलियाँ

जीवन-

व्यक्तित्व एवं कृतित्व

संस्मरण

मंगल मंत्र

णमो अरहंताणं

णमो सिद्धाण

णमो आइरियाणं

णमो उवज्झायाणं

णमो लोए सव्वसाहूणं



गुरुदेव !

जीवन निर्माता, सत्यनिष्ठ

गुरुदेव ! श्रेष्ठ साहित्यकार।

निर्भीक प्रवक्ता, गुणग्राही,

कवि, सफल समीक्षक, पत्रकार

जन-मानस प्रिय, कर्मठ नेता

सुस्तम्भ संस्कृति, अति उदार।

हितमितभाषी, गृह वैरागी

सादर चरणों में नमस्कार ।।

अनूपचन्द न्यायतीर्थ

श्रद्धाञ्जलियां

प० चैनसुखदास जी के निधन से समाज की काफी क्षति हुई है। पडित जी बहुत बडे विद्वान् थे, समाज की एक निधि थे । वे मिलनसार और असमर्थो के सहायक थे। उनके अभाव से सभी को बहुत दुख हुआ है। मेरा उनसे काफी पुराना परिचय था, उनसे घटो बाते हुई हैं। सचमुच ऐसे व्यक्ति बहुत कम देखने मे आते है। उनके गुणो को ग्रहण करना ही उनके शिष्यो की सच्ची श्रद्धाञ्जलि है । दिवगत आत्मा को शान्ति लाभ हो ।

आचार्य विमल सागर

(प्रेषिका–चित्रा बाई जैन)

श्री चैनसुखदास घर में वैरागी

भद्रपरिणामी श्री प० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ अपने समय के जैनदर्शन के उद्भट विद्वान थे । उनमे शास्त्र बोध की अद्भुत प्रतिभा थी । अधीत विषय को हृदयगम कर उसे अपनी विशिष्ट शली मे व्यक्त करना उन्हे खूब आता था। जैन सिद्धान्तो के प्रति उनकी श्रद्धा अविचल थी । उनका स्वतन्त्र चिन्तन तथा अध्ययन प्रौढ कोटि का था । जिस विषय का उन्हे परिज्ञान था, उसमे सशय अथवा भ्रान्ति दोष नही रखते थे। निरन्तर आगम स्वाध्याय उनको प्रिय था। परिग्रहो के प्रति उदासीन भाव रखने से वे समाज मे समादृत थे तथा जयपुर के निवासी "नव पीढी गुरु" कहे जाने का उन्हे गौरव प्राप्त था । आगम रहस्यो को जान कर उन्हे तीर्थंकर देव के अनुयायियो मे कुशलतापूर्वक प्रचारित करना, उनके जीवन का उद्देश्य था—उनके श्वासोश्वास का सचलन था। उन्हे कभी स्वार्थ अथवा लोभवश अनीति किन्तु असत्य से मैत्री नही रही, वह असामान्य विद्वान्, विशिष्ट वक्ता, अद्भुत तर्ककुशल पडित थे । विद्वान् व त्यागी उनसे मार्ग-दर्शन लेते थे। वे कपडे से ढके मुनि के समान थे।

उपाध्याय विद्यानन्द मुनि

स्वर्गीय प० श्री चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ एक प्राचीन और उद्भट विद्वान् थे । उनकी लेखन व प्रवचन शैली प्रभावक थी। समाज मे उन जैसे कर्मठो की अत्यन्त आवश्यकता है।

क्षु शीतल सागर

. चैनसुखदास न केवल एक विद्वान्, विचारक एवं लेखक ही
सफल पत्रकार भी। उन्होने अपने कृतित्व एवं व्यक्तित्व की
क्षेत्र मे डाली है। मुझे आशा है कि उनके जीवन से समाज
ा।

व० वे० गिरी
भूतपूर्व राष्ट्रपति

झे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि स्वर्गीय प० चैनसुखदासजी
के उपदेशो एवं आदर्शों को "प० चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ" के
प्रकाशित किया जा रहा है। स्वर्गीय पण्डित जी एक प्रतिभाशाली
थे जिन्होने साहित्य, ज्ञान प्रसार और समाज सेवा मे अपना
र्ण योग दिया। यद्यपि उनका विशेष विस्तृत कार्य क्षेत्र जैन
की खोज प्रकाशन रहा तथापि वे एक शिक्षक पत्रकार और कवि
। मैं उन्हे श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए प्रकाशन की सफलता
ा हूं।

हरिदेव जोशी
मुख्य मन्त्री, राजस्थान

यह जान कर प्रसन्नता हुई कि स्व० पं० चैनसुखदासजी की स्मृति
वं उनके प्रति श्रद्धाजलि समर्पित करने के उद्देश्य से एक स्मृति ग्रन्थ
प्रकाशन करने का सकल्प किया गया है। वास्तव मे स्व० प० जो की
त्य क्षेत्र मे अपार एव महत्वपूर्ण सेवायें रही है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि
ग्रन्थ मे सकलन की गई सामग्री द्वारा उनके वताए गए आदर्शों को सरल
षा मे दर्शाया जायेगा ताकि समाज के हर वर्ग के नागरिक को उससे प्रेरणा
ल सके। मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए आपके इस
ास की पूर्ण सफलता की कामना करता हू।

प्रकाशचन्द्र सेठी
मुख्य मन्त्री, मध्य प्रदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी की प्रबन्धकारिणी कमेटी ने पडित चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन करने का कार्यक्रम बनाया है।

पडित चंनसुखदास न्यायतीर्थ सस्कृत साहित्य, धर्म और दर्शन के उच्चकोटि के विद्वान् थे। प्रचार से दूर रह कर निरन्तर ठोस रचनात्मक कार्य करने वाला व्यक्तित्व हमारे बीच मे से नियति ने उठा लिया इसका पूरे राजस्थान के विद्वत् समाज को शोक है।

श्री चैनसुखदासजी का जीवन एव कृतित्व समाज के सभी वर्गों के लिए प्रेरणा का स्रोत है।

मै अतिशय क्षेत्र महावीर जी को प्रबन्धकारिणी कमेटी के निर्णय का स्वागत करता हू और उनके "स्मृति ग्रन्थ" प्रकाशन की सफलता चाहता हू, तथा स्व० श्री चैनसुखदास न्यायतीर्थ के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धाजलि अर्पित करता हू।

मोहनलाल सुखाड़िया
(राज्यपाल मैसूर)

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि प० चैनसुखदास की स्मृति मे एक ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है।

मैं आशा करता हू कि इस ग्रन्थ मे प० चैनसुखदास जी के जीवन एवम् आदर्शों के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किये जावेगे। पडितजी ने धर्म, दर्शन, सस्कृति एव समाज इतिहास आदि पर पुस्तके लिख कर राजस्थान को अनमोल साहित्य प्रदान किया है।

हमारी सबसे बडी श्रद्धाञ्जली यही होगी कि हम उनके बताये मार्ग का अनुसरण करे।

मैं ग्रन्थ के प्रकाशन की सफलता की कामना करता हू।

शिवचरण माथुर
खाद्य एव रसद मन्त्री

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप स्वर्गीय पं० चैनसुखदास जी की स्मृति मे एक ग्रन्थ प्रकाशित करने का आयोजन कर रहे है। आपका यह विचार बहुत उपयुक्त है और मैं उसकी सफलता के लिये अपनी हार्दिक शुभ कामनाये प्रेषित करता हू।

अपने विद्वानों का आदर करना हम सब का कर्तव्य है। इसी प्रकार हम उनकी स्मृति को स्थायी रख सकते हैं और उनकी जीवनियो तथा उनके कार्यो से प्रेरणा ले सकते है।

मुझे आशा है कि आपका यह स्मृति-ग्रन्थ ऊंचे स्तर का होगा और इसके द्वारा इसके पढ़ने वालो को अच्छा लाभ पहुचेगा।

भक्त दर्शन
(भूतपूर्व शिक्षा राज्य मन्त्री)
भारत सरकार, नई दिल्ली

पं० चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन आप कर रहे हैं जानकर प्रसन्नता हुई। मैंने तो पण्डित जी के सम्बन्ध मे अधिक सुना है, कोई मेरा निजी सम्पर्क अधिक नही हुआ, एक दो बार मिले अवश्य ही है। उनकी धर्म और समाज के प्रति बडी लगन थी और धर्म के मूल तत्व को अपनाने की उनकी बडी आकांक्षा थी। वे भारतीय दर्शन के ज्ञाता होने के साथ साथ पश्चिमी दर्शन से भी अनभिज्ञ नही थे और जो आज के समाज के बच्चे हैं उनमे धार्मिकता और नैतिकता बढाने की ओर उनकी बराबर दृष्टि रहती थी। समस्त समाज की उनमे श्रद्धा थी और विद्वज्जन उनको बहुत आदर से देखते थे।

साहु शान्तिप्रसाद जैन

मेरा जन्म जोबनेर में हुआ और भाई चैनसुखदास जी का जन्म भादवा में जो जोबनेर से दसेक मील है। बाद में वे अत्यन्त प्रसिद्ध पंडित चैनसुखदास जी हो गये। उन्होने प्रारम्भिक संस्कृत शिक्षा जोबनेर निवासी पडित सूरजमल जी से ग्रहण की थी। ऐसी स्थिति में चैनसुखदास जी और मैं सर्वथा भाई-भाई हो गये थे।

मैं पंडित चैनसुखदास जी की ख्याति बराबर सुनता रहा। पर मेरा उनसे साक्षात्कार बडी देर से हुआ। यह भी कोई संयोग ही था कि पडित जी का बड़ा भारी प्रशसक मैं उनसे रहा दूर ही। जब मैं पहले पहले उनसे मिला तो उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप मुझ पर पडी। उनकी शारीरिक स्थिति को देखकर उनके प्रति मेरी सहानुभूति हुई, पर उनकी बौद्धिक प्रखरता और कार्यक्षमता ने मुझे आश्चर्य में डाल दिया।

पंडित चैनसुखदास जी स्वभावतः परोपकारी थे। उनकी अहिसक वृत्ति ने उन्हें परोपकार परायण बना दिया था। जो कोई पंडित जी के पास चला जाता उसकी सहायता वे अवश्य करते थे। एकाध अवसर पर मैंने भी उनसे सहायता की प्रार्थना की किसी सार्वजनिक मामले में और उन्होने मुझे सहर्ष सहायता प्रदान की।

पंडित चैनसुखदास जी के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व की याद मुझे हमेशा बनी रहेगी और मुझे सदैव गर्व रहेगा कि पडित जी का स्नेह मुझ जरा से व्यक्ति के प्रति था।

हीरालाल शास्त्री
सस्थापक
वनस्थली विद्यापीठ

श्रीमान् पण्डित चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ जैन समाज के मूर्धन्य विद्वान् थे। विद्वान् ही नही समाज सेवा और पथ प्रदर्शक भी थे। आपकी सहृदयता ने न जाने कितने असहाय छात्रो को मार्गदर्शन कर सुयोग्य बनाया है। आप विचारक और सुलेखक थे। जो रूढिया आपको पसद नही पडती थी उनका आप निर्भय होकर विरोध करते थे।

आपकी वक्तृत्व कला विरोधी को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी। किसी कार्य का निश्चय आप बहुत विचारपूर्वक करते थे और निश्चय के बाद उसमे इतने दृढ हो जाते थे कि उच्च से उच्च शक्ति भी आपको उससे विचलित नही कर सकती थी। मैं स्वर्गीय पण्डित जी के प्रति विनम्र श्रद्धाजलि प्रकट करता हूं।

पन्नालाल साहित्याचार्य

वे प्रेरणा श्रोत थे

पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ निर्भीक एवं ओजस्वी लेखक, सम्पादक एव प्रवक्ता थे। उनकी विद्वत्ता एव निर्भीकता की अमिट छाप उनकी शिष्य मण्डली एव समाज पर स्थायी रूप से अंकित हो चुकी है। वे विद्वानो के लिये प्रेरणा श्रोत थे। वे कभी कही भी भावुकता से किसी दलबन्दी मे नही वह सके। वे अपने चिन्तन मे सदैव स्वतन्त्र रहे। मनीषी गण यदि उनका पथ अपनाले तो सम्पूर्ण विवाद समाप्त हो सकता है।

प्रकाश हितैषी शास्त्री

विनीत श्रद्धांजलि

इस युग के उच्चकोटि के जैन विद्वानो में श्री पण्डित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ का प्रमुख स्थान है। मैं उनके उच्च एव सरल विचारो से प्रभावित हुआ हूं। उनके विचार धार्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित होते हुए भी सुलझे हुए होते थे। वे सामाजिक एकता के दृढ समर्थक थे। वे प्राचीन होने के नाते प्राचीनता का समर्थन नही कर उसकी अच्छाइयो के कारण समर्थन करते थे। उन्होने साहित्यान्वेषण एव मौलिक लेखन को प्राथमिकता दी। मुझे वे शब्द याद है जो डा० ए एन. उपाध्ये ने उनके लिये गत वर्ष कहे थे। उन्होने बताया था कि "हम राजस्थान की तरफ से निश्चिन्त हैं जहा अकेले पं० चैनसुखदास जी शिक्षण से लेकर साहित्यानुसधान एव लेखन, प्रकाशन आदि का पूर्ण काम सम्भाले हुए है"।

स्व० बाबू छोटेलाल जी के अभिनन्दन स्वरूप ग्रन्थ के सम्पादन के लिये पण्डितजी ने अथक श्रम स्वय ही नही किया अपितु हम सब को बराबर प्रेरणा

देते रहे। उन्होंने इस वृद्धावस्था में भी इस स्मृति ग्रन्थ को अपने तत्वावधान में प्रकाशित कराया। इस सम्बन्ध मे ही मेरा उनसे विशेष सम्पर्क हुआ था। मेरी इच्छा थी कि वे स्मृति ग्रन्थ के समर्पण समारोह के समय कलकत्ता अवश्य आवे किन्तु खेद है कि उन्होंने आना स्वीकार नही किया। उन्होने कहा कि "ग्रन्थ प्रकाशन महत्वपूर्ण कार्य था जो हो गया अब इस समारोह मे तो समर्पण आभार आदि की औपचारिक क्रियायें होंगी उन्हें मैं खास महत्व नही देता।"

मै स्व० पण्डितजी के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धाजलि प्रकट करता हुआ कामना करता हू कि उनके द्वारा सचालित और सस्थापित संस्थाये, साहित्य, संस्कृति, समाज एव देश की अधिकाधिक सेवाए करे।

जुगमंदिरदास जैन
कलकत्ता

पण्डित जी सस्कृत एवं दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् तथा एक स्वतन्त्र विचारक थे और राष्ट्रपति जी ने इनकी सेवाओ से प्रभावित होकर राष्ट्रीय पुरस्कार से अलंकृत किया था।

सरदार हुकुमसिंह
(भूतपूर्व राज्यपाल, राजस्थान)

यह कहने की आवश्यकता नही है कि पं० साहब जैन समाज के विद्वानों की परम्परा में असाधारण प्रतिभा के धनी थे, विद्वत्समाज में उनका स्थान मूर्धन्य था। बेशक उन्होंने जीवन भर जैन समाज, धर्म एव साहित्य की उल्लेखनीय सेवाएं की है जो निश्चय ही चिरस्मरणीय रहेंगी।

मूलचन्द पाटणी, बम्बई

पण्डित जी के व्यक्तित्व में विरोधी प्रतीत होने वाले गुणों का अद्भुत समन्वय था। वे दृढ़ता के साथ-साथ अत्यन्त कोमल और सहृदय थे परम्परा और आधुनिकता के मिलन-विन्दु पर वे खडे थे। वे दूसरों की पीड़ा से स्वय दुखी हो उठते थे। कितने ही निराश छात्रो के जीवन मे आशा का संचार कर पण्डित जी ने उन्हें प्रगति के मार्ग पर आगे बढाया धार्मिक मतमतान्तरों से वे ऊपर उठे हुए थे।

पण्डितजी उच्च विचार और सादा जीवन के मूर्त्तरूप थे। उनमे राष्ट्रीयता के साथ-साथ विश्व मानवता के मूल भाव समाविष्ट थे। उनका निरभिमान पाडित्य और सहज उपलब्ध व्यस्त जीवन सब मे प्रेरणा और स्फूर्ति की भावना भरता था। वे आदर्श गुरु-परम्परा की महत्वपूर्ण कड़ी थे। उनके निधन से सास्कृतिक परम्परा की एक कडी ही टूट गई है।

हमारा कर्त्तव्य है कि हम उनके द्वारा बताये गये आदर्शों पर चलकर सास्कृतिक नव-निर्माण मे एक जुट होकर अपना योगदान दें। पण्डित जी की आत्मा के प्रति यही हमारी सच्ची श्रद्धाजलि होगी।

डा० नरेन्द्र भानावत

उनकी मृत्यु से न केवल जैन वाङ्‌मय का एक प्रकाड पण्डित उठ गया, अपितु पूरे हिन्दी, सस्कृत साहित्य का एक कोना रिक्त हो गया। हिन्दी के लिये यह क्षति अपूरणीय है।

वासुदेव सिह
काशी विद्यापीठ वाराणसी

पण्डित जी के निधन के समाचारो से बडा ही आघात पहुंचा है। उनके जैसा जैन समाज का सच्चा हित चिन्तक व महान सेवक जिसकी सेवाओ की जैन समाज को नितान्त आवश्यकता थी चला जाना अपूरणीय क्षति है। मेरे लिए तो यह आघात असहनीय है। व्यक्तिगत दृष्टि से मैं उन्हे अपना ज्येष्ठ बन्धु मानता था। उनका जो मुझ पर अपार स्नेह था वह अकथनीय है। इस मृत्यु को मैं बहुत बड़ी हानि ही मानता हू। फिर मेरे सामाजिक कामो मे उनका सदा सहारा एव समर्थन रहता था। निराशा के दिनो मे वे मुझे धैर्य देते रहते थे।

जैन एकता के वे सच्चे समर्थक थे। उन्होने अपनी एकता की निष्ठा को प्रतिकूल परिस्थतियो मे भी मन्द नही पडने दिया, सदा ज्वलन्त रखा और स्पष्ट विचार प्रकट करने मे उन्होने कभी भी सकोच नही किया। वे भारत जैन महामण्डल के बहुत बडे समर्थक थे। उनसे हमे सदा समर्थन मिलता रहा। सचमुच मडल को तथा जैन एकता को उनके जाने से महान क्षति हुई है। जयपुर मे सभी सम्प्रदायो मे वे मान्य व्यक्ति थे। धर्मनिष्ठ होते हुए भी उनके विचार प्रगतिशील थे। उन्होने अनेको विद्वानो एव कार्यकर्त्ताओ का निर्माण किया था। उनमे समाज हित के लिए अद्‌भुत तडफ थी। उनके विचारो मे विशालता थी और राष्ट्र तथा मानवता प्रेमी थे। जैन समाज को ऐसे महापुरुप की स्मृति मे कोई ठोस काप करना चाहिए जिससे उनकी क्षति की पूर्ति हो सके।

रिषभदास रांका
(सम्पादक-अणुव्रत एव जैन जगत्)

पण्डित साहब के निधन के समाचार से हृदय को बड़ा आघात पहुंचा। उनके निधन से समाज और देश की अपार क्षति हुई।

अक्षयकुमार जैन
सम्पादक— नवभारत टाइम्स

मेरे लिए पंडित जी आत्मीय थे। बीस--पच्चीस वर्ष पूर्व पहली बार उनसे भेट हुई थी तब से जब-जब जयपुर जाना हुआ उनसे बराबर मिलता रहा। नाना समस्याओ पर उनसे विचार सुनकर प्रसन्नता होती। अपने मत के प्रति उनका आग्रह नही रहता था। उदार चिन्तन उनकी ऐसी विशेषता थी जो हमेशा के लिए मेरे मन पर छाप छोड़ गई है। धर्म के मूल सिद्धांतों के वे पुजारी थे और दृढता पूर्वक वे उनका पालन करते थे। वे सिद्धान्त सभी धर्मों मे समान है।

शास्त्रो में उनकी अपार गति थी। 'अर्हत् प्रवचन' जैसा उत्तम सकलन उनके अगाध पांडित्य और सूक्ष्म ज्ञान का प्रतीक है। उनका व्यक्तिगत जीवन एक सत का जीवन था। पण्डित जी तो साधु, सर्वजन श्रद्धेय थे ही उनको तो अपने सुकृतों के फलस्वरूप भगवद्धाम प्राप्त होगा ही उनके लिए हमे शोक और प्रार्थना करने की आवश्यकता नही। ज्ञानी सन्त तो जीवन मुक्त होते ही हैं।

प्रो० रामसिह तोमर
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्व भारती

पंडित जी अत्यन्त सरल स्वभावी, मिलनसार, व्यवहार कुशल, स्पष्ट वक्ता थे। जैन समाज को आपके वियोग से महान क्षति हुई है, जिसकी पूर्ति हो ही नहीं सकती।

परसादीलाल पाटनी
दिल्ली

आप सुधारक एवं मीमांसक विद्वान् थे। लेखक, पत्रकार, कर्मठ कार्य-कर्त्ता, संस्था संचालक आदि विभिन्न रूपों में आपके दर्शन होते थे। सिद्धांतवादी थे, सिद्धांत के समक्ष वे किसी की नही चलने देते थे, ढोंग, आडम्बर एवं पाखंडों की खूब पोल खोलते थे। आप समाज मान्य ही नही थे अपितु राज्य मान्य भी थे। स्वभाव के मृदुल, भद्र, सरल एव उदार थे। अनेक संस्थाओं के सस्थापक, संचालक, पोषक एव मूक सेवक थे।

आपका हृदय, उदार विशाल एवं गम्भीर था। विद्वानों के प्रति सतत सम्मान की भावना रखते थे।

ज्ञानचन्द्र जैन 'स्वतन्त्र'

वीरवाणी के लब्ध प्रतिष्ठ, सुयोग्य सम्पादक जैन समाज से चल बसे। यह क्षति साहित्य संसार के लिए पूर्ण होनी कठिन है। पण्डित जी प्राचीन

विचारधारा और नवीन इन दोनो के समन्वय से लेख प्रकाशित करते थे। जिससे समस्त जैन जनता को लाभ पहुचता था।

चन्दा बाई
(जैन बाला विश्राम, आरा)

पंडित जी साहब ने धर्म व समाज की जो सेवाए की है उसको कभी भुलाया नही जा सकता है।

राजकुमार सिंह,
इन्दौर

वह एक व्यक्ति नही थे, अपितु संस्था-संघ थे, तपस्वी और योगी थे। उनके वैदुष्य का वर्चस्व राजस्थान की प्राचीन पाडित्य परम्परा का प्रतीक था। उनकी क्षति अपूरणीय है। उस प्राच्य एव पाश्चात्यज्ञान के समन्वित संस्करण और साहित्याकाश के ज्वाजल्यमान नक्षत्र ने इस तकनीकी युग मे शोध के सहारे सस्कृत को सभी राष्ट्रीय समस्याओ के सन्दर्भ मे समाधान के रूप मे प्रस्तुत करने के जिस ज्ञान दीपक को प्रज्वलित किया था उसकी यत्न पूर्वक रक्षा ही उनके प्रति श्रद्धाजलि होगी।

मोतीलाल जोशी
महामन्त्री- राजस्थान सस्कृत साहित्य सम्मेलन।

पंडित जी की भव्य आकृति, सौम्य स्वभाव व आत्मज्ञान स्मरणीय है।

प्रेमचन्द जैन
जैना वाच कम्पनी, दिल्ली

पण्डित जी अखिल जैन समाज के एक महान स्तम्भ थे, संस्कृति के सबल सरक्षक और साहित्याकाश के प्रकाशपुंज नक्षत्र थे।

डा० ज्योतिप्रसाद जैन
लखनऊ

पण्डित जी बहुश्रुत और यशस्वी विद्वान् थे। उनके सम्पर्क मे एक बार भी जो व्यक्ति पहुचा, वह सदैव के लिए उनका बन गया। यह निश्चय है कि राजस्थान मे पण्डित श्री चैनसुखदास जी ने टोडरमल जी के अधूरे और अपूर्ण कार्यों को पूर्ण करने का प्रयास किया है। जिन रूढियो के उन्मूलन करने का संकल्प टोडरमल जी ने लिया था उस संकल्प की पूर्ति पण्डित जी ने की है। उनके रिक्त स्थान की पूर्ति अब हो सकेगी या नही, यह शकास्पद है।

कर्त्तव्यपरायण महानात्माए किसी समाज या देश के सौभाग्य से ही जन्म ग्रहण करती हैं। पण्डित श्री चैनसुखदास जी की जन्म भूमि और कर्म भूमि होने का सौभाग्य राजस्थान की वीर वसुन्धरा को प्राप्त हुआ, यह राजस्थान के जैन समाज के लिए गौरव का विषय है। साहित्य निर्माण, प्रवचन

एवं प्राध्यापक या प्रधानाचार्य के रूप में पण्डित जी ने अ० भा० जैन समाज की अभूतपूर्व सेवा की है।

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री
आरा

पडित जी के निधन से संस्कृत जगत् की जो क्षति हुई है, वह अपूरणीय है।

वाचस्पति उपाध्याय,
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

जैन समाज के दुर्भाग्य से विद्वानों की श्रंखला कम होती जा रही है। श्री पं० चैनसुखदास जी के स्थान की पूर्ति शीघ्र नही हो सकती। उन जैसा उदार नेता, गरीब छात्रों का आश्रयदाता, समाज हित चिन्तक विद्वान् मिलना कठिन है।

बाबूलाल जैन जमादार
मन्त्री– दि० जैन शास्त्री परिषद्–बडौत
(मेरठ)

पडित चैनसुखदास जी जैन समाज की अनन्य विभूति थे। उन्होंने जैन समाज और जैन साहित्य को समृद्ध किया।

यशपाल जैन,
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

पूज्य पडित जी प्राचीन पद्धति के विद्वानों मे अग्रगण्य थे। वे अपने क्रान्तिकारी विचारों एवं सुधारवादी प्रवृत्तियों के कारण नई पीढ़ी के भी श्रद्धा-भोजन थे। अपने यश के पीछे वे कभी नही पड़े, किन्तु राजस्थान ने उन्हें सरस्वती पुत्र समझकर सदैव अपने सिर माथे पर रखा है।

डा० राजाराम जैन, आरा

आदरणीय पंडित जी ने जैन समाज की जो सेवा की है वह कभी नही भुलाई जा सकती। वे स्वयं में एक संस्था थे। वे एक ओजस्वी वक्ता थे और उनकी वाणी में आकर्षण था। उनका प्रवचन हृदयग्राही, मर्मस्पर्शी और समाज के कल्याण के लिए ही होता था। पडित जी की करनी व कथनी में कोई अन्तर नही था। वे उच्चकोटि के शिक्षक थे और जिसके फलस्वरूप उनको राष्ट्रपति पुरस्कार मिला। वे वर्तमान पीढ़ी के लिए प्रेरणा श्रोत रहे हैं।

रामप्रसाद लढ्ढा
भूतपूर्व सिंचाई मन्त्री, राजस्थान

पंडित जी के त्यागमय जीवन, उदार विचार एवं साहित्य तथा समाज सेवा के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति एवं श्रद्धांजलि स्वीकार करें।

डा० सूर्यदेव पाण्डेय
मुजफ्फरपुर।

पंडित जी वास्तव में एक महा मानव थे। उन्होंने जैन समाज व साहित्य में एक नया युग स्थापित किया था। भारतवर्ष मे जैनियो मे सबसे अधिक जागृति जयपुर मे पाई जाती है, इसका श्रेय पडित जी को है।

शोध के क्षेत्र मे विद्वानों को हमेशा प्रेरणा देते थे। विद्यार्थियों को पुत्र तुल्य समझते थे। वास्तव मे मुझे व्यक्तिगत बडा आघात पहुंचा है।

डा० कैलाशचन्द जैन
उज्जैन

जयपुर उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण बनावे। शोध का कार्य चालू रहे। महावीर जयन्ती सर्वदा की तरह सजीव रहे। श्रमणमार्ग सतत् जन जीवन का मार्ग दर्शन करे, ये बाते पडितजी को प्रिय थी। इन कार्यों को बढाना ही उनके प्रति श्रद्धांजलि है।

रामचन्द्र जैन
डाइरेक्टर–इन्स्टीट्यूट आफ इण्डोलोजिकल–लोजिकल रिसर्च, श्रीगगानगर (राजस्थान)

वे मेरे सहपाठी थे। हम दोनों साथ ही न्यायतीर्थ हुए थे। समवयस्क थे, वे मुझ से सिर्फ ढाई माह छोटे थे। मित्रता तो थी ही, पर सुधारक होने के कारण कुछ विशेष अनुराग भी था। उनके जाने से जैन समाज का एक विचारक विद्वान् चला गया जिसकी पूर्ति कठिन है।

सत्यभक्त दरबारीलाल
सत्याश्रम, वर्धा

पंडित जो के विचारों में प्रौढता के साथ–साथ युवकोचित साहस, उत्साह, काम करने की लगन, अन्ध–विश्वासों व रूढिगत मान्यताओं के प्रति विद्रोह की भावना आदि का इतना अच्छा समन्वय हुआ था कि उनसे चर्चा करते समय यह कभी भान ही नही होता था कि किसी "बुढऊ" से बात कर रहे हैं।

उनकी सहृदयता व आत्मीयता कभी भुलाई जा नही सकती। उनके जरिये समाज का असीम उपकार हुआ है।

फतहचन्द सेठी
अजमेर

वे जैन समाज के एक विरले विभूति थे। उनकी सेवाएं सदा अविस्मरणीय रहेगी।

अगरचन्द नाहटा
बीकानेर



राजस्थान के राज्यपाल सरदार हुकुमसिह, मुख्य न्यायाधीश श्री जवानसिंह राणावत एव पडित साहब भाषण देते हुए ←



पडित साहव के गुरु पडित सूरजमलजी शर्मा, जोबनेर→



पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ–व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल

राजस्थान प्रदेश का देश के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। यहा की साहित्यिक एवं सास्कृतिक विरासत ने देश के विकास मे उल्लेखनीय योगदान किया है। वीरता यहा की मिट्टी के कण–कण मे समाहित रही है। देश एव मातृभूमि पर विपत्ति आने पर जीवन उत्सर्ग की कहानी की सैकडो बार पुनरावृत्ति हुई है। किन्तु बलिदान एव उत्सर्ग के साथ–साथ यहां की मिट्टी मे पैदा होने वाले वीरो, बुद्धिजीवियो, सन्तो एव शासको ने निर्माण की कहानी को भी पचासो बार दोहराया है। यहा के कण–कण मे साहित्यिक एव सास्कृतिक विकास को गतिशीलता देने मे स्फूर्ति एवं उत्साह देखा गया हैं। राजस्थान के प्राचीन एव कलापूर्ण मन्दिर, एव प्रदेश के कोने-कोने मे स्थापित ग्रन्थागार इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। वास्तव मे यहा के ग्रन्थागार एवं मन्दिर हमारे साहित्यिक एवं सास्कृतिक उत्कर्ष के महान् प्रतीक हैं। जिस प्रकार महाराणा प्रताप पर समूचे राजस्थान को गर्व है उसी पर राजस्थान–वासियो को जैसलमेर, नागौर, जयपुर, अजमेर के जैन ग्रन्थालयो एवं राजकीय पुरातत्व संग्रहालयो पर भी कम गर्व नही है। राजस्थान के महापंडित आशाधर, महाकवि माघ, भट्टारक शिरोमणि पद्मनन्दि एवं भट्टारक सकलकीर्ति जैसे दिग्गज साहित्य-सेवियो एवं सन्तो की जन्म एवं कर्म-भूमि होने का गौरव प्राप्त है। न जाने कितने युगों की साधना के पश्चात् महापंडित टोडरमल ने राजस्थान मे जन्म लेकर साहित्यिक एवं सामाजिक क्राति का बिगुल बजाया था तथा महाकवि दौलतराम ने विशाल काय गद्य–पद्यात्मक ग्रन्थो की रचना करके साहित्यिक यज्ञ को प्रज्वलित किया था।

राजस्थान के ऐसे ही गौरवशाली विद्वानों में पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ का नाम भी उल्लेखनीय है। वे राजस्थान के अत्यधिक प्रतिभा-शाली एवं प्रकाण्ड विद्वान् थे और उनका समूचा जीवन मा भारती की सेवा में व्यतीत हुआ था। वे अपने समय के सर्वाधिक लोकप्रिय एवं श्रद्धास्पद विद्वान् माने जाते थे। 'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' वाली लोकोक्ति उनके जीवन मे अक्षरश. सही उतरी थी। वे साहित्य गगन के सूर्य थे और जयपुर जैन समाज के मुकुट थे। वे क्या गये मानो सामाजिक जीवन की मर्यादा एव गरिमा ही समाप्त हो गयी। उनका समग्र जीवन ही सेवा की मूर्ति था और जीवन के अन्तिम क्षण तक वे इसी व्रत को पालते रहे। जयपुर नगर के जैन समाज का गत ३० वर्षों का इतिहास ही मानों उनके जीवन का इतिहास है। उनका व्यक्तित्व समाज की प्रत्येक गतिविधि पर छाये रहा और बाहर से भिन्न होते हुये भी उनका एव समाज का जीवन मानों एकाकार रूप मे रहा। यही कारण है कि समूचा समाज वर्षों तक उनके इशारो पर चलता रहा और उन जैसे तपस्वी विद्वान् को पाकर वह निहाल हो गया।

पण्डित जी के जीवन की कहानी अत्यधिक रोमांचक एवं आकर्षक है। जिसे पढ़ने एवं जानने की

सभी मे उत्सुकता बनी रहती हैं। उनका जन्म माघ कृष्णा अमावस्या विक्रम सवत् १६५६ को जयपुर जिलान्तर्गत भादवा ग्राम मे हुआ। उस समय दिन के २ बजे थे। आकाश मे सूर्यग्रहण चल रहा था। चारो ओर भक्ति एव भजन हो रहे थे तथा हरिजन भाई मुक्त हस्त से दान की माग कर रहे थे। ऐसे समय पण्डितजी की माता धापूबाई ने पुत्ररत्न को जन्म देकर अपने गृहस्थी के कर्त्तव्य से मुक्ति मागी। बालक की जब जन्म कुण्डली बनाई गई तो उसमे प्रताप, प्रभाव एव विद्याबुद्धि तीनो का असाधारण योग निकला। माता-पिता यह जानकर फूलें नही समाये। बालक चैनसुखदास एक वर्ष के हुये, दो वर्ष के हुये और तीन वर्ष को पार करके जब चौथे वर्ष मे प्रवेश किया तो विपत्ति ने आ दबाया और बायें पैर मे लकवा मार गया। लकवा होने की भी विचित्र घटना रही। बालक चैनसुखदास अपनी बडी बहिन की गोद मे थे। बहिन दरवाजे पर खडी-खडी ककडी खा रही थी। उसी समय वहा लकडी को टेकते-टेकते एक वृद्धा आ गयी और बालिका से ककडी मागने लगी। तथा अपनी भूख का रोना रोने लगी। बालिका को वृद्धा का मागना अच्छा नही लगा। उसने वृद्धा को लात मारी जिसको वह सह न सकी और वही गिर पडी। थोडी देर मे वह वृद्धा तो वहा से चली गयी किन्तु अकस्मात् ही पण्डितजी को गोद मे लिये हुए वही बालिका (गोद मे अपने भाई को लिये हुये) वहा गिर पडी और फिर अपने आप वह उठ भी नही सकी। माता दौडी हुई आयी और दोनो भाई बहिन को वहा से उठाकर अलग-अलग शैय्या पर सुला दिया। पण्डितजी के पिताजी जवाहरलाल जी तत्काल स्थानीय वैद्य जी को ले आये। उनको देखने से पता चला कि दोनो को ही लकवा मार गया है। चारो ओर निराशा छा गयी। एक ४ वर्ष का पुत्र एव एक ६-७ वर्ष की नन्ही बालिका। माता-पिता के सामने भविष्य मुह फाड कर खडा हो गया और उनके सुनहले स्वप्न ताश के पत्तो के महल के समान टूटते दिखायी देने लगे। पर्याप्त इलाज कराया गया लेकिन सब व्यर्थ रहा।

बहिन की रोग मुक्ति

कुछ दिनो पश्चात् पण्डित जी ने गाव भादवा मे नटो की पूरी पार्टी आयी और गाँव के बाजार मे अपने कोतूहल पूर्ण खेल दिखलाने लगी। पूरा गाव नटो का खेल देखने के लिये उमड पडा। पण्डितजी के भी सभी घर वाले खेल देखने के लिये गये। रह गये घर मे दोनो भाई-बहिन जो पैर से लाचार थे। बहिन ने अपने माता-पिता से बहुत अनुनय विनय किया लेकिन सब व्यर्थ रहा। सबके चले जाने के पश्चात् उनकी बहिन लाली मे क्या देवी चमत्कार आया कि वह स्वयमेव ही उठ खडी हुई और भाग कर नटो का जहाँ खेल हो रहा था वही पहुच गयी। बहिन का लकवा दूर हो गया और वह स्वस्थ हो गयी। लोगो के आश्चय का ठिकाना नही रहा। लेकिन बालक चैनसुखदास वही बैठे रहे। धीरे-धीरे बालिका पूर्ण स्वस्थ हो गयी। बडी होने पर उसका विवाह जोबनेर के एक प्रतिष्ठित परिवार के श्री नेमिचन्द पाटनी से हो गया जिसके सुपुत्र श्री सुगनचन्द पाटनी जोबनेर म्युनिसिपैलिटी के वर्षों तक चैयरमैन रहे तथा आजकल वहा के प्रतिष्ठित सामाजिक कार्यकर्त्ता माने जाते हैं।

बड़े भाइयों का दुखद निधन

भादवा गाव मे ही एक पाठशाला थी। उसके अध्यापक थे श्री मगनमलजी शर्मा। उस समय अधिकाश गावो मे एक अध्यापकीय शालाए चलती थी। पाठशाला वहीं के जैन मन्दिर मे लगती थी और उसमे उच्च वर्ग के ही बालक पढने आते थे। शाला प्रात और साय दो बार लगती थी। पण्डितजी के बडे भाई मागीलाल और चचेरे भाई

केशरीमल भी उसी पाठशाला मे पढते थे। वे दोनो ही वहा के मेधावी छात्र माने जाते थे। उस समय विद्यार्थियों को लघु कौमुदी एव रत्नकरण्डश्रावकाचार पढाया जाता था। लेकिन गांव मे पाठशाला की आलोचना करने वाले भी कुछ व्यक्ति थे। ऐसे लोगो के कारण वह पाठशाला कुछ समय बाद बन्द हो गयी और गाव के विद्यार्थी उधर-इधर घूमने लगे। काम तो कुछ रहा नही इसलिये एक दिन १०-१२ विद्यार्थी गाव से ८ मील की दूरी पर स्थित गुदली नामक तलैया मे नहाने के लिये चले गये। उन विद्यार्थियो मे पंडितजी के दोनों भाई भी थे। वे दोनो ही तैरना जानते थे। इसलिये दोनो ने तलैया की एक दूसरी छोर से तैरते हुये वीच मे मिलने का निश्चय किया और तलैया मे कूद पडे। तलैया के वीच मे कुवा था। दोनो बच्चे ही तो थे। वीच मे आते-आते वे दम तोड बैठे और वीच के कुवे मे डूब गये। उनके साथियो ने उन्हें निकालने का बहुत प्रयत्न किया लेकिन वे उसमे सफल नही हो सके। उस घटना से चारो ओर हाहाकार मच गया तथा गाव के एव आस-पास के सैकडो व्यक्ति वहा एकत्रित हो गये। उस दिन गांव भर मे किसी के खाना नही बना। वहा का जागीरदार भी रात भर वही रहा और पुलिस थानेदार के आने पर जब बच्चो को तलैया मे से निकाला गया तो उन दोनो सुन्दर एव भोले-भाले बच्चों को देखकर सारे व्यक्ति जोर-शोर से रोने लगे। पण्डितजी के पिताजी एवं परिवार के लोगो के दुःख का तो कहना ही क्या ? उस दर्दनाक दृश्य का वर्णन करना भी कठिन है। जब थानेदार ने शेष बालकों को गिरफ्तार करने पर जोर दिया तो पण्डितजी के पिताजी ने विनम्र शब्दों मे मना किया और कहा कि उनका और हमारा ऐसा ही भाग्य था।

प्लेग का प्रकोप

सवत् १९६१ मे भादवा गांव में प्रथम बार प्लेग का प्रकोप बडे भयकर रूप मे हुआ। पहिले यह महामारी चूहो पर आयी। वे नाच-नाच कर मरने लगे इसके पश्चात् मनुष्यो पर पर महामारी ने अपना असर जमाना प्रारम्भ किया। पहिले जोरदार बुखार आता। फिर उसके गले मे, कान के नीचे अथवा जाघ के बगल मे गाठ होती। इस गाठ के प्रकोप से लोग तीन-चार दिन मे ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते। बडी भयानक बीमारी थी, डाक्टर और वैद्य गांव मे थे ही नही। छोटे से गाव मे १५-२० व्यक्ति प्रतिदिन मरने लगे। चारों ओर भय और आतक छा गया। पण्डितजी के घर मे भी महामारी ने प्रवेश किया और सर्वप्रथम पडित के बाबाजी की लडकी गगली को उसने अपना शिकार बनाया। गगली बहुत तेज थी इसलिये वह घोडी के नाम से प्रसिद्ध थी। इसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पिताजी चन्द्रलालजी मर गए और तीन दिन बाद ही पंडितजी की दादी और चन्द्रलालजी की पत्नी मर गयी। फिर पडितजी के छोटे बाबा महामारी के शिकार हो गये। घर मे कोई परिचर्या करने वाला भी नहीं रहा। परिवार के एक के बाद एक सदस्य मरने लगे। छोटे बाबा के लड़के गगालाल को भी प्लेग ने घर दबाया। उससे भयभीत होकर इनके बाबाजी गेरुलालजी गांव छोड़कर कही चले गये। अब पडितजी के पिताजी का नम्बर आया। घर सूनसान हो गया। उनका उपचार करने वाला कोई नही बचा। इसलिये उन्हे मकान मे ही एक खाट पर लिटा दिया। सारा गांव खाली हो गया और लोगों के सामने मृत्यु मुंहबाये खडी रही। लेकिन उनकी आयु शेष थी इसलिये वे स्वतः ही बिना किसी उपचार के ही अच्छे हो गये।

पिताजी की मृत्यु

पंडितजी जब १०-१२ वर्ष के थे तभी उनके

पिताजी की मृत्यु हो गयी। बीमारी कोई खास नहीं थी। केवल मुह मे छाले थे। लेकिन गांव के वैद्य ने उन्हे रसकपूर दे दिया जिससे वे अत्यधिक परेशान हो गये। रसकपूर शरीर मे फूट-फूटकर निकलने लगा। घर की आर्थिक स्थिति विशेष अच्छी नही थी और उनकी खर्चीली तबियत थी यद्यपि वे गाव के कामदार थे किन्तु खर्चीले होने से कुछ बचता नही था पडितजी ने स्वय ने लिखा है कि वे गरीबो की बहुत सहायता किया करते थे। दान देने की शक्ति नही होने पर भी वे राजा हरिश्चन्द्र बने हुये थे। एक बार पडितजी के सामने ही एक गरीब आदमी ने कहा कि उसके पास पहिनने को कुछ नही है तो उनके पिताजी ने अपनी अगरखी खोल कर उसे दे दी। इसी तरह एक बार तो उन्होने अपनी पगडी भी उतार कर दे दी थी। इस कारण गाव मे उनका पूरा सम्मान था। उन्हे दादूपथी साधुओ के जमात को जिमाने का बहुत शौक था। कभी-कभी तो २०-२५ दादूपथी साधू पडितजी के घर पर भोजन के लिए आमत्रित किये जाते थे। भोजन के पहले वे गाना गाते और फिर भोजन करते। दोनो ही कार्यो मे जवाहरलालजी की बहुत रुचि थी। वे अपने घर से किसी को निराश नहीं लौटाते थे।

पंडितजी ने अपने सस्मरण मे लिखा है कि उस समय गावो मे किसामो की बहुत स्थिति खराब थी। सब जौ खाते थे और गेहू-की रोटी तो तब बनती थी जब कभी कोई मेहमान घर आ जाता। बच्चो को जब गेहू की की रोटी मिलती तो बडे खुश होते। कभी तो एक गेहू कि रोटी के टुकडे करके बच्चो को मिठाई के समान दिया जाता था। चावल के तो दर्शन ही होली दीवाली होते थे। और जब चावल का भोजन बनता तो उस दिन त्यौहार माना जाता था। पडितजी के बाबाजी चन्दूलालजी की की स्थिति और भी कमजोर थी। महीने मे कई बार तो घर मे चूल्हा भी नही जलता था। लेकिन उनकी पत्नी बडी समझदार थी और जब कभी घर मे अन्न नही होता तो वह धुवा करके अपने यहा भोजन बनने का प्रदर्शन कर लेती थी। कोई रोजगार था नही। नमक बेच कर कैसे गुजर हो सकता था। वैसे किसी के पास भी अच्छा धन्धा नही था। यदि २) रुपये महीने की भी किसी को नौकरी मिल जाती तो उसे अच्छा माना जाता था।

पिताजी की मृत्यु के पश्चात् घर की हालत और भी खराब हो गयी। घर मे केवल तीन प्राणी थे। स्वयं पंडितजी, उनका छोटा भाई सरदारमल एवं वृद्धा मा। मा कातने का काम करने लगी। दिन भर कातती और रात्रि को भी वही काम करती। फिर भी तीनो का पेट भरना कठिन हो गया था। इसलिये पडितजी ने कपास लोढने का कार्य प्रारम्भ किया। एक चर्खा मगाया गया। चैनसुखदासजी प्रतिदिन ५ सेर कपास लोढ लेते थे और इससे उनको एक आना रोज का मिलने लगा। पढने मे वे चतुर थे। कक्षा मे सब विद्यार्थियो से आगे रहते थे इसलिये इनके अन्य साथी भी जब घर पर आते तो वे पडितजी की सहायता करते। अब २) रु. महीना पडितजी और २) रु. महीना उसकी मा कमाने लगी और ४) रु महीने मे तीन प्राणियो का जैसे-तैसे खर्च चलने लगा। पंडितजी के मामा मीठडी (जोधपुर) ठिकाने के कामदार थे। वे घर से सम्पन्न भी थे। जब उन्होंने इन तीनो को अपने यहा ले जाना चाहा तो उनकी मा ने मना कर दिया। और अपने द्वारा उपार्जित आय से ही अपना काम चलाना चाहा।

पडितजी प्रारम्भ से ही पढने मे चतुर थे। इसलिये गाव के सारे बच्चो को वे पढाया करते थे। एक बार जब वे अपनी मां के साथ अपने ननिहाल जाने को तैयार हुए तो सारे गाव के लोग इकट्ठे होकर उनकी माता के पास आये और उन्हे वहीं

छोड कर जाने का आग्रह करने लगे। क्योंकि उनके बिना विद्यार्थियो का आवारा होने का डर था। पडितजी की मा को आखिर गाँव वालो की बात माननी पडी और अश्रु पूरित नेत्रो से अपने लाडले को छोड़कर जाना पड़ा।

जब वे १२ वर्ष के थे तो जोवनेर पढने के लिये चले गये। वहां वे २ वर्ष तक पढते रहे। वहा जैन पाठशाला थी। पडित सूरजमलजी वहा के अध्यापक थे। उसी समय जोबनेर मे एक विशाल जैन मेले का आयोजन किया गया। गाव के बाहर एक विशाल मडप बनाया गया। उसमे जैन समाज के बडे-बडे विद्वान् भी सम्मिलित हुए थे उसी समय समाज के प्रसिद्ध विद्वान् प. गोपालदासजी बरैया एवं आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान् स्वामी दर्शनानन्दजी के मध्य शास्त्रार्थ हुआ। विषय था "ईश्वर कर्तृत्व"। शास्त्रार्थ कई घण्टो तक चला। इसमे जैनो की जीत हुई। पं. गोपालदास ने अपने पाडित्य से आर्य समाज को बुरी तरह हराया। इस शास्त्र मे विधुपुरा(इटावा) के कुंवर दिग्विजयसिंह भी सम्मिलत हुए थे। वे पहिले आर्य समाजी थे लेकिन बाद मे वही पर जैन हो गये। अन्य विद्वानो मे जयपुर के प्रसिद्ध देश एव समाज सेवी श्री अर्जुनलाल सेठी, इटावा के चन्द्रसैन-जैन वैद्य एव प. पुट्टूलाल के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानो ने भी शास्त्रार्थ मे भाग लिया था। आर्य समाज की हार का जोबनेर के ठाकुर कर्णसिहजी के स्वास्थ्य पर गहरा असर पड़ा और वे कुछ ही दिनो पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हो गये। पडित चैनसुखदास के जीवन मे इस प्रकार के बड़े समारोह को देखने का प्रथम अवसर था। पंडितजी प्रारम्भ मे अच्छे गायक भी थे। जब भजन गाते श्रोताओ को अपनी ओर सहज ही आकृष्ट कर लेते थे। मेले मे पण्डितजी ने एक भजन गाया था। इससे प्रसन्न होकर एक सेठ ने उन्हे १) रु. और पुस्तक पुरस्कार मे दी थी।

पडितजी ने अपने सस्मरण मे लिखा है कि पं० गोपालदासजी का प्रभाव आश्चर्यजनक था। उनके तर्क अकाट्य होते थे और सहज ही अपने विरोधी को जीत लेते थे। वे शरीर मे बहुत दुबले-पतले थे उनको बहुमूत्र का रोग भी था इसलिये शास्त्रार्थ के बीच-बीच मे उन्हे उठकर जाना पडता था। जोबनेर मे उन्होने पडितजी के बहनोई श्री नेमीचन्द पाटनी के यहा एक समय भोजन भी किया था इसलिये उस समय पंडितजी को उन्हे समीप से ही देखने का अवसर मिला था। किसी बडे विद्वान से, पडितजी की यह प्रथम भेट थी।

दो वर्ष जोबनेर विद्याध्ययन करने के पश्चात् वे पुन. अपने गाव आ गये। उन दिनो सेठ केशरीमलजी सेठी गयाजी से भादवा आते रहते थे। गाव की पाठशाला भी उन्ही की प्रेरणा से चलती थी। जब कभी वे भादवा आते तो पाठशाला मे भी निरीक्षण के लिये जाते। उनकी दृष्टि मे पडितजी अच्छे एव कुशाग्र बुद्धि के छात्र लगे इसलिये उनकी इच्छा उन्हे गयाजी ले जाने की होने लगी।

एक बार उन्होने गयाजी से ही पडितजी के काकाजी नाथूलालजी को पत्र लिखा जिसमे उन्होंने पडितजी को गयाजी भेजने का आग्रह किया। पडितजी के हृदय मे अध्ययन की तीव्र लालसा थी। इसलिये उन्होने शीघ्र ही अपनी माताजी एवं बाबाजी का आर्शीवाद लेकर गयाजी के लिये प्रस्थान कर दिया। उस समय उनकी आयु १६ वर्ष की थी। गाव मे यातायात का साधन नही था। वहा से १३ मील आसलपुर का स्टेशन था। वही से रेल गाड़ी पकड़नी पड़ती थी। गाव से स्टेशन तक ऊंट पर जाना पडता था। पडित जी भादवा से आगे कुछ ही दूर पहुचे होगे कि आकाश मे बादल छा गये और घोर वर्षा होने लगी। रेगिस्तान मे कही ठहरने का स्थान नही था। लेकिन आप जरा भी नही घबराके

और अपने लक्ष्य पर चलते ही रहे। यह मानो इन्द्रदेव द्वारा आपका पहिला स्वागत था और सरस्वती द्वारा प्रथम परीक्षा।

गयाजी मे पडितजी का मन नही लगा और वे वहा से और कही जाने की सोचने लगे। उसी समय महाविद्यालय मे पढने वाला एक विद्यार्थी सेठजी की दुकान पर आया। वह वहा से भाग कर आया था। वह विद्यार्थी कलकत्ता के किसी सेठ का लडका था। स्वभाव से ही वह तेज था। इसलिये विद्यालय से लड झगड कर आया था। उसने आते ही केशरीमलजी सेठी के सामने विद्यालय की निन्दा करना प्रारम्भ कर दिया। सेठीजी विद्यालय की कार्यकारिणी के सदस्य थे तथा उसे आर्थिक सहायता भी देते रहते थे। कमेटी मे उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। किन्तु वह विद्यार्थी काफी समय तक जब विद्यालय की बुराइया करता ही रहा तब सेठीजी ने उसे भला बुरा कह कर उसे वही जाकर अध्ययन करने का आग्रह किया। पडितजी वही बैठे थे और बडे ध्यान पूर्वक उनकी बात सुन रहे थे। तत्काल उनके मन मे बनारस जाकर पढने की इच्छा हुई और उन्होने अपने विचार सेठीजी के सामने रख दिये। सर्व प्रथम तो सेठीजी ने उन्हें जाने की सलाह नही दी लेकिन कुछ समय पश्चात् पंडितजी के पुन आग्रह करने पर वे सहमत हो गये। और स्याद्वाद महा-विद्यालय मे पढाने को राजी हो गये। पडितजी की खुशी का पारावार नही रहा। उनके लिये तत्काल कुर्त्ता एव कोट सिलाया गया और उस लडके के साथ एक पत्र लिखकर उन्हें भी वाराणसी पढने के लिये भिजवा दिया। स्वय सेठीजी उन दोनो विद्यार्थियो को स्टेशन पर छोडने के लिये गये।

फिर विपत्ति

रेल से चलकर वे दोनो वाराणसी आ गये। पडितजी तो प्रथम वार वाराणसी आये थे इसलिये उन्हे तो विद्यालय का कुछ पता ही नही था। वह विद्यार्थी उन्हे सर्व प्रथम श्वेताम्बर मन्दिर मे ले गया जो स्याद्वाद महाविद्यालय के समीप ही था। उसने वहा जाकर कहा कि "विद्यालय तो प्रात होने पर चलेंगे। अभी अपने कपडे खोल कर सो जावो।" पडितजी ने ऐसा ही किया। गर्मियो का समय था इसलिये सोते ही गहरी नींद आ गयी और आख खुली तो मालूम पडा कि न तो वह विद्यार्थी ही है और न उनके कपडे एवं पैसे। पहिलें तो उन्होने इधर उधर देखा और जब कही दिखायी नही दिया तो वे जोर-जोर से रोने लगे। और कोई उनके पास चारा भी क्या था। बनारस मे उन्हे कोई नही जानता था और न वे विद्यालय को ही जानते थे। शरीर से अलग लाचार। कही जाने-आने मे अत्यधिक कष्ट होता था। आयु भी १६ वर्ष मे अधिक नही। रोने की आवाज सुनकर मन्दिर का पुजारी उन्हे डाटने फटकारने लगा। और तत्काल मन्दिर से चले जाने के लिये कहने लगा। लेकिन भाग्य को यह स्वीकार नहीं था। अनायास ही स्याद्वाद महाविद्यालय के तत्कालीन अधिष्ठाता श्री नन्दकिशोरजी जैन वहा आ गये और उन्हे रोता हुआ देखकर पूछताछ करने लगे। वे पंडितजी को पूछने लगे कि वे क्यो रो रहे हैं और कहा से आये हैं। पडितजी ने उन्हे अपने पर बीती पूरी घटना सुना दी तथा कहा कि उन्हे सेठ केशरीमलजी सेठी ने विद्यालय मे पढने के लिये भेजा है। लेकिन उन्होंने जो पत्र अधिष्ठाता महोदय को लिखा था वह भी कोट मे रखा था जो वह लडका लेकर चला गया। पंडितजी ने अपना पूरा वृत्तान्त रोते-रोते कहा। अधिष्ठाताजी को बालक पर दया आ गयी और वे उसे विद्यालय मे अपने साथ ले गये। उन्होंने तार द्वारा पहिले केसरीमलजी से पडितजी के बारे मे पूछताछ की और जब उन्हे

सन्तोष हो गया तो पंडितजी को विद्यालय मे प्रवेश दे दिया। तत्काल दर्जी को बुलाया गया और उनके लिये कपडे सिलाये गये। पडितजी ने लिखा है कि "जब तक वे विद्यालय के अधिष्ठाता रहे उनके साथ उनका बर्ताव अत्यधिक "सौहार्दपूर्ण रहा।"

महाविद्यालय के स्नातक

पडितजी ने अपना अध्ययन पूरे मनोयोग से प्रारम्भ किया। जो कुछ वे पढते थे उसे पूरा याद कर लेते इसलिये वे शीघ्र ही विद्यालय के प्रिय छात्र बन गये। पहले वे स्वयं पढ़ते और फिर वे अपने साथियों को भी पढाया करते। पडितजी के साथी उनका काम सहज ही मे कर देते थे। वे वहाँ अनपेड छात्र थे। १) रु० मासिक उन्हे हाथ खर्च का मिलता था। वे उसी मे अपना काम चला लेते थे। पडित कैलाशचन्द जी शास्त्री प० चैनसुखदास जी के साथी थे। उन्होने एक स्थान पर लिखा है कि मेरे बाल्यकाल मे विद्यालय मे तीन छात्र प्रमुख थे। "पं० चैनसुखदासजी जयपुर, प. जीवन्धरजी इन्दौर और पं. रमानाथजी इन्दौर। मैं प० चैनसुखदासजी के ग्रूप मे था। और मेरे परम मित्र प० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ प० जीवधरजी के ग्रूप मे थे। तीनो मे जब कभी बात छिड़ जाती थी तो आनन्द आ जाता था। फिर तो सस्कृत वाग्धारा की सरिता बहने लगती। प० चैनसुखदासजी अवस्था की दृष्टि से तीनों मे छोटे थे किन्तु बोलने मे विशेष पटु थे। विद्यालय जोभी विद्वान् पधारते उससे सस्कृत मे जमकर चर्चा छिडती और हम लोग उसका रसास्वादन करते। एक बार एक दण्डी साधु हाथ मे दण्ड लिये विद्यालय के तट से जा रहा था। ऊपर हम लोग खड़े थे। प० चैनसुखदासजी ने उसे छेड दिया। वह भी विद्वान् था। फिर तो सस्कृत मे वाग्युद्ध छिड़ गया और बहुत ही आनन्द आया।"

अध्ययन की समाप्ति

पडितजी पाँच वर्ष तक स्याद्वाद महाविद्यालय के छात्र रहे और इस बीच मे उन्होने बगाल सस्कृत एसोसियेशन की न्यायतीर्थ एवं काशी विद्यापीठ के आचार्य का "प्रथम खण्ड" पास किया। जैन शास्त्रों का आपने गम्भीर ज्ञान प्राप्त किया। आपकी तार्किक शक्ति बडी तेज थी इसलिये विद्यार्थी अवस्था मे आपको तर्कचन्द के नाम से पुकारा जाता था। वहा आपका एक अलग ही ग्रूप था और आपके ग्रूप मे अच्छे विद्यार्थी थे। विद्यार्थियो मे आप सदा ही लोकप्रिय रहे। वहा पढते भी रहे और दूसरो को पढाते भी रहे। छात्रो की ओर से संस्कृत मे एक पत्र निकाला जाता था उसके भी आप सम्पादक रहते थे। विद्यार्थी अवस्था मे ही वे आप्तपरीक्षा एवं प्रमेयरत्नमाला को अच्छी तरह पढाते। विद्यार्थियो को संस्कृत मे अनुवाद कराते और उनको संस्कृत मे बोलना सिखाते।

स्याद्वाद विद्यालय आपके जीवन निर्माण का स्थल रहा। वहा रह कर संस्कृत एव जैन दर्शन का उच्च अध्ययन किया। वास्तव मे स्याद्वाद महाविद्यालय आप जैसे मेधावी छात्रो के कारण स्वय गोरवान्वित हो गया। और आपके नाम के साथ सदा ही उसका नाम जुड गया। पाच वर्ष तक पडित जी का व्यक्तित्व विद्यालय के छात्रो पर ही नही अपितु वहा के अधिकारियो पर छाये रहा और वे अपनी विद्वत्ता, वाग्पटुता तथा सादगी से विद्यालय मे सर्वाधिक लोकप्रिय रहे। पाच वर्ष के अल्प जीवन मे ही वे समाज के मूर्द्धन्य विद्वान् बन गये और अपनी अलौकिक सूझबूझ से सब पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया।

स्वदेश को

सन् १९१९ मे वे स्वदेश लौट आये। उस समय उनकी आयु २१ वर्ष की थी। विद्याध्ययन पूर्ण कर जब वे गाव लौटे तो उनका भव्य स्वागत

किया गया । वृद्धो ने उन्हें आशीर्वाद दिया तो साथियो ने उन जैसा साथी पाकर अपने आपको गौरवशाली समझा । माता ने स्नेहमय आसुओ मे अपने पुत्र को छाती से लगाया तो छोटे भाई प्रसन्नता से फूला नही समाया और सारे गाव मे घूम-घूम कर अपने भाई के आगमन की सूचना दी । प० चैनसुखदासजी भी अपने गाव मे अपने परिवार एव इष्ट मित्रो के मध्य मे अपने आपको पाकर अत्यधिक प्रसन्नता व्यक्त की एवं स्नेह के लिये सबके प्रति आभार व्यक्त किया । पहिले वे केवल चैनसुखदास थे किन्तु बाद मे वे प० चैनसुखदास न्याय-तीर्थ कहलाने लगे । सबने मिलकर यह निश्चय किया कि आज शाम को मन्दिर मे प० चैनसुखदासजी शास्त्र पढेंगे । गाव के प्रत्येक घर मे बुलावा भेजा गया । बालक, वृद्ध एव महिलायें सभी सायकाल की प्रतीक्षा करने लगी जब वे बनारस से पढकर आये हुए अपने ही गाव के पण्डितजी से शास्त्र सुनेंगी । पूरा मन्दिर भर गया । युवा पंडितजी ने जब शास्त्र पढा तो उनकी प्रवचन शक्ति को देखकर सब लोग मत्र मुग्ध हो गये और ऐसे 'पडित' को पाकर अपने आपको भाग्यशाली मानने लगे । गाव के सभी निवासी आपकी सादगी तथा नम्रता तथा विद्वत्ता की प्रशसा करने लगे । मन्दिर का आगन शाम को प्रतिदिन भरने लगा और लोगो मे अद्भुत उत्साह दिखाई देने लगा । कुछ दिन इस प्रकार व्यतीत हो गये । आपके विवाह के प्रस्ताव आने लगें । उस समय मे लडकिया कम थी और लडके अधिक थे । पडितजी पैर से लाचार होने पर भी उनके कुछ लोग अपनी लडकी देने को तैयार हो गये । लेकिन आपने विवाह करना स्वीकार नही किया और आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने का निश्चय किया ।

एक बार आपको विवाह मे सम्मिलित होने के लिये कुचामन (मारवाड) जाना पडा । वहा भी आपका भव्य स्वागत हुआ । नगर मे जैन समाज के द्वारा एक सभा बुलायी गयी और आपको प्रमुख अतिथि के रूप मे आमन्त्रित किया गया । आपके व्याख्यान का विषय था "जैन धर्म का महत्व" । इस सभा मैं कुचामन नगर के प्रसिद्ध पडित मघदत्त जी शास्त्री भी सम्मिलित हुए । वे आपके भाषण से अत्यधिक प्रभावित हुए । इन्होने पंडितजी के भाषण के पश्चात् कहा कि "उन्हे कितने ही विद्वानो के भाषण सुनने का अवसर मिला किन्तु आज एक युवा विद्वान् के मुख से जितना प्रभावशाली भाषण सुनने को मिला उतना इसके पूर्व कभी नहीं मिला।" कुचामन के निवासी भी पडितजी का भाषण सुन कर झूम उठे और अपने ही प्रान्त के युवा विद्वान् को पाकर अत्यधिक प्रसन्नता व्यक्त की । तथा उन्होंने अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त की कि पडितजी यही कुचामन मे रहे । उस समय कुचामन मे सेठ गम्भीरमलजी पाड्या की ओर से एक विद्यालय चलता था सेठजी भी एक योग्यविद्वान् की तलाश मे थे । फिर क्या था उनके घर बैठे गगा आ गई थी इसलिये वे भी उनसे लाभ लेने को आतुर हो उठे । जब सेठजी ने आपने विद्यालय मे सेवा करने के लिये अत्यधिक आग्रह किया तो आपने उसे स्वीकार कर लिया और वे उस विद्यालय के प्रधानाध्यापक नियुक्त किये गए ।

समाज सेवा करने का प्रथम अवसर

दिगम्बर जैन विद्यालय कुचामन के प्रधानाध्यापक के पद नियुक्ति होते ही आपकी कीर्ति चारों ओर फैलने लगी । पैर से लाचार होने पर भी स्वस्थ एव सुन्दर वदन, ओजपूर्ण वाणी, सयमी जीवन एव स्वाभिमानी स्वभाव इन सब गुणो ने आपके व्यक्तित्व को ऊंचा उठाने मे पूर्ण सहयोग दिया । जिस विद्यालय मे पहिले विद्यार्थियो का अभाव रहता था वहा अब आस-पास के ग्रामो के विद्यार्थी आने लगे और एक-दो वर्ष में ही वहा

विद्यार्थियो की अच्छी सख्या हो गयी। पं सत्यन्धर-कुमारजी सेठी, प. चान्दमलजी काला, गुलाबचन्दजी गंगवाल रेनवाल आदि ने कुचामन मे ही विद्या प्राप्त की थी। कुचामन विद्यालय मे आपने १२ वर्ष तक सेवा की और उसे प्रान्त का आदर्श विद्यालय बना दिया।

शिक्षण कार्य के अतिरिक्त जो भी आपको समय मिलता उसे आप सामाजिक कार्यों में लगाने लगे। भादवा, जोबनेर एव बनारस के विद्यालयों मे अध्ययन करते समय भी आपसे जितनी अधिक सेवा हो सकती थी करते रहे थे। पडितजी प्रारम्भ से ही उदार विचारो के रहे। समाज के विकास मे उनकी क्रान्तिकारी विचारधारा रही। उन्होने सदा ही समाज को झकझोरना चाहा और उसे जाग्रत करके विकास की ओर लगाने का प्रयास किया। वे रूढियों का सदा ही विरोध करते रहे। चौका-चूल्हा एवं छुआछूत के सदा हो विरुद्ध बोलते रहे और उस समय भी अपने साहस का परिचय दिया जब समाज मे कट्टर-पथियो का बोलबाला था तथा सारा समाज उनकी मुट्ठी मे था।

जब आप कुचामन मे थे तो खण्डेलवाल महा-सभा का पूरा प्रभाव था। लेकिन पडितजी सा० की दिगम्बर जैन खण्डेलवाल महासभा से अधिक नही पटी क्योंकि उसके सभी कर्णधार पुरानी विचारधारा के थे और सुधार का उन्हे नाम भी नही सुहाता था। इसलिये पंडितजी ने राजावाटी गोडावाटी दिगम्बर जैन महासभा के नाम से एक सस्था की स्थापना की थी जिसका प्रमुख उद्देश्य समाज मे व्याप्त कुरीतियो को मिटाने एव परस्पर के विवादो को निपटाना था। उन्होंने इस महासभा के माध्यम से उस प्रदेश मे वृद्ध विवाह, दहेज एव कन्या विक्रय जैसी कुरीतियो मे काफी सुधार किया। पडितजी सामाजिक समस्याओ को सुलझाने के लिये पच (जज) का कार्य करते थे। वादी एव प्रतिवादी की दलीलें सुनते, पक्ष विपक्ष मे तर्क दिये जाते और अन्त मे पडितजी द्वारा फैसला सुनाया जाता जो सबको मान्य होता। कहते हैं कुछ लोग अपने पक्ष मे फैसला देने के लिये पडितजी को लोभ लालच भी देने का प्रयास करते लेकिन वे अपने पद से विचलित नही होते और जो उचित प्रतीत होता वही फैसला सुनाते। पडितजी के इस बढते हुए प्रभाव से बडे-बडे मठाधीशो के सिंहासन हिल गये और वे भी पडितजी की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने मे डरने लगे।

एक बार बरसात के दिनो में भादवा से कुचामन जाते समय बाजन नदी की तेज धारा तथा गहरे पानी मे मना करने पर भी ऊंट वाला आपको ले गया। उसने सोचा था कि नदी मे अधिक पानी नही है और ऊंट को वह आसानी से निकाल ले जावेगा। लेकिन नदी का बहाव तेज था तथा पानी भी गहरा हो गया था। ऊंट जब नदी के मध्य में पहुंचा तो उसकी गर्दन के अतिरिक्त वह पूरा डूब गया था। बडी मुश्किल हो गई। न आगे जाया जा सकता था और न पीछे मुडा जा सकता। ऊंट वाला भी घबरा गया और पंडितजी ने तो जान लिया कि उनके जीवन का अन्त सन्निकट है। वे णमोकार मंत्र का जाप करने लगे। धीरे-धीरे ऊंट ने जब बडी सावधानी से नदी पार की तभी दोनो के जान में जान आयी।

जयपुर आगमन

१२ वर्ष कुचामन विद्यालय मे कार्य करने के पश्चात् दिनाक ३० अक्टूबर सन् १९३१ की शुभ एव पावन वेला मे पंडितजी सा० ने दिगम्बर जैन महापाठशाला जयपुर के प्रधानाध्यापक पद का कार्यभार सम्हाला। यहा से उनके जीवन का नया मोड प्रारम्भ हुआ। अब तक उनकी गतिविधिया प्रमुख रूप से कुचामन एवं उसके आस-पास के

प्रदेश तक ही सीमित रही थी लेकिन जयपुर मे आजाने के पश्चात् उनका क्षेत्र सारा देश हो गया और उनके जीवन विकास का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। उनकी आयु भी उस समय ३३ वर्ष की थी। उनका शरीर पूर्ण यौवनत्व को प्राप्त था। शरीर से यद्यपि अशक्त थे। डडे के सहारे चलते थे। लेकिन उनका उन्नत भाल, चमकता हुआ आकर्षक चेहरा तथा ओजस्वी वाणी किसी भी व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित करने मे पर्याप्त थी।

पडितजी सीधे-सादे वेश मे रहते। मारवाडी ढग की पगडी बाधते। खद्दर की धोती और कुर्त्ता अथवा कमीज पहिनते। हाथ मे डडा रखते और अपनी उपस्थिति का सबको ज्ञान करा देते।

पडितजी जयपुर आकर पाठशाला के प्रबन्ध को देखने लगे। पढाई की स्थिति देखी। विद्यार्थियो की जब सख्या देखी तो मालूम पडा कि ऊ ची कक्षाओ मे विद्यार्थी ही नही हैं। अधिकाश विद्यार्थी प्रवेशिका पास करके पाठशाला छोड देते थे। इसलिये उच्च कक्षाओ मे विद्यार्थी कैसे आते। वे एक दूसरे को देखकर वापिस चले जाते। महापाठशाला को स्थापित हुए ३० वर्ष से भी अधिक समय हो गया था लेकिन इतने वर्षों मे ४-५ शास्त्री से अधिक नही निकल सके। वास्तव मे यह एक प्रकार से पडितजी को चुनौती थी जिसको उन्होने सहर्ष स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त महापाठशाला की आन्तरिक व्यवस्था भी एकदम बिगड चुकी थी। समाज का प्रबन्धको पर विश्वास नही रहा था इसलिये मत्री और प्रधानाध्यापको मे बराबर परिवर्तन होता रहता। इस प्रकार पडितजी को जयपुर आने पर अनेक समस्याओ का सामना करना पडा।

सर्व प्रथम उन्होंने विद्यार्थियो पर ध्यान दिया। उस समय उपाध्याय कक्षा मे पढने वालो मे प० भवरलालजी न्यायतीर्थ, पडित श्रीप्रकाश शास्त्री, पडित मिलापचन्दजी शास्त्री, पडित भैरूलालजी शास्त्री एवं पडित आनन्दीलालजी न्यायतीर्थ के नाम विशेषत. उल्लेखनीय हैं। पडितजी ने ३० अक्टूबर को महा पाठशाला का चार्ज लिया और २ नवम्बर को उन्होंने पडित भंवरलालजी को अपने पास बुलाया। इस प्रथम भेट का प० भवरलालजी ने अपने एक लेख मे जो वर्णन उपस्थित किया है वह निम्न प्रकार है —

मैं विद्यालय गया। मैंने देखा—एक पगडीबध, छोटे से कद के, डडा हाथ मे लिये मारवाडी व्यक्ति खडे हैं दीवार के पास। मुझे कहा गया कि ये नये पडितजी हैं। रजिस्टर मे तुम्हारी गैरहाजरी होने से बुलाया है। मैं नमस्कार करके उनके समीप खड़ा हो गया।

उन्होने पूछा तुम्हारा क्या नाम है? मैंने अपना नाम बतलाया। उनका दूसरा प्रश्न था तुमने विद्यालय मे पढना क्यो छोड दिया? मैंने उत्तर दिया कि संस्कृत मुझे समझ मे नही आती। मैं अग्रेजी पढना चाहता हूँ। तीसरी बार उन्होने कहा कि यदि सस्कृत तुम्हारी समझ मे आने लगे और अग्रेजी भी तुम्हे पढाया जाय तो पढ़ोगे? मेरे पास उसका उत्तर सिवाय हा करने के कुछ नही था। वह था सर्व प्रथम पूज्य पण्डितजी साहब के दर्शन। पहली बातचीत और पहली मुलाकात।"[1]

प० भैरवलाल सेठी को भी पण्डितजी ने बुलवाया और उनको भी अपना अध्ययन प्रारम्भ करने का परामर्श दिया। इसी घटना को उन्होंने

---

१. प० चैनसुखदास जयन्ती विशेषाक पृष्ठ सख्या ७७।

भी अपने एक लेख "मेरे निर्माता" मे निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—"सन् १६३६ मे मैंने प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण कर अपनी शिक्षा लगभग समाप्त कर दी थी और अपने चाचाजी के कार्य में सहायक हो चुका था। गुरुजी इन्ही दिनों जयपुर पधारे थे। उन्हें मालूम हुआ और उन्होने बुलाया। तथा पढाई बन्द करने के कारणो को सुना। मेरी आर्थिक स्थिति का परिचय पाकर कहा कि तुम दिन में अपना काम करो और रात के ८ बजे पश्चात् मेरे पास पढने आओ। मेरे परम सखा श्री भवरलालजी न्यायतीर्थ तथा मे दोनो रात को पढने आने लगे। पण्डितजी शास्त्र प्रवचन करके आते और रात को २–३ घंटे हम दोनो को बगाल संस्कृत एशोसियेशन की प्रथम परीक्षा की तैयारी कराते। फरवरी मे प्रथमा परीक्षा दी और सफलता प्राप्त की। इसी बीच मेरे ट्यूशनों की व्यवस्था भी बैठा दी।"[1]

इस प्रकार पण्डितजी सा० ने जयपुर आते ही विद्यार्थियो से अपना सम्पर्क बढाया और उन्हे उसमे पर्याप्त सफलता मिली। एक के पश्चात् दूसरे विद्यार्थी आने लगे और इस तरह प्रवेशिका, उपाध्याय एव शास्त्री कक्षाओ मे जो पहिले प्राय: खाली पडी रहती थी फिर विद्यार्थियो से भरने लगी। पण्डितजी दिन भर विद्यार्थियो को पढाते और रात्रि को बडे दीवानजी के मंदिर मे शास्त्र प्रवचन करते। इस तरह शनै-शनै उनकी विद्यार्थियो मे एव समाज मे लोकप्रियता बढ़ने लगी।

जैन दर्शन का सम्पादन

तीन वर्ष मे जयपुर जैन समाज मे लोकप्रियता प्राप्त करने तथा दिगम्बर जैन महापाठशाला की व्यवस्था मे पर्याप्त सुधार करने के पश्चात् पण्डित जी विजनौर से प्रकाशित होने वाले पाक्षिक पत्र जैन दर्शन के प्रमुख सम्पादक बनाये गये। यह पत्र श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रार्थ सघ का प्रमुख पत्र था तथा एक वर्ष पूर्व ही पण्डित अजित-कुमारजी शास्त्री एव पण्डित कैलाशचन्दजी शास्त्री के सम्पादकत्व मे निकल रहा था। दूसरे वर्ष के प्रथम अक से (१ अगस्त, १६३४) आपने इसके सम्पादन कार्य को अपने हाथ मे लिया तथा पण्डितजी के पास ही जैन दर्शन मे प्रकाशनार्थ लेख एव कवितायें भेजे जाने के लिये विद्वानो से निवेदन किया गया। इसके पश्चात् जैन दर्शन पत्र का "स्याद्वाद विशेषांक" का आपने जिस योग्यता एव पाडित्य से सम्पादन किया उसकी उन दिनो सारे समाज मे अत्यधिक प्रशसा हुई। आपके पाडित्य की चारो ओर प्रशसा होने लगी और कुछ ही समय मे 'जैन दर्शन' समाज का लोकप्रिय पत्र बन गया। इस पत्र के माध्यम से जयपुर के जैन युवको को लेख, कविता एव कहानी लिखने का अच्छा अभ्यास हो गया। जिन नवयुवक विद्वानो की जैन दर्शन मे विशेष लेख एव कवितायें प्रकाशित हुई थी उनमे पं० भंवरलालजी न्यायतीर्थ, पं० मिलाप चन्दजी शास्त्री पं० कैलाशचन्द जी शास्त्री न्याय-तीर्थ, प० आनन्दीलालजी न्यायतीर्थ, प० श्री प्रकाश जी शास्त्री, पं० चान्दमलजी शशि के नाम विशेषत. उल्लेखनीय हैं।

जुलाई १६३४ मे लेखक अपने छोटे भाई (वैद्य प्रभुदयाल भिषगाचार्य) के साथ पडितजी सा० के चरणो मे सैथल ग्राम से पढ़ने के लिये आये। लेखक का यह परम सौभाग्य रहा कि उनके पिताजी स्वर्गीय श्री गैदीलालजी ने उन्हे ऐसे महापुरुष के चरणो मे समर्पित किया जिनके कारण हम दोनो भाइयो का जीवन निर्माण हो सका।

---

1. प० चैनसुखदास जयन्ती विशेषाक पृष्ठ संख्या ८३।

इस प्रकार जयपुर जैन समाज मे पडितजी सा० की लोकप्रियता बढ़ने के साथ ही समाज मे विरोध की भावनाए भी समाप्त होने लगी थी। दिगम्बर जैन महा पाठशाला की व्यवस्था मे सुधार होने लगा था। पडितजी सा० स्वय प्रात. काल से लेकर रात्रि को १० बजे तक विद्यार्थियो को पढाते रहते। यही नही कालेज मे पढने वाले विद्यार्थियो के अतिरिक्त भी अन्य विद्यार्थियो को बुला कर पढाते और उन्हे प्रतिवर्ष किसी न किसी परीक्षा मे बैठा देते। तीन-चार वर्ष मे ही जयपुर मे उनके शिष्यो की अच्छी सख्या हो गयी।

जैनबन्धु का सम्पादन

दो वर्ष तक जैन दर्शन के प्रथम सम्पादक रहने के पश्चात् पण्डितजी ने एक नये पाक्षिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। पत्र का नाम था जैनबन्धु और प्रकाशन स्थान था कलकत्ता। इसके प्रकाशक तनसुखलाल पाड्या थे। जैन बन्धु के प्रथम वर्ष के प्रथम अंक के अपने सम्पादकीय मे जैनबन्धु के प्रकाशन के उद्देश्य का निम्न शब्दो मे उल्लेख किया था "जैन बन्धु किसी दल विशेष का पत्र नही होगा। वह सारे जैन समाज का पत्र है। इसका प्रधान उद्देश्य समाजगत (शास्त्रानुमोदित) रूढियो को नष्ट कर समाज मे नव जीवन का सचार करना है। विपथगामी नवयुवको को सत्पथ पर लाकर उन्हें सुयोग्य समाज सेवी बनाना है। प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य के प्रचार के द्वारा जैन धर्म प्रभावना करना है। इसमे प्रधानतया जैन साहित्य, जैन दर्शन, कला, अर्थशास्त्र और स्वास्थ्य आदि विषयो पर लेख रहेगे। और किसी भी ऐसे सामाजिक आन्दोलन के सम्बन्ध मे भी गवेषणा पूर्ण लेख रहेगे जिनका सम्बन्ध खास कर जैन समाज से होगा। यदि आवश्यक समझा जायगा तो किसी भी विषय के खण्डन-मण्डन के लेखो को भी स्थान दिया जा सकेगा। "पडितजी सा० ने जैन बन्धु पत्र का जय-जय जैनबन्धु अभिराम" कविता रूप मे स्वागत किया। स्वागत का एक चरण निम्न प्रकार है—

पावनता का बन आधार,
निर्भय हो पर कभी न हार,
परोपकृति ही रख व्यापार,
समुत्थान का ही सद्धाम। जय जय जैनबन्धु अभिराम

लोहडसाजन आन्दोलन का श्रीगणेश

जैन बन्धु के प्रकाशन का प्रमुख उद्देश्य लोहड साजन आन्दोलन का श्रीगणेश करना था। तथा समाज के कुछ व्यक्ति आचार्य श्री सूर्यसागर जी महाराज के विरुद्ध भी अनर्गल बाते लिखा करते थे उन्हे भी समुचित उत्तर देना था। जयपुर को आन्दोलन का केन्द्र बनाया गया तथा समाज के सर्वाधिक लोकप्रिय नेता दानवीर रावराजा सर सेठ हुकमचन्दजी इन्दौर, सेठ तोलारामजी एव सेठ गजराजजी गगवाल लाडनू आदि का पूर्ण सहयोग प्राप्त किया गया। जैन बन्धु के प्रथम वर्ष के द्वितीय अक मे सर्व प्रथम पडितजी सा० के प्रमुख शिष्य प० भवरलालजी न्यायतीर्थ ने "पक्षपात का पिशाच" नामक लेख से आन्दोलन का श्रीगणेश किया और उसमे आचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज के आलोचको तथा खण्डेलवाल समाज के एक वर्ग लोहसाजडन समाज की जाति बहिष्कृत जैसी कार्यवाहियो का खुलकर विरोध किया गया। इसी वर्ष ज्येष्ठ बदी १२ को जयपुर मे पं० मक्खनलालजी का आगमन हुआ। कहते हैं उनका उद्देश्य भी आचार्य श्री को अपने पक्ष मे लेना था। लेकिन पडित मक्खनलालजी को इसमे सफलता नही मिली। इसी तरह आचार्य श्री का जब लाडनू मे चातुर्मास हो रहा था उस समय भी कुछ दूसरी पार्टी के विद्वानो ने आचार्य श्री से अनेक प्रश्न पूछे और उन्हे अपने पत्रो मे बदनाम करने का भी प्रयास किया लेकिन उन्हे

किसी मे भी सफलता नही मिली। पंडितजी का जैनबन्धु पत्र आगे बढता गया और शीघ्र ही समाज मे वह लोकप्रिय पत्र माना जाने लगा। इन्ही सामाजिक आन्दोलनो के सम्बन्ध मे पडित जी सा० ने एक-एक व्यक्ति को मैदान मे उतार और दूसरे अंक मे ही प० भवरलालजी न्यायतीर्थ के लेख के अतिरिक्त श्री सरदारमलजी सेठी लाडनू का "निन्दनीय चेष्टा", श्री नानूलाल पोल्याका का "श्री १०८ आचार्य श्री शातिसागर जी महाराज की लोहडसाजनो के आहार लेने की मनाई नही है" तथा श्री मालचन्दजी पाटनी लाडनू का "अनाधिकार चेष्टा" लेख प्रकाशित हुए। इन सब लेखो का उद्देश्य अजमेर से प्रकाशित होने वाले पत्र चन्द्रप्रकाश "जिसके सम्पादक प० सुजानमलजी सोनी थे तथा खण्डेलवाल जैन हितेच्छु जिसके सम्पादक प० इन्द्रलालजी शास्त्री थे, के लेखो का उचित जवाब देना था। इसके बाद तो जैन बन्धु मे इन समाचार पत्रो मे प्रकाशित होने वाले लेखो के विरुद्ध एक के पश्चात् दूसरे लेख आने लगे। पण्डितजी सारे समाज मे समाज सुधार के पक्ष मे अलख जगाना प्रारम्भ किया। युवको को सामाजिक आन्दोलनो मे सक्रिय भाग लेने के लिये प्रोत्साहित किया और इसका परिणाम यह हुआ कि जयपुर, कलकत्ता, इन्दौर, लाडनू, दाँता, किशनगढ, रेनवाल आदि पचासो गावो एव नगरो मे युवको के दल के दल तैयार हो गये और वे पण्डितजी को अपना आदर्श नेता मानने लगे।

नयी कृति का निर्माण एवं प्रकाशन

'जैन बन्धु' मे पडितजी अपने आपको दार्शनिक कवि के रूप मे तो प्रस्तुत कर ही रहे थे कि उन्होने बन्धु के प्रथम वर्ष के दूसरे अंक से अपनी सस्कृत रचना "पावन प्रवाह" को क्रमशः प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। यह एक सुभाषित कृति है।

आचार्य सूर्यसागरजी का चातुर्मास

आचार्य सूर्यसागरजी महाराज एक वर्ष से भी अधिक समय तक मारवाड एवं शेखावाटी के ग्राम एव नगरो मे बिहार किया एवं वहा की जनता मे धर्म प्रभावना करने के पश्चात् बैशाख शुक्ला ५ स० १९९३ को पुनः जयपुर नगर में पदार्पण हुआ। रात्रि को नगर के बाहर स्थित नशिया मे ध्यानस्थ होना तथा दिन मे आहार के पश्चात् पाटोदी के मन्दिर मे प्रवचन एवं धर्म चर्चा करना आपका कार्यक्रम था। तत्कालीन कवि स्व० चान्दमलजी शशि की आचार्य श्री के सम्बन्ध मे निम्न पक्तिया उल्लेखनीय है—

द्वाविंशति कर सहन परीषह
　　द्वादशानुप्रेक्षा मे मग्न।
परमविरागी शान्त सूर्य मुनि
　　धर्म ध्यान मे है सलग्न।
जीवमात्र को धर्म भाव हो
　　रखकर यह हित भाव विशाल।
ख्याति नाम से दूर सूर्य मुनि
　　रहते नित परमारथ काल।

आचार्य श्री के साथ तत्वचर्चा मे भाग लेने वालो मे पण्डितजी के अतिरिक्त मा० नानूलालजी, स्वर्गीय पडित कस्तूरचन्दजी साह, स्व० प० झूथालालजी, दुलीचन्दजी साह, रामचन्द्रजी खिन्दूका, बख्शी केशरलालजी, एव जमनालालजी की पत्नी के नाम उल्लेखनीय हैं। तत्वचर्चा के पश्चात् आचार्य श्री रात्रि को नगर के बाहर जगलो मे चले जाते और रात भर कही ध्यानस्थ रहते। जयपुर मे उनका चातुर्मास सानन्द सम्पन्न हुआ और उनके चातुर्मास के कारण सैकडो युवको मे धार्मिक भावनाएं जाग्रत हुई।

पंडितजी साहब की अस्वस्थता

अप्रेल १९३८ मे पंडितजी साहब का स्वास्थ्य खराब हो गया। अपनी अस्वस्थता के कारण उन्होने

जैनबन्धु के सम्पादकत्व से अवकाश ग्रहण कर लिया और अपने स्थान पर प० श्रीप्रकाश जी न्यायतीर्थ, पंडित कैलाश चन्दजी न्यायतीर्थ, एव प० भवरलाल जी न्यायतीर्थ को सम्पादन का कार्य भार सौंप दिया और जैनबन्धु के तीसरे वर्ष के १२ अक इन्ही तीनो के सम्पादन मे प्रकाशित हुये। लेकिन तीन वर्ष तक निकलने के पश्चात् जैनबन्धु वन्द कर दिया गया। वास्तव मे यह पत्र लोहडसाजन आन्दोलन को गति देने के लिये प्रारम्भ किया गया था और उसमे पूर्ण सफलता मिलने के पश्चात् पत्र को बन्द करने का स्वय पडित जी साहब ने ही निर्णय लिया।

वीरवाणी का प्रकाशन

सन् १९४७ को महावीर जयन्ती से एक नये पाक्षिक पत्र 'वीरवाणी' का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। पडित जी साहब के अतिरिक्त प० भवरलाल जी न्यायतीर्थ भी इसके सम्पादक वने। पत्रिका का वार्षिक मूल्य ३)रु एव एक अक का चार आना रखा गया। प डितजी साहब ने वीरवाणी का प्रकाशन निम्न सकल्प के साथ प्रारम्भ किया गया।

नालसा प्राप्तुवन्त्यर्थं न क्लीवा न च मानिन
न च लोकरवाद्भीता न च शश्वत्प्रतीक्षिण ॥

वीरवाणी के प्रथम वर्ष के प्रथम अंक मे पडित जी ने पत्रिका प्रकाशन के उद्देश्य को निम्न शब्दो मे प्रस्तुत किया–

"वीर-वाणी" का यह पहला अक पाठको के हाथो मे पहुच रहा है। पाठक नये बच्चे की तरह इसे प्यार करें और अपना मगलमय आशीर्वाद दें। प्रकृति के बहुत से आघातो को पार कर बच्चा जैसे आगे बढता है, किसी पत्र की भी ठीक यही दशा है। उसे बहुत सी प्रतिकूल परिस्थितियो का सामना करना पडता है। यदि वह समर्थ हुआ तो उन सब को परास्त कर आगे बढता है, किन्तु किसी भी पत्र का सामर्थ्य उसके पाठको के अनुकम्पा पूर्ण अनुग्रह पर ही अवलम्बित है। उनके सहानुभूति मय अनुग्रह से ही वह समुद्र के समान विपत्तियो को भी आनन फानन मे तैर जाता है।

सामयिक पत्रो की उपयोगिता एव आवश्यकता के वारे मे दो मत नही हो सकते। आधुनिक जीवन मे इनका महत्व बढता जा रहा है। किसी भी आन्दोलन को सफल बनाना हो तो किसी न किसी पत्र का सहारा पकडना ही पडता है। राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा किसी भी प्रकार का कोई आयोजन पत्रो की सहायता के बिना कभी आगे नही बढ सकता। एक प्रकार से तो हम यह भी कह सकते हैं कि इस समय का राज्य शासन भी पत्रो के सहारे ही चल रहा है। विचार परिवर्तन अथवा विचार-निर्माण मे पत्रो का कितना हाथ है यह पत्र पाठको से छिपा नही है। आज के नागरिक के दैनिक जीवन मे सामयिक पत्र-पठन का महत्वपूर्ण स्थान होता जा रहा है। समय आ रहा है जब यह मनुष्य के अनिवार्य नित्य कर्मों मे स्थान पा जायेगा। हम नये लेखको एव कवियो को आमन्त्रित करते है कि वे 'वीरवाणी' मे अपनी रचनाए अवश्य भेजें उन्हे यथा सम्भव अनुत्साहित नही किया जायेगा।" वीरवाणी के सम्पादकीय लेखो मे पडित जी द्वारा समाज एव साहित्य के विकास के लिये अच्छा प्रकाश डाला जाने लगा। सामाजिक बुराइयो पर कस कर लिखा जाने लगा तथा उसमे कितने ही ऐतिहासिक एव साहित्यिक लेख मालाए प्रारम्भ कीगयी। जयपुर के जैन दीवानोएव विद्वानो पर विशेष लेख प्रकाशित होने लगे और इस प्रकार सामाजिक पत्र-पत्रिकाओ मे वीरवाणी ने शीघ्र ही अपना विशेष स्थान बना लिय।

श्री महावीर क्षेत्र से पडित जी का आरम्भ मे ही काफी सम्पर्क रहा। क्षेत्र के प्रथम मन्त्री स्व० श्री रामचन्द्रजी खिन्दूका का पडितजी से गहरा सम्बन्ध था और वे क्षेत्र के कार्यों मे उनसे परामर्श

लेते रहते थे। उन्ही के आग्रह के कारण वे सन् १९५० के आरम्भ मे श्री महावीरजी गये।

श्री रामचन्द्र जी खिन्दूका का स्वर्गवास

१३ जुलाई सन् १९५० की सध्या को जैन समाज के लोकप्रिय समाजसेवी श्री रामचन्द्र जी खिन्दूका का आकस्मिक निधन हो गया। खिन्दूका जी जयपुर जैन समाज के वरिष्ठ समाज सेवी थे। वे श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी के १८-१९ वर्ष तक मंत्री रहे। उन्होने अपने मन्त्रित्व काल मे क्षेत्र की जो सुन्दर व्यवस्था की थी उसके लिये उन्हे सदैव स्मरण किया जाता रहेगा। पण्डित जी साहब के वे श्रद्धालु प्रशसक थे और उनसे सामाजिक कार्यों मे बराबर परामर्श किया करते थे। श्री महावीर क्षेत्र की ओर से साहित्य शोध विभाग की स्थापना उनके परामर्श का एक प्रमुख परिणाम है। वीरवाणी मे अपने सम्पादकीय लेख मे पण्डितजी ने श्री खिन्दूका जी के निधन को समाज की एक महान क्षति बतलाया। पण्डित जी के शब्दो मे "खिन्दूका जी केवल जैनो मे ही नही अजैनों मे भी काफी परिचित थे। साम्प्रदायिक कट्टरता उनमे नही थी। उनका समय समय पर दिया गया दान भी सभी सस्थाओ को पहुचता था। यदि वे राष्ट्रीय क्षेत्र मे कार्य करते होते वे आज एक प्रसिद्ध नेता अथवा किसी प्रान्त के शासको मे से होते। पर उन्होने अपने कार्य क्षेत्र की सीमा समाज सेवा तक ही रखी।"

बधीचन्द जी गगवाल का स्वर्गवास

२६ दिसम्बर १९५८ को जयपुर जैन समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति तथा श्री महावीर क्षेत्र के मन्त्री श्री बधीचन्द जी गंगवाल का स्वर्गवास हो गया सेठ बधीचन्द जी मिलनसार एव भद्र परणामी सज्जन थे तथा पडित जा साहब के विशेष अनुरागी गे। उनके मृत्यु से पण्डित जी के पर्याप्त दुःख हुआ और वीरवाणी मे उन्होंने गहरी सवेदना प्रकट की।

पडित जी की उदयपुर यात्रा

७ अक्टूबर १९६० को पण्डित जी को अपने मित्रो के आग्रह से अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के छट्ठे अधिवेशन मे भाग लेने के लिये उदयपुर जाना पडा। पण्डित जी वहा ७ अक्टूबर से १० अक्टूबर तक ठहरे। उन्होने वहाँ धर्मतत्व के विषय मे एक निबन्ध पढा तथा उस विभाग की अध्यक्षता भी की। उदयपुर मे पण्डित जी का भावभीना स्वागत हुआ। उन्होने जैन समाज द्वारा आयोजित सभा मे अपना भाषण दिया तथा एक आयुर्वेद विद्यालय के उद्घाटन मे सम्मिलित हुए। इसी बीच पण्डित जी केशरिया जी अतिशय क्षेत्र के दर्शनार्थ भी गए।

मालीलाल जी दीवान का निधन

भादवा सुदी १४ स० २४८८ के दिन समाज के वयोवृद्ध नेता एव दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर के सभापति श्री मालीलाल जी दीवान का स्वर्गवास हो गया। आप स्थानीय बडा मदिर तेरहपथी मे प्रात. शास्त्र प्रवचन करते थे। दिनांक २० सितम्बर १९६२ को बडे दीवान जी के मन्दिर मे शोक सभा का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता प० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ ने की।

महाकवि बनारसीदास की ३७७ वीं जयन्ती समारोह

२२ जनवरी सन् १९६३ को आने वाला पंडित जी का ६४ वां जन्म दिवस साहित्यिक समारोह के रूप मे मनाया गया और इस अवसर पर हिन्दी जैन साहित्य के महाकवि बनारसीदास की ३७७वी जयन्तीसमारोह मनाया गया। इसी अवसर पर वीरवाणी का "बनारसीदास विशेषांक प्रकाशित किया गया। समारोह डा० माताप्रसाद जी गुप्त अध्यक्ष हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। विभिन्न विद्वानों ने महाकवि बनारसीदास पर एव पडित जी के जीवन

पर प्रकाश डाला। समारोह का संयोजन डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल ने किया।

ग्रन्थ की पाण्डुलिपि भेंट

महान् साहित्य सेवी श्री सत्यदेव विद्यालकार ने अपने २५-३० वर्षों के अनुभव के आधार पर लिखी गयी जैन धर्म सम्बन्धी एक पुस्तक की पाण्डुलिपि मार्च ६३ मे पण्डित जी साहब को भेंट की और उसे प्रकाशित करवा कर जनता के हाथो मे पहुचाने का अनुरोध किया।

षोडशकारण एवं दशलक्षण पर्वो पर प्रवचनों की विशेष व्यवस्था

भाद्रपद के षोडशकारण एव दशलक्षण पर्वों के दिनो मे पण्डित जी साहब के बडे दीवान जी के मन्दिर मे विशेष प्रवचनो का आयोजन होता था जिसमे जयपुर के नागरिक भारी सख्या मे भाग लेते थे। मन्दिर का सारा चौक खचाखच भर जाता था और ऊपर छतो पर भी श्रोतागण जा बैठते थे। पण्डितजी के भाषण वडे ही प्रभावोत्पादक होते थे और श्रोतागण सुनते-सुनते झूम उठते थे। २० वर्ष से भी अधिक समय तक इन धार्मिक आयोजनो मे पण्डित जी साहब का व्यक्तित्व छाया रहा और इन पर्वो के दिनो मे ऐसा मालूम होने लगता जैसे मानो सारा जयपुर नगर एक धार्मिक नगर बन गया हो। इन दिनो मे नगर के बडे-बडे विद्वानो के भाषण आयोजित कराये जाते और वे सभी पण्डित जी साहव के महान् व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित होते थे।

शाकाहारी दल स्वागत समिति की अध्यक्षता

यूरोप से शाकाहारी व्यक्तियो का एक दल दिनाक २३ जनवरी १९६४ को जयपुर मे भ्रमण के लिये आया। इनमे आठ महिलाएं और आठ पुरुष थे। उनमे कुछ जन्म से शाकाहारी थे और कुछ बाद मे शाकाहारी बने थे। इनके स्वागतार्थ पंडित जी साहब की अध्यक्षता मे एक एडहाक कमेटी का निर्माण हुआ था। महाराजाज् मल्टीपरपज स्कूल मे एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया। जिससे सभी ने शाकाहार के महत्व पर प्रकाश डाला।

जयपुर में मुनि श्री विद्यानन्द जी का चतुर्मास

जून सन् १९६७ मे जयपुर नगर मे आचार्य देशभूषण जी महाराज एवं मुनि श्री विद्यानन्द जी का बिहार हुआ। मुनि बनने के पश्चात् मुनि श्री का यह प्रथम चतुर्मास था। आचार्य देशभूषण जी की ख्याति तो पहिले से ही व्याप्त थी इसलिये इनके आने से नगर मे धार्मिक चहल पहल प्रारम्भ हो गयी। जेष्ठ शुक्ला पचमी के दिन मुलतान समाज की ओर से आदर्श नगर के मन्दिर मे जव ऋतु पचमी पर्व मनाया गया तो सभा मे पडित जी साहव की मुनिश्री से प्रथम भेंट हुई। श्रमण सस्कृति के महान उपासको ने एक दूसरे को देखा और एक ही प्लेटफार्म से श्रुतपचनी के महत्व पर भाषण दिये। इसके पश्चात् पडितजी साहव मुनिश्री के प्रति और मुनिश्री पडित जी के प्रति आकर्षित होते गये। इसके बाद तो जयपुर मे जितने भी समारोह हुए उनमे पहिले पडित जी बोलते और फिर मुनि श्री प्रवचन करते। पूरे चतुर्मास मे यही प्रक्रिया चलती रही। इस वर्ष का भाद्रपद मास विशेष समारोह का वर्ष रहा। प्रात मुनि श्री का प्रवचन होता था जिसमे रविवार एव विशेष पर्वों पर १५-२२ हजार जनता एकत्र होती थी तथा रात्रि को वडे दीवानजी के मन्दिर मे पडित जी का प्रवचन होता था और और वहा भी हजारों की सख्या मे श्रोतागण उपस्थित होकर उनका प्रवचन सुनते थे। ऐसा मालूम होने लगा था कि मानो नगर की समस्त समाज ने मुनि श्री एव पडित जी के प्रति अपनी समस्त श्रद्धा एव भक्ति समर्पित कर नी हो।

जयपुर के चतुर्मास ने मुनिश्री के जीवन को महत्वपूर्ण दिशा प्रदान की। यही नही पडित जी

साहव के सम्पर्क में कितनी ही अनुभूतियां हुईं। जव मुनिश्री ने चातुर्मास समाप्ति की घोषणा की तथा आगे बिहार निश्चित सा हो गया तो आतिश में एक विशाल सभा का आयोजन किया गया जिसमें २५ हजार से भी अधिक नागरिक उपस्थित होगे। इतनी अधिक संख्या मे लोगो का किसी भी सत एव साधु का भाषण सुनने के लिये एकत्रित होने का यह प्रथम अवसर था। वास्तव मे मुनिश्री ने जयपुर के नागरिको पर अपने महान् व्यक्तित्व की जो छाप छोडी वह आज भी उनके हृदयो मे समायी हुई है।

वीरवाणी का "राजस्थान क जैन साहित्य सेवी विशेषांक"

अप्रेल ६६ को वीरवाणी का' राजस्थान के जेत साहित्य मेवी विशेषाक ' प्रकाशित किया गया। यह विशेषाक अपनी दृष्टि से सभी विशेषांकों से अनूठा रहा। उसमे राजस्थान के प्राकृत, अपभ्र श सस्कृत, हिन्दी एव राजस्थानी भाषा के साहित्यकारो का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया। प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनो ही साहित्यकारो का परिचयात्मक विशेषाक का प्रकाशन साहित्य जगत् को नयी देन स्वीकार की गयी। इस विशेषाक मे २०० से भी अधिक साहित्यकारो का परिचय प्राप्त हुआ। विशेषाक की सभी दृष्टियो से सराहना की गयी।

वीरवाणी का "पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ विशेषांक".

'वीरवाणी' पत्रिका का पडित जी के ६८ वे जन्म के उपलक्ष मे "प० चैनसुखदास जयन्ती विशेषाक" निकाला गया। विशेषाक के सम्पादक प० भवरलाल न्यायतीर्थ, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एव डा० ताराचन्द बख्शी थे। एक समारोह का गठन किया गया जिसके अध्यक्ष श्री केशरलाल बख्शी, थे। समारोह का सयोजन भवरलाल न्यायतीर्थ एव डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने किया। यह प्रथम अवसर था जब किसी जैन विद्वान के जीवन काल मे ही किसी पत्रिका का विशेषाक निकाला गया था। विशेषाक मे ६० से भी अधिक विद्वानो समाज सेवियो एव कार्यकर्त्ताओ ने पंडित जी की साहित्यिक एव सास्कृतिक सेवाओ के भारी प्रकाश डाला औरउनका हार्दिक अभिनन्दन दिनाक २२ जनवरी को एक भव्य समारोह मे किया गया। पंडित जी साहब को इस विशेषाक की एक प्रति भेंट की गयी।

दीक्षांत भाषण

जुलाई १९६६ मे श्री जैन मुमुक्षु मडल के तत्वावधान मे जयपुर नगर मे धार्मिक शिविर का आयोजन किया गया। इसमे लगभग १०० विद्यार्थियो ने धार्मिक शिक्षण प्राप्त किया। अन्त मे पडित जी साहव ने दीक्षात भाषण देकर नवयुवकों को धार्मिक शिक्षा के प्रति अभिरुचि दिखलाने के लिये साधुवाद दिया। राजस्थान जैनसाहित्य परिषद् जयपुर द्वारा आयोजित दीक्षात समारोह की अध्यक्षता भी आपने ही की थी। यह समारोह सितबर सन् १९६६ मे मनाया गया था।

वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ द्वारा अभिनन्दन

दिनाक २६–११–६६ को लाल भवन जयपुर मे वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ जयपुर द्वारा पडित जी साहव का ओजस्वी वक्ता, निर्भीक पत्रकार, साहसी समाज सुधारक, दर्शन, साहित्य एव सस्कृति के मर्मज्ञ के रूप मे स्मरण किया गया।

महा पंडित टोडरमल द्विशताब्दि समारोह

श्री सेठ पूरणचन्द जी गोदीका द्वारा नव निर्मित टोडरमल स्मारक भवन का उद्घाटन, प्रतिष्ठा समारोह एवं टोडरमल द्विशताब्दि समारोह का आयोजन दिनाक ६ मार्च १९६७ से १६ मार्च

१६६७ तक किया गया। टोडरमल स्मारक भवन के निर्माण की प्रेरणा देने मे पडितजी प्रमुख थे। यह समारोह अपने ढग का एक अभूतपूर्व समारोह था जिसमे स्थानीय एव बाहर के हजारो व्यक्तियो ने भाग लिया। समारोह के आयोजन मे पडित जी साहब के व्यक्तित्व की प्रमुख छाप रही। पूज्य श्री कानजी स्वामी अपने सघ के साथ समारोह मे पधारे और स्मारक भवन का उद्घाटन किया। इसी अवसर पर 'वीरवाणी' का टोडरमल जयन्ती स्मारिका विशेषाक निकाला गया। स्मारिका के सम्पादक मंडल मे पडित जी के अतिरिक्त प० फूल चन्द जी सिद्धात शास्त्री, सेठ खेमचन्द जेठावाल, पं० हरिलाल जैन, प० भवरलाल न्यायतीर्थ एव डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल थे। विशेषाक की सभी ओर से प्रशसा की गयी।

राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित

पंडित जी साहब की शिक्षा के क्षेत्र मे की गयी विशिष्ठ सेवाओ को देखते हुए भारत सरकार की ओर से उन्हे राष्ट्रीय शिक्षक पुरस्कार से सम्मानित किया गया। जयपुर समाज के किसी भी विद्वान का ऐसे राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित होने का यह प्रथम अवसर था। पडित जी के इस सम्मान से सारे नगर मे ही नही किन्तु देश मे प्रसन्नता व्यक्त की गयी। अनेक सस्थाओ द्वारा पडित जी का अभिनन्दन दिया गया। जोबनेर के शान्तिवीर जैन गुरुकुल द्वारा दिनाक ६-१०-६७ को विशेष समारोह आयोजित करके उन्हे मानपत्र समर्पित किया। इस समारोह मे १० हजार से भी अधिक जनता उपस्थित थी।

दर्शन सगोष्ठी

दिसम्बर १६६७ मे राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा एक दर्शन गोष्ठी का आयोजन किया गया। इस गोष्ठी का उद्घाटन पडित साहब ने किया। सेमिनार मे बगाल, बनारस, आन्ध्र के कितने ही विद्वान् सम्मिलित हुए थे। स्वय पडित जी ने इसमें स्याद्वाद पर अपना मौलिक निबन्ध पढा।

अन्तिम अभिनन्दन

पडित जी साहब का २२ जनवरी १६६६ को ७० वा जन्म दिवस मनाया गया। प्रात. उनके निवास स्थान पर शिष्य परिवार की ओर से उनका हार्दिक अभिनन्दन एव उनके दीर्घ जीवन की कामना की। रात्रि को एक सभा मे नागरिको की ओर से उनकी सेवाओ का स्मरण करते हुए उनके जीवन को देश के लिये महान् धरोहर बतलाया।

महायात्रा

लेकिन ४ दिन भी पूर्ण नही होने पाये कि दिनाक २६ जनवरी ६६ को १।। बजे वे सदा के लिये महायात्रा पर चल पडे। उनके आकस्मिक निधन ने सारे नगर को ही नही किन्तु देश एव समस्त समाज को स्तब्ध कर दिया। जयपुर मे जिसने भी उनकी मृत्यु के समाचार सुने वही रो पडा और पडित जी के अन्तिम दर्शन करने उनके घर की ओर चल पडा।

पडित जी की शवयात्रा मे नगर के हजारो व्यक्ति सम्मिलित हुए। यही नही पडित जी साहब के दर्शनो के लिये हजारो स्त्रिया गलियो एव बाजारो की छतो पर एकत्रित हो गयी और 'पडित चैनसुखदास जी की जय हो,' 'गुरुदेव अमर रहे' के नारो के मध्य सभी ने अश्रुपूरित नेत्रो से पुष्पाहार एव पुष्पवर्षा के साथ श्रद्धाजलिया समर्पित की। मार्ग मे जिसने भी पडित जी के मृत्यु के बारे मे सुना वही उनकी शव यात्रा के साथ हो गया।

पडित जी के निधन ने देश एव समाज के मानस को कम्पित कर दिया। समाज के विद्वान, समाजसेवी सस्थाओ के अधिकारी शोक सागर मे डूब गये। जयपुर नगर तो मानो अनाथ ही हो गया। उसके सिर पर से किसी का वरद हस्त उठ

गया। इस अवसर पर राजस्थान के राज्यपाल से लेकर सामान्य कार्यकर्ता ने अपनी श्रद्धाजलि समर्पित की। वास्तव में पडित जी पहिले व्यक्ति थे जिनके निधन पर जयपुर नगर में अनेक शोक सभाये आयोजित की गई हो। २६ जनवरी १९६९ को रात्रि को राजस्थान जैन सभा के तत्वावधान मे समस्त जैन समाज एव जयपुर के नागरिको की ओर से पंडितजी साहब की महान सेवाओ का स्मरण करते हुए उन्हे सादर श्रद्धाजलि अर्पित की गई। राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग एव महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर की ओर से पंडित जी की संस्कृत साहित्य के प्रति की गई सेवाओ का स्मरण करते हुए हार्दिक श्रद्धाजलि समर्पित की गई। दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी प्रबन्ध कारिणी कमेटी की ओर से उसी रात्रि को शोक सभा आयोजित की गई और पंडित जी द्वारा की गयी क्षेत्र की सेवाओं की स्मृति मे 'प० चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ' निकालने का निश्चय किया गया। राजस्थान के नवोदित तीर्थक्षेत्र पद्मपुरा की प्रबन्ध कारणीकमेटी द्वारा अपनी आवश्यक बैठकमे पंडितजी की सेवाओ की भूरी भूरी प्रशंसा की गई। पडित जी क्षेत्र कमेटी के प्रारम्भ से ही प्रमुख सक्रिय सदस्य रहे। राजस्थान जैन साहित्य परिषद् ने पंडित जी साहब के निधन को साहित्यिक क्षेत्र मे एक भारी आघात माना। पडित जी साहित्य परिषद् के पहिले अध्यक्ष एव फिर उसके सरक्षक रहे थे। इसी तरह दिगम्बर जैन शिक्षा परिषद् की प्रबन्ध कारिणी कमेटी ने पडित जी के निधन को समाज के लिये गहरा सकट माना।

दिगम्बर जैन सस्कृत कालेज की प्रबन्ध कारिणी कमेटी ने उनके ३७ से भी अधिक वर्षो की सेवाओ का स्मरण करते हुए कालेज को वर्तमान रूप देने मे उनके योगदान को याद किया और उनका कालेज भवन मे एक चित्र लगाने का निश्चय किया गया। इसी तरह जैन इतिहास निर्माण समिति जयपुर, वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, जयपुर, आचार्य विनयचन्द ज्ञान भण्डार (शोध प्रतिष्ठान), दिगम्बर जैन औषधालय, जयपुर, श्री वीर सेवक मण्डल, महावीर दि० जैन बालिका विद्यालय, ज्ञान बाल निकेतन, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी माध्यमिक विद्यालय, ज्ञान विद्यालय, प्रवन्ध-कारिणी कमेटी दि० जैन मन्दिर ठोलियान, प्रबन्ध-कारणी कमेटी दि० जैन मन्दिर बडा दिवान जी, राजस्थान दि० जैन परिषद, भारत जैन महामण्डल जयपुर शाखा, दि० जैन मुमुक्षु मडल आदि अनेक संस्थाओ ने पंडित जी के निधन को देश एव समाज के लिये महान संकट स्वीकार किया।

दिनाक २-२-१९६९ को महावीर पार्क मे एक सार्वजनिक शोक सभा का आयोजन राजस्थान के भूतपूर्व मुख्यमत्री श्री हीरालाल शास्त्री की अध्यक्षता मे किया गया। इसमें जयपुर के प्रमुख नागरिको ने तथा विभिन्न सस्थाओ के प्रतिनिधियों ने पडित जी के गुणो के प्रति प्रकाश डालते हुए अपनी अपनी हार्दिक श्रदान्जलि समर्पित की गयी।

गुण-पूजा

इस अवसर पर जयपुर के सर्वाधिक लोक प्रिय दैनिक पत्र "राजस्थान पत्रिका" के सम्पादक ने दिनाक २९ जनवरी के अक के सम्पादकीय मे पडित जी के व्यक्तित्व के समबन्ध मे निम्न उद्गार प्रकट किये।

"पं० चैनसुखदास के निधन से राजस्थान की विद्वन्मंडली का एक बहुमूल्य रत्न जाता रहा है। स्वर्गीय चैनसुखदास उच्चकोटि के विद्वान् शास्त्र मर्मज्ञ, व्याख्याता, वक्ता, लेखक, समाज सुधारक तथा समाज सेवी थे। वह जैन धर्म के अनुयायी थे, परन्तु जैन धर्मावलम्बियो मे आम तौर पर जो धार्मिक कट्टरता पाई जाती है, वह उनमे लेशमात्र

भी न थी। वे किसी धर्म की आलोचना नही करते थे, बल्कि सभी धर्मों के मूल तत्वो की एकता पर जोर देते थे। इस दृष्टि से उन्हे जैन धर्म के मूल सिद्धान्त स्याद्वाद का प्रतीक माना जा सकता था।

हम कामना करते हैं कि हमारी रत्नगर्भा मातृभूमि स्वर्गीय पडित जी की कोटि के विद्वान उत्पन्न करे जो आज के युग मे फैले हुए अन्धकार मे भटकते हुए लोगो को प्रकाश की किरण बन कर रास्ता दिखायें।"

पडित सा० की जन्म-भूमि भादवा मे जब निधन का समाचार पहुचा तो सारा गाव उनके निधन से शोकाकुल हो गया और एक दिन की पूर्ण हडताल रखी गयी। इसी दिन एक सभा करके पूज्य गुरुदेव को समस्त ग्रामीण समाज ने भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

कलकत्ता

कलकता नगर मे पंडित जी के निधन के समाचारो ने समस्त जैन समाज को शोकाकुल कर दिया। दिनाक २७ जनवरी को बजबज जैन समाज द्वारा और दिनाक २ फरवरी को अहिंसा प्रचार समिती हाल मे २१ सस्थाओ की ओर से श्री नन्दलाल जी जैन की अध्यक्षता मे एक शोक सभा का आयोजन किया गया। सभा मे अनेक वक्ताओ ने पडित जी साहब के जीवन एव उनकी विभिन्न क्षेत्रो मे की गई सेवाओ पर प्रकाश डाला गया तथा एक शोक प्रस्ताव पारित करके उनके प्रति हार्दिक श्रद्धाजिलियाँ अर्पित की गयी। यह शोक सभा नगर की सस्थाओ की ओर से आयोजित की गई थी।

अ० वि० जैन मिशन कार्यालय मे एक शोक सभा का आयोजन हुआ जिसमे समाज के प्रख्यात मनीषी आर्ष ग्रन्थो के आधुनिक व्याख्याता श्रीमान् नैनसुखदास न्यायतीर्थ के निधन पर शोक प्रकट हुआ। डा० महेन्द्रसागर प्रचडिया, केन्द्रीय सह सचालक ने पडित जी के कृतित्व और व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला और इसे सारस्वत जगत मे अनर्थकारी घटना कहा। उनकी कृति 'अर्हत प्रवचन' के कुछ श्लोको को दुहरा कर उन्हे श्रद्धाजलि अर्पित की गयी।

देश एव समाज के नेताओ, विद्वानो, समाज सेवियो एव नवयुवको ने भी पडित जी के निधन को साहित्य एव सस्कृति के लिये गहरा आघात माना। उपाध्याय विद्यानन्द मुनि ने उन्हे कपडे से ढके मुनि के समान सज्ञा दी तथा आचार्य विमलसागर जी ने उन्हे समाज निधि मानकर उनकी अत्मा को शान्ति लाभ की कामना की। राजस्थान के तत्कालीन राज्यपाल सरदार हुकुमसिह ने पडित जी को सस्कृत एव दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् के रूप मे स्वीकार किया। श्रावक शिरोमणि साहु शान्तिप्रसाद जैन ने उन्हे देश के वरिष्ठ एव सच्चे नेता के रूप मे स्मरण किया। नवभारत टाइम्स के सम्पादक अक्षयकुमार जैन ने उन्हे परहितकारी एव विद्रोही मान कर श्रद्धाजलि अर्पित की। डाइरेक्टर सस्कृत शिक्षा राजस्थान श्री स्व० के० माधवकृष्ण ने उनके जीवन को एक ज्ञान यज्ञ के रूप मे स्वीकार किया। प० मोतीलाल जोशी, महामन्त्री राजस्थान सस्कृत साहित्य सम्मेलन ने उनको सस्कृत साहित्याकाश के ज्वाजल्यमान नक्षत्र के रूप मे स्मरण किया। डा० ज्योतिप्रसाद जैन लखनऊ ने पडित जी के निधन को जैन जगत् पर अनभ्रवज्रपात बतलाया। डा० मण्डन मिश्र, सचिव एव निदेशक श्रीलालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय सस्कृत विद्यापीठ ने प डत जी के निधन को भारतीय सस्कृति की अपूरणीय क्षति माना। कलकत्ता के प्रसिद्ध समाज सेवी स्व० लाला जुगमन्दिर दास जैन पडित जी के निधन के समाचार सुनकर अत्यधिक मर्माहत हो गये। अ० भा० दि० जैन विद्वत् परिषद् के अध्यक्ष डा० दरबारी लाल कोठिया ने पडित जी को समाज का स्वाभिमानी, समाजसेवी, साहित्यसाधक, निष्पक्ष

समालोचक, कुशल पत्रकार, प्रभावशाली प्रवक्ता एव सहृदय प्राध्यापक के रूप में मानते हुए अपनी श्रद्धांजलि समर्पित की। अणुव्रत एव जैन जगत् के सम्पादक श्री रिषभदास राका ने पडित जी को राष्ट्र एव मानवता प्रेमी बतलाया तथा उन्हे जैन एकता का सच्चा समर्थक कह कर अपनी सादर श्रद्धांजलि समर्पित की। राजस्थान विधान सभा के तत्कालीन अध्यक्ष श्री निरजननाथ आचार्य ने पडित जी के निधन को अपनी व्यक्तिगत क्षति माना। डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने पडित जी को जैन सिद्धान्त का महान् विद्वान् बतलाकर अपनी श्रद्धांजलि समर्पित की। सस्कृत साहित्य मडल नयी दिल्ली ने पडित जी को समाज की अनन्य विभूति स्वीकार किया। अ० भा० दि० जैन शास्त्री परिषद् के मन्त्री श्री बाबूलाल जमादार ने श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए कहा कि उन जैसा उदार नेता, गरीब छात्रों का आश्रयदाता, समाज हित चिन्तक विद्वान् मिलना कठिन है। स्व० डा० नेमिचद शास्त्री आरा ने कहा कि साहित्य निर्माता, प्राध्यापक एव प्रधानाचार्य के रूप मे पडित जी ने अखिल भारतीय जैन समाज की अभूतपूर्व सेवा की है"। डा० रामजीसिंह दर्शन अध्यक्ष विभाग भागलपुर विश्वविद्यालय ने पडित जी के प्रति श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए कहा कि पंडित जी ने ठीक कर्मयोगी की तरह अपने आपको एक सस्या बना डाला था।

जैन दर्शन के सम्पादक डा० लालबहादुर शास्त्री ने पंडित जी के निधन को विद्वत् ससार की अपूरणीय क्षति माना। राजश्री पिक्चर्स प्राइवेट लिमिटेड बम्बई के श्री ताराचन्द बडजात्या ने पडित जी के निधन को जैन जगत् के लिये महान् क्षति स्वीकार की। तत्कालीन गृहमन्त्री राजस्थान सरकार श्री दामोदरलाल व्यास ने पंडित जी को गिने चुने सम्मानित विद्वानों में से एक मान कर अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित की।

इसी तरह देश के सैकडो विद्वानो एवं समाज सेवियो ने पडित जी के निधन पर पडित जी के गुणो को विभिन्न रूपो में स्मरण करते हुए उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित की। देश के ऐसे ही सम्माननीय व्यक्तियों मे श्रीमती चन्दाबाई आरा, पं० ब्रजसुन्दर शर्मा भूतपूर्व चिकित्सा एव श्रम मन्त्री, राजस्थान, मूलचन्द जी पाटनी बम्बई, श्री राजकुमारसिंह जी कासलीवाल, इन्दौर, श्री प्रेमचन्द जैना वाच कम्पनी दिल्ली, श्री लाला उग्रसेन जैन कानपुर, डा० वासुदेवसिंह वाराणसी, डा० गोकलचन्द जैन वाराणसी, स्व० श्री अनतराज वैद्य उज्जैन, प्रो० ईश्वरानन्द शर्मा डूंगरपुर, डा० महेन्द्र भानावत, उदयपुर, श्री कोमल कोठारी पीपाड़ शहर, श्री बशीधर शास्त्री कलकत्ता, प्रो० उदयचन्द जैन वाराणसी, पं० गोपीलाल अमर सागर, प० नाथूलाल जी शास्त्री, इन्दौर, सेठ सुनहरीलाल जैन आगरा, श्री महावीरप्रसाद, गोधा मिर्जापुर, रमेशचन्द जैन देहली, वाचस्पति उपाध्याय वाराणसी, प्रो० खुशालचन्द गोरेवाला, डा० राजाराम जैन आरा, प राजकुमार शास्त्री निवाई, लाला भगतराम जैन देहली, श्री लालचन्द कासलीवाल कलकत्ता, श्री गजानन्द डेरोलिया श्री महावीरजी, नन्हेलाल शास्त्री राजाखेडा, प० पन्नालाल साहित्याचार्य सागर, माई दयाल जैन देहली, भंवरलाल सेठी इन्दौर, श्री देवकुमारसिंह इन्दौर, फतहचन्द सेठी, अजमेर, मिलापचन्द रतनलाल कटारिया केकडी, लखमीचन्द चौधरी सोनागिर, डा० कैलाशचन्द जैन उज्जैन, प० परमेष्ठीदास जी जैन ललितपुर, चांदमल नलबाड़ी (आसाम), श्री रतनलाल छावडा टोंक, श्री रामचन्द्र जैन श्री गगा नगर, प० दीपचन्द पाड्या केकडी, प्रो० रामावतार शर्मा उदयपुर, सुरेशकुमार जैन गार्गीय पानीपत, पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, डा. राजकुमार जैन

आगरा, डा नाथूलाल पाठक लाडपुरा कोटा, प० रूप नारायण शर्मा न्यू देहली, हीराचन्द बोहरा कलकत्ता, डा० केशरीमल ठोलिया साभरलेक प्रो० अमृतलाल शास्त्री वाराणसी, स्व० चिरजीलाल बडजात्या वर्धा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

जयपुर मे पडित जी शिष्यो ने एव सभी सामाजिक एव राजनैतिक कार्यकर्त्ताओ ने पडित जी के निधन पर जिस रूप मे गहरा शोक एव हार्दिक वेदना प्रकट की वह सदा स्मरणीय रहेगी। वीरवाणी का प० चैनसुखदास श्रद्धांजलि अक निकाला गया और उसमे प० भवरलाल न्यायतीर्थ, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, प० मिलापचन्द शास्त्री, प०अनूपचन्द न्यायतीर्थ, प्रकाशचन्द कासलीवाल जैम पॅलेस, गुरज्ञानीचन्द न्यायतीर्थ, वैद्य प्रभुदयाल भिषगाचार्य, डा० ताराचन्द बख्शी, प० भवरलाल पोल्याका, वैद्य फूलचन्द शास्त्री, प्रो० प्रेमचन्द रावका, श्रीमती सुशीलादेवी कासलीवाल आदि ने विभिन्न लेखो के माध्यम से अपने हृदय के उद्‌गार प्रकट किये और सबको ऐसा अनुभव हुआ जैसा उनका सर्वाधिक हितैषी व्यक्ति सदा के लिये चला गया है।

हजारों शिष्यो के गुरु

पडित जी के १००-२०० शिष्य नही किन्तु उनकी सख्या हजारो मे है। इसके अतिरिक्त सभी उनके शिष्यत्व को स्वीकार करना चाहते थे। उन्होने विद्यार्थियो को न्यायतीर्थ की उपाधि दिलायी, शास्त्री एवं आचार्य उपाधि परीक्षाऐं पास करायी। बी. ए एव एम० ए० के विद्यार्थियो को पढाया और यही नही पी एच० डी० एव डी० लिट्० जैसे उच्च-स्तरीय उपाधियो को प्राप्त करने मे उन्होने अपने विद्यार्थियो का मार्ग-दर्शन किया। ऐसे शिष्यो मे डा० कैलाशचन्द जैन, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एव डा० कमलचन्द सोगाणी का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। आज इन विद्वानो द्वारा जैन साहित्य एव सस्कृति की जो सेवा हो रही है उन सब मे उन्ही की प्रेरणा काम कर रही है। उनके प्रमुख शिष्यो मे प० भवरलाल जी न्यायतीर्थ, प० मिलापचन्द जी शास्त्री, पं० अनूपचन्द जी न्यायतीर्थ, पं० गुलाबचन्दजी दर्शनाचार्य, प० सत्यधरकुमार सेठी, प० चिरजीलाल जी जैन दर्शनाचार्य, प० कीर्तिचन्द जी जैन दर्शनाचार्य के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

कृतित्व

प चैनसुखदास जी का जितना महान् व्यक्तित्व था उतना ही उनका महान् कृतित्व भी था। कृतित्व शक्ति उन्हे जन्मजात प्राप्त थी। कहानी एव निबन्ध तो वे लिखते ही रहते थे। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी एव राजस्थानी भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। वे दर्शनिक थे इसलिये दर्शन शास्त्र की कितनी ही गुत्थियो को वे अपनी कृतियो मे सुलझाया करते थे। देश के विभिन्न दैनिक, साप्ताहिक एव मासिक पत्र-पत्रिकाओ मे उनके लेख प्रकाशित होते रहते थे। यदि उनकी साहित्यिक शक्ति का का पता लगाना हो तो जैन दर्शन, जैन बन्धु एव वीरवाणी की फाइलें उठाकर देख लीजिये आपको उनमे उनकी बहुमुखी प्रतिभा के दर्शन हो सकेंगे। इन पत्रिकाओ की अधिकाश सामग्री वे हीं लिखते इसलिये उनकी लेखनी अजस्र चलती रहती। नपे तुले शब्दो मे और वे भी सीधे सरल किन्तु आकर्षक शब्दो से ओतप्रोत उनकी हम कृतियो को पायेंगे। उनकी कृतिया गागर मे सागर का कार्य करती है जो उनकी शब्दो के चयन शक्ति का परिचय देती है। पडित जी द्वारा सम्पादित एव निबद्ध कृतियो के नाम निम्न प्रकार हैं:

१ जैन दर्शन सार — २. प्रद्युम्न चरित
३ भावना विवेक — ४. अर्हत् प्रवचन
५ प्रवचन प्रकाश — ६. सर्वार्थसिद्धिसार

७. दार्शनिक के गीत   ८. निक्षेपचक्र

९. संयम प्रकाश   १०. पावनयवाह

उक्त कृतियो में जैन दर्शनसार, भावनाविवेक, निक्षेपचक्र पावन प्रवाह एव दार्शनिक के गीत उनकी मौलिक कृतिया हैं। अर्हत प्रवचन, प्रवचन प्रकाश, सयम प्रकाश एव प्रद्युम्न चरित उनकी सम्पादित कृतिया है। इसी प्रकार सर्वार्थ सिद्धिसार उनकी संक्षिप्त की हुई कृति है। उक्त कृतियो के अतिरिक्त उनके सैंकडो निबन्ध, कहानिया, देश एव समाज के जन मानस को आदोलित करने वाले सैंकडो सम्पादकीय लेख एव टिप्पणिया उनके महान् एव विशाल कृतित्व शक्ति के परिचायक है। जैन समाज के सामयिक विषयो पर उनके उद्गार जन मानस को आदोलित करने वाले होते थे और वे पाठको के हृदय पर सीधी चोट करते थे। पत्रकारिता उनका स्वाभाविक गुण बन गया था। उनके लेख कल्याण, हिन्दुस्तान दैनिक, साप्ताहिक, नवभारत टाइम्स, राष्ट्रदूत एव राजस्थान पत्रिका आदि मे छपते रहते और इनके माध्यम से वे समाज एव राष्ट्र के बुद्धिजीवियो से सम्पर्क बनाये रखते थे। वास्तव मे एक ही व्यक्ति मे इतने अधिक गुण मिलना सहज सम्भव नही है।

पडित जी स्वभाव से चिन्तनशील थे। जैन दर्शन की अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्तण्ड, राजवार्तिक, गोम्मटसार, सर्वार्थसिद्धि, प्रमेयरत्नमाला एव समयसार जैसी कृतिया उनके स्वाध्याय का अग बन गयी थी इसलिये जो कुछ वे लिखते, बोलते उन सब मे इन महान् ग्रन्थो की छाया अवश्य दृष्टिगोचर होती थी। भावना विवेक, पावन प्रवाह, दार्शनिक के गीत एव जैदनर्शनसार जैसी कृतियो मे उनका मौलिक चिन्तन मिलता है।

१. जैनदर्शनसार

जैन दर्शन के प्रमुख विषयो पर निबद्ध 'जैन दर्शनसार' पंडित जी की महत्वपूर्ण मौलिक कृति है। जैन दर्शन के सभी गूढ तत्वों को विद्वान् लेखक ने जिस प्रकार प्रस्तुत किया है वह उनके गम्भीर ज्ञान का परिचायक हैं। जैन दर्शन पर अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, सर्वार्थसिद्धि जैसे कितने ही महान् ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं लेकिन वे तो अथाह समुद्र के समान हैं जिनमे तैरना प्रत्येक पाठक के लिये सहज नही है। इसी दृष्टि को ध्यान मे रख कर पडित जी ने जैनदर्शनसार की रचना की। वास्तव मे जैन दर्शन पर ऐसा सागोपाग ग्रन्थ गत सैंकडो वर्षों मे भी नही लिखा जा सका। यही कारण है उसे प्रकाशित होते ही राजस्थान विश्वविद्यालय मे एम.ए. (सस्कृत) के पठ्यक्रम मे स्वीकृत कर लिया गया।

'जैनदर्शनसार' मे चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय मे जीवतत्व के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला गया है। उसके उपयोगमयत्व, अमूर्त्तित्व, कर्त्तत्व, स्वदेहपरिमाणत्व तथा उद्धवगतित्व स्वभाव के सम्बन्ध मे विवेचन किया गया है। इसी अध्याय में अजीव तत्व तथा उसके प्रमुख स्वरूप पुद्गल द्रव्य के साथ ही मे धर्म, अधर्म, आकाश एव काल द्रव्य पर भी सुन्दर प्रकाश डाला गया है। इसी के आगे आस्रव, बध, सवर, निर्जरा एव मोक्ष तत्वो पर महत्वपूर्ण वर्णन मिलता है। इस प्रकार पंडित जी ने एक ही अध्याय मे जैन दर्शन के षड् द्रव्यो एवं सात तत्वो का विषद वर्णन करके अपनी स्वाभाविक प्रतिभा का परिचय दिया है।

ग्रन्थ के दूसरे अध्याय मे जैन धर्म के दार्शनिक स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है और प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ ही स्मृति प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान एवं आगम प्रमाण का स्वरूप एव उनके लक्षण का वर्णन मिलता है। प्रस्तुत वर्णन प्रमेयकमलमार्तण्ड एव अष्टसहस्री मे उपलब्ध वर्णन के आधार पर आधारित है लेकिन पडित जी ने दर्शन शास्त्र के इन

गूढ लक्षणो को बहुत ही सरल शब्दो मे प्रस्तुत करके अपनी दार्शनिक एव तर्कणाशक्ति का परिचय उपस्थित किया है। छोटे छोटे वाक्यो मे दार्शनिक शब्दो के लक्षण प्रस्तुत करना सरल नही है किन्तु पंडित जी ने उसे भी सरल बना दिया है।

तीसरे अध्याय मे नय के लक्षण के पश्चात् स्याद्वाद एव सप्तभंगी का विवेचन पडित जी की महत्वपूर्ण देन है। प्रत्येक वस्तु मे सात भग किस प्रकार उपलब्ध होते हैं इसे उदाहरण के द्वारा अच्छी तरह समझाया गया है। सप्तभगी के दो भेद किये है एक प्रमाण सप्तभगी एवं दूसरी नय सप्तभंगी। अनेकान्त का लक्षण ही नही किया है किन्तु क्या अनेकान्तवाद छल मात्र है, क्योकि एक ही वस्तु को नित्य एव अनित्य, एक एव अनेक, बतलाया गया है और इस प्रकार विविध शका समाधानो के साथ अनेकान्त एव स्याद्वाद के स्वरूप का विश्लेषण किया है।

इसी अध्याय मे अहिंसा तत्व का विस्तृत वर्णन है। किसी भी दार्शनिक ग्रन्थ मे अहिंसा का वर्णन नही मिलता है लेकिन पडित जी साहब ने उसका भी वर्णन प्रस्तुत करके आज के युग की माग पूरी की है। अपने अहिंसा तत्व के कथन मे उन्होने ज्ञानार्णव, एव समयसार के वर्णन को मुख्य आधार बनाया है और अहिंसा को भगवती के रूप मे प्रतिष्ठित किया है।

इसी अध्याय की एक और विशेषता है'—जाति' शब्द पर प्रकाश डालने का उपाय जैनधर्म जातिवाद के सिद्धान्त पर आधारित नही है। पडित जी ने इसमे लिखा है कि कर्म सिद्धान्त के अनुसार एकेन्द्रियादि भेद से पाच प्रकार की जातिया हैं। मनुष्य जाति एव पशु जाति भेद किया जा सकता है। ब्राह्मण एव क्षत्रिय जाति आदि भेद तो आचार भेद के कारण से कर दिया गया हैं जो सही नही है क्योकि वस्तु दृष्टि से न तो कोई ब्राह्मण है न क्षत्रिय और न वैश्य। अपने समर्थन मे उन्होने पूर्वोक्त आचार्यों के कथन को उद्धृत किया है। "जाति रेषा गुणैं सम्पद्यते गुणध्वंसैश्च विपद्यते। जातिर्हि गुणैं गुणेन कर्मणा वा भवति न तु जन्मना" इस प्रकार बहुत ही स्पष्ट होकर उन्होने जातिवाद पर करारी चोट की है।

इसके चतुर्थ अध्याय मे निक्षेप का वर्णन मिलता है। अर्थ का शब्दो मे और शब्दो का अर्थ मे आरोप करना ही निक्षेप कहलाता हैं निक्षेप नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव की अपेक्षा से चार प्रकार का है।

जैनदर्शनसार का प्रकाशन फरवरी सन् १९५० मे प्रथम बार हुआ। श्री सी० एस० मल्लिनाथन ने इसकी अंग्रेजी मे महत्वपूर्ण प्रस्तावना लिखी जिसमे जैन दर्शन के सभी पक्षो पर विद्वत्ता पूर्ण प्रकाश डाला गया है।

२. प्रद्युम्न चरित

हिन्दी की आदिकालिक कृति 'प्रद्युम्न चरित' कविवर राजसिंह की कृति है जिसे उन्होने सवत् १४११ मे पूर्ण की थी। हिन्दी विद्वानो ने इसे ब्रज भाषा की प्रथम कृति के रूप मे स्वीकार किया है। और इसके आधार पर ब्रज भाषा साहित्य की कितनी ही दिशाओ का परिचय प्राप्त होता है। इसमे श्रीकृष्ण जी के पुत्र प्रद्युम्न का जीवन चरित का वर्णन मिलता है। इसमे ७०१ छन्द हैं इसलिये कितने ही विद्वान् उसे सतसई रचना भी कहते है। इसकी पाण्डुलिपि जयपुर के दिगम्बर जैन मन्दिर पाटोदी के शास्त्र भण्डार मे सग्रहीत है।

प्रद्युम्न चरित का सम्पादन पडित जी ने और डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने मिल कर किया तथा इसका प्राक्कथन डा० माताप्रसाद जी गुप्त ने लिखा। उस समय वे इलाहबाद विश्वविद्यालय मे हिन्दी के रीडर थे। उन्होनें अपने

ह. १९ प्राक्कथन मे हिन्दी के आदिकाव्य पर विस्तृत प्रकाश डाला तथा ऐसी अलभ्य एवं अज्ञात कृतियो के प्रकाशन की अत्यधिक प्रशसा की। ुम्न चरित की दोनो सम्पादको ने खोजपूर्ण ्तावना लिखी जिसमे हिन्दी के आदिकाल के विकास पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। जैन विद्वान द्वारा रचित हिन्दी काव्य का ऐसा सुन्दर प्रकाशन श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी के साहित्य शोध विभाग की ओर से किया गया। उसके प्रकाशक थे क्षेत्र के तत्कालीन मन्त्री श्री केशरलाल जी बख्शी।

प्रद्युम्न चरित की उपलब्धि एव प्रकाशन का परिचय जब हिन्दी के विद्वानो को मिला तो उसकी सर्वत्र प्रशसा की गयी। हिन्दी के महारथी विद्वान, महापडित राहुल साकृत्यायन, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० रामसिंह तोमर प्रभृति विद्वानो ने ऐसी महत्वपूर्ण कृति का हार्दिक स्वागत किया और उसे हिन्दी जगत् के लिए महान उपलब्धि बतलाया।

३. भावना विवेक

भावना विवेक पंडित जी साहब की मौलिक सस्कृत कृति है जिसमे सोलह कारण भावनाओ पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। पूरी कृति मे ३१० पद्य हैं। पडित जी ने इस कृति को कब पूर्ण की थी इसका तो उन्होने कही उल्लेख नही किया किन्तु यह कृति हिन्दी अनुवाद सहित ३३ वर्ष पूर्व सवत् १९९८ के भाद्रपद मास में सद्बोध ग्रन्थ माला जयपुर की ओर से प्रकाशित हुई थी। हिन्दी अनुवादक हैं प० भवरलाल न्यायतीर्थ (जो पडित जी के प्रमुख शिष्यो मे से हैं) सस्कृत भाषा मे इस प्रकार की कृति प्रथमबार उपलब्ध करा कर पडित जी ने स्वाध्याय प्रेमियो के लिये महान् कार्य किया। इस कृति मे उनकी विद्वत्ता सहज दृष्टव्य है। तथा वह उनकी काव्य निर्माण शक्ति की सहज परिचायक भी है।

'षोडशकारण भावना' से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। जैन समाज मे भाद्रपद मास मे षोडशकरण की प्रतिदिन पूजा की जाती है तथा शास्त्र सभाओ मे उसके महत्व पर प्रकाश डाला जाता है। लेकिन इतना होने पर भी षोडशकारण भावना पर अब तक कोई स्वतंत्र कृति उपलब्ध नही होती थी। पडित जी का इस कमी की ओर ध्यान गया और उन्होने षोडशकारण भावनाओ पर एक स्वतत्र कृति की रचना कर डाली।

४. अर्हत् प्रवचन

यह पंडित जी की संकलित एव सम्पादित कृति है। इसमें प्राकृत भाषा के प्रमुख ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड, पचास्तिकाय, द्रव्यसग्रह जैसे कुछ प्रमुख ग्रन्थों मे से भगवान महावीर द्वारा निरूपित सिद्धान्तो पर आधारित प्राकृत गाथाओ का सकलन किया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के अतिरिक्त गुणस्थान, श्रावक, आत्म प्रशंसा, पर निंदा, शील, संगति, वैराग्य, श्रमण, तप आदि कुछ सामयिक विषयो पर निबद्ध महत्वपूर्ण गाथाओ का सकलन किया गया है। गाथाओ के नीचे हिन्दी अर्थ दिया गया है। पडित जी साहब ने इसके सकलन मे पर्याप्त परिश्रम करके पाठको को महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध कराई है। इस कृति की लोकप्रियता इससे स्पष्ट है कि अब तक देश के कितने ही विश्वविद्यालयो ने इसे पाठ्य पुस्तक के रूप मे स्वीकृत कर लिया है। इसका प्रथम सस्करण सितम्बर सन् १९६२ मे प्रकाशित हुआ था।

५ प्रवचन प्रकाश

'अर्हत् प्रवचन' के सकलन एव सम्पादन के पश्चात् पडित जी ने सस्कृत ग्रन्थो मे से एक और सकलन 'प्रवचन प्रकाश' के नाम से सम्पादित करके उसे २२ नवम्बर ६८ को प्रकाशित कराया। इसमे विविध चरित काव्यों, पुराण सज्ञक काव्यो, स्तोत्रों

एव महाकाव्यो मे से १७ विषयो पर आधारित सस्कृत पद्यो का सकलन किया गया है। ये विषय सर्वसाधारण के लिये भी अत्यधिक उपयोगी हैं। प्रवचन प्रकाश के प्रमुख विषय हैं—आत्मा, धर्म, कषाय विजय, पाप और उसका निरोध, आशा पिशाची, विषय भोगो की मृग मरीचिका, वैराग्य का कायाकल्प, इंद्रिय मनोविजय, मोहद्वन्द्व, साम्य-भाव, भक्ति, ध्यान आदि। वैसे स्वय पडित जी ने अपने प्राक्कथन मे लिखा है कि "यह सकलन भी मैंने अपने ही स्वाध्याय के लिये सम्पादित किया है।" प्रस्ताव पर अभिमत लिखते हुए स्व. श्री के माधव-कृष्ण शर्मा निदेशक सस्कृत शिक्षा राजस्थान ने लिखा है कि "श्री चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश व हिन्दी साहित्य एव विशेषत जैन साहित्य व दर्शन के उच्च कोटि के विद्वानो मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आपने अपनी इस नवीन कृति 'प्रवचन प्रकाश' द्वारा प्राच्य विद्या प्रेमियो को और भी अधिक ऋणी बना दिया है।"

अर्हंन् प्रवचन के समान ही प्रवचन प्रकाश का भी विद्वान् समाज एव स्वाध्याय प्रमियो द्वारा खूब स्वागत किया गया। इसके उपोद्घात मे भी सम्पादक ने विभिन्न विषयो पर बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाला हैं। यह पडितजी की अन्तिम कृति है।

६ सर्वार्थसिद्धिसार

तत्वार्थ सूत्र पर आचार्य पूज्यपाद की सस्कृत टीका सर्वार्थसिद्धि के नाम से प्रसिद्ध है। सर्वार्थ-सिद्धि का सिद्धान्त ग्रन्थो मे महत्वपूर्ण स्थान है। यह एक विशालकाय ग्रन्थ है। पडित जी साहब ने इसका सक्षिप्तीकरण किया और ग्रन्थ के पूरे विषयो को सार रूप मे प्रस्तुत करके अपनी महान् विद्वत्ता से सबको लाभान्वित किया। तीसरा एव चौथा अध्याय जिसमे स्वर्ग एव नरक का वर्णन मिलता है उसे इस सस्करण मे स्थान नही दिया। प्रस्तुत पुस्तक राजस्थान विश्वविद्यालय के एम०ए० (सस्कृत) के पाठ्यपुस्तक मे कितने ही वर्षों तक स्वीकृत रही थी। इसका प्रकाशन मई सन् १९५१ मे श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी के साहित्य शोध विभाग की ओर से हुआ था।

७ दार्शनिक के गीत

पडित जी लेखक ही नही थे किन्तु दार्शनिक कवि भी थे। कविता करना उन्हे अत्यधिक रुचिकर लगता था। पडित जी ने अपना जीवन भी सम्भवत एक कवि के रूप मे प्रारम्भ किया। ४० वर्ष तक की आयु मे उन्होने सैकडो कवितायें एव गीत लिखे और उनमे अपने दार्शनिक स्वभाव की अमिट छाप छोडी। पडित जी की मृत्यु के पश्चात् उनकी कविताओ का एक सग्रह "दार्शनिक के गीत" नाम से प्रकाशित हुआ। इस सग्रह मे उनकी कविताओ का सकलन है। सभी कवितायें उच्चस्तरीय एव भावपूर्ण हैं। इस सग्रह के अतिरिक्त अभी और भी कवितायें है जो जैन दर्शन, जैनबन्धु, वीरवाणी आदि पत्रो मे प्रकाशित हो चुकी हैं। पडित जी को शेष तीन रचनाओ का परिचय स्मृति ग्रन्थ के दूसरे भाग मे दिया गया है।

पत्रकार की दृष्टि से

पडित जी जीवन भर पत्रकार बने रहे। अध्ययन समाप्त करने एव जयपुर आने के पश्चात् ही वे किसी न किसी पत्र का सम्पादन करते रहे। पहिले 'जैनदर्शन' निकाला, फिर 'जैनबन्धु' का सम्पादन किया और अन्त मे 'वीरवाणी' का सम्पादन प्रारम्भ किया। इन सभी पत्रो के माध्यम से उन्होने जैन जगत् को ही नही किन्तु समस्त देश को जो बौद्धिक प्रेरणा दी वह इतिहास मे अनूठी मानी जावेगी। पडित जी स्वतन्त्र विचारक थे तथा जो कुछ लिखते थे अपने विचारो के अनुसार ही लिखते थे। उन्होने सामाजिक आन्दोलन चलाये। सामा-जिक आन्दोलनो का उन्होने जिस सफलता के साथ

किसी को कैसे प्रोत्साहित किया जाता है

प्रो० भागचन्द जैन 'भागेन्दु'

श्रद्धेय प० चैनसुखदास जी के ि.धन से भारतीय साहित्य और सस्कृति के लिए एक अपूरणीय क्षति हुई है। वे उच्चकोटि के साधक और सरस्वती के आराधक थे। उदारता, सरलता त्याग, कारुण्य आदि सद्गुण उनके माध्यम से मानो मूर्त्तमान हो उठे थे, विद्वत्ता साकर हो उठी थी। उनका दृष्टिकोण बहुत सुलझा हुआ था। वे स्वस्थ, चिन्तक ,कुशलवक्ता, साहित्यकार और कर्तव्यनिष्ठ अध्यापक के रूप मे देखे गये। उनकी सेवाएं सभी को सुलभ थी।

कल्पतरु

अनेक ग्रन्थ, पत्र-पत्रिकाए और संस्थाएं पं० जी के जीवन्त स्मारक तो हैं ही, उनकी प्रतिभा से प्रेरणा, प्रोत्साहन और लाभ प्राप्त करने वाले भी उससे कम नही हैं। जब कभी जिस किसी के सामने कोई समस्या उपस्थित हई, प० जी उसके समाधान हेतु सर्दव प्रस्तुत रहते थे। अनेक शोधार्थियो को तो वे 'कल्पतरु' थे। प्रोत्साहित करने की क्षमता उनमे अभूतपूर्व थी। उनके एक पत्र ने ही मुझे उनका पूर्ण प्रशंसक बना दिया।

अब यद्यपि उनका पार्थिव शरीर शेष नहीं है, किन्तु उनका अनन्त कृतित्व तो अब भी विद्यमान है, विद्यमान रहेगा। उनके देहावसान से मै बहुत दु खी हूं तथा उनके पावन गुणों का स्मरण कर अपनी विनम्र श्रद्धाजलि तथा शतशः प्रणाम उन्हे अर्पित करता हूँ।

(शेष पृष्ठ ३८ का)

सचालन किया वह उनके महान् व्यक्तित्व एवं साहस का द्योतक है। उन्होने अपने पत्र मे सामाजिक रूढियो के विरुद्ध खूब लिखा और उनकी हृदय से भर्त्सना की। उनकी सम्पादकीय टिप्पणियो से समाज के कुछ व्यक्ति नाराज भी रहे किन्तु वे अपने मार्ग से नही हटे और समाज को बराबर सावधान करते रहे। उनके पत्र घाटे मे चलते रहे लेकिन उन्होने पैसे के लिये किसी के सामने हाथ नही पसारे। यह उनके जीवन की सबसे बडी विशेषता थी कि धन के लिये वे कभी भी किसी से दबे नही और न धनिको की व्यर्थ की प्रशसा की। वास्तव में वे सच्चे रूप में पत्रकार बने रहे।

इस प्रकार प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ ने विशाल साहित्य की रचना एव सम्पादन करके तथा सैकडो लेख एव टिप्पणिया लिख कर समाज एव देश को नयी दिशा प्रदान की। पंडित जी के देश मे हजारो शिष्य एव प्रशसक थे। वे उनके पास प्राय' आते रहते थे और अपने जीवन विकास के सम्बन्ध मे उनसे परामर्श लिया करते थे। पडित जी के पास आये हुए ऐसे सैकडो पत्र हैं जिनको पढ़ने से ज्ञात होता है कि वे कितने विद्यार्थियो के जीवन निर्माता थे तथा कितने विद्यार्थी उनसे पत्र व्यवहार करते रहते थे।

पं० चैनसुखदास जी और कुचामन विद्यालय

श्री सत्यंधरकुमार सेठी, उज्जैन

श्रद्धेय पडित जी जैन दर्शन के उद्भट विद्वान् तो थे ही लेकिन वे एक स्वतन्त्र विचारक और निर्भीक वक्ता भी थे। यह उनमे एक विशेषता थी। उन्होने जयपुर आने के बाद ३५ वर्ष तक निरन्तर शास्त्र सभा की। जिसमे जयपुर जैन समाज के चोटी के विद्वान्, वकील, उच्च पदाधिकारी, राज्य शासन के मन्त्रीगण तक सम्मिलित होते थे। वे अधिकतर अपने प्रवचनो मे सामाजिक एव धार्मिक रूढ़ियो के विरोध मे कहा करते थे। वे समाज और वर्तमान साधु जीवन मे व्याप्त अनुशासन हीनता पर बडे दुखी थे। समाज की वर्तमान दशा और साधु अवस्था से उनको बडी अन्त पीडा थी। वे समाज को क्रांतिकारी विचारो को अपनाने की प्रेरणा देते थे।

पंडितजी का जीवन एक सदाचार पूर्ण जीवन था। सादगी उनमे कूट-कूट कर भरी हुई थी। इतने बडे विद्वान् और प्रतिभासम्पन्न आदर्श पुरुष होते हुए भी उनमे कभी प्रतिष्ठा का लोभ और अभिमान के कारण नही देखे गये। वे एक सन्त पुरुष की तरह रहा करते थे और अजस्र साहित्य सेवा और समाज सेवा मे रत रहा करते थे।

जीवन परिचय

श्रद्धेय पण्डितजी का जन्म स्थान भादवा ग्राम था। उसी ग्राम मे मुझे भी जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनके चरणो के सानिध्य मे ही नही किन्तु उनका शिष्य रहने का सौभाग्य भी मुझे मिला है। जिस घर मे श्रद्धेय पण्डितजी का जन्म हुआ था वह एक सम्पन्न घराना था। आपके पिता श्री जवाहरलाल जी उस प्रान्त के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। वहा की सरकार के कामदार थे और थे शास्त्र सभा के प्रमुख वक्ता। लेकिन श्रद्धेय पण्डितजी अधिक समय तक उनका प्यार नही पा सके। वे छोटी सी उम्र मे इनको छोडकर परलोक चले गये। इनकी पूज्य मातेश्वरी का नाम धापूबाई था। वह बडी धर्मनिष्ठ एव सरल स्वभावी महिला थी। दो वर्ष की उम्र मे पडितजी के एक पैर पर पक्षाघात हो गया और वह जीवन पर्यन्त रहा।

पाच वर्ष की आयु मे भादवा जैन पाठशाला मे पढ़ने के लिए आपको बैठाया गया और थोडे से समय मे आपको धार्मिक ज्ञान अच्छा हो गया। इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर श्रीमान् केशरीमल जी गयाजी वाले इनको अपने साथ ले गये और बनारस स्याद्वाद महाविद्यालय मे भर्ती करवा दिया। उस समय आपकी आयु १६ वर्ष की थी। इस थोडी सी उम्र मे आपने न्यायतीर्थ परीक्षा पास की और आचार्य की प्रथम खण्ड व द्वितीय खण्ड की परीक्षा भी दे डाली। आपकी बुद्धि तीव्र थी। तर्क शक्ति अद्भुत थी। सस्कृत मे धारा प्रवाह रूप से आप बोला करते थे और सस्कृत-पत्रिका का सम्पादन भी किया करते थे।

आप अध्ययन समाप्त करने के बाद भादवा आ गये। वहा बराबर शास्त्र सभा किया करते थे।

हे से समय मे आस-पास मे आपकी काफी ख्याति गई ।

मन प्रवास

एक बार एक बरात मे आपको कुचामन जाना ा । वहा आपके आगमन से जैन समाज मे हल मच गई । एक अल्प वयस्क जैन विद्वान् को ाकर सब आनन्द से उछलने लगे और उन्होने एक वशाल आम सभा का आयोजन कर डाला । उस सभा के अध्यक्ष वहा के माने हुए विद्वान् पण्डित मधुसूदन थे । आपका जैन धर्म पर इतना सुन्दर व्याख्यान हुआ कि वहा की जैनाजैन सब ही जनता प्रभावित हुई और वहा के प्रसिद्ध सेठ गम्भीरमलजी पाड्या ने अपने विद्यालय मे रहने के लिए आग्रह किया और कहा कि मेरे विद्यालय मे प्रधानाध्यापक के पद पर बैठकर सेवा करने का अवसर दें । श्रद्धेय पण्डितजी ने क्षीण मुस्कराहट के साथ अपनी स्वीकृति दी और करीब १३ वर्ष तक आदर्श ढग से विद्यालय की अपूर्व सेवा की । आपका व्यक्तित्व मारवाड प्रान्त के कोने—कोने मे विखर गया और दूर-दूर से विद्यार्थी आकर आपसे शिक्षण लेने लगे । वहा के वोर्डिग ने एक विशाल रूप ले लिया । पण्डितजी प्रारम्भ से ही कट्टर धार्मिक रहे । आपके जीवन की छाप विद्यर्थियो की आत्मा पर चुम्बक की तरह लगती थी ।

आप हमेशा क्रातिकारी पुरुष रहे । उस समय मारवाड प्रान्त मे मिथ्यात्व का बोलबाला था । उसके खिलाफ आपने आवाज उठाई और आपके प्रभाव से समस्त सस्कार जैन विधि से होने लगे । आपने जैनत्व की मारवाड़ प्रान्त मे अपूर्व रूप से ध्वजा फहराई । आपके पास वही छात्र रह सकता था जो पहले कन्दमूल खाने का त्याग करता था ।

श्रद्धेय पण्डितजी ने विद्यालय की सेवाये एक सरक्षक के रूप मे की । कुचामन मे ठीक ४ बजे वे उठ जाते थे । स्वयं घटी बजाकर विद्यार्थियो को उठाते थे । स्वयं प्रार्थना मे खडे रह कर प्रार्थना करवाते थे और इसके बाद आप सबके बीच मे बैठकर याद करने को कहा करते थे । शाम को शास्त्र सभा मे स्वय बैठकर छात्रो से शास्त्र सभा करवाते थे और उनसे पूछा करते थे कि क्यों समझे । रात्रि को १० बजे तक लड़को को पढने का आदेश देते थे और कभी-कभी स्वय हाथ मे लाठी टेके-टेके बतौर जाच के पहुंच जाते थे । इसका यह परिणाम निकला कि वहा के छात्र अच्छे से अच्छे विद्वान् निकले जो समाज और धर्म सेवा मे आज भी अग्रसर है ।

पण्डितजी अंग्रेजी के जानकार नही थे । लोगो को यह मालूम नही था कि ये अग्रेजी नही जानते । एक दिन एक मियाँ तार लेकर आ गया । आपके हाथ मे तार थमा दिया । आप पढ़ नही सके । मिया को पूछा कोई बीमार था क्या । उसने कहा हा । तो पंडितजी ने तुरन्त कह दिया कि वह मर गया । दैवयोग से वह बात ठीक निकली । लेकिन उसके जाने के बाद आपको गहरा पश्चाताप हुआ और तय किया कि मैं शीघ्र अग्रेजी पढू । पण्डितजी हमेशा अपने सकल्प के धनी रहे है । और थोड़े दिनो मे अग्रेजी के वे अच्छे विद्वान् बन गये ।

इन सबके बीच कई बार आपके विवाह के प्रस्ताव आये । आपने मा के आग्रह को भी नही मानकर उन सब प्रस्तावो को ठुकराया । आपका बाल्यकाल से लेकर अन्तिम समय तक सारा जीवन एक साधक के रूप मे बीता । आप आदर्श बाल ब्रह्मचारी रहे । कभी भी विकार की रेखाएं युवा—वस्था मे भी आपके चेहरे पर देखने को नही मिली । वास्तव मे उस युग मे पडितजी एक महात्मा के रूप मे रहे और अपने जीवन को वढ़ाया ।

स्वतन्त्र विचारक

पंडितजी स्वतन्त्र विचारक थे। महासभा के नावा अधिवेशन मे जिसके सभापति सेठ गम्भीर मल जी पाड्या के छोटे भाई सेठ प्रभुलालजी थे विजातीय विवाह का विरोध करने हेतु पडितजी पर बहुत दबाव डाला गया लेकिन पडितजी महासभा के प्लेट फार्म पर भी जाने को तैयार नही हुए।

इसी तरह फतेहपुर महासभा के अधिवेशन की एक विचित्र घटना है। उस अधिवेशन मे मैं भी गया था। समाज मे श्रद्धेय पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी के खिलाफ आन्दोलन था। उन्होने एक मुसलमान को जैन बना दिया था। मैं उसको ठीक समझता था। करीब उस प्रतिष्ठा मे १५–२० हजार जैन भाई एकत्रित थे। स्वर्गीय पडित रघुनाथदासजी सरनौ शास्त्र सभा कर रहे थे। आदि पुराण मे त्रेपन क्रियाओ का वर्णन था। उन्होने कहा कि दीक्षान्वय क्रिया के आधार से कोई भी जैन हो सकता है। यह सुनते ही मैंने प्रश्न कर डाला कि जब हर एक जैन हो सकता है तो शीतलप्रसाद जी ने मुसलमान को जैन बनाकर क्या अन्याय किया। यह कहते ही सारा पडित समाज तिलमिला उठा और मेरे ऊपर झपट पडा। कहने लगे यह छोकरा कौन है—यह नास्तिक है, धर्मद्रोही है। इसको पूछो जाने कहा पढता है, मुझे यह भान नही था कि मेरे पूछने से यह काड होगा। मैं घबडा गया। रघुनाथदास जी सरनौ ने मुझे पास बुलाया और कहा कि बेटा कहा पढता है, कौन गुरू है? मैंने कहा कुचामन विद्यालय मे पढता हू और श्रद्धेय पण्डित चैनसुख दासजी का शिष्य हू। यह कहते ही सारा पडित समाज क्रुद्ध हो गया। और कहने लगे ये चैनसुख दास नाश करके रहेगा। नास्तिको की सेना तैयार कर रहा है। शास्त्र सभा बन्द करो और पडित चैनसुखदास को बुलावो। मेरी आफत आ गई। मैंने कहा कि मैं तो मरा सो मरा लेकिन उन पर आक्रमण क्यो? सेठ गम्भीरमलजी वही थे। उन्होने कहा कि चैनसुखदास को हटाया जाये और इस लडके को भी विद्यालय से निकाला जाये। श्रद्धेय पडितजी पचासो पडितो के बीच आ गये। उन्होने समझ लिया कि सत्यधर ने कही न कहीं गडबड की है। वह चुप नही रहता।

उनसे पूछा गया कि यह शिष्य आपका है। उन्होने कहा कि इसको अभी का अभी निकाला जाये। ये अमुक-अमुक प्रश्न करता है, नास्तिक है। श्रद्धेय पडितजी ने मेरी पीठ ठोकते हुए कहा कि शाबास सत्यधर। यही प्रश्न पूछा। मैंने कहा यही। पण्डितजी ने कहा कि आप लोगो मे कोई उदारता नही। यदि इस प्रश्न का उत्तर आपके पास नही था तो आप शास्त्र की गद्दी पर नही बैठते। मैं इस लडके पर गर्व करता हू। यह विद्यालय मे पढेगा। मैं त्याग पत्र दे सकता हू। लेकिन यह नही जा सकता। पडितजी की वह निर्भीकता देखने लायक थी। वास्तव मे वे एक लोह पुरुष थे जिन्होने हर बात का साहस पूर्वक सामना किया।

उन्होने कभी अपना काम छात्रो से नही करवाया। हम तरसा करते थे लेकिन वे यही कह देते थे कि अपना काम हाथ से करना चाहिए। सच मायने मे वहएक महात्मा थे। आज भी हमारे मानस पर वे स्मृति मे अंकित है और जब याद आती है तो श्रद्धा से उनके चरणो मे मस्तक झुक जाता है।

जयपुर में पंडित जी के प्रारम्भिक बीस वर्ष

पं० भंवरलाल न्यायतीर्थ
सम्पादक वीरवाणी जयपुर

गुरुदेव स्व० चैनसुखदासजी जैन समाज के एक क्रांतिकारी सुधारक, अनेको शिक्षा शास्त्रियो के जन्मदाता, अभाव ग्रस्तो के सकट–निवारक, छात्रों के मार्ग दृष्टा, विधवाओ और भूखो के अन्नदाता, सच्चे सलाहगीर, संस्थाओं के प्राण, साहित्य के उद्धारक, निर्भीक, ओजस्वी वक्ता, कलम के धनी, सरलता, सज्जनता, सादगी और त्याग की मूर्ति, प्रेरणास्पद व्यक्तित्व, दर्शन व सिद्धात के प्रकाड विद्वान, सफल पत्रकार, कुशल सम्पादक आदि अनेक गुरण, विभूषित सच्चे मानव थे। उनकी सी सर्वतोमुखी प्रतिभा विरलो मे ही मिलती है। जयपुर जैन समाज मे ऐसा व्यक्ति आचार्य कल्प प० टोडरमलजी के समय से अब तक नही हुआ।

प्रारम्भिक जीवन

राजस्थान के छोटे से ग्राम भादवा मे माघ कृष्णा अमावस्या स० १९५६ मे आपका जन्म हुआ। आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा भादवा व जोबनेर मे हुई। उच्च शिक्षा बनारस मे प्राप्त की। सर्व प्रथम कुचामन विद्यालय मे एक युग तक अध्यापन कार्य किया और वहा से ३० अक्टूबर, १९३१ को स्व० प० जवाहरलालजी शास्त्री की प्रेरणा से जयपुर दिगम्बर जैन महा पाठशाला मे (वर्तमान दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज, जयपुर) प्रधानाध्यापक के पद पर कार्य भार सम्भाला। उनसे १-२ नवम्बर सन् १९३१ को लेखक की सर्व प्रथम भेंट हुई और अन्तिम भेंट २५ जनवरी, १९६९ को। इस ३७ वर्ष के समय मे लेखक को गुरुदेव के चरणो मे बैठकर बहुत कुछ सीखने को मिला पर सच यह है कि हम लोग उतना लाभ नही ले पाये जो लेना चाहिये था। आज उनके चले जाने के बाद यह बात पचासो व्यक्ति महसूस करते हैं। जयपुर जैन समाज मे आज ऐसा कोई व्यक्ति नही रहा जिस पर सबकी आस्था हो जिसे सब अपना दु ख-दर्द कह सके।

धार्मिक चेतना

पडितजी ने जयपुर आते ही सर्व प्रथम कालेज के बराबर बडे दीवनजी के मन्दिर मे शास्त्र प्रवचन प्रारम्भ किया और सैकड़ो श्रोतागण आपकी वाणी को सुनने प्रति दिन आने लगे। ज्ञान पिपासुओ को ज्ञान मिला, छात्रो को सुशिक्षा मिली, युवको को प्रेरणा मिली जिससे उनमे जीवन आया और सुषुप्त शक्ति जाग्रत हुई। शास्त्र स्वाध्याय की परिपाटी जो ढीली पड गई थी पुनः तेजी से चलने लगी। इस प्रकार एक धार्मिक चेतना पडितजी ने समाज मे फैलाई।

संस्था उद्धारक

जैन पाठशाला की स्थिति खराब थी। अदम्य साहस और परिश्रम से एक पैसा जमा पूंजी न होते हुए भी पडितजी ने सस्था का सचालन किया। समय पर अध्यापको को वेतन दिया। सस्था से वीसो वर्ष मे जहा एक-दो शास्त्री निकलते थे। वहां सन् १९३१ से अब तक शताधिक स्नातक तैयार हो गये। सस्था को जहा ५०) रु० मासिक सरकारी सहायता मिलती थी वहाँ ढाई-तीन हजार रुपये मासिक सहायता मिलती है। यह प० का ही प्रयत्न है कि अग्रेजी के युग मे भी सस्कृत सस्था की निरतर प्रगति होती रही। पंडितजी की यह सबसे बड़ी देन है और जब तक सस्था रहेगी पडितजी की स्मृति बनी रहेगी।

शिथिलाचार विरोधी

पंडितजी के जयपुर आने के पश्चात् ही जयपुर मे मुनि संघ का पदार्पण हुआ। शुद्र जल त्याग, जनेऊ, पंचामृताभिषेक, स्त्री प्रक्षाल, त्रिवर्णाचार चर्चा सागर, हरित काय आदि की चर्चाएं उन दिनो जोरो पर थी। पडितजी ने न केवल इन शास्त्र विरुद्ध परिपाटियो का विरोध किया अपितु शिथि-लाचार के विरुद्ध एक जमात खडी कर दी जिसने डटकर लोहा लिया।

समाज सुधारक

इन्ही वर्षों मे समाज के एक अग को तिरस्कृत और उसे समाज से वहिष्कृत करने के लिए खडेलवाल समाज मे लोहड साजन आन्दोलन हुआ। पडितजी ने खोज की और सिद्ध किया कि लोहड साजन शुद्ध हैं-हमारे ही भाई हैं। इनको प्रक्षाल एव रोटी बेटी व्यवहार मे अलग नही किया जा सकता है। यह आन्दोलन अखिल भारतीय स्तर पर चला। इसके लिए पडितजी ने जैन वन्धु नामक एक पत्र भी निकाला जिसने अपने मिशन मे पूर्ण सफलता प्राप्त की। इस प्रकार समाज मे एक क्रातिकारी परिवर्तन लाने मे पडितजी का पूर्ण हाथ रहा और वे समाज सुधारक के रूप मे प्रसिद्ध हुए।

सरस्वती सेवक पंडित जी

जहा धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र मे पडितजी ने जवर्दस्त कार्य किया वहा साहित्यिक क्षेत्र मे तो उससे भी अधिक ख्याति उनकी हुई। महावीर क्षेत्र की ओर से अनुसंधान विभाग के सचालन तथा क्षेत्र के तत्कालीन मत्री श्री राम चन्द्रजी खिन्दूका द्वारा इसका आरम्भ पडितजी की प्रेरणा की देन है। ग्रन्थ सूचियो का कार्य बडा महत्वपूर्ण हुआ। देश के चोटी के जैनेतर विद्वानो ने इस कार्य की प्रशसा ही नही की बल्कि जैन साहित्य की महानता के बारे मे महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की। पडितजी ने कई स्नातकों को डाक्टरेट की उपाधि लेने के लिए प्रेरित किया, उन्हे पढाया फलत आज अनेको डाक्टर समाज मे दिखने लगे। पढने-पढाने के कार्य मे कोई भी व्यक्ति किसी भी समय पडितजी के पास आता वे उसे ना करना जानते ही नही थे। चाहे वह प्रथम कक्षा का छात्र हो अथवा एम ए का। पडितजी से पढने के निमित्त कई श्वेताम्बर साधु जयपुर मे चतुर्मास करते थे। सभी विचारधारा के बच्चो को पडितजी वडे प्रेम से पढाते थे। उनका दर्शन विषयक ज्ञान तो अगाध था ही- पर वे साहित्य मे निष्णात थे। उनकी प्रतिभा चतुर्मुखी थी। यही कारण था कि वे साहित्य जगत् मे विख्यात थे। सस्कृत शिक्षा विभाग के निदेशक अधिकारी होते हुए भी पण्डित जी का गुरु तुल्य आदर करते थे। राजस्थान विधान सभा के अध्यक्ष आचार्य निरजननाथ जी तो उनको गुरुदेव कहकर पुकारते थे। राजस्थान के सभी राजनैतिक नेता पण्डितजी को आदर से देखते थे।

सिद्धांत के धनी

पण्डितजी सिद्धान्त के पक्के थे। उनकी सिद्धान्तवादिता को न किसी का व्यक्तित्व गिरा सकता था और न पैसा। आचार्य सूर्यसागरजी के कुचामन चतुर्मास के समय लोहड साजन प्रश्न को लेकर सेठ गम्भीरमलजी और उनकी पार्टी का तथा पण्डितजी का खुली आम सभा मे जिसके सभापति अजैन थे वाद-विवाद हुआ। पण्डित मखनलालजी आदि बुलाये गये पर विरोधियो के गढ मे सिंह की तरह पण्डितजी की गर्जना से सव पस्त हिम्मत हुए-उनकी करारी हार हुई। उस समय पण्डितजी के मित्र सेठ गजराजजी ने विदा के समय एक रकम भेंट देना चाहा तो पडितजी ने कहा कि हम सिद्धान्त के लिए लडते हैं। हम पैसो के दास नही हैं। सेठजी ने अपनी भूल स्वीकार की और पडित जी क्षमा मागी। श्री तोलारामजी पण्डितजी के

प्रतिभा के धनी

पं० कैलाशचन्द शास्त्री वाराणसी

स्व० पं० चैनसुखदास जी प्रतिभा के धनी थे। विद्यार्थी जीवन से ही वह तर्कणाशील और व्याख्यानपटु थे। एक पैर से लाचार होने के कारण उनका पूरा समय विद्यालय मे ही बीतता था और उसका उपयोग वह पठन पाठन मे करते थे। पठित ग्रन्थ उन्हें इतनी अच्छी तरह अभ्यस्त थे कि विद्यार्थी जीवन मे ही उन्हे दूसरो को पढाते थे। मैंने आप्त परीक्षा और प्रमेयरत्नमाला का अध्ययन उन्ही से किया था। उस समय वे न्यायतीर्थ की परीक्षा देते थे और मैंने इससे पूर्व न्याय का कोई ग्रन्थ नही पढा था। फिर भी उनकी शैली इतनी उत्तम थी कि मुझे उक्त दार्शनिक ग्रन्थो को समझने मे कोई कठिनाई नहीं हुई और मेरी न्याय विषयक व्युत्पत्ति सुदृढ़ हो गई।

उस समय उनकी अवस्था १९–२० वर्ष के लगभग थी। स्याद्वाद विद्यालय में बडे–बडे छात्र थे किन्तु वे किसी से डरते नही थे। सस्कृत भाषण मे पटु थे। उनका मौखिक द्वन्द्वयुद्ध भी सस्कृत मे ही होता था।

बनारस से जाने के बाद मेरा उनके साथ निकट सम्पर्क पत्र द्वारा ही रहा। जयपुर मे आने के बाद उनकी प्रतिभा चमकी। उन्होने राजस्थान मे अनेक जैन छात्रो को विद्यादान देकर विद्वान् बनाया। महावीर जी अतिशय क्षेत्र के द्रव्य का उपयोग छात्रवृत्ति और शास्त्रोद्धार मे होने का बहुत कुछ श्रेय उन्ही को है। वह एक निस्पृह विद्वान थे। किसी से अर्थ की आकाक्षा नही रखते थे। फलत उनका प्रभाव भी विशेष था। सुवक्ता होने से उनकी शास्त्रसभा मे प्रतिदिन अच्छी उपस्थिति होती थी और श्रोतागण उनकी वाणी से प्रभावित थे।

प्रकृति से वह सुधारक थे अतः स्थिति पालक पक्ष उन्हे अच्छी दृष्टि से नही देखता था। किन्तु उन्होने इस उपेक्षा की परवाह नहीं की। जयपुर समाज मे उनका इतना प्रभाव था कि जिस कार्य का वे बीडा उठाते थे उसे सफल करके ही दम लेते थे। यदि वे समाज मे राजस्थान से बाहर भी जा सकते तो उनकी ख्याति और कार्यशीलता मे चार चाद लग जाते।

शरीर से बहुत कृश होने पर भी उनकी आत्मा मे अदम्य शक्ति थी और उसी शक्ति के बल पर वे जीवित रहे। उनके अवसान से विद्वत्समाज की ही नही, पूरे समाज की ऐसी क्षति हुई है जिसकी पूर्ति सम्भव नही है।

पृष्ठ ४४ का शेष—

मित्र थे। पर जब गजराजजी ने सिद्धान्त के विरुद्ध विवाह किया तो उनका बहिष्कार करने मे भी पण्डितजी पीछे नही हटे। सिद्धान्त के आगे मित्रता बाधा न बन सकी। ऐसे थे सिद्धान्तवादी पण्डितजी।

इस प्रकार हम देखते है कि पण्डितजी ने धार्मिक, सामाजिक एव साहित्यिक क्षेत्र में जो क्रातिपूर्ण कार्य किए वे सदा अमिट रहेंगे और सदा समाज को प्रेरणा देते रहेंगे।

मा सरस्वती के सच्चे उपासक गुरुदेव को मेरा शतश प्रणाम।

व्यापक और विशिष्ट

रूपनारायण काबरा

जब पहली बार उन्हे देखा तो उस तप पूत मनीषी के प्रति हृदय मे सहज श्रद्धा जागृत हो उठी मैंने झुककर चरण स्पर्श किये। उन्हे सकोच सा हुआ। कितनी महानता थी उनके इस सकोच मे। और फिर उनसे वार्तालाप हुआ। मेरी लेखन मे रुचि जानकर उन्होने अपना वरद् हस्त मेरे मस्तक पर रखा और प्रेरित करते हुए कहा कि मैं आपकी प्रतिभा को और प्रखर करने का प्रयास करूगा-आप रचनायें भेज दीजिये।

मैं लगभग दो घटे आपके साथ बैठा और इसी मे आपके सुलझे विचार, विद्वत्तापूर्ण अध्ययन, दार्शनिक चिन्तन, आपकी अध्ययनशीलता एव कर्मठता से अभिभूत एव प्रभावित हुआ। आपके स्वास्थ्य एवं अवस्था को देखते हुए आपकी कर्मशीलता अत्यन्त ही आश्चर्यजनक थी। छात्रो के बारे मे वे केवल यही नही सोचते थे कि वह पास होगा कि नही। वस्तुत. उनका लक्ष्य था विद्यार्थी गुरुजनो का सम्मान करना सीखे, जीवन के प्रति उत्साह, आस्था एव विश्वास रखे एवं प्रमाद से दूर रह कर कुसग से बचें। नैतिक आदर्शों के परिपालन मे ही अपेक्षित उपलब्धिया निहित हैं। ऐसी आपकी मान्यता थी।

जन-जन के देवता

कितने छात्रों को आपने वह ज्योति दी कि जिससे उनके जीवन आलोकित हो उठे। जन जन का देवता कितने विनीत शब्दो मे मुझे पत्र लिखता और मैं नतमस्तक हो उठता था। उन्होंने अत्यन्त विषाद एव वेदना के साथ कहा था—ग्राम भादवा की जनता मेरे प्रभाव एव सहयोग का कोई उपयोग नही करना चाहती है और क्षुद्र बातो को लेकर परस्पर विभक्त रहती है। काश! मैं अपने ग्राम का विकास जी खोलकर कर पाता। पर ....।

कितने स्नेह से उन्होने कहा था "काबरा जी बडी इच्छा है आप मेरे यहा मेरे साथ बैठ कर खाना खायें" पर हाय दुर्देव यह इच्छा पूर्ण न हो सकी। मै पुन दर्शनार्थ पहुच भी नही पाया कि वे चल दिये और मैं आलस्य मे योजना बनाता ही रह गया। तभी तो वे कहा करते थे—प्रमादी न बनो - कर्म मे तत्पर रहो।

उनके साथ मेरा यह साक्षात्कार और वार्तालाप प्रथम एव अन्तिम रहा। मेरी स्मृति मे यह एक अमूल्य निधि है और उनके स्मरण, चिन्तन से मुझे एक नई चेतना और प्रेरणा मिलती है। मै भूल नही सकता उस महान व्यक्तित्व को जो कितना व्यापक और विशिष्ट था।

एक निरभिमान, सहज व्यक्तित्व

महावीर कोटिया, जयपुर

जन साहित्य से सम्बन्धित कतिपय जिज्ञासाएं थी। पडित जी का नाम सुना था, अतः उनके दर्शन करने का निश्चय किया। गलियों मे घूमकर एक एक मन्दिरनुमा भवन मे जैन-सस्कृत कालिज स्थित है। सीढियो से चढकर एक बडा कमरा है, जिसके एक ओर बडी सी मेज के पीछे बैठा हुआ एक अदना सा आदमी दो-तीन विद्यार्थियो को संस्कृत की कोई पुस्तक पढा रहा था। क्या यही प० चैनसुखदास है? नाम बडा पर दर्शन ... .? सीधे-साधे सज्जन पुरुष। ईश्वर-कृपा से पगु और कृश शरीर, अति-साधारण वेश भूषा, बातचीत-व्यवहार मे सरलता, सभी प्रकार से सामान्य, बडप्पन जैसी कोई चीज नही। थोडी देर बाद छात्रों से निवृत्त होकर मेरी ओर मुडे। मैंने अपनी जिज्ञासाएं, समस्याए रखी और उनका सहयोग चाहा। सहज-भाव से उन्होने अपने विद्वत्तापूर्ण समाधान प्रस्तुत किए, अपना पर्याप्त समय दिया। उनके प्रति स्थायी स्नेह मिश्रित श्रद्धा का भाव हृदय मे घर कर गया। इसके बाद तो उनके निकट-सम्पर्क मे आने का अवसर मिलता गया। अपरिचित से परिचित बन गए। पर उनकी महानता की, उनकी निस्पृह सरलता की, उनके सहज-स्नेह की ओर इन सबके साथ उनकी विद्वत्ता की जो छाप लगी, वह आज भी मेरे निकट एक धरोहर है।

निरभिमान सहज व्यक्तित्व

मैं आज अनुभव करता हूँ कि पंडित जी की महानता का रहस्य उनके निरभिमान सहज व्यक्तित्व मे सन्निहित था। उनकी सादगी, उनकी विनम्रता, अपरिचितो के प्रति भी उनका सहज स्नेह सब उनके सहज व्यक्तित्व से उद्भूत थे। उनके प्रथम-दर्शन की इस पुण्य बेला का उल्लेख मैंने इसीलिए किया है कि पंडित जी से मिलने वाला हर व्यक्ति मेरी ही तरह उनकी महानता से प्रभावित होता था।

इसके बाद तो ऐसे अनेक अवसर मिले है, जब कि पडितजी की इस निच्छल सहज प्रकृति के दर्शन हुए हैं। उनका पुण्य-स्मरण यह याद दिलाता है कि ज्ञान-प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को विनम्रता, सादगी, सरलता, सभी के प्रति निष्कपट सहज स्नेह आदि गुणो को अवश्य अपनाना चाहिए। उनके जाने से जयपुर नगर मे जो रिक्तता पैदा हो गई है, उसका समाधान शायद ही हो सके, जब कि पडित जी अपने जीवन भर सभी जिज्ञासु विद्यार्थियो को समाधान सुझाते रहे थे।

'अर्हंत् प्रवचन' एक दृष्टि

डा० हरीन्द्र भूषण जैन,

आदरणीय प० चैनसुखदास जी की पुण्य स्मृति मे एक "स्मृति-ग्रन्थ" निकालने की योजना बनाकर विद्वानो के समादर करने की प्राचीन परम्परा का निर्वाह ही किया जा रहा है। जयपुर ने अनेक जैन विद्वान्, साधक, तपस्वी एव विचारक जिनवाणी की सेवा के लिए समर्पित किये हैं। प० चैनसुखदास जी उन्ही महामनीषियो मे से एक थे।

पडित जी द्वारा सम्पादित 'अर्हंत् प्रवचन' को मैंने आद्योपान्त बडे ध्यान से पढा। पडित जी ने प्राकृत भाषा की गाथाओ के माध्यम से श्रावक एव श्रमण दोनो के लिए परमोपयोगी तत्वो का सकलन करके इस ग्रन्थ को तैयार किया है। श्री रामसिंह तोमर, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्व भारती, शाति निकेतन के 'अर्हंत् प्रवचन' पर दिए गये इस अभिमत से मैं पूर्ण सहमत हूँ कि पडित जी का यह ग्रन्थ गीता और धम्मपद के समान नित्य पाठ के लिए जैन समाज को उपयोगी होगा। यह ग्रन्थ पडित जी की साहित्यिक प्रतिभा एव धार्मिक अभिरुचि का परिचायक है।

सरल हिन्दी में अनुवाद

'अर्हंत प्रवचन' पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार करना आवश्यक है। आजकल लोग प्राकृत भाषा के अध्ययन अध्यापन से दिन प्रतिदिन विमुख होते जा रहे हैं। समस्त प्राचीन जैन वाङ्मय प्राकृत भाषा मे है। अत प्राकृत-भाषा की ओर जैन-विद्वानो तथा साधारण समाज की रुचि जागृत तो इस बात को ध्यान मे रखकर दूरदर्शी पडित जी ने अनेक आगम ग्रन्थो से प्राकृत गाथाओ को चुनकर उनका सरल हिन्दी मे अनुवाद कर इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है।

मेरा सभी से निवेदन है कि वे पण्डित जी द्वारा प्रणीत 'अर्हंत् प्रवचन' नामक ग्रन्थ का अधिक से अधिक प्रचार करें। प्राय प्रत्येक विश्वविद्यालय के सस्कृत के साथ अनिवार्य रूप से प्राकृत भाषा के पाठ्य ग्रन्थ के रूप मे इसे सम्पूर्ण अथवा कुछ भाग पाठ्यग्रन्थ के रूप मे निर्धारित किया जा सकता है। जैन-विद्यालयो मे तो जैन परीक्षा बोर्ड के माध्यम से इसके पढाई की व्यवस्था हो सकती है।

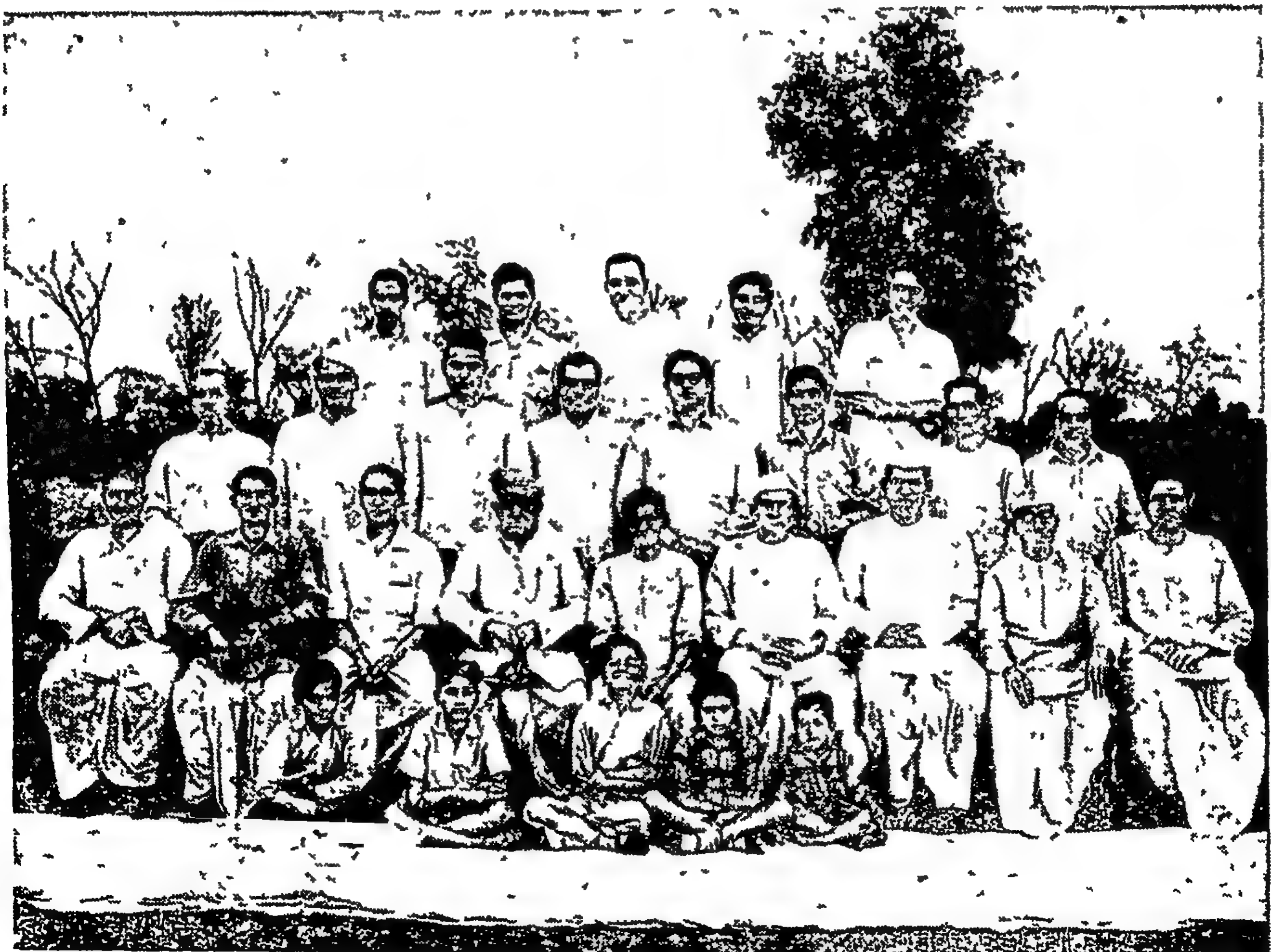
मेरा पूर्ण विश्वास है कि यदि 'अर्हंत प्रवचन' का प्रचार हमने किया तो हम पं० चैनसुखदास जी की स्मृति को स्थायी रखने मे सफल हो सकेंगे।



सौम्य मूर्ति पडित चैनसुखदासजी
न्यायतीर्थ



जन्म तिथि के अवसर पर लिया
गया पडित साहब का चित्र



पंडित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ अपने शिष्य परिवार के साथ ।

नकी स्मृति ही आज हमारा संबल है

पं० भंवरलाल पोल्याका जैनदर्शनाचार्य

श्रद्धेय गुरूदेव का असामयिक निधन जहां ।‹ॄ और समाज की अपूरणीय क्षति है वहां वह हु॥ से लोगो की वैयक्तिक क्षति भी है। इन ॑ ों का लेखक भी उनमे से एक है। वे मेरे । ५ता गुरू ही नही थे, मां की सी ममता और ५ता का सा प्यार भी मुझे उनसे मिला था। मेरी ، ।ता कठिनाइयो की जितनी चिन्ता उनको थी और उनको दूर करने मे जितने प्रयत्नशील वे रहते थे मैं निःसकोच स्वीकारता हू कि उतनी मेरे जन्म-दाता स्वर्गीय पूज्य पिताजी एव अन्य निकटतम सम्बन्धियो को भी नही थी। उनके चले जाने से आज मैं अपने को नितान्त एकाकी सूना-सूना अनुभव करता हू।

वे सच्चे अर्थो मे महा मानव थे। गृहस्थावस्था मे भी संत थे। मानवता का ऐसा कौनसा गुण था जो उनमे नही था। पर हित निरत्तता उनमे कूट-कूट कर भरी थी। दीन, अनाथ और असमर्थों के वे मसीहा थे। चारित्र उनका आदर्श और अनुकरणीय था। रहन-सहन सादा, बोलचाल मे नम्र, घमण्ड जिन्हे छू भी नही गया था। "विद्या ददाति विनय" सच्चे अर्थो मे उनके जीवन मे खरी उतरी थे। वे जैन दर्शन के साथ-साथ अन्य दर्शनो के भी तल स्पर्शी विद्वान थे। विचारों से वे युगानुसारी थे। उनकी लेखनी और वाणी में जादू था। शिथिलाचार और रूढियो से उन्होने डटकर लोहा लिया था। बडा से बडा प्रलोभन भी उन्हे अपने आदर्श और कर्तव्यो से च्युत नही कर सकता था। वे आदर्श अध्यापक थे। अपने शिष्यो के साथ उनका पुत्रवत् स्नेह था। उनका प्रत्येक क्षण अमूल्य था और ज्ञानार्जन मे व्यतीत होता था। वे सच्चे अर्थों मे अभीक्षण ज्ञानोपयोगी थे।

पूज्य गुरुदेव स्वयं मे एक सस्था थे। हजारो कन्धे मिलकर भी जिस बोझ के उठाने मे असमर्थ थे उसे वे अकेले उठा रहे थे। उनके निधन से वह बौझ आज हम सब पर पडा है। उसे उठाने की शक्ति और सामर्थ्य हम सबमे उत्पन्न हो, जिस सस्था को उन्होने अपने रक्त से सींचा, परोपकार की जो पावन और निर्मल मंदाकिनी उन्होने बहाई, जिस देशघाती और समाजघाती शिथिलचार और रूढ़ियो के विरुद्ध वे जन्म भर अपनी वाणी, अपनी लेखनी और अपनी करनी से लोहा लेते रहे, हम उस सस्था को जीवित रखें उस धारा को सूखने नही दें और क्राति की मशाल को बुझने नही दें। यही उनके प्रति सच्चे अर्थों मे श्रदाजलि है और उनका सच्चा स्मारक है।

'ज्ञान-मूर्ति'

श्री० प्रेमचन्द रांवका, एम. ए

"ज्ञान-मूर्ति स्वर्गीय पडित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ का स्मरण आते ही उन्नत ललाट, आकर्षक नयन, मझोला कद, कृश-विकलाग देह किन्तु उस पर आध्यात्मिक सन्त आभा, की स्वस्थ एव पवित्र मूर्ति, प्रदीप्त तेज, आजानुबाहु एवं सादा भद्रवेश से मण्डित एक वन्दनीय व्यक्तित्व सामने आ जाता है। प्राचीन ऋषि-मुनियो की त्याग तपस्या, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से समुत्पन्न अकाट्यतर्कणा शक्ति, यशतन्तु जैसा शिष्य-वात्सल्य, पर दुःख कातरता की भावना और अद्भुत समभाव का वह प्रहरी किसे अपनी ओर आकर्षित नही करेगा। उनका बाह्य व्यक्तित्व जितना सूक्ष्म, कोमल एव दुर्बल था, अन्तरग व्यक्तित्व उनका उतना ही दृढ, सबल और गम्भीर था। उनमे उन देवत्व गुणो की प्रकाश रेखा थी, जो व्यक्ति को अपने अह से नही सहज दुलार और स्नेह भाव से सही दिशा की ओर अभिमुख करती थी, लक्ष्य सकेत करती थी और मार्ग मे आने वाली बाधाओ से सावधान कर उनसे मुकाबला करने की शक्ति प्रदान करती थी। शक्ति, शील एव सौन्दर्य का उनमे अद्भुत समन्वय था।

प्राय प्राडित्य और सादगी का समवाय स्वरूप विरले ही व्यक्तियो मे देखने को मिलता है। शुभ्र भूमि पर शयन करना, स्वच्छ खद्दर के अल्प वस्त्र धारण करना और सात्विक अल्पाहार ग्रहण करना ज्ञान मूर्ति स्वर्गीय पूज्य पण्डित साहब के सादा रहन-सहन को प्रमुख विशेषता थी। वे उन साधको मे से थे जो अहर्निश ज्ञानाराधना और साहित्य साधना मे सलग्न रहते हैं। ससार के आडम्बर पूर्ण कार्यों मे उनकी कोई रुचि नही रहती थी। दर्शन, विज्ञान एव साहित्य की मौलिक समस्याओ पर ऊहापोह तथा समाज एव राष्ट्र के विविध कार्यकलापो की समीक्षा, स्वस्थ एव निष्पक्ष रूप से प्रस्तुत करना ही उनका लक्ष्य था। एक शासकीय मान्यता प्राप्त महाविद्यालय के प्राचार्य के रहन-सहन के सम्बन्ध मे किसी की यह कल्पना भी नही हो सकती कि ज्ञानमूर्ति पण्डित चैनसुखदास इतनी सादी वेष भूषा में किस प्रकार रहते थे। उनकी अपनी आवश्यकताए इतनी अत्यल्प थी कि वे हृदय खोलकर अपने शिष्यो को ज्ञान के साथ अर्थ से भी सहयोग प्रदान करते थे। वास्तव में उनका जीवन उस गाय के समान था, जो घास खाकर समाज को बदले मे मधुर-दुग्ध प्रदान करती है।

उस ज्ञान-मूर्ति का अहर्निश अध्ययन-अध्यापन मे व्यतीत होता। उनके अध्ययन-अध्यापन से प्रभावित होने वाले दाक्षिणात्यवासी, भारतीय प्राच्य विद्या प्रेमी और राजस्थान सस्कृत शिक्षा विभाग के निदेशक स्व० श्री के० माधवकृष्ण शर्मा उन्हे ऋग्वेदकालीन आदर्श अध्यापक मानते थे। वे उपनिषद् के उस सूक्त के चरितार्थक थे— जिसमे गुरू शिष्य से कहता है कि वत्स! आओ तुम और हम दोनो मिलकर अज्ञान से लडें। वे एक ऐसे आचार्य थे— जिनकी शिष्य परम्परा आज समूचे भारतवर्ष मे है। विद्यार्थियो एव शोधार्थियो के लिए उनके द्वार हमेशा खुले रहते थे। केवल शिक्षण समय मे ही ज्ञान चर्चा नही करते, अपितु अहर्निश अपने अध्ययन-अध्यापन द्वारा शिष्य वर्ग एव जिज्ञासुओ की शकाओ का समाधान करते रहते थे।

(शेष पृष्ठ ५१ पर)

बहुमुखी प्रतिभा के धनी

श्री जगन्नाथसिंह मेहता

भौतिक आडम्बर के इस युग मे जहां एक ओर व्यक्तित्व पर भौतिकता का प्रभुत्व लदता जा रहा है और मानवीय गुणो का निरन्तर ह्रास हो रहा है वहा समय समय पर समाज के गहन सघर्षो के बीच कुछ ऐसे भी व्यक्तित्व आते जाते रहे हैं जिन्होने अपने आदर्श जीवन के माध्यम से एक या अनेक वर्गों पर प्रभुत्व की अमिट छाप छोडी है। जो भी उनके सम्पर्क मे एक बार आ गया उनके रग मे रंगे बिना नही रह सकता। प्रसिद्ध जैन दार्शनिक एव शिक्षक प० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ भी इसी प्रकार के व्यक्तित्वो मे से थे।

पडित जी से भेंट के अवसर मिले। हर बार उस क्षीणकाय महापुरुष मे नयी विलक्षणता का आभास हुआ। जैसा कि सभी जानते है धार्मिक पीठ मे प्रवचन हो अथवा धार्मिक एव दार्शनिक व्याख्यान, शैक्षणिक कार्यक्रम हो या सामाजिक उत्सव— सब अवसरो पर अपनी सहज प्रतिभा से वे श्रोताओ को प्रभावित कर लेने मे सक्षम थे।

सम्पादक

पडित जी मे कितनी विशेषताए थीं उनका उल्लेख कही एक स्थान एवं व्यक्ति के द्वारा कर पाना असम्भव है। धार्मिक व्यक्तियो के समाज मे रह कर भी उनमे जो परम्परानुकरण के विरुद्ध भाव थे वे उनके सदैव परम्परागत रूढियो का विरोध किया, भले ही प्रारम्भ मे उन्हें इसके लिए विरोध सहन करना पडा हो। उनकी यह धार्मिक टिप्पणिया एक सुधारवादी दृष्टिकोण लिए रहती थी। "वीरवाणी" के सम्पादक के रूप मे न केवल उन्होने जैन समाज के लिए ही सुधारक कार्य किये अपितु अपने विद्वत्तापूर्ण लेखो, सामयिक टिप्पणियो व अग्रलेखो के माध्यम से भारतीय सामाजिक जीवन व राजनैतिक गतिविधियो के सम्बन्ध मे भी निष्पक्ष विचार रखने मे वे पीछे नही रहे।

साहित्यकार

साहित्यकार के रूप मे पडित जी ने बहुत कुछ कार्य तो 'वीरवाणी' के माध्यम से ही किया पर जैन दर्शन की जटिल दार्शनिक ग्रन्थियो को सुलझाने मे भी उनके विभिन्न ग्रन्थ बहुत सहायक रहे हैं। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक "जैनदर्शन सार" जैन धर्म के मूलभूत तत्वो का श्रेष्ठ एव सारगर्भित विवेचन है, जिसकी उपयोगिता को समझ कर अनेक विश्व-विद्यालयो ने पाठ्यग्रन्थ के रूप मे अपनाया है। इसी प्रकार "प्रवचन-प्रकाश" दार्शनिक विचार-धाराओ पर समीक्षात्मक ग्रन्थ है। कवि के रूप मे भी पंडित जी काव्य साहित्य के क्षेत्र मे सफल हुए जो उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की एक झलक प्रस्तुत करता है।

जीवन पर्यन्त शिक्षक

लेखक—कवि, सम्पादक इन सबसें भिन्न पडितजी का जो सबसे प्रभावशाली और आदर्श स्वरूप चिर-स्मरणीय रहेगा वह है शिक्षक का रूप। आज तक दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज और पंडित चैनसुखदास एक ही शब्द के पर्याय थे। "शिक्षक" ही उनका

(शेष पृष्ठ ५४ पर)

पं० चैनसुखदास ज्ञानी थे

डा० प्रेमसागर जैन

पं० चैनसुखदासजी ने यदि एक ओर धार्मिक ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन किया तो दूसरी मनन और चिन्तन से उसके मर्म को भी समझा। ग्रन्थ पढ-पढ कर पण्डित बनना आसान है किन्तु उसके मर्म का साक्षात् कर लेना उतना ही कठिन है। ऐसा विरले ही कर पाते हैं। पण्डितजी उनमे से एक थे। इसी कारण मैं उनको ज्ञानी कहता हूं। उनके जीवन का प्रत्येक पहलू इस ज्ञान से प्रभावित रहा। शायद यही कारण था कि उन्होंने एक शानदार जिन्दगी एवं जीवन बिताया—गौरव और स्वाभिमान के साथ। आज वह नही है, किन्तु जीने का एक ढग दे गये है, जिसे हम चाहे तो अपना सकते हैं।

पण्डित जी सीधा देखते थे तो सही देख पाते थे। उन्होने न कभी टेढा देखा और न गलत देख सके। उन्हें देखने का यह तरीका जैन शास्त्रो से प्राप्त हुआ था। गाधी जी का भी यही ढग था। उन्हे भी जैन माध्यम से मिला था। अन्तर इतना ही था कि गाधी जी ने उसे राजनीति के व्यापक क्षेत्र मे अपनाया, वहा पडित जी समाज तक ही सीमित रहे। ढग दोनो का एक था। इसी कारण दोनो को सफलता मिली। मुझे दु ख है कि आज जैन लोग उस ढग को नही अपना रहे हैं। यदि अपना पायें तो उनके प्रति जो व्याप्त उपेक्षा है, दूर हो जाये।

आत्मबल के धनी

हर बात को सीधे देखने की नजर अहिंसा और प्रेम से मिलती है। आज जैन समाज के बडे बडे विद्वान् अहिंसा पर साधिकार बोलते है, किन्तु वे उसे अपने जीवन मे एक तिनके के बराबर भी नही उतार पाते। पंडित चैनसुखदासजी उसके प्रतीक ही थे। जो उनके पास गया, उनका हो गया। एक अपग, अशक्त, सूक्ष्म से व्यक्ति, किन्तु आत्मबल के धनी। उन्होने अपने स्व को विस्तार दिया था। एक बार जयपुर पहुच गया। जान न पहचान। पण्डितजी का जो स्नेह मिला आज भी अमृत की बूंदो की तरह सहेजे हूं। दूसरों को प्रेम वही दे पाता है, जो भेद-विभेद से ऊपर उठा हो, जिसने अपने पराये का अन्तर मिटाया है। ऐसा व्यक्ति ही सच्चा अहिंसक होता है। प्रेम के बिना अहिंसा एक संकीर्ण-सी चुभती चली जाती है। उसका कोई मूल्य नही। वह अहिंसा है ही नही।

निर्भीकता

निर्भीकता सम्यक्त्व का पहला गुण है। हर कोई सम्यक्त्व की बात करता है, किन्तु छोटासा भय भी दूर नही कर पाता। भय दूर होता है स्वार्थ-त्याग से और हम स्वार्थ कहा छोड पाते हैं। इसी कारण निर्भीक नही बन पाते। पडित जी में निर्भीकता थी, ऐसा मैं समझ सका हूं। वह जैन ग्रन्थो के सतत अध्ययन और मनन से आई थी। मनन के पीछे भी शोध-खोज की सुपुष्ट भूमिका थी। बिना उसके, ग्रन्थो से असली तत्व पा लेना आसान नही है। काल की मोटी तहो ने, विविध सस्कृतियो के आदान-प्रदान ने और मध्यकालीन अनेक बाह्याडम्बरो के प्रभाव ने उसे दबा कर रख दिया है। उसकी असलियत मालूम करने के लिये एक तेज आँख की जरूरत है। ऐसी आंख जो मोटी परतो के भीतर तक देख सके। प० चैनसुखदास जी देख पाते थे। वे केवल इस पर विश्वास नही करते थे कि जो कुछ लिखा रखा है, वह सब भगवान की दिव्यध्वनि से नि सृत हुआ था। यह सत्य है कि तीर्थंकर की मूलवाणी में बहुत कुछ मिलावट हुई,

था उसका भिन्न प्रकार से विश्लेषण किया गया। आज उसका जो रूप प्राप्त है, उसको छाट-फटक कर वास्तविकता मालूम करना आवश्यक है। कुछ लोग, जो कुछ जब कभी लिखा गया, सही मानते हैं। मैं चाहूगा कि वे भी अपनी दृष्टि शोध-परक तो रक्खें ही। मेरा उद्देश्य यह नही है कि वे अपना श्रद्धान त्याग दे। श्रद्धा रक्खें, गाढ श्रद्धा रक्खें, किन्तु उसे अन्ध न बनने दें। प० चैनसुखदास जी सुश्रद्धानी थे। उन्होंने कभी अन्ध श्रद्धा नही सहेजी। इसी कारण अन्य लोगों से वे ऊपर उठे हुए थे। और इसी कारण उन्हे समझने मे यदा-कदा भूल हुई है।

सहृदय

वे आदमी थे और उनमे भी दिल था। उन्होने दर्शन के ग्रन्थो का अध्ययन किया था, किन्तु अनुभूतियों को प्रमुखता दी। वे सहृदय थे। उन्हे जितना आनन्द दार्शनिक ग्रन्थो मे आता था, उतना ही काव्य कृतियो मे भी। इसी कारण वे सदैव तटस्थ रहे। निष्पक्षता उनका गुण था। सन्तुलन ही उनका जीवन था। उनका प्रत्येक कार्य विवेकपूर्ण और सन्तुलित होता था और यही कारण था कि उनका दिल कभी भी, किसी के प्रति कलुष को स्थान नही दे सका। उन्होने कलुष के ऊपर ग्रन्थो के ज्ञान का आवरण कभी नही चढाया। वे ज्ञानी बने साफ दिल के साथ। मुझे उनकी यह बात भाती थी।

यह सुख का विषय है कि उन्होंने एक युवा जैन साधु को अपनी दृष्टि समझा ही नही दी थीं, अपितु उसकी अनुभूतियो को भी उसी दिशा मे मोड दिया था। १०८ मुनिश्री विद्यानन्द जी के प्रवचनों मे आज वही दृष्टिकोण पग-पग पर प्रशस्त किया जा रहा है। अपार जन समूह–जैन हो या अजैन उनकी वाणी सुनने के लिए आतुर रहता है। क्योकि भेद-विभेद से ऊपर उठकर वे सही धर्म समझा पाते हैं। यही कारण था कि हिमवान के उतुग शिखरो पर, जटा जूट धारी वैदिक साधुओं ने भी उनका सन्मान किया। उनके प्रवचन कुछ नही, जैन धर्म का विश्लेषण–भर है, किन्तु एक सही व्यापक और मधुर दृष्टिकोण के साथ। वे विरोध की बात करते ही नही, फिर उनसे किसको विरोध होगा। मुनिश्री को इस दिशा मे मोड देना ही मैं पडित चैनसुखदास की सबसे बडी विशेषता मानता हूं।

(शेष पृष्ठ ५२ का)

सच्चा स्वरूप था सत्य तो यह है कि वे जीवन-पर्यन्त शिक्षक ही रहे। वो आदर्श शिक्षक जो जीवन की शिक्षा देता है और सघर्ष का दृढता से सामना करते हुए आगे बढने की प्रेरणा देता है। उनकी कक्षा मे रहने वाला हर छात्र उनके जीवन से ही सम्पूर्ण शिक्षा ग्रहण कर सकता था। पडित जी स्वय मे एक सस्था थे, और परम्परागत सस्कृत शिक्षा प्रणाली को जीवित रखते हुए उन्होने संस्कृत शिक्षा की अभूतपूर्व सेवा की है।

पडित जी आज हमारे बीच नहीं हैं ऐसा कह कर हम उनके भौतिक शरीर का अभाव भले ही स्वीकार कर लें– किन्तु शिक्षक, सम्पादक, कवि, साहित्यकार पडित चैनसुखदास जी सबके बीच हैं और आने वाले युगो मे रहेगे।

मैं चाहूगा कि, उनके शिष्य उनके इस जीवन दृष्टिकोण को अपनायें और समाज मे फैलायें। यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धाजंलि होगी।

जयपुर के धीमान ! चैनसुखदास तुम्हारी जय हो

सुधेश जैन नागोद

'जयपुर' के धीमान। चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।
हे अनुपम मतिमान। चैनसुखदास तुम्हारी जय हो ।।

तुमसे सूना 'जयपुर' अब पर यश तन अमर हुआ है।
और तुम्हारे कारण विश्रुत 'जयपुर' नगर हुआ है ।।
जगा तुम्हारे प्रति आदर है, हर प्रबुद्ध के उर मे।
जो तुम पर श्रद्धालु न ऐसा कौन जैन 'जयपुर' में ।।

हे सम्मानित विद्वान् चैनसुखदास। तुम्हारी जय हो।
'जयपुर' के धीमान चैनसुखदास। तुम्हारी जय हो ।।१।।

तुम शिक्षक, साहित्यकार थे, पत्रकार थे, कवि थे।
जो अज्ञान-तिमिर हरने को ज्ञान ज्योतिमय रवि थे ।।
तुमने शोध-खोज के कार्यों को सदैव नव गति दी।
'महावीर' जी क्षेत्र समिति को तुमने नव सम्मति दी ।।

मूर्तिमान सद्ज्ञान चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।
जयपुर के धीमान् चैनसुखदास तुम्हारी जय हो ।।२।।

जाने कितने श्रेष्ठ गुणों का तुममे रहा समागम।
औ कण्ठस्थ तुम्हें था प्राय. सारा प्रमुख जिनागम ।।
विद्यामृत के कोष। वस्तुत; तुम थे विद्यासागर।
विद्यार्थी तव तट पर आकर भरते थे निज गागर ।।

शिक्षा के सोपान, चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।
जयपुर के धीमान चैनसुखदास तुम्हारी जय हो ।।३।।

युग युग तक भी अमर रहेगी तव गौरवमय गाथा।
ओ तव पद युग पर नत होगा भावी-युग का माथा ।।
प्राप्त जिन्हे भी तो होगा तव सत्कार्यो का परिचय।
वे कृतज्ञतापूर्वक तुमको नमन करेंगे सविनय ।।

शिष्यों के भगवान चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।
जयपुर के धीमान चैनसुखदास तुम्हारी जय हो ।।४।।

जहां चैनसुख हो ओ तुम अब वही चैनसुख पाओ।
कवि की यही कामना है तुम दिवस रैन सुख पाओ ।।
तव जीवन से नयी प्रेरणा मिले सदा जन-जन को।
तथा मिले प्रोत्साहन आगम के अध्ययन मनन को ।।

निर्मल सम्यग्ज्ञान चैनसुखदास। तुम्हारी जय हो।
'जयपुर' के धीमान चैनसुखदास। तुम्हारी जय हो ।।५।।

एक दार्शनिक विभूति

पं० गोविन्द नारायण शर्मा न्यायचार्य

प० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ उन गुणग्राही व्यक्तियो मे से थे, जिन्होने अपना समूचा जीवन, सासारिक असारता को समझते हुए पर-हिताय लगा दिया। वे इस ससार मे रहते हुए भी अपने को अन्तरग मे सबसे विलग समझते थे। पर ऐसा समझ कर समाज से उन्होने कभी पलायन नही किया। इस दृष्टि से उनका जीवन जल मे कमल सदृश था। इस भेद-ज्ञान को वे भली-भाति जानते थे और उसे अपने जीवन मे उतार कर अपने सम्पर्क मे आने वाले को भी बोधित करते थे। उनका यह दार्शनिक सिद्धान्त बडा अनूठा था।

प्रकांड विद्वान्

आधुनिक भारतीय दार्शनिक विद्वानो मे उनका स्थान स्मरणीय है। जैन दर्शन के तो वे प्रकाड विद्वान् थे। उनका समूचा जीवन ही दर्शन का जीता-जागता उदाहरण था। उनके दर्शन सम्बन्धी अनेको लेख भारतीय पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुए और आधुनिक दार्शनिक जीवन के सन्दर्भ मे उनसे पाठको को मौलिक एव नवीन चिन्तन प्राप्त होता रहा। अब वे लेख इस राष्ट्र और सस्कृति की सम्पत्ति बन गये हैं। उनकी एक पुस्तक 'जैन दर्शन सार' राजस्थान विश्वविद्यालय के एम०ए० (सस्कृत) के पाठ्यक्रम मे चलती है। यह पुस्तक जैन दर्शन पर सक्षिप्त एव सारभूत सामग्री पाठको को देती है। वर्तमान मे इस पुस्तक ने भारतीय दर्शन जगत् मे अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान पा लिया है। वस्तुत उनकी यह मौलिक कृति अनूठी सिद्ध हुई है।

उनकी दूसरी पुस्तक 'अर्हंत प्रवचन' उदयपुर विश्वविद्यालय के एम०ए० पाठ्यक्रम मे निर्धारित है। इसमे जैन दर्शन से सम्बन्धित प्राकृत गाथाओ का सुन्दर एव सुव्यवस्थित सम्पादन किया गया है।

'प्रवचन प्रकाश' उनकी अन्तिम सम्पादित कृति है। जिसमे उन्होने सस्कृत जैनाचार्यों की विविध विषयक सूक्तियो का सकलन किया है। यह एकत्र सकलन शोध की दृष्टि से एक बडी आवश्यकता की पूर्ति करता है। इसके अतिरिक्त उन्होने भावना-विवेक, पावन-प्रवाह एव नय-चक्र आदि की भी रचना कर साहित्य जगत् को गौरवान्वित किया है। 'वीरवाणी' मे उनकी सम्पादकीय टिप्पणिया साहित्य-जगत् मे सामान्य पाठक से लेकर शोधार्थियो तक को विविध निबन्धो पर सामग्री प्रदान करती है।

सस्कृत के विद्वानो में अग्रणी

सस्कृत जगत् मे उनकी सेवाए चिरस्मरणीय रहेगी। सस्कृत के पठन-पाठन के लिये वे सामयिक परिस्थितियो के सन्दर्भ मे इसकी अनिवार्यता को अनुभव करते थे। सस्कृत के प्रति उनका प्रगाढ स्नेह था। राजस्थान के आधुनिक सस्कृत के विद्वानो मे ये अग्रणी थे। राजस्थान सस्कृत सलाहकार मण्डल के वे पदेन सदस्य थे। जैन सस्कृत कॉलेज के गत ४०वर्षों तक अध्यक्ष रह कर उन्होने कई शिष्यो का निर्माण किया जो आज विविध क्षेत्रो

(शेष पृष्ठ ६४ पर)

एक अविस्मरणीय प्रसंग

□ डा० दरबारीलाल कोठिया, वाराणसी

स्व० प० चैनसुखदास जी समाज के उन मूर्धन्य और सेवाभावी विद्वानो मे से एक थे, जिन पर समाज को गर्व है। उनकी सामाजिक और साहित्यिक सेवाए उल्लेखनीय एव सदा अविस्मरणीय है। यद्यपि उनका कार्य-क्षेत्र सामाजिक दृष्टि से जयपुर ही रहा और जितनी प्रवृत्तिया उनके द्वारा चलायी गयी उनका केन्द्र भी प्राय: जयपुर रहा, पर बौद्धिक सेवा की दृष्टि से उनका सेवा क्षेत्र जयपुर से आगे बढ कर समग्र भारत रहा। यह नही कि उनकी कोई प्रवृति जयपुर मे ही अवरुद्ध रही हो। सूर्य किरणो की तरह उनकी प्रवृत्तियो का प्रकाश सब जगह पहुंचा। उनके ज्ञान और विचारो का प्रसार उनकी 'जैनदर्शन सार" 'अर्हत्प्रवचन' आदि ज्ञान-पूर्ण कृतियों तथा पाक्षिक 'वीरवाणी' पत्रिका द्वारा सर्वत्र हुआ है। जो पाठक उनकी कृतियो और 'वीरवाणी' पत्रिका के अध्येता होगे, वे सहज ही जान सकते हैं कि उनकी विचारधारा कितनी तथ्यपूर्ण, उदार और प्रभावयुक्त थी।

उन्होने ऐसे ज्योतिर्धरो का सजन किया है, जो ज्ञान ज्योति सदा प्रज्वलित करते रहेगें। वे सभी वाड्मय के सतत् प्रकाशक एवं कर्मण्यता के ज्वलन्त प्रतीक हैं। ऐसे कर्मण्य और योग्य शिष्यो की परम्परा कम विद्वानो की मिलेगी।

स्व० पण्डित जी विद्वान् तो थे ही, वे सहृदय और उच्चकोटि के मनुष्य भी थे। जान-अनजान मे हुयी अपनी भूल को स्वीकार करने वाले बहुत कम लोग होते हैं। पर पंडित जी ऐसी भूल को स्वीकार ही नही कर लेते थे, अपितु उन पर खिन्नता भी व्यक्त करते थे। एक घटना उनसे ऐसी हो गयी जिसका सम्बन्ध हम से था। जब उन्हे तथ्य ज्ञात हुआ तो उन्होने प० राजेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ मथुरा से उसके लिए खेद प्रकट किया। बहुत वर्षों बाद जब मैं सपरिवार जयपुर गया और उनसे मिला तो उन्होने न केवल उस भूल का उल्लेख किया, किन्तु अपनी सहृदयता एव आत्मीयता का व्यवहार किया। दूसरी बार जब मैं पुन १९६४ के दिसम्बर मे स्व० डा० सम्पूर्णानन्द राज्यपाल राजस्थान की अध्यक्षता मे राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर मे आयोजित अखिल भारतीय दर्शन परिषद् मे अपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की ओर से जैन दर्शन मे सर्वज्ञता की सम्भावनाए विषय पर पेपर पढने के लिए गया और आप से मिला तो आपने जिस आत्मीयता का प्रदर्शन किया वह मेरे मानस पर आज भी अकित है-उसे भुलाया नही जा सकता। वस्तुत. विद्वान् होना अन्य बात है और सहृदय एव उच्चकोटि का मनुष्य होना दूसरी बात है। ऐसे मनुष्यो की गणना देवत्व कोटि मे की गयी हैं।

मेरा ख्याल है कि प्रतिभामूर्ति प० टोडरमल के बाद इतना तथ्य पूर्ण विवेचक, निर्भीक और प्रभावशाली विद्वान जयपुर मे यदि कोई हुआ तो स्वर्गीय पं० चैनसुखदास जी हुए, जिन्होने वाड्०मय के प्रति अनन्य निष्ठा एवं आस्था रखते हुए सदा विवेक और तर्क से जैन तत्वो की विवेचना की और समाज को प्रबुद्ध किया।

ऐसे प्रबुद्ध, निर्भीक, लोकप्रिय विद्वान् के प्रति हम लोगो की यही श्रद्धाजलि होगी कि हम उनकी छोडी परम्परा को सुरक्षित ही नही आगे भी बढ़ायें।

★★★

पं० चैनसुखदास जी : एक संस्मरण

□ डा० पी० एल० भार्गव, जयपुर

पं० चैनसुखदास जी उन विरले व्यक्तियो मे थे जो प्रथम भेंट मे ही अपनी विनय, अपनी विद्वत्ता, अपने विचारो और अपने व्यवहार से मिलने वाले को मुग्ध कर लेते थे। मुझे पडित जी से अनेक बार मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और प्रत्येक बार मैं उनके गुणो से अधिकाधिक प्रभावित हुआ। अनेक गुणो के बीच भी उनके तीन गुण विशेष रुप से उल्लेखनीय है।

सस्कृत की प्रसिद्ध उक्ति 'विद्या विनयेन शोभते' यदि किसी पर पूर्ण रुप से घटित होती थी तो प० चैनसुखदास जी पर। उनका प्रकाण्ड पाडित्य वास्तव मे विनय के सयोग से चमक उठा था। इसीलिए उनके सम्पर्क मे आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उससे बात करने मे एक अध्यात्मिक सुख प्राप्त होता था। उनके मधुर व्यवहार के कारण ही उनकी विद्वत्ता इतनी प्रभावशालिनी हो सकी थी।

पडित जी का दूसर महान् गुण था उनका उदार सामाजिक दृष्टिकोण और उनका तर्क सम्मत विचार पद्धति। जैनधर्म मे दृढ श्रद्धा रखते हुए भी अन्धविश्वास से वे कोसो दूर थे। समाज मे प्रचलित कुरीतियो की वे बेझिझक निन्दा करते थे। धर्म और दर्शन के उन जैसे अधिकारी विद्वान के मुख से निकले हुए समाज सुधार सम्बन्धी विचारो का कितना प्रभाव होता था यह कहने की आवश्यकता नही है।

पडित जी का तीसरा गुण जिसका उल्लेख करना मैं आवश्यक समझता हु, उनका आतिथ्य भाव था। भारतीय सस्कृति मे आतिथ्य का जो महत्व है उसका साकार रूप उनके घर जाने पर दिखाई देता था। मैं एक बार अपने मित्र को लेकर उनके घर गया था। मेरे मित्र को अपने अनुसन्धान कार्य मे उनसे कुछ सहायता लेनी थी। पडित जी ने बडे प्रेम से मेरे मित्र की प्रार्थना सुन कर उनका मार्ग निर्देशन किया और भविष्य मे भी उनकी सहायता करने का वचन दिया। कार्य सम्पन्न हो जाने पर जब हमने उनसे बिदा मागी तो पडित जी बोले—ऐसा कैसे हो सकता है? बिना कुछ खाये पिये आप यहा से कैसे जा सकते है? यह कह कर आग्रहपूर्वक उन्होने हमे बिठाया और एक बालक को भेज कर जयपुर का प्रसिद्ध कलाकन्द मगाया। जब हमने वह स्वादिष्ट कलाकन्द खा लिया तभी उन्होने हमे जाने की अनुमति दी।

पडित जी निस्सन्देह हमारे नगर की विभूति थे। उनके देहावसान से जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति सम्भव नही है।



सच्ची श्रद्धांजलि

□ पं बंशीधर शास्त्री,

वह दिन मुझे अभी तक याद है जब मेरे स्व० ० बाबाजी श्री छोगालाल जी २२ वर्ष पूर्व पडित नसुखदा. जी के पास ले गये थे। मैं काव्य ध्य एव हिन्दी प्रभाकर की परीक्षा देने वाला था, आगे क्या पाठ्यक्रम हो इसलिए मुझे उनके पास ले गये थे। उन्होने मुझ जैसे अपरिचित किशोर के साथ भी ऐसे स्नेह से बात की कि मैं भाव विभोर हो गया। उन्होने मुझे न्याय लेने को कहा, मैंने कहा कि किशनगढ (रेनवाल) मे जहा मैं पढता था न्याय के अध्यापन का प्रबन्ध नही है, इसलिए न्याय का अध्ययन सम्भव नही होगा। उन्होने मुझे लेख वगैरह लिखने की भी प्रेरणा दी। मैंने सर्वप्रथम खण्डेलवाल जाति के गोत्रो के सम्बन्ध मे एक लेख लिखा जिसे उन्होने "वीरवाणी" मे अविकल रूप से छाप दिया, इससे मेरा लिखने के प्रति उत्साह बढा।

मैं सन् १९४८ मे जयपुर रह कर अध्ययन करने लगा तब उनसे बराबर सम्पर्क रहा। मैंने देखा कि वे सभी विद्यार्थियो से समान रूप से स्नेह करते थे। वे विद्यार्थी को ज्ञान एवं चारित्र के विकास के लिए अधिक जोर देते थे। अध्ययनशील विद्यार्थियों के प्रति उन्हे विशेष प्रेम रहता था। वे उन्हे उच्च कोटि का साहित्य पढने, समाचार-पत्र पढने एवं लेख लिखने की बराबर प्रेरणा देते थे।

वे समाज की अविवेकपूर्ण रूढियो कुरीतियो को समाज के लिए अत्यन्त हानिकार समझते थे। अत. इनके विरोध में वे हमेशा तैयार रहते थे। वे सत्-श्रद्धा विवेक के साथ निर्मल चरित्र मे विश्वास करते थे किन्तु उन्होने चरित्र के नाम पर ढोग का कभी समर्थन नही किया इसी कारण वे कुछ व्यक्तियों के कोपभाजन भी बने रहे किन्तु उन्होने कभी ऐसे कोप की परवाह नही की।

उनको मृत्यु से २ माह पूर्व मैं उनसे मिला था। तब उन्होने पद्मपुरा मे होने वाली पंचकल्याणक प्रतिष्ठा की स्पष्ट शब्दो मे अनावश्यकता बताते हुए असहमति प्रकट की थी। इस असहमति को प्रगट रूप देने के लिए उन्होंने पद्मपुरा तीर्थ क्षेत्र कमेटी से त्याग पत्र दिया था। जब उनके त्याग पत्र का मेला के निर्णय पर कोई असर नही पड़ा तब उन्हो ने मुझे लिखा "मैंने क्षेत्र कमेटी से त्याग पत्र दे दिया किन्तु प्रतिष्ठा होगी ही। इसको रोकने के लिए जबरदस्त क्रांति की आवश्यकता है"।

●●●

स्मृतियों के दर्पण में : पण्डित जी

□ डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

गौर वर्ण, मध्यम आकार और दुबली-पतली काया मे समाविष्ट पंडित जी का व्यक्तित्व बाह्य मे जितना सुकुमार, सहज और साधारण था अन्तरग में उतना ही कठोर, गम्भीर और असाधारण था। ज्ञान की गरिमा से मण्डित होने पर भी वे सरल और विनम्र थे। स्वाभिमान तो उनमे कूट-कूट कर भरा था। और यह एक ऐसा गुण था, जिसके कारण वे इतर पण्डितो से भिन्न थे। उनके व्यवहार मे जहा एक ओर सरलता थी वही अनुशासन मे वे अत्यन्त कठोर थे। वे सबके लिए सुलभ होने पर भी इस एक गुण के कारण अलङ्घ्य और दुर्लभ थे। इसलिये जैन समाज मे उत्पन्न होने के कारण समाज उन्हे नही पहचान सकी और न उनके हार्द के अनुसार विशेष योग दे सकी।

मैं जब भी पण्डित जी की आकृति को अपने सामने छायावत् देखता हू तो मेरे स्मृति-पटल पर उक्त रेखाए एक साथ उभर आती है। मैं सोचने लगता हू कि पण्डित जी मुझे कितना चाहते थे, क्यो ? क्या मैं उनके गाव का था। या हू, क्या उनके प्रान्त का था या हू, क्या उनसे अध्ययन किया था, क्या अन्य प्रकार से—शिक्षा पाई, क्या किसी साहित्य-लेखन मे वे मेरे पथ-प्रदर्शक थे ? इन सभी का उत्तर नही है। और मैं उन्हे किस श्रद्धा की दृष्टि से देखता रहा हू, यह कोई लिखने की बात नही है। किन्तु मुझे कारण बताने मे किसी प्रकार की हिचकिचाहट नही है। क्योकि मैं मानता हू कि जैन समाज मे विद्वान् बहुत हैं और सम्भवत एक से एक बढकर भी हैं; परन्तु पण्डित जी जैसा कोई पण्डित नही है।

भविष्य दृष्टा

उनके जीवन की जो स्मृतिया मेरे अन्तर्मन से जुडी हुई है वे मानो श्रद्धा की पुज हैं। उनके आलोक मे मुझे अतीत और वर्तमान ही नही भविष्य की रेखायें भी स्पष्ट झलकती हुई लक्षित होती हैं। वे भविष्यदृष्टा थे। और इसलिए समाज मे प्राचीन तथा आधुनिक पीढियो एव विद्वत्सरिताओ के मध्य ऐसे सेतु थे, जिसका आलम्बन लेकर समाज की विभिन्न समस्याओ का निराकरण हो सकता था किन्तु दुर्भाग्य से आज वे हमारे बीच नही है। और जब थे तब हम व्यर्थ की बातो मे उलझे रहे। काश। आज हमारे बीच होते।

एकता के हामी

मैं जहा तक पण्डित जी को समझ सका हू उनके भीतर एक तडप थी और वे हृदय से चाहते थे कि उनके जीवन काल मे ही समाज एक और तेजस्वी बने।

समाज के तथा विशेषकर राजस्थान एव जयपुर के विभिन्न सास्कृतिक एव सामाजिक कार्यों मे पण्डित जी का प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग रहता था। कई महत्त्वपूर्ण कार्य आपके बिना सम्पन्न ही नही हो सकते थे। ऐसे महान् शिक्षाशास्त्री तथा आदरणीय पण्डित जी को विनीत भाव से श्रद्धाजलिया समर्पित करता हू और आशा करता हू कि जैन समाज उनके अधूरे स्वप्नो तथा आदर्शों को एक साथ प्रेम से मिल कर सम्पन्न करने मे सहयोग देगी।

प्रौढ विद्वान्

□ सर सेठ भागचन्द सोनी, अजमेर

पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ समाज के उन शिरोमणि विद्वानो मे से थे जिन्होने समाज के निर्माण मे उल्लेखनीय सहयोग प्रदान किया है। पडित जी साहब की सेवाएं समाज के सीमित क्षेत्र मे ही नही रही अपितु उन्होने अपना सम्पूर्ण जीवन धर्म, समाज तथा देश सेवामय बना लिया था। जयपुर के साथ उनका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध था, वहा उनका प्रत्येक क्षेत्र मे सदैव अग्रणी स्थान रहा।

पंडित जी दिगम्बर जैन सस्कृत कालेज के एक मात्र उन्नायक थे। कालेज के माध्यम से शिक्षा जगत को उनकी सदैव अविस्मरणीय सेवाए प्राप्त हुई। यही कारण है कि कुशल शिक्षा शास्त्री के रूप मे राष्ट्रपति पुरस्कार से समादृत होने वाले समाज मे वे प्रथम प्रज्ञापुरुष थे।

प्रभावशाली व्यक्तित्व

विद्वानो के जन्मदाता पडित जी के मार्गदर्शन मे अनेक अनुसधित्सुओ ने पी० एच० डी० आदि की उपाधिया प्राप्त की। अनुसधान तथा प्राचीन वाङ्मय के शोध खोज की दिशा मे आपकी रुचिपूर्ण अनेक उपलब्धिया रही। श्री महावीर जी क्षेत्र के अन्तर्गत शोध विभाग का प्रारम्भ आपकी ही सफल प्रेरणा से हुआ। आपकी अनेक मौलिक कृतिया भी इस दिशा मे समाज की धरोहर हैं।

पडित जी का व्यक्तित्व प्रभावशाली तथा वाणी ओजस्वी थी। वे निर्भिक वक्ता मनीषी, साहित्यकार, कुशल पत्रकार, सुयोग्य सम्पादक, कर्मठ अध्यापक तथा सफल शिक्षा शास्त्री के रूप मे सदैव अविस्मरणीय रहेगे। एक ओर जहा शिक्षा जगत उनकी अनुपम सेवाओ के लिये स्मरण करेगा वही दूसरी ओर समाज उनको कुशल उपदेष्टा तथा मार्गदर्शक के रूप में विस्मृत न कर सकेगा। पाक्षिक पत्रिका 'वीरवाणी' के माध्यम से २१ वर्ष तक अपने समाज को अनवरत मार्गदर्शन प्रदान किया। उनकी लेखन शैली प्रभावक एव सशक्त तथा सम्पादकीय सामयिक, निर्भीक एव प्रेरक होते थे।

दिवगत पंडित जी का निधन समाज की अपूरणीय क्षति है। मैं अपने हार्दिक श्रद्धा-सुमन स्वर्गीय आत्मा को समर्पित करता हूं तथा विश्वास करता हूँ कि समाज उनके कृतित्व से प्रेरणा प्राप्त करेगा।



एक संस्था, एक तीर्थ

✱ डा॰ गोकुलचन्द्र जैन, वाराणसी

पण्डित चैनसुखदास जी का जीवन तीर्थ सा पावन और फूल–सा कोमल था। वे अकेले एक बडी सस्था के बराबर थे। उनके व्यक्तित्व मे एक चुम्बकीय आकर्षण और सग्राहकता थी जिसके कारण उनके सम्पर्क मे आने वाला हर व्यक्ति उनका अपना हो जाता था। उनकी आत्मीयता और निश्छल वाणी का जादुई असर होता था। यही कारण था कि उनके यश का सौरभ जयपुर और राजस्थान की परिधि से पार दूर दूर तक फैल गया था।

मैं पडित जी से फरवरी १९६५ मे पहली बार मिला था, पर पत्र व्यवहार द्वारा जो सम्पर्क था उसके कारण मुझे तनिक भी ऐसा नही लगा कि पहली बार मिल रहा होऊ। थोडे ही दिन पहले उन्होने "वीरवाणी" मे मेरे द्वारा सम्पादित 'सत्य शासन–परीक्षा' की समीक्षा की थी। जैन न्याय उनका प्रिय विषय था, इसलिए उनको पुस्तक बहुत रूची थी। उसकी लम्बी प्रस्तावना और सम्पादन पद्धति से वे काफी प्रभावित हुए थे। जब मैं उनसे मिला तो उनका स्नेह इसलिए और अधिक उमड आया कि मैं उनकी परिकल्पना से कम उम्र का था।

जयपुर में दो दिन रुका था। पडित जी के साथ अनेक महत्वपूर्ण विषयो पर चर्चा हुई थी। श्री महावीर जी क्षेत्र द्वारा सचालित साहित्य शोध विभाग के कार्य आदि के विषय मे विस्तार से चर्चा हुई थी। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि साहित्य शोध विभाग का एक अच्छे अनुसधान सस्थान के रूप मे विकास किया जाये। जैन वाङ्मय और सस्कृति के अनुसधान और प्रचार–प्रसार के लिए उनके मन की आतुरता को मैंने अनुभव किया। उनके चले जाने से एक अपूरणीय क्षति हुई है।

———

आजीवन स्मरणीय

★ प्रो० अमृतलाल जैन दर्शनाचार्य, वाराणसी

श्रद्धेय कविरत्न प० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, अध्यक्ष जैन, कालेज, जयपुर का नाम प्रथमत मुझे मासिक पत्र 'जैन दर्शन' से ज्ञात हुआ था, जिसके आप प्रधान सम्पादक थे। उसमे प्रकाशित भावपूर्ण हिन्दी सस्कृत कवित्ताओ और विद्वतापूर्ण लेखो के जो आपकी लेखनी से अनुस्युत रहते थे, अध्ययन ने मेरे हृदय मे आपके प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर दी। न केवल विशिष्ट छात्र, बल्कि वरिष्ठ अध्यापक भी समय समय पर आपके लेखो व कविताओ की मुक्त-कण्ठ से प्रशसा किया करते थे। फलत आपके दर्शनो की अभिलाषा हुई। सोचता रहा जैन समाज मे अन्य विद्वानो की भाति कभी आप भी काशी पधारेंगे तो अनायास ही अभिलाषा की पूर्ति हो जायगी, पर ऐसा न हो सकेगा।

जहा तक स्मरण हैं सन् १६५७ मे ग्रीष्मावकश के समय मुझे केकडी जाना पडा। वहाँ भी श्रीमान् पं० मिलापचन्द्र जी कटारिया आदि प्रखर समालोचक विशिष्ट विद्वानो से आप के वैदुष्यकी भूरी-भूरी प्रशसा सुनी। विचार किया कि लौटते समय आपके दर्शन अवश्य करूंगा।

सम्भवत: २० जून १६५७ को जयपुर पहुंचा। एक जैनेतर धर्मशाला मे सामान रख कर आपके पास गया। उस समय आप कुछ जिज्ञासु ज्ञान पिपासु सज्जनो को पाणिनीय व्याकरण पढा रहे थे, यद्यपि ग्रीष्मावकाश के कारण कालेज बन्द था। मिलते ही आपने पूछा—सामान कहा है ? मैंने कहा धर्मशाला मे। तुरन्त ही उन्होने वहा से सामान मंगवा लिया और अपने पास जैन कालेज मे ही ठहरा लिया, जहा वे चौबीसो घण्टे रहा करते थे। आप केवल भोजन के लिए हि प्रतिदिन दो बार घर जाते थे। मुझे भी वे प्रतिदिन दोनो समय भोजन कराने के लिए अपने ही घर लिवा जाते थे।

मुझे 'नेमिनिर्वाणम्' महाकाव्य के कुछ संदिग्ध स्थलो का मिलान करने के लिए प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो की आवश्यकता थी। आपने अपने स्थानीय शास्त्र भण्डारों से उन्हे शीघ्र ही मगवा दिया। उन्ही के कमरे मे बैठकर मै एक सप्ताह तक प्रतियो का मिलान करता रहा और वे अपने कार्यो मे व्यस्त रहे।

मैं एक सप्ताह पास मे रह कर अपना जो अध्ययन किया उसके आधार पर यह समझा कि आप अनुपम आदर्श विद्वान् है। असाधारण अनेक विशेषताओ के कारण आप आजीवन स्मरणीय हैं।



बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व

☐ डा० कैलाशचन्द्र जैन, उज्जैन

पंडित चैनसुखदास जी से मेरा विशेष सम्पर्क १९५३ ई० से हुआ जब मैं पटना से प्राचीन भारतीय इतिहास एव सस्कृति मे एम० ए० करके जयपुर लौटा था। उन्होने मुझे 'राजस्थान मे जैन धर्म' पर शोध करने के लिये प्रेरित किया। इस विषय को पूरा करने के पश्चात् डी० लिट् के विषय 'राजस्थान के प्राचीन नगर और उनकी सस्कृति' पर लिखने को वे लगातार प्रोत्साहन देते रहे। उनकी हमेशा यह कामना रहती थी कि मुझे शोध कार्य मे अधिक से अधिक सफलता मिले। वे इसके लिये सब प्रकार की सहायता देने को तैयार रहते थे।

मुझे जयपुर मे शोध कार्य हेतु बहुत लम्बे समय तक सस्कृत कालेज मे पण्डित जी के साथ रहना पडा। मैंने बारीकी से उनके व्यक्तित्व को परखा। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न था। वे एक आदर्श गुरु, विद्वान्, लेखक, ओजस्वी वक्ता, समाज सुधारक तथा कुशल नेता थे। ऐसा व्यक्ति अब सम्पूर्ण जैन समाज मे देखने को नहीं मिलता।

●●●

(शेष पृष्ठ ५६ का)

मे कार्य कर रहे हैं। वस्तुत वे एक आदर्श अध्यापक थे। प्रात काल से लेकर रात्रि शयन-समय तक उनकी समूची दिनचर्या अध्ययन अध्यापन मे ही व्यतीत होती थी। उनके इन्ही कार्य-व्यापारो से प्रभावित होकर सन् १९६७ मे राजस्थान से एक मात्र श्रेय सस्कृत अध्यापक के रूप मे भारत सरकार ने उन्हे अध्यापक—दिवस पर पुरस्कृत किया।

राजस्थान सस्कृत सलाहकार मण्डल की मीटिंग मे उनके कई बार दर्शन हो जाया करते थे। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनके इस ससार से चले जाने से दर्शन एव संस्कृत दोनो क्षेत्रो मे एक ऐसी क्षति हुई है, जो आगामी कई वर्षों तक पूरी नही हो सकती। अस्तु, आज वे भले ही भौतिक शरीर से इस ससार मे न हो, पर अपनी कृतियो से सदैव अमर रहेगे और हमारा मार्ग दर्शन करते रहेगे। हमारी सच्ची श्रद्धाजलि इसी मे है कि उनके बताये गये आदर्शों को हम अपने जीवन मे उतार कर उनकी ही भाति स्व-पर हित मे लगे रहे।

●●●

सुरज्ञानीचन्द न्यायतीर्थ

मेरे जीवन निर्माता

पूज्य पडितजी साहब का आशीर्वाद मुझे मेरे बचपन से ही मिलने लगा था। जब वे जयपुर आये तब मैंने महापाठशाला मे प्रवेश लिया ही था। धीरे-धीरे सम्पर्क मे आता गया और प्रवेशिका श्रेणी मे आने के पश्चात् तो मेरी गणना उनके प्रिय शिष्यो मे होने लगी। उन्होने मुझे न्यायतीर्थ की उपाधि परीक्षा दिलायी। मै दिन मे दुकान पर बैठता और प्रात. एव रात्रि को उनके पास पढता पंडितजी के आशीर्वाद से मुझे न्यायतीर्थ मे प्रथमबार ही सफलता प्राप्त हुई उसके पश्चात् उनके स्नेह मे बराबर वृद्धि होती रही। और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे उनका मार्ग दर्शन मिलता रहा। मेरे लघु भ्राता चिरंजीलाल को उन्होने दर्शनाचार्य कराया। इस प्रकार हमारे पूरे परिवार पर उनकी असीम कृपा रही। जब कभी हमारे सामने कोई समस्या आती हम उनके पास चले जाते और अपनी पूरी राम कहानी सुना कर उनके मार्ग दर्शन की प्रतीक्षा करते और जैसा भी वे कहते उसी के अनुसार हम लोग बढते। मुझे सामाजिक क्षेत्र मे काम करने की प्रेरणा उन्होंने ही दी और जब तक वे जीवित रहे मुझे बराबर किसी न किसी संस्था मे कार्य करने का अवसर देते रहे। साहित्य क्षेत्र मे कार्य करने के लिये भी वे बराबर प्रेरित किया करते। वास्तव मे वे मेरे जीवन निर्माता थे।

पडित जी सा० मेरे गुरु थे यह मेरे लिये गौरव है। मै उनके सानिध्य मे कितने ही वर्षों तक रहा और जीवन निर्माण की मजिल को ओर बढता रहा। आज मैं जो कुछ हूँ वह सब उन्ही के आशीर्वाद का सुफल है। वे क्रान्तिकारी विद्वान् थे इसलिये देश एव समाज मे व्याप्त बुराइयो के विरुद्ध जीवन पर्यन्त सघर्ष करते रहे। उन जैसा कर्मठ नेता कभी कभी ही हुआ करते है। मैं अपनी अनन्त भावनाओ से उनके चरणो मे श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

कपूरचन्द पाटनी

निर्धन के राम

श्री गजानन्द डेरोलिया

जैन दर्शन केप्रकाण्ड पडित, वीरवाणी के सम्पादक तथा आदर्श अध्यापक श्रद्धेय पडित चैनसुख दासजी के निधन के समाचार पढकर मैं हतप्रभ रह गया। जीवन भर सामाजिक बुराइयो और अध विश्वास से सघर्ष करते रहने के कारण स्वर्गीय पंडितजी की काया वैसे ही कृशकाय थी, उसके उपरान्त घरेलू से भी अधिक वे सामाजिक समस्याओ के लिए चिन्तित रहते थे।

पडितजी जीवन ने भर अपने स्वय के लिए कुछ नही चाहा परन्तु प्राय सदा ही वे अभावग्रस्त लोगो के लिए सहायता की व्यवस्था करने मे व्यस्त रहते। अनेक निर्धन बालको की शिक्षा की व्यवस्था करके उन्हे पडित बनाया। उनके दर्जनो शिष्य डाक्टरेट पाकर आज साहित्य जगत मे सम्मान प्राप्त स्थानो पर है। वे स्वय संस्थानो के निर्माता थे। उनके ही प्रयासो से भारत के प्रसिद्ध जैन तीर्थ श्री महावीरजी का प्रबन्ध समिति ने साहित्य शोध विभाग और छात्रवृत्ति कोष की स्थापना की। उनकी सतत प्रेरणा से राजस्थान के विभिन्न शास्त्र भडारो मे अस्त-व्यस्त पडा जैन साहित्य प्रकाश मे आ सका और उनकी विस्तृत सूचिया तैयार कराई गई।

अनेक वर्षों से वे दिगम्बर जैन सस्कृत महाविद्यालय के आचार्य पद पर कार्य कर रहे थे और राष्ट्रपति द्वारा उन्हे आदर्श अध्यापक के रूप मे पुरस्कृत किया गया था। जयपुर जिले के भादवा नामक एक छोटे से ग्राम मे जन्मा यह वणिक् पुत्र कालान्तर मे उद्भट विद्वान प्रगतिशील विचारो का प्रतिनिधि विचारक बनकर सभी क्षेत्रो मे सम्मान प्राप्त करेगा इसकी किसी को कल्पना तक नही थी। अपने विचार प्रधान पाक्षिक पत्र "वीरवाणी" द्वारा वे सदा सामाजिक बुराइयो, अन्याय, भ्रष्टाचार तथा प्रगति विरोधी आचरण पर करारी चोट करते रहे। जयपुर मे उनके अनुयायियो, समर्थको और भक्तो की जोरदार पक्ति है। चुनावो के समय सभी राजनैतिक दलो के प्रतिनिधि उनका आर्शीवाद प्राप्त करने को लालायित रहते थे। उनकी लोकप्रियता और निष्पृहता का पता तो इसी से चलता है कि एक बार सभी राजनैतिक दलो के प्रतिनिधियो ने उन्हे सर्व सम्मति से ससद मे भेजने की पेशकश की थी जिसे पडितजी ने विनम्रता पूर्वक यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि मेरा स्थान तो साहित्य साधना मे ही हैं।

जैन विद्वत् समाज मे वे प्रगतिशील विचारो के मुखिया माने जाते थे। एक पैर के पक्षाघात से ग्रस्त होने के उपरान्त भी पडितजी लेखन कार्य मे घोर परिश्रम करते थे। गणतंत्र दिवस के पावन दिन लगभग एक पखवाडे तक अस्वस्थता से जूझकर पडितजी ने नश्वर शरीर का त्याग कर दिया। उसके कुछ दिन पूर्व ही उनके प्रशसको ने उनकी रोग शैया के समीप ही उनके ७०वें जन्म

(शेष पृष्ठ ७१ पर)

सनत्कुमार जैन

स्वनाम धन्य पूज्य पंडित साहब

पूज्य गुरुदेव कविरत्न पं० चैनसुखदास जी को दिवंगत हुए करीब ७-८ वर्ष होने को आये किन्तु ऐसा आभास होता है कि वे आज भी हमारे सामने मोजूद हैं और हमे कुछ आदेश दे रहे हैं। जिस समय वे जयपुर की दि० जैन महापाठशाला मे पधारे उस समय मैं प्रवेशिका मे पढता था। सम्भवत वह वर्ष सन् १९३१ था और मेरी आयु उस समय १४ वर्ष की थी। उस समय उपाध्याय परीक्षा मे सर्वार्थसिद्धि और न्याय सिद्धान्त मुक्तावली भी पढाई जाती थी। सर्वार्थसिद्धि आप हमे पढ़ाया करते थे। तभी आप ने हम लोगो को कलकत्ता यूनिवर्सिटी की परीक्षाओ मे बिठाने का सिलसिला चालू किया और उसके परिणाम स्वरुप सर्वप्रथम न्यायतीर्थ परीक्षा पास करने का सौभाग्य प० भंवरलाल जी, प० मिलापचन्द जी और प० कैलाशचन्द जी को मिला। इसके बाद तो प्रतिवर्ष न्यायतीर्थ निकलते ही रहे। अभी हाल मे आपके दो प्रमुख शिष्य प० भवरलाल जी न्यायतीर्थ एवं डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल क्रमश समाजरत्न एवं इतिहासरत्न की उपाधि से अलकृत किये जा चुके हैं।

आपके निधन से जो समाज की क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना असम्भव है। उनकी शिक्षाओं को यदि हम शतांश में भी अपने जीवन ने उतार सके तो उनकी आत्मा को असीम शन्ति होगी इसमे कोई सन्देह नही है।

(शेष पृष्ठ ६७ का)

दिन के अवसर पर उन्हें अभिनन्दन ग्रंथ तथा एक अच्छी राशि भेंट करने का सकल्प किया था। इस सम्मान को प्राप्त करने के लिए पडितजी जीवित नही रह सके। एक ज्ञान का पुंज बुझ गया।

स्पष्टवादिता स्वर्गीय पडितजी का विशेष गुण था जिसे उन्होने कभी नही त्यागा। जैन दर्शन का शोध सम्बन्धी उनका कार्य अभी चल रहा है। समाज सुधार की जो जागृति जयपुर जैन समाज मे आई थी पडितजी के विना उसका कार्य अपेक्षाकृत अधूरा रह गया है। उनके देहावसान पर हुई शोक सभाओ मे पडितजी का प्रेरणा योग्य स्मारक बनाने का निश्चय हुआ है। आडम्बरो से सदा ही दूर रहने वाले इस मूक और दृढ निश्चयी, समाज सेवी का स्मारक पत्थर का बुत नही बन कर जीता जागता विद्या मन्दिर, सस्कृति केन्द्र अथवा सरस्वती का आराधना स्थल बने जहा हर ज्ञान का प्यासा अपनी ज्ञान पिपासा को शात करने के लिए अनुकूल वातावरण, साधन और सुविधा प्राप्त कर सके तो यह निश्चिय ही पडित जी के लिए सच्ची श्रद्धाजलि होगी।

वैद्य फूलचन्द जैन

युग निर्माता

पण्डितजी साहब समाज के गतिशील विद्वानो मे से एक थे। आप उच्चकोटि के लेखक, कुशल सम्पादक, विचारक, सफल साहित्यकार के साथ साथ निर्भीक वक्ता थे। आपके व्यक्तित्व मे एक अनूठी शक्ति थी। आपने अपने तेजस्वी पूर्ण भाषणो से एव मौलिक लेखो से समाज मे व्याप्त अध विश्वास, कुरूतियो व शिथिलाचारो को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया। साथ ही युवको मे नवीन विचारो की क्राति लाने का भी प्रयास किया।

युवक वर्ग आपकी विद्वता, सादगी से बहुत प्रभावित हुआ और कुछ ही समय मे आपका पुजारी बन गया। वर्तमान मे जो दिगम्बर जैन सस्कृत कालेज है वह पहिले जैन पाठशाला थी लेकिन इसको कालेज 'महाविद्यालय' बनाने का श्रेय श्रद्धेयवर को ही रहा। यह राजस्थान की शिक्षण सस्थाओ मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है तथा पण्डित साहब की प्राण है जिसे उन्होने अपनी मेहनत रूपी पसीनो से सींचा है। इसमे जैन दर्शन, साहित्य, सस्कृत, अग्रेजी की शिक्षा दी जाती हैं। आपके स्नातको मे अनेक न्यायतीर्थ, शास्त्री व आचार्य हैं जो भारत भर मे यश प्राप्त कर रहे है।

पण्डितजी साहब की आयुर्वेद मे पूर्ण आस्था थी अत उन्होने सस्कृत विभाग के साथ आयुर्वेद विभाग की भी स्थापना करवाई जिसके परिणाम स्वरूप अनेक छात्रो ने उनकी छात्रावास मे रहकर आयुर्वेद का अध्ययन किया।

बाहर से जितने छात्र छात्रावास मे आकर रहते उन सभी को पण्डितजी साहब इस प्रकार रखते थे जैसे कि उनको घर का सुख वही मिल पाया हो। वही उनका हरा भरा परिवार था जिसे वे सदैव सुखी देखना चाहते थे।

पण्डितजी साहब सर्वगुण सम्पन्न, शास्त्रो के ज्ञाता, निर्भीक वक्ता, कुशल लेखक, समालोचक, निष्पक्ष विचारक, सन्मार्ग प्रदर्शक, सधर्म प्रचारक, सुकवि, विद्वत्‌रत्न, सज्जनोत्तम, विद्यावारिधी, सच्चे साहित्य सेवी, कुशल अध्यापक, परोपकारी, हितोपदेशी, श्रेष्ठ विचारक, हृदय के उदार एवं निपुण सम्पादक थे।

शक्ति और के प्रतीक

डा० कपूरचन्द जैन

मैंने उनसे एक प्रसंग मे एक प्रश्न पूछा—
५ गाधीवादी विचारो के व्यक्ति है फिर सामा-क दायरे से ऊपर क्यो नही उठते ?" उन्होने ह प्रश्न तुम्हारा वजनदार है । गाधीवादी दृष्टि क अच्छाई का नाम है । जैन धर्म मे अपरिग्रह-द उससे ऊची और स्थायी व्यवस्था है । यदि गाधीवादी हू तो इसका यह अर्थ तो नही है क मैं जैन धर्म से हट जाऊ । जैन धर्म गाधीवादी अधिक व्यापक है जैन धर्म कतई साम्प्रदायिक हीं है । सच तो यह है कि लोगो ने गलत समझा । इसीलिए लोग सामाजिक कार्यकर्ता को सीमित दायरे का आदमी मान लेते है । मनुष्य को सेवा का काम अपने घर से ही शुरू करना चाहिए । धीरे-धीरे उसका क्षेत्र बढता जाता है फिर वही अखिल भारतीय स्तर का कार्यकर्ता हो जाता है । जैन धर्म को सीमित दायरे मे रखने की भूल हमे हमेशा दुख देने वाली साबित होगी । मेरी मशा यह है कि जैन धर्म की व्यापक और सर्वाधिक जानकारी के लिए हमारे विद्वानो को अनेक भाषाओ का विद्वान् होना चाहिये तभी वे प्रभावशाली ढग से धर्म के मर्म को लोगो तक पहुंचा सकते है ।

मैं अनुभव करता हू कि पंडितजी की मशा यदि बहुभाषाविद विद्वानो के सृजन की पूरी होती है तब निश्चय ही जैन धर्म का उत्कर्ष और उसकी व्यापकता बढ़ने मे कोई सदेह नही है ।

विशिष्ट व्यक्तित्व—

वे एक स्नेही पिता, कठोर अनुशासक तथा गरिमामय गुरु के रूप मे छात्रो के हृदय मे आजीवन प्रतिष्ठित रहे । नि सन्देह पंडितजी के आचार-विचार और व्यवहार से सामाजिक शक्ति मे वृद्धि हुई और उनके हर कदम से समाज की शोभा बढी हैं ।

दिशा-बोध—

वैसे तो समूचा देश ही पडितजी से उपकृत और अनुप्राणित हुआ है । राजस्थान के होते हुए भी उन्होने सभी प्रान्तो के विद्यार्थियो को न केवल दिशा-बोध ही दिया है बल्कि उन्हे आर्थिक सुविधाऐ भी जुटाई है । उनके सहयोग का अवलम्ब पाकर कितने ही छात्र आज प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत कर रहे है ।

बुन्देल खंड के सैकडो छात्रो को पंडितजी ने जीविका की दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने के लिए जैन सस्कृत कालेज, जयपुर मे आयुर्वेद विभाग की स्थापना की । विभाग की स्थापना करके ही वे सन्तुष्ट नही हुए उन्होने छात्रो को छात्रवृत्तिया दिये जाने की भी व्यवस्था कराई । इस प्रकार छात्रो के पंडितजी सब कुछ थे । उनके उठ जाने से सम्पूर्ण समाज की महान् क्षति हुई है लेकिन बुन्देल खड का तो सहारा ही टूट गया है

———

शोधार्थियों के हितैषी

डा. गंगाराम गर्ग

विगत कई वर्षों से महावीर अतिशय क्षेत्र द्वारा सचालित शोध सस्थान जैन साहित्य और सस्कृति के शोध का प्रमुख तीर्थ बना हुआ है । देश के उच्चकोटि के शोधको ने भी यहा के ग्रन्थो का अवलोकन और आलोडन किया है । इसकी स्थापना पूज्य पंडितजी की प्रेरणा से ही हुई थी ।

पूज्य पडितजी भारतीय दर्शन एव सस्कृति तथा जैन साहित्य के बडे विद्वान् थे । सस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्र श भाषाओ मे भी वे निष्णात थे । अतः शोधार्थियो को उनसे बडी मदद रहती थी । उनकी सरलता व सौजन्य को देखकर कोई भी जिज्ञासु अपनी समस्याओ के समाधान मे नि संकोच उनकी विद्वता का लाभ उठाता था । मैं शोधार्थी के रूप मे जितनी बार और जब भी पूज्य पंडितजी के पास गया, उन्होने सदैव रुचिपूर्वक मेरे कार्य को प्राथमिकता दी । शोधार्थी को सबसे बडा लाभ उनके प्रति समस्त जैन समाज की असीम श्रद्धा का था । चाहे श्वेताम्बर हो और चाहे दिगम्बर श्रावक, पूज्य पडितजी का नाम लेने मात्र से उसने मेरी सम्मानपूर्वक यथेष्ट सहायता की ।

पूज्य पडितजी की इस पुण्यमयी स्मृति के अवसर पर मैं, शोधार्थियो के एक प्रतिनिधि के रुप मे उनकी उदाराशयता एव ज्ञानगरिमा को स्मरण करता हुआ उन्हे भाव–भीनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हू ।

पूज्य पंडितजी सा० के उपकारो का स्मरण करते ही मेरा मस्तक उनके चरणो मे झुक जाता है । उन जैसा गुरु पाकर मैं ही नही मेरे जैसे सैकडो हजारो शिष्यकृत कृत्य हैं । मै और मेरे भाई सा० (डा० कस्तूर चन्द जी कासलीवाल) बचपन मे ही उनके चरणो आये और उनके अंतिम समय तक उनकी छत्रछाया मे रहे यह हमारा सौभाग्य हे । उन जैसे हितैषी, शुभचिन्तक एव आदर्श गुरु के चरणो मे शत शत वन्दन ।

वैद्य प्रभुदयाल कासलीवाल

विविध गुणों के धनी

श्री घनश्याम गोस्वामी सहायक
निदेशक-सस्कृत शिक्षा, जयपुर ।

राजस्थान की रत्नगर्भा वसुन्धरा ने जहा विश्व प्रसिद्ध शूर वीरो और योद्धाओ को पैदा किया है, वहा उसकी कोख से महान साहित्यकारो कवियो, तन्त्र-मन्त्र शक्तियो, ज्योतिषियो, धर्मोपदेशको और भक्तो ने जन्म लिया है ।

महाकवि माघ से लेकर स्व० श्री मधुसूदनजी ओझा, श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री तक कई प्रतिभाओ ने इस राजस्थान मे देव वाणी के स्वरूप को संवारा और समृद्ध किया है । स्वर्गीय श्री चैनसुखदासजी देववाणी की इसी आराधना परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कडी थे । वैयक्तिक सुख-सुविधाओ का परित्याग करके ऋषिवत साहित्य और शास्त्रो की विशाल वारिधी मे अवगाहन करने वाली विभूतिया बिरली ही होती है । श्री चैनसुखदासजी राजस्थान की ही नही अपितु भारत की ऐसी ही विभूतियो मे से थे । वे आजीवन सस्कृत साहित्य के अध्ययन, अध्यापन और सृजन मे सलग्न रहे । शारीरिक बाधा के बीच भी उन्होने जो सस्कृत की सेवा की है वह अविस्मरणीय है । अध्यापन एव धार्मिक उपदेशो के माध्यम से उन्होने अनेको व्यक्तियो का निर्माण भी किया । उनकी सृजन शक्ति ने उन्हे अमरत्व प्रदान किया है ।

उन्होने आजीवन भारतीय सस्कृति की सेवा मे निरन्तर रहकर एक अद्भुत आदर्श को देश के समक्ष रखा और मार्ग दर्शन कराया । आपकी व्याख्यान शैली बहुत ही सरल एवं मनोहर थी ।

विविध विषयो के गहन अध्ययन के कारण उनकी अध्यापन शैली मे एक समन्वयात्मक प्रवाह था । विद्यार्थी उन्हे आदर्श अध्यापक समझते थे और थे भी । पण्डितजी अपने पास अध्ययन करने वाले प्रत्येक छात्र की मनोदशा एवं वाह्य परिस्थिति से पूर्ण परिचित रहते थे तथा उनकी सहायता के लिए सदा सर्वदा तैयार रहते थे ।

———

TRIBUTE TO PANDIT CHAIN SUKHDASJI

Dr R. M. KASLIWAL

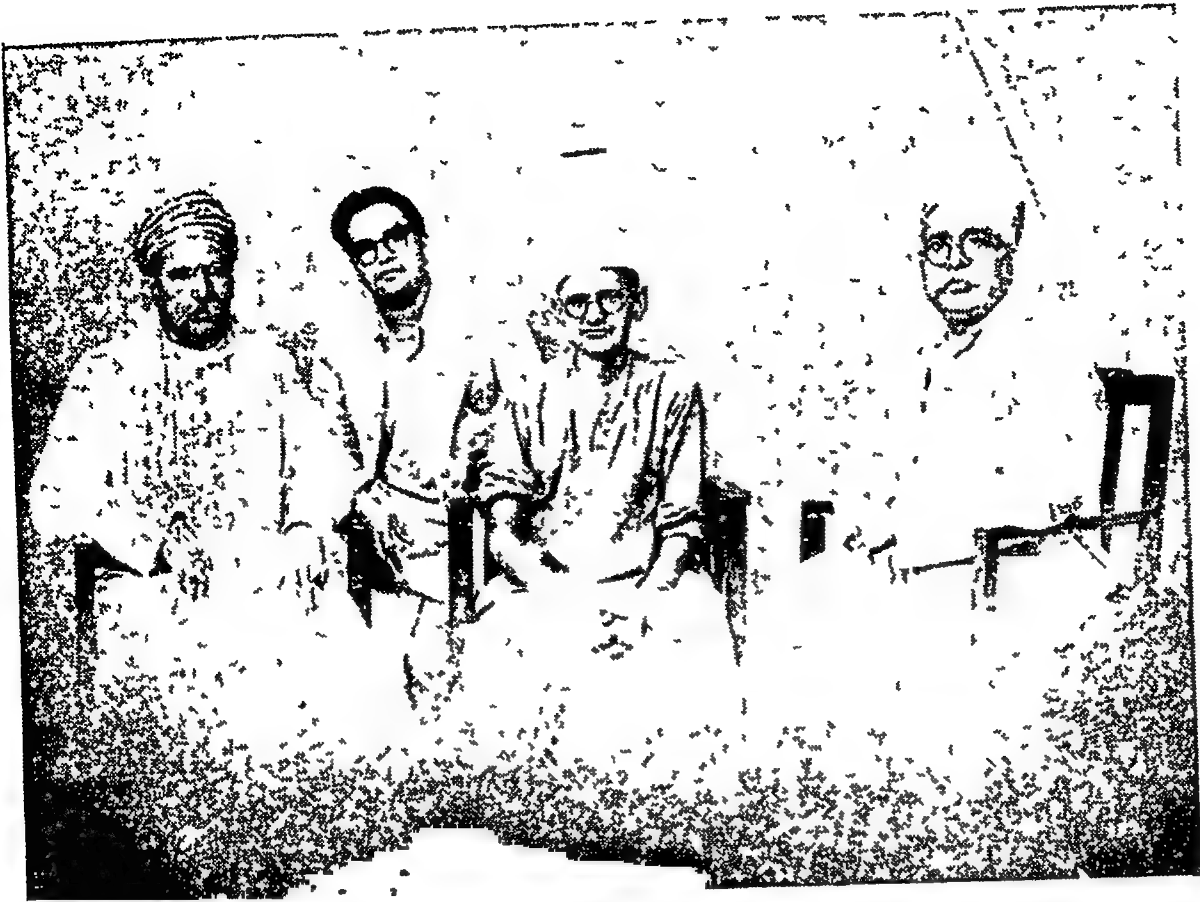
I have known Pundit Chain Sukh Dasji Nyayatirth for a longtime My father late Munshi Pyarelalji held Panditji in great esteem and he was particularly impressed by his profound knowledge of Jain Literatur's and Philosophy and other comparative religions

Panditji was not only a great teacher of Sanskrit and Hindi but was an excellent exponant of Jain Dharam and we all remember how we used to hear his periodic addresses which he used to deliver in Diwanji Ka Mandir

Panditji was a living example of a selfless and devoted worker and besides his profound knowledge it was this quality that attracted many of us to him Whenever we found ourselves in difficulty we used to approach him for his advice which was always given freely and frankly He was considered a doyen of Sanskrit and Prakrit literature and held the position of Principal of Jain Sanskrit College, Jaipur with distinction for a great many years Many a scholars used to come to him for advice from various parts of India and he was guiding a number of students in Research work for either Ph D degree or writing of original manuscripts In fact he himself had written several books in Jain Leterature and his books "Arhat Pravachan" and "Pravachan Prakash" are particularly worth mentioning as these books bear out the salient features of Jain religion so distinctively and clearly

Besides, being a great scholar and a great teacher Panditji was also a great reformist. He gave a propar lead to many a progressive reforms in the Jain community in Jaipur and by Virtue of his Catholic and progressive views he was not only respected by members of Jain Samaj but by members of other society and religious groups and samaj also

Panditji's sudden and untimely death after a short-illness has not only left the Jain Samaj of Jaipur leaderless but his absence from amongst us is acutely felt at this Juncture since he was guiding various deleberation and solving various problems of the Jain Society in Jaipur from time to time with his mature advice He was a great piller of strength of the goodness in Society in general, and I sincerely feel that the void that the has occurred in our society in Jaipur due to his sudden demise will be difficult to fill However, we hope and pray that let his selfless and dedicated life continue to show us a beem light in this strip riddenselfish and well for a long time to come.



श्री महावीर क्षेत्र कमेटी के मन्त्री स्व. श्री रामचन्द्रजी खिन्दूका एव स्व श्री सेठ बधीचन्दजी गगवाल के साथ पडित चैनसुखदास जी ↑



पूज्य पंडितजी के अन्तिम दर्शन

खण्ड २



धर्म एवं दर्शन

१

निश्चय और व्यवहार

☐ डा० कमलचन्द सोगाणी, उदयपुर

विश्व के धार्मिक इतिहास मे ऐसे अनेको व्यक्ति हुए हैं जिन्होने आध्यात्मिक अनुभव को जीवन का चमोत्कर्ष स्वीकार किया है। ऐसे व्यक्ति किसी देश, जाति, समाज आदि के बधन से बध हुऐ नही है। विभिन्न वातावरण, विभिन्न देशकाल, विभिन्न धर्म सम्प्रदायो मे उत्पन्न व्यक्तियो ने एक ही प्रकार के आध्यात्मिक अनुभवो की घोषणा की हैं। इससे प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक अनुभव वैज्ञानिक अनुभव की भाति मानव जाति की सम्पत्ति है। इन आध्यात्मिक अनुभव करने वालो को विभिन्न नामो से अभिहित किया गया है। उदाहरणार्थ योगी, सन्त, तीर्थंकर, केवली, बोधिसत्व, सूफी शुद्धोपयोगी, अर्हत्, स्थितप्रज्ञ, इत्यादि। सभी योगियो तीर्थंकरो आदि ने उस अनुभव को परामानसिक एव इन्द्रियातीत घोषित किया है। उसे एक अपूर्व अन्तर्दृष्ट्यात्मक अनुभव कहा गया है। भाषा के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति एक समस्या है। मौन के द्वारा ही वह उत्तम रुप से अभिव्यक्त हुआ है। वह अनुभव शान्त एवम् नि शब्द है। पर जब इस अन्तर्दृष्ट्यात्मक आध्यात्मिक अनुभव की अभिव्यक्ति का प्रयास किया जाता है तो हम तुरन्त मानसिक बुद्ध्यात्मक स्तर पर उतर आते हैं। बुद्धि के द्वारा उसको समझने का प्रयास प्रारम्भ होता है। बुद्धि विश्लेष्णात्मक होती है। वह दृष्टियो के माध्यम से अनुभव को पकड़ना एव अभिव्यक्त करना चाहती है। वह इस अनुभव को दूसरों के लिये बुद्धिगम्य बना देना चाहती है। बौद्धिक स्तर अनुभव को सामाजिक बनाने का प्रयास है। इस प्रयास मे अनुभव अपनी मौलिकता खो देता है फिर भी वह एक अर्थ मे सामाजिक बन जाता है। बुद्धि प्रत्ययो के माध्यम से कार्य करती है। इस लिए वह आध्यात्मिक अनुभव के खण्ड–खण्ड कर देती है। पर मानव के पास इस अनुभव को दूसरो तक पहुचाने का बुद्धि और भाषा के अतिरिक्त और कोई माध्यम भी तो नही है। अनुभव के सामाजीकरण के लिए बुद्धि और प्रत्यात्मक भाषा एक मात्र शरण है। जैन दर्शन मे उस आध्यात्मिक अनुभव को व्यक्त करने के लिये जिस शैली का उपयोग किया गया है उसे हम "नय" शैली कहते है। और जिन नयो का उपयोग किया गया है उन्हे हम निश्चय नय और व्यवहार नय कहते है। पर यह ध्यान रहे कि अनुभव इन दोनो नयो से अतीत है। आचार्य कुन्द–कुन्द ने कहा है: " नय पक्ष से रहित जीव आत्मा का अनुभव करता हुआ दोनो नयो के कथनो को मात्र जानता है। और उन्हें किंचित् मात्र भी ग्रहण नही करता (समयसार १४३) इसका अभिप्राय यह हैं कि आध्यात्मिक अनुभव नयातीत है।

जैन दर्शन की यह नय शैली उसके अनेकान्तवाद का परिणाम है। वस्तु के स्वरुप को कहने के

लिए जैन दार्शनिको के विभिन्न नयो का उपयोग किया है। उन सब नयो का विभाजन हम दो प्रकार से कर सकते है।

(१) तथ्यात्मक (२) मूल्यात्मक

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय तथा इन्ही के भेद रुपो मे नैगम, सग्रह आदि सात नय तथ्यात्मक है। निश्चय और व्यवहार मूल्यात्मक नय है और इनका उपयोग जीव की आध्यात्मिक यात्रा को व्यक्त करने के लिए ही किया जाता है। नयो का यह उपर्युक्त विभाजन ऐसे ही है जैसे जैन दर्शन मे सात तत्व और छह द्रव्यो का हैं। सात तत्वो का उद्देश्य मूल्यात्मक है जो जीव की निम्नतम अवस्था से उन्चतम अवस्था की ओर अग्रसर होने के मार्ग को अभिव्यक्त करता है। छह द्रव्यो का वर्णन तात्विक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति है। अर्थात् मनुष्य के सामने जब प्रश्न जीव के विकास का होता है तब दृष्टि मूल्यात्मक होती है और सप्त तत्वो का सहारा ग्रहण करती है। पर जब प्रश्न जगत के अन्तिम तत्वो को समझने का होता है। तो दृष्टि तथ्यात्मक होती है और द्रव्यो के रुप मे प्रकट होती है। यहा यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि तथ्य और मूल्य का विभाजन वस्तु स्थिति मे नही होते हुए भी बुद्धि के दृष्टिकोण से अवश्य उपस्थित है।

उपर्युक्त विवेचन का अभिप्राय यह है कि जैन दर्शन की निश्चय और व्यवहार शैली जीव के विकास का उदधाटन करने वाली मूल्यात्मक शैली है। इस शैली को परिपक्व अवस्था तक पहुचाने का श्रेय आचार्य कुन्दकुन्द को है। उनके समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रन्थ इस शैली का निरुपण करने वाले अद्वितीय ग्रन्थ है। निश्चय नय जीव के शुद्ध स्वरुप का कथन करने वाली दृष्टि है और व्यवहार नय उसके अशुद्ध स्वरुप का कथन करती है। इसलिए समयसार मे कहा गया है कि निश्चय नय भूतार्थ है और व्यवहार नय अभूतार्थ (समयसार–११)। मूल्यात्मक दृष्टि से जीव का शुद्ध स्वरुप ही ग्राह्य है और जीव का अशुद्ध स्वरूप अग्राह्य है। यदि निश्चय नय आत्मापेक्षी है तो व्यवहार नय समाजापेक्षी हैं। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि राग और द्वेष, शुभ और अशुभ, मान और अपमान, घृणा और प्रेम आदि समाज लक्षी है। दूसरे के अस्तित्व के विना इन द्वन्दो की अभिव्यक्ति सम्भव नही है। इसलिए कहा गया है कि यह सब व्यवहार है। आत्मा राग द्वेष रहित है, मान अपमान रहित, है जो ऐसा कहा गया है कि आत्मापेक्षी दृष्टि हैं इसलिए निश्चय नय है। मैं यहा यह प्रश्न उपस्थित नही कर रहा हू कि आत्मापेक्षी समाजापेक्षी नही हो सकती है। मेरा मानना यह है कि आत्मापेक्षी दृष्टि वाला ही शुद्ध सामाजिक दृष्टि वाला हो सकता है। इस बात का अधिक विवेचन करना अप्रासगिक होगा। निश्चय और व्यवहार के सदर्भ मे मैं यही कहना चाहता हू कि आत्मापेक्षी होना निश्चय है और परापेक्षी होना व्यवहार है। परापेक्षी का अर्थ है राग–द्वेष, शुभ–अशुभ तथा शरीर एव अन्य की दृष्टि वाला होना। उदाहरणार्थ निश्चय नय से जीव रुप, रस गन्ध रहित चेतना गुण वाला, किसी चिन्ह से ग्रहण न होने वाला तथा आकार रहित है (समयसार ४९)। किन्तु व्यवहार नय से जीव रूप, रस गध वाला, राग द्वेष का कर्ता सुख–दुख का भोक्ता तथा स्वदेह परिमाण वाला है। जीव कर्मों से स्पर्शित है व्यवहार नय की दृष्टि है। किन्तु जीव कर्मों से अस्पर्शित है यह निश्चय नय की दृष्टि है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि निश्चय नयी व्याख्या सार्वभौमिक होती है जब कि व्यवहार नयी व्याख्या सीमित और एक देशीय

होती है। जैन दार्शनिकों ने आध्यात्मिक तत्वो की व्याख्या के लिए इन दोनो नयो का उपयोग किया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र की व्याख्या इन दोनो नयो की शैली पर की गई है। इसी कारण इन तीनो की व्याख्या सर्वदेशीय और एक देशीय बन गई हैं। जैसे सम्यग्दर्शन को लीजिए। निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा ही सम्यग्दर्शन है किन्तु व्यवहार नय के दृष्टि से सम्यग्दर्शन की व्याख्या अलग-अलग समयो मे अलग अलग कर दी गई है। कभी कहा गया हैं सात तत्वो का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, कभी कहा गया है देव-शास्त्र, गुरु का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसी प्रकार निश्चय नय से सम्यक्चारित्र का अभिप्राय है आत्मा मे रमण। व्यवहार नय से सम्यक्चारित्र की व्याख्या शुभ-अशुभ भावो पर आश्रित होने के कारण परिवर्तनशील है। शुभ अशुभ भाव पर की अपेक्षा रखते हैं तथा सामाजिक मूल्यो पर उनकी व्याख्या आश्रित होती हैं। सामाजिक मूल्य सार्वकालिक नही हो सकते हैं इसलिये व्यवहार नय से सम्यक्चारित्र की व्याख्या भी सार्वकालिक नही हो सकती। कभी हमे चारित्र के बाह्य पक्ष को पकडना पडता है और कभी अन्तं पक्ष को। इसलिये व्यवहार की व्याख्या परिवर्तनशील ही होती हैं। निश्चय नय की दृष्टि से सम्यग्ज्ञान का अर्थ है आत्मज्ञान, किन्तु व्यवहार नय की दृष्टि से परवस्तु का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। इस तरह से निश्चय नय परिवर्तनशील व्याख्याओं को स्वीकार न कर अपरिवर्तनशील व्याख्याओ का हामी होती है।

इतना सब कुछ होते हुए भी व्यवहार नय निश्चय नय की दृष्टि को हृदयगम कराने वाला होता है। जिन लोगो को निश्चय नय का कथन बुद्धिगम्य नही होता और इस कारण वे उस मार्ग का अनुसरण नही कर सकते उनके लिए व्यवहार नय उपयोगी होता है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते है कि अज्ञानी जीवो को समझाने के लिए व्यवहार नयका उपयोग किया जाता है (पुरुषार्थ सिद्धचुपाय) जैसे किसी व्यक्ति को शुद्धोपयोग की बात समझ मे न आए तो उसको शुभ-अशुभ भावो के माध्यम से समझाने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार व्यवहार नय निश्चय नय का निमित्त बन सकता है। लेकिन यदि कोई व्यक्ति व्यवहार नय मे ही अटक जाय और उसी को अंतिम मान ले तो वह व्यवहाराभासी कहलायेगा। ऐसे व्यक्ति धर्म के सार्वभौमिक तत्व के जाने बिना धर्म के बाह्य रुपो से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। वास्तव मे देखा जाय तो व्यवहार नय उसी समय व्यवहार नय होता है जिस समय वह निश्चय नय की ओर दृष्टि को मोड़ने वाला बने अन्यथा वह व्यवहाराभास ही है। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति अपनी वर्तमान स्थिति को विचारे बिना निश्चय नय की दृष्टि से अपने को शुद्ध मान बैठे और शुभ भावो को बन्ध का कारण जानकर हेय कह दे तो वह व्यक्ति निश्चयाभासी होगा। निश्चय दृष्टि को व्यवहार की अपेक्षा है तो व्यवहार दृष्टि को निश्चय की।

ये दोनो नय अध्यात्म के लिये अत्यन्त आवश्यक है क्योकि मनुष्य आत्मानुभव पर तुरन्त ही छलांग नही लगा सकता। वह शनै.शनै. ही उस ओर अग्रसर होता है। ऐसे समय मे निश्चय नय उस दिशासूचक यत्र की भाति होता है जो सही दिशा मे चलने की प्रेरणा देता रहता है और व्यवहार नय को अपने ऊपर हावी नही होने देता। व्यवहार को निश्चय का अनुगमन करने वाला बनाये रखता है। यदि यह कहा जाय कि निश्चय के बिना व्यवहार अंधा है और व्यवहार के बिना निश्चय कोरा काल्पनिक है तो कोई अत्युक्ति नही होगी। मानसिक स्तर पर वे दोनों परस्परापेक्षी हैं। जैसा कहा जा चुका है अनुभव स्तर पर न निश्चय है और न व्यवहार।

हमे यहा यह नही भूलना चाहिये कि निश्चय और व्यवहार का वास्तविक अनुभव सम्यग्दृष्टि को ही हो सकता है। सम्यग्दृष्टि आत्माएँ दो तल पर जीती हैं। एक तल पर वे अनन्त की ओर उन्मुख हैं तो दूसरे तल पर उनका सान्त से सम्बन्ध हैं। इन्हे भान हो चुका है कि जिस तल पर वे जी रही हैं वह अन्तिम नही है। अत वे अनन्त मे छलाग लगाने के लिये सदैव उद्यत हैं। ये ऐसी आत्माएँ हैं जिनमे अनन्त के प्रति जागरुकता उत्पन्न हो चुकी है। उनके जीवन मे अनन्त और सान्त का सघर्ष मूर्तिमान हो उठा हैं। ऐसी आत्माओ के अनन्त और सान्त तल को भी निश्चय और व्यवहार कहा जा सकता हैं। वे जीती है व्यवहार तल पर, उन्मुख हो चुकी हैं निश्चय की ओर। सम्यग्दृष्टि के लिये व्यवहार एक विवशता है क्योकि आखिर उसे उस तल से उठकर निश्चय तल मे जीना ही है। जीवन के इन दो स्तरो का अनुभव केवल सम्यग्दृष्टि को ही हो सकता है। मिथ्यादृष्टि जीव इनका अनुभव नही कर सकते क्योकि उनमे अनन्त के प्रति जागृति का पूर्ण अभाव हैं। इसलिये कुन्दकुन्द ने समयसार मे कहा है " सर्व लोक को काम, भोग सम्बन्धी बन्ध की कथा तो सुनने मे आ गई, परिचय मे आ गई और अनुभव मे आ गई, इसलिये सुलभ है, किन्तु आत्मा का भिन्नत्व न तो सुना है, न परिचय मे आया है और न अनुभव मे आया है, अत एक मात्र वही सुलभ नही हैं " "। यह बात आचार्य ने उन जीवो के लिये कही है जो केवल शरीर तल पर ही जी रहे हैं। वे चाहते हैं कि मनुष्य इस तल की सीमाओ को जानकर अनन्त की ओर अग्रसर हो। क्योकि सिंह को सर्वथा नही जानने वाले पुरुष के लिये जैसे बिल्ली सिंह रूप मे दिखाई देने लग जाती है, उसी प्रकार निश्चय नय के स्वरुप से अपरिचित पुरुष के लिये व्यवहार ही निश्चय नय के रूप मे दिखाई पडने लग जाता है।

निश्चय और व्यवहार के इस सैद्धान्तिक विवेचन के पश्चात् अब हमे यह देखना है कि अध्यात्म के मूलभूत पहलुओ का इन दो दृष्टियो से मूल्याकन कैसे किया जा सकता है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि किस प्रकार जीव, पुण्य-पाप, आश्रव, संवर आदि तत्वो का तथा कर्ता–कर्म आदि विषयो को इन दो दृष्टियो मे परखा जा सकता हैं ? निश्चय दृष्टिकोण से जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नही हो सकते किन्तु व्यवहार नय जीव और शरीर की एकता प्रतिष्ठापित करता है (समयसार २७) इसी प्रकार निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हू, दर्शन–ज्ञान मय हू, सदा अरूपी हू, पर द्रव्य किंचित मात्र भी मेरा नहीं है (समयसार-३८) जीव के वर्ण नही है, गंध नही है, राग और द्वेष भी नही है ऐसा कथन करना निश्चय नय है और जीव के ये सभी है ऐसा व्यवहार नय से कहा जाता है (समयसार ५० से ५६) जैसे मार्ग मे जाते हुए व्यक्ति को लुटता हुआ देखकर " " यह मार्ग लुटता है" " इस प्रकार लोक मे व्यवहार होता हैं किन्तु निश्चय से विचार किया जाय तो मार्ग नहीं लुटता मार्ग मे जाता हुआ मनुष्य ही लुटता हैं। इसी प्रकार जीव मे शरीर के सम्बन्ध मे रुप, रस, गध का व्यवहार होता है। निश्चय से जीव तो शुद्ध स्वरुप है उसे ससारिक केवल व्यवहार से ही कहा जाता है।

कर्ता–कर्म के सम्बन्ध मे भी इन दृष्टियो से विचार किया जा सकता है। यह कहना कि जीव राग–द्वेष पुद्गल कर्मों का कर्ता है और उन्ही का भोक्ता है, व्यवहार है। निश्चय नय से यह आत्मा अपने शुद्ध भावो का कर्ता और भोक्ता है (समयसार ८३-८४) यदि निश्चय से यह आत्मा पुद्गल कर्म को करे और उसी को भोगे तो यह पर द्रव्य का करने वाला हो जायेगा जो कि युक्ति सगत नहीं है। व्यवहार से यह कहा जाता है कि यह

आत्मा घट, पट, रथ इत्यादि वस्तुओं को और क्रोधादि कर्मो को करने वाला है। यदि इसी को निश्चय से मान लिया जाय तो यह आत्मा पर द्रव्यमयी बन जायेगा। निश्चय दृष्टिकोण से शुभ अशुभ भावों का कर्ता और भोक्ता आत्मा नही हो सकता। वह तो केवल शुद्ध भावो का ही कर्ता हो सकता है, क्योकि उसी से उसकी तन्मयता सम्भव है। अत कहा जा सकता हैं कि आत्मा अपने को ही कर्ता है और अपने को ही भोक्ता हैं अन्य को नही (समयसार ८३) इसका अभिप्राय यह नही है कि राग-द्वेष आदि परिणामों का उत्तरदायित्व जीव पर न हो। जीव अनादि काल से कर्मों से बंधा हुआ हैं, इसलिये कर्मो का निमित्त पाकर राग-द्वेषादि परिणाम जीवो के होते है इस बात से इन्कार नही किया जा सकता। बात यह है कि जिस भूमिका मे जीव होता है उस सबघी भावों का कर्ता व भोक्ता होता है। कहा हैं अज्ञानी के भाव ज्ञानमय होते हैं (समयसार१३०,१३१)।

निश्चय और व्यवहार दृष्टि से पुण्य और पाप पर भी विचार किया जा सकता है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि अहिंसा आदि व्रतो का धारण करना पुण्य है तथा क्रोध, मान माया लोभादि कषायो के वशीभूत होकर नाना प्रकार के हिंसादि कुकर्म करना पाप है। इन्ही को शुभ-अशुभ कर्म भी क्रमशः कहा जाता है। चारित्र के क्षेत्र मे अशुभ तो त्याज्य है ही। उसके लिये तो कोई स्थान है ही नही। पर शुभ ग्रहण करने योग्य हैं। अध्यात्म मे प्रश्न यह है कि क्या निश्चय दृष्टिकोण से शुभ को ग्राह्य कहा जाय? जव यह प्रश्न उठता है तो आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि पुण्य भी एक सोने की वेडी है (समयसार १४६) इसका अभिप्राय यह नही समझना चाहिये कि शुभ कर्म जीवन मे पूर्णतया हेय है। जब तक मनुष्य आत्मानुभव की भूमिका पर अवस्थित नही होता तब तक शुभ कर्म उपादेय हैं। उस भूमिका को प्राप्त करने के पहिले ही यदि शुभ कर्मों को हेय मान लिया जायगा तो व्यक्ति अशुभ से बचने के लिये किसका सहारा लेगा। इससे यह भी नही समझ लेना चाहिए कि वह शुभ करते करते शुद्ध को प्राप्त हो जायगा। शुद्ध भावो की प्राप्ति तो शुद्ध भावो से ही होती है शुभ से कही। दूसरे शब्दो मे, निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति सविकल्प अवस्था से नही हो सकती। सम्भवतया इसी बात को ध्यान मे रखकर आचार्य कुन्द-कुन्द ने कहा "प्रतिक्रमण, निन्दा आदि विष-कुभ है" (समयसार ३०६) यदि इस बात को सुन कर कोई आत्मा विना शुद्ध मे स्थित हुए शुभ को छोड दे तो ध्यान रहे वह आत्मा अशुभ मे चला जायगा। इसलिये सामान्य जीवों के लिये शुभ ही एक मात्र सहारा है। जहां-जहा शुभ को व्यवहार कह कर त्याज्य कहा गया है वहां वहा निश्चय की अपेक्षा ही ऐसा है।

जैन दर्शन मे निश्चय और व्यवहार के इस विवेचन के पश्चात् हमे यह देखना है कि अद्वैत वेदान्त के परमार्थ और व्यवहार का इससे क्या भेद है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही परमार्थ रूप से सत्य है, भौतिक तत्त्व व्यवहारिक रूप से सत्य है। इस तरह यहा सत्ता के परमार्थ और व्यवहार रूप से भेद है। जैनो का व्यवहार नय वस्तुओ की सत्ता को नही छूता है। वह तो केवल आत्मा के पतन की ओर सकेत करता है और निश्चय नय उच्चतम अवस्था तक पहुचने की ओर प्रेरित करता हैं। जैन दर्शन मे सत्ता के विभाग पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप से नही किये गये हैं। इस तरह से जैन दर्शन के निश्चय और व्यवहार वैसे नही हैं जैसे अद्वैत वेदान्त के परमार्थ और व्यवहार। दोनो मे मौलिक भेद है।



जैन दर्शन में सर्वज्ञ सिद्धि

□ डा० रामजीसिंह, भागलपुर

जैन दर्शन मे सर्वज्ञता जीव का वास्तविक स्वभाव भी है और उसका परम आदर्श भी। स्वाभाविक स्थिति मे जीव "अनन्त-चतुष्टय" को प्राप्त रहता है, इसलिये अनन्त वीर्य एव अनन्त सुख के साथ-साथ अनन्त दर्शन एव अनन्त ज्ञान युक्त भी होता है। कषायो के कारण कर्मों के अनुरूप जब पुद्गल जीव मे जमा होते हैं, तभी वह बन्धन मे पडता है। आत्मा सूर्य की तरह भास्वरता रहता है, यो जब धूल-कण या वाष्पकण उसे आभृत कर लेते है तो फिर उसकी भास्वरता ढक जाती है। इसीलिये जब "सवर एव निर्जरा" के बाद मोक्ष की स्थिति आती है तो जीव पूर्ववत् अनन्त चतुष्टय को प्राप्त होता है। अत मोक्ष की स्थिति कोई 'अप्राप्त' स्थिति नही मानी जानी चाहिये। यह तो वही स्थिति है जो वास्तव मे जीव का स्वभाव है। वस्तुतः जिसमे जो तत्त्व अन्तर्निहित नही होता है, उससे वह निष्पन्न भी तो नही हो सकता।

यह ठीक है कि मीमासक सर्वज्ञता के स्वरूप के विषय मे ही कुछ गम्भीर शकायें उपस्थित करते हैं। जिनका सक्षिप्त विवेचन भी आवश्यक है। मीमासक यह प्रश्न उठाते हैं कि आखिर सर्वज्ञता का क्या अर्थ है- सर्व विषयो का ज्ञान या केवल संसार के महत्वपूर्ण एव आवश्यक वस्तुओ का ज्ञान। जैन विचारक दूसरा विकल्प इसलिये स्वीकार नहीं कर सकते कि जब तक "सभी" वस्तुओ का ज्ञान नही होगा तो "सार" एवं "निःस्सार" का भेद नही किया जायगा। फिर जैन विचारक यह मानते हैं कि ससार की सभी वस्तुओ का एक दूसरे से अविभाज्य सम्बन्ध है। इसीलिये **आचारांग सुत्त** मे कहा गया है-जे एग जाणइ से **सर्वं जानई**। यही कारण है कि अनन्त प्रहारो के बावजूद भी जैन दार्शनिक न तो केवल मीमासको की तरह "धर्मज्ञता" को और न बौद्धो की तरह हेय और उपादेय-ज्ञान को ही" सर्वज्ञता मानते हैं। यशोविजय के अनुसार सर्वज्ञता के दो मुख्य लक्षण हैं—"सर्व विषयता" एवं साक्षात्कारित्व। मीमांसक भी सर्व विषयता को स्वीकार करते हैं किन्तु केवल 'धर्म-ज्ञान' के सम्बन्ध मे, उसी प्रकार 'साक्षात कारित्व' को भी मानते हैं लेकिन 'असर्व विषयक ज्ञान' के सदर्भ मे। वस्तुत यह सर्व विषयता को तोड-मरोड कर रखने का प्रयास है। 'सर्व विषयता' सर्व विषयता है, सर्व विषयता को किसी विषय या वस्तु का सार ज्ञान नही माना जा सकता।

मीमासको का यह आरोप कि सर्व विषयता मे केवल सभी वस्तुओ का ही ज्ञान होता है लेकिन उसमे वस्तु के गुणो एव पर्यायों का ज्ञान सम्मिलित नहीं है। इस सदर्भ मे जैनों की ओर से इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि गुण एव पर्याय से स्वतत्र द्रव्य की स्थिति एवं अवस्थिति नही है। इसलिये

द्रव्य को जान लेने का अर्थ ही है कि उसके सभी गुणो एव पर्यायो को भी जान लें।

मीमासको का प्रहार इतने पर भी वन्द नही होता और वे पूछते हैं कि यदि सर्वज्ञता का अर्थ सभी स्थानों, सभी कालों मे सभी द्रव्यों के सभी गुणो एव पर्यायो का ज्ञान प्राप्त करना है तो फिर भी यह पूछा जा सकता है कि ऐसा ज्ञान क्रमिक है या युगपत्। यदि क्रमिक मान लें तो फिर अनन्त वस्तु एव अनन्त धर्म का ज्ञान कभी पूर्ण नही होगा। जैन दार्शनिक इस कठिनाई को पहले से समझ कर सर्वज्ञता को युगपत् ज्ञान मानते हैं। लेकिन युगपत् मान लेने पर भी प्रश्न रह भी जाता है कि ऐसा ज्ञान एक ज्ञान के द्वारा होता है या अनेक के द्वारा। मन्द एक ही ज्ञान है तो फिर विरोधी तत्त्वों का परिज्ञान एक साथ ही सम्भव नही।

लेकिन यह तो गलत है क्योकि हम एक ही अनुभूति से एक वस्तु के अन्तर्गत अच्छाई और बुराई दोनों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। एक साथ हम एक ही वस्त्र के लाल, पीले, हरे, काले रग को तो देखते ही हैं।

सर्वज्ञता पर यह आरोप लगाते हुए अक्सर मीमासक दार्शनिक यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि सर्वज्ञ किसी अतीत या अनागत वस्तु को उसी रूप मे देखता होगा या वर्तमान मे। यदि रूप मे देखता है तो यह एक भ्रमजाल है, किन्तु यदि उसे वर्तमान मे दीखता है तो फिर उसका स्वरूप परिवर्तन हो जाता है। अत दोनो अर्थो मे सर्वज्ञता असम्भव है, किन्तु जैन तो इसका सीधा उत्तर यही देते है कि अतीत अनागत को वर्तमान रूप में नही बल्कि उस रूप मे देखते है, इसमे कोई भ्रम का प्रश्न नही। फिर अतीत एव अनागत का भी तो अपना अस्तित्व है ही।

एक छोटी सी आपत्ति यह भी उठायी जाती है कि यदि सर्वज्ञ सभी वस्तुओं का ज्ञान एक क्षण मे ही प्राप्त नही करेगा और वह अचेतन जैसा रहेगा। लेकिन आरोप लगाने वाले भूल जाते हैं कि न तो सर्वज्ञ की अनुभूति और न ससार नष्ट होता है अतः प्रत्येक नया क्षण भी अनुभूति का विषय होता है। यह ठीक है कि किसी वस्तु का प्रागभाव एव प्रध्वंसाभाव दोनों साथ-साथ सम्भव नही है; जैसे कि किसी व्यक्ति का जन्म एवं मृत्यु दोनो एक साथ सम्भव नही है लेकिन विभिन्न संयमो मे एक ही व्यक्ति का जन्म एव मृत्युको हम रोज देखते हैं।

मीमासकों की ओर से एक और प्रभाव आरोप है कि यदि सर्वज्ञ सभी वस्तुओ की अनुभूति करता है तो फिर उसे गर्हित से गर्हित वस्तुओ का भी अनुभव करना होगा, साथ-साथ राग-द्वेष आदि से भी वह प्रभावित होगा। फिर वह पूर्ण पुरुष या वीतराग नही रह पायेगा। किन्तु इसका उत्तर यह होगा कि राग-द्वेष आदि के ज्ञान से राग-द्वेष नही होता, जिस प्रकार जहर देख लेने मात्र से किसी की मृत्यु नहीं हो जाती है। किसी वस्तु का ज्ञान होना एक बात हैं एवं उसकी सक्रिय अनुभूति अलग बात है।

मीमासक लोग सर्वज्ञता-प्रत्याख्यान का एक प्रवल आधार धर्मज्ञता को मानते हैं। उनका कहना है कि अर्हत सर्वज्ञ नही हो सकते क्यों कि वहां धर्म का वक्ता और उपदेशक हैं और धर्म तो एक नित्य, चिरंतन एवं सर्व व्यापी तत्व है। यदि महावीर, बुद्ध जैसे किसी व्यक्ति को धर्मज्ञ मान लें तो कई तरह की कठिनाइयां आ जायेंगी। पहली बात तो व्यक्ति चिरं

तन नही जिस प्रकार धर्म चिरंतन है। वे सर्व व्यापी भी नहीं कि सब जगह धर्म का उपदेश दे सकते। फिर विभिन्न सर्वज्ञ पुरुषो के परस्पर धर्मोपदेश मे वैभिन्य होता है। किन्तु इन आलोचनाओ मे बहुत दम नही। भले ही सर्वज्ञ पुरुष सब दिन सब जगह न रहते हो लेकिन इनके उपदेश तो सब दिन एव सब जगह दिशा दर्शन के लिये रहते हैं। फिर यदि सर्वज्ञ पुरुषो के उपदेशो मे वैभिन्न है तो यह वैभिन्य तो अपौरूषेय, नित्य एवं चिरतन माने जाने वाले वेदो मे भी है।

यह कहना कि अर्हत् इसलिये सर्वज्ञ नही हो सकता क्योकि वह वक्ता है और वक्तृत्व राग-द्वेष का परिणाम है और जहा राग-द्वेष है वही सर्वज्ञता असम्भव है। लेकिन यह आरोप तो वेदो के संबध मे भी लागू हो सकता है। वेद भले ही नित्य हैं और वे वक्ता नही हैं, लेकिन वेदो के भी तो भाष्यकार है, जिनमे राग-द्वेप का समावेश स्वाभाविक है। इसी प्रकार अन्य भी कही आरोप मीमासकों के द्वारा सर्वज्ञता के सम्बन्ध किये गये हैं।

सर्वज्ञता कालक्रम से जैन-दर्शन का मूल बिन्दु बन गया क्योकि उनके यहा कर्त्ता धर्त्ता है तो तथा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी परमेश्वर का अस्तित्व नही माना जाता है तो फिर उस प्रकार की उदात्त कल्पना से वे वचित हो जाते हैं। धर्म केवल तत्वज्ञान एव तर्क का ही विषय नही यह तो हमारी आस्था और विश्वास का भी विषय है। हमे एक ऐसे उपास्यदेव की आवश्यकता होती है जो हमे असुरक्षा से सुरक्षा मे ले जाय, कष्ट में सात्वना दें एव वह इतना भव्य, महान हो कि जिसके सहारे हम जी सके। जैन दर्शन से अर्हत् की प्राय, ऐसी ही भव्य एवं उदात्त कल्पना की गई है जिसमे ईश्वर की भाति कर्तव्य आदि भले न हो लेकिन उसमे अनन्तज्ञान (सर्वज्ञता), अनन्तवीर्य (सर्व शक्तिमानता) एव अनन्तसुख (आनन्दमयता) आदि दिव्य गुण विद्यमान हैं। इस प्रकार वीतराग अर्हत् की कल्पना मे ईश्वर के अभाव की क्षतिपूर्ति हो जाती है। लेकिन विश्वास की चुनौती भले नही दी जाय किन्तु जब सिद्धान्त रूप मे कोई तत्व प्रतिपादित होता है तो फिर शास्त्रकारो के लिए यह एक चुनौती उपस्थित कर ही देता है। यही कारण है कि सर्वज्ञता के पक्ष एव विरोध मे शास्त्रीय प्रमाणो का एक क्रमबद्ध सिलसिला है। मीमासक दार्शनिक षट प्रमाणो के आधार पर सर्वज्ञता सिद्धि का प्रत्याख्यान करते हैं, जिनका जैन दार्शनिक उसी शक्ति से प्रतिवाद करते हैं। कुछ उदाहरण नीचे उपस्थित किये जाते हैं —

(क) सर्वज्ञ सिद्धि के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण की समीक्षा

इन्द्रिय-प्रत्यक्षता वर्तमान काल मे इन्द्रिय-वस्तु के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। अत इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा सर्वज्ञता का ज्ञान सम्भव नही है। किन्तु जैन दार्शनिक तर्क उपस्थित करते हुए पूछते हैं कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष क्या किसी एक व्यक्ति और किसी एक स्थान काल के विषय मे सर्वज्ञता का निषेध करता है या सभी व्यक्तियो के सभी स्थानो एव सभी कालो के विषय मे यदि मीमासक पहला विकल्प मानकर शका करते हैं तो इसमे जैनों को कोई आपत्ति नही लेकिन यदि दूसरा विकल्प मान्य हो तो सर्वज्ञता स्वत सिद्ध हो जाती है। क्योकि जो सभी जगहो, सभी कालो मे सभी व्यक्तियो के विषयो मे सर्वज्ञता के निबन्ध का प्रतिपादन करते हैं, वे तो स्वय सर्वज्ञ है क्योकि कोई असर्वज्ञ यह नही कह सकता है कि सभी असर्वज्ञ है। यदि कोई अपने अनुभव के आधार पर सर्वज्ञता का निषेध करता है तो यह गलत है क्योकि जिन वस्तुओ का हम अनुभव नहीं भी करते हैं उनका अस्तित्व रहता

ही है। यदि सबो की अनुभूतियो के आधार पर सर्वज्ञता का प्रत्याख्यान किया जाता है तो फिर सर्वज्ञता परोक्ष रूप से सिद्ध हो जाती है क्योकि जो यह जानता है कि किसी की अनुभूति मे सर्वज्ञता नही है, वह स्वय सर्वज्ञ है। वास्तव मे इन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं अर्हत् प्रत्यक्ष मे भेद होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष मे इन्द्रिय वस्तु सन्निकर्ष अपेक्षित है, जब कि अर्हत, प्रत्यक्ष मे आत्मा बिना इन्द्रिय सन्निकर्ष के वस्तु तत्व को जानता है।

(ख) अनुमान-प्रमाण की समीक्षा

मीमासको के अनुसार अनुमान मे सर्वज्ञ सिद्धि सम्भव नही है क्योकि अनुमान के लिये साध्य एव हेतु के बीच व्याप्ति सम्बन्ध आवश्यक है जो सर्वज्ञ के सम्बन्ध में सम्भव नहीं। यदि मान भी लिया जाय कि व्याप्ति सम्बन्ध सम्भव है तो यह या तो अनुपलम्भ या कार्यकारण अविनाभाव या स्वभाव सम्बन्ध के आधार पर माना जायगा। अनुपलम्भ मानने से काम नही चलेगा क्योकि हेतु एवं साध्य के बीच भावात्मक सम्बन्ध चाहिये। फिर इसमे कार्यकारण सम्बन्ध भी सम्भव नही क्योकि कार्य-कारण सम्बन्ध सर्वदा पूर्वानुभूति पर आश्रित रहता है किन्तु सर्वज्ञ का कोई भी पूर्वानुभव नही होगा। तीसरा विकल्प यानि स्वरूप सम्बन्ध की तो बात ही नही हो सकती क्योंकि जब सर्वज्ञ ही अनुभव से परे है तो फिर उसका स्वरूप भी अनुभव-ग्रस्त नही हो सकता।

फिर यह व्याप्ति सम्बन्ध या तो प्रत्यक्षाधारित माना जा सकता है या अनुमानाधारित। प्रत्यक्ष के आधार पर तो व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान सम्भव ही नहीं क्योकि हम सबो का प्रत्यक्ष कर नहीं सकते। फिर अनुमान के आधार पर यदि व्याप्ति सम्बन्ध की स्थापना की जाय तो यह भी गलत है, क्योंकि इसमे आत्मा-श्रयदोष होगा। सर्वज्ञ सिद्धि के लिये यदि हम भाव धर्म हेतु उपस्थित करते हैं तो फिर असिद्ध दोष लगता है क्योंकि जब तक किसी की सिद्धि नही होती तो फिर भाव धर्म हेतु कैसे संभव है? उसी प्रकार यदि हम अभाव धर्म हेतु देते हैं तो इसमे विरुद्ध दोष होता है क्योकि सर्वज्ञसिद्धि के बदले सर्वज्ञ असिद्धि को ही हेतु मान लिया जाता है। यदि उभय धर्म हेतु मान लिया जाय तो फिर अनेकातिक दोष होगा क्योकि उभय धर्म हेतु मे भावात्मक एव अभावात्मक दोनो प्रकार के हेतु होंगे।

मीमासक एक और प्रश्न उठाते हैं कि सर्वज्ञ कोई व्यक्ति विशेष है या फिर सर्व सामान्य सर्वज्ञ। यदि उसे कोई व्यक्ति विशेष माना जाय तो चूंकि हम पक्ष या विपक्ष का कोई दृष्टान्त नही दे सकते, अतः हेतु असाधारण अनेकातिक से प्रभावित होगा। किन्तु यदि उसे हम सर्व सामान्य सर्वज्ञ मानते हैं तो फिर अर्हत प्रणीत आगम सिद्ध नही होगा।

जैन दार्शनिक समन्तभद्र की सर्वज्ञ-सिद्धि की युक्ति है कि जिस प्रकार सूक्ष्म दूरवर्ती आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान किसी न किसी को होता ही है उसी प्रकार सर्वज्ञ भी किसी के प्रत्यक्ष का विषय है। किन्तु मीमासक इसके प्रत्याख्यान क्रम के प्रश्न उठाते हैं कि क्या सर्वज्ञ किसी एक या अनेक के प्रत्यक्ष का विषय है? यदि प्रथम विकल्प को मानें तो विरुद्ध दोष होगा क्योकि सूक्ष्म, अन्तरित एव दूर की वस्तुएँ प्रत्यक्ष के विषय नही हो सकते हैं। यदि दूसरा विकल्प मानें तो उसमे कठिनाई कोई नहीं होगी। छह प्रमाणो के माध्यम से यदि व्यक्ति सभी चीजो का ज्ञान प्राप्त करता है तो फिर इसमे किस का विरोध हो सकता है? इन्ही कठिनाइयों के कारण जैन दार्शनिक सर्वज्ञ सिद्धि मे 'तपत्व', प्रमेयत्व,' एवं 'अस्तित्व' हेतु का प्रयोग करते हैं। इस पर भी मीमासको को आपत्ति है क्योंकि उसमे भी असिद्ध

एव अनैकातिक दोष है। लेकिन जैन दार्शनिक इसको नही मानते। उनके अनुसार अनुमान के आधार पर सर्वज्ञाभाव सिद्ध नही किया जा सकता। सर्व प्रथम सर्वज्ञाभाव स्वसम्बन्धी प्रत्यक्षपर नही सिद्ध हो सकता है। क्या पता है कि किसी दूसरे को सर्वज्ञ के अस्तित्व का ज्ञात हो। यदि कोई व्यक्ति स्वय सभी मनुष्यो की प्रकृति को जानता है कि वह सर्वज्ञ है या नही तो फिर ऐसा जानने वाला व्यक्ति भी सर्वज्ञ है। वास्तव मे अनुपलब्ध वस्तु का प्रत्यक्ष नही होता है, जो होता है उपलब्ध का। अत सर्वज्ञ की अनुपलब्धि सर्वज्ञ का न तो कारण हो सकता है, न कार्य और न व्यापक। अत स्वसम्बन्धी प्रत्यक्ष विरुद्ध प्रमाण के आधार पर भी सर्वज्ञाभाव इसलिये सिद्ध नही किया जा सकना है क्योकि विरुद्ध प्रमाण के साक्षात् एव परम्परा दोनो ही प्रकार इसमे लागू नही हो सकते। साक्षात् विरुद्ध से सर्वज्ञाभाव या तो किसी एक स्थान, समय मे सिद्ध हो सकता है या सभी स्थानो एव सभी कालो मे। यदि प्रथम विकल्प माना जाय, तो सर्वज्ञाभाव सिद्ध नही होता किन्तु यदि दूसरा विकल्प माना जाय तो फिर ऐसा कथन ही क्रम से सर्वज्ञता सिद्ध करता है।

(ग) अर्थापत्ति के आधार पर सर्वज्ञसिद्धि

जो अर्थापत्ति के आधार पर सर्वज्ञ सिद्धि करने का प्रयास करते हैं उनके अनुसार सर्वज्ञ के अस्तित्व को स्वीकार करना इसलिये जरूरी है कि बिना सर्वज्ञ के उपदेश सही नही माना जा सकता। किंतु मीमासको की आलोचना यह है कि उपदेश तो स्वप्न, विभ्रम या वेद के द्वारा भी सम्भव है। इस पर जैनो का कहना है कि इस प्रकार अर्थापत्ति से सर्वज्ञाभाव की सिद्धि नही हो सकती है क्योकि साध्य एव हेतु के बीच अविनाभाव सम्बन्ध नही है।

(घ) उपमान के आधार पर सर्वज्ञसिद्धि

चू कि सर्वज्ञ के सदृश हमे किसी अन्य व्यक्ति का दर्शन नही होता है और सादृश्यमान के आधार पर ही उपमान प्रमाण चलता है, अत उपमान के आधार पर सर्वज्ञ सिद्धि सम्भव नही। लेकिन मीमासको के उपर्युक्त तर्क को उलट कर कहते हैं। चू कि सर्वज्ञाभाव की तरह किसी का अस्तित्व हमे नही दिखता, अत सादृश्यज्ञान के आधार पर सर्वज्ञाभाव की सिद्धि नही हो सकती।

(च) आगम के आधार पर सिद्धि

मीमासको के अनुसार आगम के आधार पर सर्वज्ञ सिद्धि आत्मा-श्रय दोष उत्पन्न करेगा क्योकि आगम प्रामाणिकता किसी सर्वज्ञ पर निर्भर है और सर्वज्ञ की प्रामामिकता आगम पर है। आगम नित्य एव अनित्य है। नित्य आगम अर्थात् वेद मे किसी सर्वज्ञ प्रणीत है या असर्वज्ञ प्रणीत। प्रथम विकल्प मे अन्योन्याश्रय दोष होगा एव दूसरे विकल्प मे आगम की प्रामाणिकता खडित हो जायगी।

जैन दार्शनिको का कहना है कि सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने वाले आगम है या तो पौरुषेय हैं पर अपौरुषेय। पौरुषेय आगम या तो सर्वज्ञ प्रणीत है या असर्वज्ञ प्रणीत। यदि प्रथम विकल्प माना जाय तो आत्माश्रय दोष होगा, यदि द्वितीय विकल्प माना जाय तो फिर आगम ही आप्तवचन एव

प्रमाण नही रहेगे। किन्तु यदि आगम अपौरुषेय मान लिए जाएं और उनका यह कथन सर्वज्ञाभाव सभी स्थानो एव सभी कालो मे सिद्ध है, स्वय आत्म विरोधी हो जायगा।

(छ) अनुपलब्धि (अभाव) के आधार पर सर्वज्ञसिद्धि

अभाव प्रमाण मे सर्वज्ञाभाव की सिद्धि सम्भव नही। अभाव के दो भेद हैं–असत्त–प्रतिषेध और पर्युदास। यदि प्रथम विल्कप स्वीकार किया जाय तो सर्वज्ञाभाव आत्यन्तिक रूप से सिद्ध हो जाने पर वेद की सर्वज्ञता खडित होगी जो मीमांसक स्वीकार कर सकते। किन्तु यदि दूसरा विकल्प माना जाय तो सर्वज्ञाभाव की सिद्धि से सर्वज्ञसिद्धि हो जायगी क्योकि पर्युदास अभाव मे यदि एक विकल्प को अस्वीकार किया जाय तो दूसरे का स्वीकार करना ही होगा।

इन शास्त्रीय प्रमाणो के अतिरिक्त भी सर्वज्ञ सिद्धि के लिए कई स्वतन्त्र प्रमाण दिये गये है जिनका नीचे विवेचन होगा।—

(क) आत्मा का सचेतनता सम्बन्धी प्रमाण

जैन दर्शन जीव की चेतना को पर्याप्त मानता है। चेतना ही जीव का लक्षण है। चेतना लक्षणो जीव। जीव का स्वभाव ही है, जानना। अत यदि उसको किसी प्रकार का व्यवधान नहीं होगा तो वह सर्वज्ञ होगा ही। वीरसेन और विद्यानन्द ने ही समन्तभद्र द्वारा प्रस्तुत अग्नि सम्बन्धी उपमा का प्रयोग कर इसको स्पष्ट किया है। जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव ही है जलाना और वह वस्तुओ को जलाती है यदि कोई व्यवधान नहीं रहता है, उसी प्रकार जीव का स्वभाव है जानना और वह भी व्यवधान के बिना सभी वस्तुओ को जानता है। निषेधात्मक रूप से भी एक उपमा दी गई है। जिस प्रकार कोई हीरा जब तक धूल मे लिपटा रहता है तब तक नही चमकता है। ठीक उसी प्रकार जब तक जीव ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के कारण आच्छादित रहता है तो वह सभी चीजों को नही जानता है। अकलक ने इस युक्तिवाद का आधार दर्शन समझाते हुए लिखा है कि जीव मे सर्वार्थ–ग्रहण सामर्थ्य है अत जैसे ही व्यवधान दूर होता है जीव सर्वज्ञ की तरह सबो को जानने लग जाते है। इसलिए कर्म–पुदगलो का सम्पूर्ण विनाश करने के लिए समन्तभद्र ने तपश्चर्या विधान बनाया है।

(ख) अनुमेयत्व सम्बन्धी युक्तिः-

मीमासको ने केवल वेद को धर्मज्ञ माना और किसी को नही। इस प्रकार अनुमेयत्व को धर्मज्ञता के क्षेत्र से निष्कासित कर दिया। किन्तु समन्तभद्र शबर स्वामी के इस तर्क को नही मानते। उनका कहना है कि जिस प्रकार अराग जैसा अदृश्य अतीत एवं दूरवर्त्तीय वस्तुओ का ज्ञान भी किसी के प्रत्यक्ष के विषय हैं जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष के आधार पर सम्भव नही है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अतीन्द्रिय ज्ञान भी सम्भव है। यद्यपि कुमारिल ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि कोई भी प्रमाण सर्वज्ञसिद्ध कर सकने मे समर्थ नही है। इसीलिये अकलक के अनुमेयत्व के बदले प्रमेयत्व हेतु का व्यवहार किया है। इस तरह हम कह सकते हैं कि ऐसी कोई वस्तु नही जो किसी ज्ञाता के ज्ञान का विषय नही है। अत ऐसा भी कोई व्यक्ति हो सकता है जिसके ज्ञान का विषय समस्त वस्तु हो और यही सर्वज्ञता है।

(ग) ज्ञान के उत्तरोत्तर विकास-क्रम सम्बंधी युक्तिः

ज्ञान एक विकास क्रम है और सर्वज्ञता उसकी चरम पराकाष्ठा है हम देखते हैं कि किसी को कम किसी को अधिक ज्ञान है। इससे हम यह अनुमान लगा सकते है कि ज्ञान का विकास होते होते क्रम से वह सर्वज्ञता तक पहुचेगा। इसीलिये आत्मा के अनन्त चतुष्टय मानकर उसे अनन्तज्ञान सयुक्त माना गया है जीव मे स्वभाव की सर्वज्ञता निहित है, यो व्यवधान के कारण वह अल्पज्ञ रहता है। किन्तु मीमासको ने इसका प्रत्याख्यान करते हुए यह कहा हैं कि यदि सर्वज्ञता ज्ञान की चरम सीमा मान ली जाय तो वह तो इन्द्रिय ज्ञान की ही अपनी सीमायें हैं जैसे यदि हम ८-१० फीट ऊचा कूद सकते हैं तो इसका अर्थ यह नही कि हम ८-१० मील ऊची भी छलाग लगा सकते है। ठीक इसी प्रकार ज्ञान के विकास की भी अपनी सीमायें है। इसके उत्तर मे जैन दार्शनिक अनन्तकीर्ति गृद्ध की दूर दृष्टि, सुअर की श्रवण शक्ति एव चीटी की अपूर्व धारणा शक्ति का दृष्टान्त देकर यह समझाना चाहते हैं कि मनुष्य के सम्बन्ध मे भी यह सम्भव है। अकलक भी मीमासक का यह तर्क अनुभवाधारित नही मानते कि ज्ञान की सीमायें हैं। भले ही हम आठ मील ऊचा फाद नही सकें लेकिन गरूड जैसा पक्षिराज तो सैकडो मील ऊचा उडता है। विद्यानन्द भी उडने वाले सर्प एव हजारो हजार मील नीचे गिरने वाले पत्थर की उपमायें देकर यह सिद्ध करना चाहते हैं। मानव ज्ञान एव शक्ति की सीमायें नही हैं। जहा तक प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमायें हैं, वे भी विचारणीय है। जब चमगादर एवं विल्ली रात्रि काल मे बिना प्रकाश के दूर-दूर तक देख हैं तो फिर मानव के सम्बन्ध मे ही यह मर्यादा क्यो हो ? योग की भूमिका यही समझाने लायक है जिसके अनुसार मनोज्य, इन्द्रिय जय की बात तो है ही साथ-साथ सर्वज्ञता की ओर भी स्पष्ट सकेत हैं।

(घ) ज्योतिषज्ञान की नक्षत्र सम्बन्धी भविष्यवाणियां -

ज्योतिष विज्ञान की नक्षत्र सम्बन्धी भविष्य वाणिया सर्वज्ञता की सम्भावनाओ का सकेत करती है। इक्षणिका और प्रश्नविद्या नामक प्राचीन विद्यायें अतीन्द्रिय वस्तुओ के ज्ञान देती हैं। इन सबसे इतना तो सिद्ध होता ही है कि इन्द्रिय वस्तु का सन्निकर्ष ही सभी प्रकार के ज्ञानो के लिये आवश्यक नही है। यहा यह कहा जा सकता है कि ज्योतिषशास्त्र एक प्रकार का गणित विज्ञान है जो भौतिक तत्वो के हमारे वास्तविक अनुभवो पर आधारित है। किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान की सम्भावनायें तो प्रकट ही है।

(च) बाधक प्रमाण का अभावः-

हम देख चुके है कि शास्त्र के षट्विध प्रमाणो मे कोई भी सर्वज्ञ सिद्धि मे बाधक नही है। प्रत्यक्ष सर्वज्ञाभाव सिद्ध नही कर सकता क्योकि यह तो केवल उसी को प्रमाणित करता है जिसका भावात्मिक अस्तित्व हो। अनुमान भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नही कर सकता क्योकि इसके लिये जिस प्रकार हेतु एव साध्य के बीच व्याप्ति सन्बन्ध चाहिये, वह उपलब्ध नही। आगम, अर्थापत्ति, उपमान एव अनुपलब्धि (अभाव) को भी यही स्थिति हैं। असल मे यह प्रमाण कोई स्वतत्र प्रमाण नही। अन्य प्रमाणो का योग मात्र है। इससे केवल यही सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ सिद्धि मे कोई भी बाधा नही है।

(छ) अंश से पूर्ण की ओर जाने की वृत्ति

मानवमन हमेशा ही अपनी मर्यादाओ का उल्लघन करता है। किसी वस्तु के अश का ज्ञान वास्तवमे अश तक ही सीमित नही रह कर पूर्ण तक जाता है। इसीलिये मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय के बाद ही केवल ज्ञान आता है। जिस प्रकार मनोविज्ञान मे गेस्टाट-वृति
होती है, उसी प्रकार ज्ञान के क्षेत्र मे भी अपूर्णतः से पूर्णता की ओर आने की हमारी सहज एव स्वाभाविक वृत्ति होती है।

(ज) परामनोविद्या सम्बन्धी युक्ति.

आज परा-मनोविद्या का विकास हो रहा है जिसमे इन्द्रिय-सन्निकर्ष - निरपेक्ष ज्ञान (इ० एस० पी० और पी० के०) आदि की चर्चा हो रही है। ये बातें मनगढ़न्त एव केवल कपोल कल्पना नही बल्कि वस्तु स्थिति है। मनोविज्ञान अपने क्षेत्र का विस्तार कर रहा है जिस प्रकार जैन दर्शन अवधि एव मनः पर्यय की बात करता है, आज परामनो विद्या भी उसको मानता है और उसके लिये प्रयोग एवं तर्क भी उपस्थित करता है। इस दृष्टि से हमे समझना होगा।



वैशाली जन का प्रतिपालक. गण का आदि विधाता।
जिसे ढूंढता देश आज उस स्वतन्त्र की माता।।
रुको एक क्षण, पथिक यहाँ मिट्टी को शीश नवाओ।
राज सिद्धियों की सम्पत्ति पर फूल चढाते जाओ।।

—राष्ट्रकवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' वैशाली का प्रतिपालक

३

जैन दर्शन में शब्दप्रमाण

□ कु० हेमलता बोलिया

भूमिका

जैन दर्शन मे प्रमाण चर्चा सर्व प्रथम उमास्वाति के 'तत्वार्थसूत्र' मे देखने को मिलती है । जैन आगमिक परम्परा मे ज्ञान के पाच भेद—(मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल ज्ञान) उपलब्ध हैं ।[1] वहा इन पाच ज्ञानो को पुन दो भागो मे यथा प्रत्यक्ष और परोक्ष मे विभाजित किया गया है । प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का कहा गया है—(१) केवल ज्ञान और (२) अकेवलज्ञान । अकेवलज्ञान के पुन दो भेद किये गये हैं—(१) अवधि (२) और मन - पर्यय । तथा परोक्षज्ञान भी दो प्रकार से वर्णित है—(१) आभिनिवोधिक (मति) और श्रुतज्ञान ।[2]

इन्ही पाच ज्ञानो को उमास्वाति ने प्रमाण कहा है । अर्थात् इनकी दृष्टि मे ज्ञान ही प्रमाण है ।[3] इन्होने मति ज्ञान के ही पर्याय, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध बतलाये हैं ।[4] इस प्रकार

१- (क) पचविहे णाणे पण्णते त जहा—
अभिणिवोहियणाणे सुयणाणे आहिणाणे
मणपज्जवणाणे केवलणाणे ।

स्था० सू० स्थान ५, उद्दे० ३, सू० ४६३

(ख) अनु० सू० १

(ग) नन्दीसूत्र, १

(घ) भगवती सूत्र, शतक ८, उद्दे० २, सू० ३१८

२ दुविहे पण्णत, त जहा—पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव १, पच्चक्खे णाणे दुविहे पण्णते, त जहा—केवलणाणे चेव नोकेवलणाणे चेव २, णोकेवलणाणे दुविहे पणणते, त जहाओहिणाणे चेव मणपज्जवणाणे चेव, परोक्खणाणे दुविहे पण्णते, त जहा अभिणिबोहियणाणे चेव सुयणाणे चेव ।

(स्था० सू०, स्थान २, उद्दे० १ सू० १७)

३ (क) मतिश्रुतावधिमनपर्ययकेवलानिज्ञानम् । त० सू० (१।६)

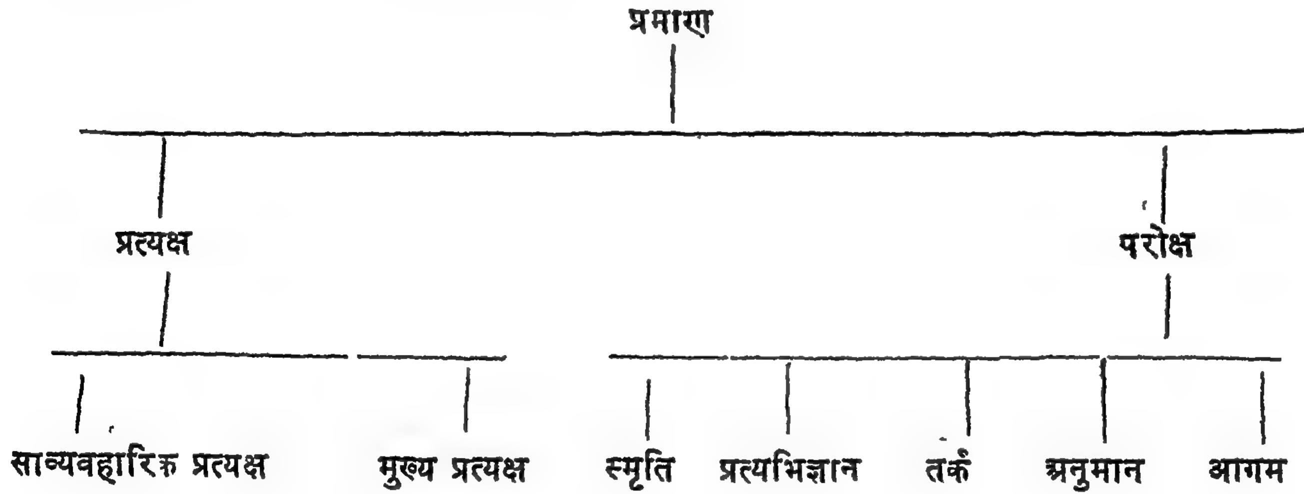
(ख) आद्ये परोक्षम् । वही, (१।११)

(ग) प्रत्यक्षमन्यत् । वही, (१।१२)

४ मति स्मृति सज्ञा चिन्ता ऽभिनिवोधइत्यर्थान्तरम् । वही, (१।१३)

उमास्वाति ने अपने समय मे प्रचलित स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान प्रमाणो का अन्तर्भाव मतिज्ञान मे करके जैन क्षेत्र मे प्रमाण पद्धति को आगे बढाया, किन्तु प्रमाणशास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा भट्ट अकलकदेव के समय से ही प्रारम्भ होती है। यद्यपि जिन भद्रगणि[५] ने मन और इन्द्रिय की सहायता से होने वाले मतिज्ञान को परोक्ष की परिधि से निकालकर तथा साव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देकर प्रत्यक्ष की परिधि मे सम्मिलित किया गया। फिर भी प्रमाणशास्त्र को व्यवस्थित रूपरेखा स्सथापित करने का श्रेय भट्ट अकलदेव को ही प्राप्त है। इन्होने भी तत्वार्थसूत्र के 'तत्प्रमाणे' सूत्र को आदर्श मानकर अपने 'लघीस्त्रय'[४] नामक ग्रन्थ मे प्रमाण विभाग इस प्रकार किया है—

जिससे जैनेतर दार्शनिको से इन्द्रिय जन्य ज्ञान को परोक्ष न मानने का जो विवाद था वह समाप्त हो



यद्यपि अकलक के ग्रन्थो के प्रमुख टीकाकार अनन्त वीर्य और विद्यानन्दी को स्मृति आदि को अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष मानना अभीष्ट नही हुआ, फिर भी समस्त उत्तरकालीन जैन दार्शनिको ने अकलक द्वारा प्रतिष्ठादित प्रमाण-पद्धति को एक स्वर से स्वीकार किया है केवल सिद्धर्षि ने न्यायावतार पर सक्षिप्त टीका करते हुए प्रत्यक्ष और परोक्ष मे से परोक्ष के अनुमान और आगम ये दो भेद माने है जो अवश्य ही अकलक परम्परा से भिन्न है।

आगम व श्रुत प्रमाण

अन्य दर्शनो मे मान्य शब्दप्रमाण ही जैनदर्शन मे आगम या श्रुतप्रमाण के नाम से जाना जाता है किन्तु जैनाचार्यो मे सिद्धर्षि ही ऐसे है जिन्होने सर्व प्रथम जैन दर्शन मे आगमप्रमाण के स्थान पर शब्द-प्रमाण शब्द का प्रयोग किया है। श्रुतज्ञान (प्रमाण) शब्द जैनदर्शन की अपनी मौलिक देन है। यह जिस रूप मे जैनदर्शन मे पाया जाता है उस रूप मे अन्य

---

५ एगतेण परोक्ख लिगियमोहाइय चपच्चकख।
इदियमणो भवं जं त सववहारपच्चक्ख ।विशे आ भा, गा ९५, (भा-१) पृ. २४

दर्शनो मे नही पाया जाता है। फिर भी श्रुतज्ञान एव शब्दप्रमाण शब्दो मे कोई विशेष अन्तर नही है क्योकि दोनो मे ही शब्द की प्रधानता है। यह आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा।

जैनाचार्यों के अनुसार आप्तवचन से आविर्भूत होने वाला अर्थ सवेदन आगमप्रमाण है। साथ ही इनका यह भी कहना है कि यदि अन्य दार्शनिक यह आशका करें कि जब अर्थ का सवेदन आगम है तो वह अप्रवचनात्मक ही कैसे हो सकता है? तो प्रत्युत्तर मे इनका कहना है कि उपचार से वचन भी आगम है।[६]

माणिक्यनन्दी आप्त के वचन एव संकेत आदि के निमित्त से होने वाले ज्ञान को आगम कहते हैं।[७]

उक्त दोनो परिभाषाओ मे कोई विशेष अन्तर नही है केवल माणिक्यनन्दी ने लक्षण मे 'आदि' पद से सकेत आदि ग्रहण विशेषरूप से किया है।

सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार परमार्थ वक्ता दृष्ट और इष्ट के अविरोधी वाक्य से तथा तत्त्व-ग्राहिता से उत्पन्न वाक्य शब्दप्रमाण है।[८]

उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट होता है कि आप्त के वचन से उत्पन्न हुआ पदार्थ का ज्ञान आगम प्रमाण है और उपचार से आप्त के वचन को भी आगम प्रमाण कहते हैं। इस बात मे तो सभी जैनाचार्य एकमत हैं, किन्तु आप्त के स्वरूप के विषय मे उनके परस्पर भिन्न-भिन्न मत हैं।

आप्त का स्वरूप

कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने 'नियमसार' नामक ग्रथ मे आप्त के स्वरूप को बतलाते हुए लिखा है कि—जिसके समस्त दोष दूर हुए हैं ऐसा जो सकल-गुणमय पुरुष है वह आप्त है।[९] इसके विपरीत जिसके समस्त दोष दूर नही हुए हैं ऐसा जो सकल-गुणहीन पुरुष है वह अनाप्त है।

'नियमसार' की टीका करते हुए पद्मप्रभमलधारि ने लिखा है कि जो शकारहित है वह आप्त है।[१०] इसके विपरीत जो शका से युक्त है वह अनाप्त है।

---

६ का० ३,१०

७ (क) आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसवेदनमागम । उपचारादाप्तवचन च ।
प्र न त लो अ (४।१-२) पृ ३५, जैन त भा पृ ९

(ख) आप्तवचनाज्जातमर्थज्ञानमागम । उपचारादाप्तवचन च ।
षड्द सम (जै) का ५५।३२० पृ ३२७

(ग) आप्तवचनादिजनितपदार्थज्ञानम् आगम । तद् वचनमपि ज्ञानहेतुत्वादागम । ।।१२३) पृ ११७
प्र प्रम (१परी मु (३।९९)

८. आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागम ।

९ दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात्परमार्थाभिधायिन ।
तत्वग्राहितयोत्पन्न मान शाब्द प्रकीर्तितम् ।
न्या अव., का ८

१० ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो ।
नि सा गा ५, पृ ११

समन्तभद्र का कहना है कि जो दोषो को नष्ट कर चुका है, सर्वज्ञ और आगमेशी अर्थात्—हेयोपादेयरूप अनेकात तत्त्व के विवेकपूर्वक आत्महित मे प्रवृत्ति करने वाले अबाधित सिद्धातशास्त्र का स्वामी (अर्थात्–आगम का स्वामी है) वह नियम से आप्त होता है, दूसरे प्रकार के आप्तता नही हो सकती है।[11] साथ ही इनका यह भी कहना है कि जिसमे क्षुधा, प्यास, बुढापा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह और 'च' शब्द द्वारा सूचित चिंता, अरति निद्रा विस्मय, विषाद, खेद और स्वेद ये अठारह दोष नही वह आप्त है और उसे निर्दोष कहते है।[12]

समन्तभद्र का यह भी कहना है कि जिसमे निर्दोषिता, सर्वज्ञता और आगमेशिता इनमे से यदि एक गुण भी नही है तो वह आप्त भी नही है। इनके अनुसार आप्त मे इन तीनो गुणो का होना आवश्यक है। इस प्रकार सर्वज्ञ, अर्हंत और तीर्थंकर आदि ही आप्त हो सकते हैं। क्योकि ये तीनो गुण तो उन्ही मे पाये जाते हैं। वैसे भी स्वय समन्तभद्र ने अपनी 'आप्त मीमासा' मे अर्हन्त के विषय मे कहा है कि अर्हन्त ही सर्वज्ञ तथा आगम का स्वामी है जिसकी सर्वज्ञता के कारण उसके वचनो मे युक्ति और शास्त्र से किसी प्रकार का विरोध नही आता है वही राग-द्वेषादि दोषो से सर्वथा रहित अर्थात् निर्दोष है और उसके द्वारा माने गये तत्व प्रमाणो से बाधित नही होते है।[13]

समन्तभद्र के समान अकलकदेव ने भी अर्हन्त को ही सर्वज्ञ कहा है। इनके अनुसार अर्हन्त ही सर्वज्ञ है, इनके अतिरिक्त दूसरे न्याय और आगम के विरुद्ध कथन करते हैं।[14]

हेमचन्द्राचार्य ने भी अर्हन्त को ही अपने 'आप्तनिश्चयालकार मे सर्वज्ञ कहा है। इनके अनुसार जो सर्वज्ञ अर्थात् सब कुछ जानता है; रागादि दोषो को जीत चुका हो, जो तीन लोको मे पूजित हो, वस्तुए जैसी हैं उन्हे वैसी ही कहता हो, वही परमेश्वर अर्हत् देव है।[15]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जो सर्वज्ञ होता है वही सभी दोषो से रहित और आगम का स्वामी होता है। क्योकि निर्दोषिता के बिना सर्वज्ञता सम्भव नही और सर्वज्ञता के बिना आगमेशिता नही हो सकती है। इसलिए तीर्थंकर

---

११. आप्तेनोत्छिन्न-दोषेण सर्वज्ञेनाऽऽगमेशिना।
भवितव्य नियोगेन नाऽन्यथा ह्याप्तताँ भवेत्।

रत्नक. उपा, का. ५, पृ. ३७

१२. क्षुत्पिपासा-जरातक-जन्माऽन्तक भय-स्मया।
न राग-द्वेष-मोहाश्च यस्याप्त स प्रकीर्त्यते॥

रत्नक. पा, का. ६, पृ. ३९

१३. स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधी यदिष्ट ते प्रासिद्धेन न बाध्यते॥

आ. मी, का. ६, पृ. १९

१४. सोऽत्र भवासर्हन्नेव, अन्येषां न्यायागम विरुद्ध।

आदि ही आप्त सिद्ध होते हैं क्योकि ये तीनो गुण इनमे विद्यमान है। तीर्थंकर, अर्हन्त आदि को आप्त मानने के विषय मे सभी जैनाचार्य परस्पर सहमत हैं।

किन्तु अकलंकदेव को आप्त का इतना ही लक्षण अभीष्ट नही है। इन्होने अपनी 'अष्टशती' मे आप्त का व्यापक अर्थ मे एक दूसरा लक्षण भी किया है। जिसके अनुसार जो जहा (अर्थात् जिस विषय मे) अविसवादक है वह वहा या उस विषय मे आप्त है, अन्यत्र अनाप्त है। आप्तता के लिए तद्विषयकज्ञान और अविसवादकता आवश्यक है।[१६]

वादिदेवसूरि[१७] और हरिभद्र[१८] के अनुसार जो व्यक्ति जिस वस्तु का कथन करता है उसे यथार्थ रूप से जानता हो तथा जिस प्रकार उसे जाना है ठीक उसी रूप मे उसका कथन करता है तो वह आप्त कहा जाता है। जैसे माता पिता और तीर्थंकर आदि। क्योकि इनका ही वचन अविसवादी होता है। जैसे 'यहा धन घडा है' 'मे रूपवंत हैं' इत्यादि वाक्यो के अर्थ को पिता और तीर्थंकर अच्छी प्रकार से जानते हैं। अत. वे उक्त वाक्यो के आप्त हैं।

रत्नप्रभाचार्य के अनुसार जिससे कहा हुआ अर्थ ग्रहण किया जाता है वह आप्त है या जिसमे राग-द्वेषादि दोषो का क्षय हो चुका है वह आप्त है और इनका यह भी कहना है कि अर्शादिगण से बने आप्त शब्द का भी यही अर्थ है। रत्नप्रभाचार्य का कहना है कि जो पुरुष रागादि दोषो से युक्त है वह आप्त से भिन्न अर्थात् अनाप्त है क्योकि वह पदार्थो को जानता हुआ भी इन पदार्थों का अन्यथा रूप से कथन करता है, जैसे कि पदार्थ-ज्ञान से रहित व्यक्ति करता है। साथ ही इनका यह भी कहना है कि यदि कोई अक्षर लेखन के द्वारा, सख्या के निर्देश से, अपने करपल्लव आदि की चेष्टा विशेष से अथवा शब्द स्मरण करने से परोक्षार्थ विषयक ज्ञान को दूसरे को करा सकता है तो वह भी आप्त कहा जाता है।[१९]

लघुअनन्तवीर्य ने भी अकलक के समान ही आप्त का व्यापक अर्थ किया है किन्तु इन्होने अविसवादी के स्थान पर अबचक शब्द का प्रयोग किया

१५　सर्वज्ञो जितरागादिदोपस्त्रैलोक्यपूजित ।
　　यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन्परमेश्वर ॥

१६　यो यत्राविसवादक स तत्राप्त, तत परोऽनाप्त । तत्वप्रतिादनमविसवाद, तदर्थज्ञानात् ।
　　　　अष्टश . अष्टसह पृ २३६

१७. *अभिधेय वस्तु यथावस्थित यो जानीते यथाज्ञान चाभिधत्ते सआप्त ।*
　　तस्यहि वचनमविसवादि भवति ।
　　　　पु न त लो अ, (४।४-५) पृ ३७

१८　अभिधेय...　　, सआप्तो जनक-तीर्थकरादि ।
　　　　षड्द समु (जै) का ५५।३२०, पृ. ३१

१९　आप्यते प्रोक्तोऽर्थोऽस्मादित्याप्त । यद्वा, आप्तीरागादिदोषक्षय सा विद्यते यस्येत्यर्शआदित्वादनि अन्त जानन्नपि हि रागादिमान् पुमानन्यथाऽपि पदार्थान् कथयेत् तद्वच्छित्तये यथाज्ञानमिति ।

तेनाक्षरविलेखनद्वारेण, अकगेपदर्शनमुखेन, करपल्लव्यादिचेष्टा-विशेषवशेन वा शब्दस्मरणाद्य परोक्षार्थ विषयं विज्ञान परस्योत्पादयति, सोऽप्याप्त इत्युक्त भवति ।

है। इनके अनुसार जो जहा अवचक है, वहा आप्त है[20] यहा अवचक से अभिप्राय यह है कि जो छल कपट से रहित है अर्थात् निष्कपटी है और निष्कपटी वही हो सकता है जिसमे रागादि दोष नही है। अत जो रागादि दोषो से रहित है वह अवचक है और यह अवचक पद यहा उपलक्षण है।

भावसेनत्रैविद्य ने भी आप्त का लक्षण लघु-अनन्तवीर्य के समान ही किया है। किन्तु इन्होने 'यो यत्राभिज्ञत्वे' यह विशेषण अधिक जोड दिया है। इनके अनुमार जो जिस विषय को जानता है और सत्य अवचक है वह वहा आप्त है।[3]

यशोविजय के अनुसार वस्तु जैसी है उसको उसी रूप मे जो जानता है और हितोपदेश प्रवण है वह आप्त है।[२४]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि आप्त दो प्रकार के हैं (१) लौकिक (२) और लोकोत्तर।[1] लौकिक आप्त जनक आदि और लोकोत्तर आप्त तीर्थंकर आदि हैं।[2]

आगम प्रमाण के भेद

आप्त के दो प्रकार के होने से आगम प्रमाण भी दो प्रकार का है—(१) लौकिक (२) और लोकोत्तर। सिद्धर्षि ने लोकोत्तर के स्थान पर शास्त्रज शब्द प्रमाण माना है किन्तु लोकोत्तर और शास्त्रज मे कोई विशेष अन्तर नही है।

(१) लौकिक

अपने विषय मे अविसंवादी और अवचंक आप्त के वचनो से जो अर्थ बोध होता है वह लौकिक आगम प्रमाण है।

(२) लोकोत्तर

यह लोकोत्तर आगम प्रमाण अगप्रविष्ट और अगबाह्य रूप से दो प्रकार का है। साक्षात् तीर्थंकर जिस अर्थ को अपनी पवित्रवाणी से प्रकट करते हैं और गणधर जिसका सूत्रबद्ध रूप मे ग्रथन करते है उसे अ गप्रविष्ट कहते है। यह आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समबयाग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अ तकृतदश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाक सूत्र ओर दृष्टिवाद आदि के भेद से बारह प्रकार का है। तथा जो गणधर परम्परा के आचार्यों के द्वारा शिप्य के हितार्थ जो रचा जाता है, वह अ गबाह्य है। यह दशवैकालिक उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। यह अंगबाह्य, है। यह दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार

---

२०. यो यत्रावञ्चक स तत्राऽऽप्त ।
प्रमे. रत्न. (३।६५) पृ. २०४

२१. यो यत्राभिज्ञत्वे सत्यवञ्चक सतत्राप्त । पृ. प्रमे. (१।१२३) पृ. ११७

२२. यथास्थितार्थपरिज्ञानपूर्वकहितोपदेशप्रवण आप्त ।
जै. तर्क भा, पृ ९

२३. स च द्वेधा लोकिको, लोकोत्तरश्च।
प्र. न त. ऊ. (४।६) पृ. ३७

२४. लोकिको जनकादिर्लोकोत्तरस्तु तीर्थकरादि
वही, (४,७)

कलाकल, महाकल्न आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। यह अ गबाह्य, अ गप्रविष्ट के समान ही प्रमाण रूप है, क्योंकि गणधर परम्परा के आचार्यों ने अ गप्रविष्ट ग्रन्थो को आधार बनाकर ही काल-दोष से कम आयु, बल और बुद्धि वाले शिष्यो के हितार्थ दशवैकालिक आदि ग्रन्थो की रचना की। इमलिए इन ग्रन्थो की उतनी ही प्रमाणिकता है जितनी गणधरो और श्रुतकेवलियो के द्वारा रचित सूत्रो की हैं, क्योकि ये अर्थ की दृष्टि से सूत्र ही हैं, जैसे क्षीर सागर से घडे मे भरा हुआ जल क्षीर सागर के जल से भिन्न नही होता है वैसे ही अंग-वाह्य अंगप्रविष्ट से भिन्न नही है। इन अ गप्रविष्ट और अ गवाह्य आगमग्रन्थो की उपलब्धि के विषय मे जैन परम्पराओ मे परस्पर मतभेद हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के अनुसार द्वादशाग मे से दृष्टि-वाद को छोड कर अन्य ४५ आगम आज भी प्राप्य हैं। तथा श्वेताम्बर स्थानक वासी परम्परा के अनु-सार आज वर्तमान समय मे ३२ आगम ही उपलब्ध हैं। यद्यपि दोनों मे आगमो की सख्या के विषय मे परस्पर मतभेद है किन्तु दोनो ही उनकी उप-लब्धि के विषय मे तो एक मत हैं। परन्तु इसके विप रीत दिगम्बर परम्परा का तो कहना है कि ये द्वाद-दंशाग आदि प्राचीन आगम आज वर्तमान समय मे अप्राप्य हैं। इन आगमो के आधार से लिखे गए षट्खण्डागम, कषायपाहुड और महाबन्ध तथा इन पर लिखी गई धवला आदि टीकाओ को आगम की ही भांति वे प्रमाण भूत मानते हैं।

सिद्धर्षि ने जो लोकोत्तर के स्थान पर शास्त्रज को प्रमाण माना है उस शास्त्रज प्रमाण का स्वरूप इस प्रकार है—जो आप्तोपज्ञ अर्थात् आप्त के द्वारा प्रथमतः ज्ञात होकर उपदिष्ट हुआ है, उल्लघनीय नही है, दृष्ट अर्थात प्रत्यक्ष और इष्ट अर्थात अनु-मानादि का अविरोधी है, वस्तु के यर्थात् स्वरूप का प्रतिपादक है, सबके लिये हित कारक है और कुमार्ग का निराकरण करने वाला है, उसे शास्त्र कहते हैं। और इस प्रकार के शास्त्र से उत्पन्न जो ज्ञान है उसे शास्त्र प्रमाण कहते हैं।[२५] इस शास्त्रज प्रमाण के स्वरूप से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकोत्तर और शास्त्रज मे कोई विशेष अन्तर नही है, केवल शब्द के प्रयोग का अन्तर है। जैन दर्शन के अनुसार ये आगम या शास्त्र पौरुषेय हैं और इनका स्वत प्रमाण्य है।

यह आगम प्रमाण जैन आगमिक परम्परा का श्रुतज्ञान ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि श्रुतज्ञान इन अ गप्रविष्ट और अ गवाह्य आगम ग्रन्थो तक ही सीमित रह जाता है, किन्तु आगम प्रमाण तो इन आगम ग्रन्थो तक ही सीमित नही रहता अपितु वह तो व्यवहार मे भी अपने विषय मे अविसम्वादी या अवचक आप्त के वचनो से जो अर्थ वोध होता है उसको भी आगम की मर्यादा मे लेता है। श्रुतज्ञान ही आगम प्रमाण है, इसलिए श्रुतज्ञान का स्वरूप भी जानना आवश्यक है। अत अब जैन आगमिक परम्परा मे श्रुतज्ञान का क्या स्वरूप रहा है? इसका निर्वचन किया जायेगा। जिससे श्रुतज्ञान ही आगमप्रमाण है यह जो कहा गया है स्वत स्पष्ट हो जायेगा।

---

२६ आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्।
न्या अव, का ९, पृ. ५८

श्रुतज्ञान

श्रुतज्ञान पर विचार करने से पूर्व श्रुत शब्द को जान लेना आवश्यक है। क्योकि श्रुत को समझे बिना श्रुतज्ञान को नही जान सकते हैं। सामान्यत श्रुत का अर्थ श्रुवण-श्रुनम् से सुनना है। यह सस्कृत की श्रु धातु से निष्पन्न है। पूज्यपाद ने भी श्रुत का अर्थ—श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर निरूप्यमाण पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनना या सुनाना मात्र है वह श्रुत है।[२६]

किन्तु श्रुत शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ 'सुना हुआ' होने पर भी जैन दर्शन मैं यह श्रुत शब्द ज्ञान विशेष मैं रूढ है। पूज्यपाद ने तो अपनी सर्वार्थसिद्धि मे कहा है कि यह श्रुत शब्द सुनने रूप अर्थ का मुख्यता से प्रतिपादक होने पर भी रूढि के कारण ज्ञान विशेष मे ही रूढ है।[२७] तथा मतिश्रुतावधिमन: पर्ययकेवलानि ज्ञानम्[२८] इस सूत्र से भी ज्ञान शब्द की अनुवृत्ति चली आने के कारण भावरूप श्रवण द्वारा निर्वचन किया गया श्रुत का अर्थ श्रुतज्ञान है। केवल मात्र कानो से सुना गया शब्द ही श्रुत नही है।[२९]

परन्तु श्रुत का अर्थ ज्ञान विशेष करने पर जैन दर्शन मे जो शब्दमय द्वादशाग श्रुत प्रसिद्ध है उसमे विरोध उपस्थित होता है क्योकि श्रुत शब्द से ज्ञान को ग्रहण करने पर ज्ञान छूट जाता है क्योकि दोनो का एक साथ ग्रहण होना असम्भव है। इस पर जैन दार्शनिको का कहना है कि उपचार से शब्दात्मक श्रुत भी श्रुतशब्द करके ग्रहण करने योग्य है। इस लिये सूत्रकार ने शब्द के भेद-प्रभेदो को बताया है यदि इनको श्रुत शब्द से ज्ञान ही इष्ट होता तो ये शब्द के होने वाले भेद-प्रभेदो को नही बताते।[३०] अत, जैन दार्शनिको को मुख्यत, तो श्रुत से ज्ञान अर्थ ही इष्ट है। किन्तु उपचार से श्रुत का शब्दात्मक होना भी उनको ग्राह्य है।

श्रुत के बाद अब हम श्रुतज्ञान पर आते हैं। उमास्वाति के पूर्व शब्द को सुनकर जो ज्ञान होता था उसे श्रुतज्ञान कहा जाता था और उसमे मुख्य कारण होने से शब्द को भी उपचार से श्रुतज्ञान कहा जाता था।[३१] किन्तु उमास्वाति को श्रुतज्ञान का इतना ही लक्षण इष्ट नही हुआ। इसलिये इन्होने अपने तत्त्वार्थसूत्र मे श्रुतज्ञान का एक दूसरा

---

२६ (क) तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाण श्रूयते अनेन शृणोति श्रवणमात्र वा श्रुतम्।
सर्वा. सि. (१।९) पृ. ६६

(ख) श्रुतशब्द कर्म साधनश्च ।२। किच पूर्वोक्तविषयसाधनश्चेति वर्तते।
श्रुतवरणक्षयोपशमाद्यन्तरग बहिरग हेतुसन्निधाने सति श्रयतेस्मेति श्रुतम्।
कर्तरि श्रुतपरिणत आत्मैव शृणोसीति श्रुतम्। भेदविवक्षायां श्रूयते नेनेति श्रुतम्, श्रवणमात्र वा।
(त. वा (१।९।२) पृ.)

२७. (क) श्रुतशब्दोऽय श्रवणमुपादाय व्युत्पादितोऽपिरूढिवशात् कस्मिश्चिज्ज्ञान विशेषे वर्तते।
सर्वा सि. (१।२०) पृ. ८३

(ख) श्रुतावरणविश्लेषविशेषाच्छ्रवण श्रुतम् (त. श्लो. वा. अ. (३।९।४) पृ ३

२८. त. सू. १।२०

२९. .. .... ज्ञानमित्युनुवर्तनात्।
श्रवण हि श्रुतज्ञानं न पुन शब्द मात्रकम्।
त. श्लो. वा. व. (३२।०।२०) पृ. ५९८

३० तच्चोपचारितो ग्राह्य श्रुतशब्द प्रयोगत।

लक्षण किया है जिसके अनुसार श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है।[३२] उमास्वाति के पश्चात्वर्त्ती जैन दार्शनिको मे नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक को छोडकर प्राय सभी यह मानते हैं कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। किन्तु इनका कहना है कि इतना कह देने से ही श्रुतज्ञान का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट नही होता है। इसलिए इन्होने कुछ विशेषण और जोड कर श्रुतज्ञान का लक्षण किया है। जिनमे जिनभद्रगणि ने शब्दानुसारी और अपने मे प्रतिभासमान अर्थ का प्रतिपादन करने मे समर्थ ये दो विशेषण और जोड कर श्रुतज्ञान का लक्षण अपने विशेषावश्यक भाष्य मे इस प्रकार किया है कि इन्द्रिय और मन की सहायता से शब्दानुसारी जो ज्ञान होता है तथा जो अपने मे प्रतिभासमान अर्थ प्रतिपादन करने मे समर्थ होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं [३३]

जिनभद्रगणि के इस लक्षण से यद्यपि अकलक सहमत है किन्तु इन्होने शब्द पर जिनभद्रगणि से अधिक बल दिया है। अकलक का तो कहना है कि शब्द योजना से पूर्व जो मति स्मृति, चिन्ता, तर्क और अनुमान ज्ञान होते हैं, वे मतिज्ञान हैं और शब्द योजना होने पर वे ही श्रुतज्ञान हैं।[३३] अकलक ने श्रुतज्ञान का यह लक्षण करके अन्य दर्शनो मे माने गये उपमान, अर्थापत्ति अभाव, सम्भव, ऐतिह्य और प्रतिभा प्रमाणो का अन्तर्भाव श्रुतज्ञान मे किया है और इनका यह भी कहना है कि शब्द प्रमाण तो श्रुतज्ञान ही है। इनके इस मत का विद्यानन्दी ने भी समर्थन किया है। परन्तु बाद के जैन दार्शनिको को इनका शब्द पर इतना अधिक वल देना ठीक प्रतीत नही हुआ। यद्यपि वे भी इस बात को तो मानते हैं कि श्रुतज्ञान मे शब्द की प्रमुखता होती हैं। इसलिए अमृतचन्द्र सूरि ने श्रुतज्ञान का लक्षण करते हुए इतना ही कहा कि मतिज्ञान के बाद स्पष्ट अर्थ की तर्कणा को लिये हुए जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है।[३५]

माधवाचार्य ने एक विशेषण और जोड कर श्रुतज्ञान का लक्षण इस प्रकार किया है कि ज्ञान के आवरण के क्षय या उपशम हो जाने पर मतिज्ञान से उत्पन्न स्पष्ट ज्ञान श्रुतज्ञान है।[३६] इनका अमृतचन्द्रसूरि से भेद यह है कि जहा अमृतचन्द्र सूरि ने मतिज्ञान के बाद स्पष्ट अर्थ की तर्कणा को लिये हुए ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा है। वहां माधवाचार्य ने एक विशेषण और जोड कर मतिज्ञान से उत्पन्न

शब्दभेदप्रभवोक्त स्वय तत्कारणत्वत

स श्लो वा अ (३-१०-३) पृ ५६०

३१ श्रवणां श्रुतम्, आभिलापन्लावितार्थ स्वरुप उपलब्धिविशेष श्रुत तद् ज्ञानं च श्रुतज्ञानम् अथवा श्रुयते इति स्रुतं शब्द, स च असो कारणे कार्योपचाराद् ज्ञान च श्रुतज्ञानम्, शब्दो हि श्रोतुम् साभिलापज्ञानस्य कारण भवतीति सो पि श्रुतज्ञानमुच्ते. (अनु० सू,. ६

३२ श्रुतम् मतिपूर्वकम् ।' त सू (५।५०')

३३ इदियमणोणिमित्तम् ज विण्णाणम् सुताणुमारेणम् णिअयत्थु त्ति समत्थन तम् भावसुतम् मति सेसम्
विशे आ भा (भा ५) गा, ९९,

३४ ज्ञानमाद्यम् मति सज्ञामृयचिन्ता चभिनिवोधिकत् प्राङ् नामयोजनाच्छेषम् श्रुतम् शब्दानुयोजनात्-
लघीय-, का- ७५

३५ मतिपूर्वं श्रुतम् प्रोक्तमविस्पेष्टार्थं तर्कणम् त सा, का १४, पृ. ९

स्पष्ट ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा है। इस प्रकार शब्दो के हेर फेर के कारण दोनो मे भेद होने पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इन दोनो मे कोई मूलत भेद दृष्टिगोचर नही होता है।

किन्तु नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक ने तो श्रुतज्ञान का लक्षण इस सबसे एकदम भिन्न किया है। ये तो इस बात को ही नही मानते हैं कि श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। इनके उसको न मानने का कारण शायद यह रहा होगा कि श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक रूप से जो दो भेद हैं, उनमे अनक्षरात्मक श्रुत दिगम्बर परम्परा के अनुसार शब्दात्मक नही है और ऊपर श्रुतज्ञान की यह परिभाषा दी गयी है कि शब्द योजना से पूर्व जो मति, स्मृति चिन्ता, तर्क और अनुमान ज्ञान हैं वे मतिज्ञान हैं और शब्द योजना होने पर वे श्रुतज्ञान हैं। इस परिभाषा को मानने पर मतिज्ञान और अनक्षरात्मकश्रुत मे कोई भेद नही रह जाता है। इसीलिये इन्होने श्रुतज्ञान का लक्षण इन सबसे भिन्न किया है। इनके अनुसार मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थ से भिन्न पदार्थ के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते है।[३८]

किन्तु श्रुतज्ञान मति पूर्वक होता है इस कथन मे कोई असगति नही है, क्योकि यह इस दृष्टि से कहा गया है कि श्रुतज्ञान होने के लिये शब्द-श्रवण आवश्यक है और शब्द-श्रवण मति के अन्तर्गत है, क्योकि यह श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। जब शब्द होता है तब उसके अर्थ का स्मरण होता है। शब्द श्रवण रूप जो व्यापार है वह मतिज्ञान है, और उसके बाद उत्पन्न होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान के अभाव मे श्रुतज्ञान नही हो सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नही हैं कि श्रुतज्ञान मे मतिज्ञान मुख्य कारण है क्योकि मतिज्ञान के होने पर भी जब तक श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम न हो तब तक श्रुतज्ञान नही हो सकता हैं। मतिज्ञान तो इसका बाह्य कारण है।

अत: सक्षेप मे श्रुतज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम होने पर मन और इन्द्रिय की सहायता से, अपने मे प्रतिभासमान अर्थ को प्रतिपादित करने मे समर्थ स्पष्ट ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते है।

श्रुतज्ञान के भेद

श्रुतज्ञान के कितने भेद है ? इस विषय मे जैनाचार्यों मे परस्पर मतभेद है। सभी ने अपने-अपने मत के अनुसार श्रुतज्ञान के भेदो को गिनाया है। श्रुतज्ञान के अंगप्रविष्ट और अग बाह्य रूप से जो भेद हैं, ये भेद सभी जैनाचार्यों को मान्य है। इसलिए अब इन दो भेदो के अतिरिक्त जो भेद प्रभेद जैनाचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार बताये हैं उन पर विचार किया जायेगा।

आवश्यकनियुक्ति मे कहा गया है कि जितने अक्षर हैं और उनके जितने संयोग हैं उतने ही श्रुतज्ञान के भेद है, और इन सारे भेदो को गिननासभव नही है। इसलिए मुख्य रूप से श्रुतज्ञान के चौदह भेद है—(१) अक्षर (२) सज्ञा, (३) सम्यक, (४) सादिक, (५) सपर्यवसित, (६) गमिक, (७)

३६. ज्ञानावरणक्षयोपशमे सति मतिजनितम् स्पष्टमृज्ञानम् श्रुतम्.

सर्वद. स. (आर्ह द.) प्र १३८

३७ अत्थादो अत्थतरसुवलभ त भणंति सुदणाणम्.

गो सा (जी.का.) गा. ५९, प्र. ५४७

अ गप्रविष्ट, (८) अनक्षर, (९) असज्ञा, (१०) असम्यक, (११) अनादिक, (१२) अपर्यवसित (१३) अगमिक (१४) अ गबाह्य ।[38] नन्दीसूत्र मे इन चौदह भेदो का विस्तृत स्वरूप बतलाया गया है ।[39]

अकलकदेव[40] ने अपने 'प्रमाणसग्रह' नामक ग्रन्थ मे श्रुतज्ञान के तीन भेद किये हैं–(१) प्रत्यक्षनिमित्तक, (२) अनुमाननिमित्तक (३) और आगम निमित्तक । किन्तु जैन तर्कवात्तिककार[41] अकलक द्वारा बताये श्रुत के इन तीनो भेदो मे से अनुमान निमित्तक आगमनिमित्तक ये दो ही भेद मानते हैं ।

अमृतचन्द्रसूरि[42] और नरेन्द्रसेनाचार्य[43] ने विस्तार की अपेक्षा पर्याय आदि के भेद से श्रुतज्ञान के बीस भेद किये हैं । और नेमिचन्द्र सिद्धान्तिक चक्रवर्ती ने भी अपने 'गोम्मटसार' के जीवकाण्ड मे श्रुतज्ञान के बीस भेदो का उल्लेख किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं–(१) पर्याय, (२) पर्याय समास (३) अक्षर, (४) अक्षरसमास, (५) पद, (६) पदसमास, (७) सघात (८) सघातसमास, (९) प्रतिपत्तिक, (१०) प्रतिपत्तिक-समास, (११) अनुयोग, (१२) अनुयोगसमास, (१३) प्राभृतप्राभृत, (१४) प्राभृतप्राभृतसमास, (१५) प्राभृत, (१६) प्राभृत समास, (१७) वस्तु, (१८) वस्तुसमास, (१९) पूर्व (२०) और पूर्व समास ।[44] इनका स्वरूप जैनाचार्यों ने अपने-अपने ढग से बतलाया है किन्तु इनके स्वरूप के विषय मे उनमे परस्पर कोई मौलिक अन्तर नही । ये श्रुतज्ञान के बीस भेद दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही परम्पराओ को मान्य है, क्योकि इन बीस भेदो का उल्लेख दोनो परम्पराओ के कर्म-साहित्य मे मिलता है ।

श्रुतज्ञान पाचो इन्द्रिय और मन से ज्ञात विषय का ही आलम्बन लेकर व्यापार करता है । इसलिये श्रुतज्ञान के अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक रूप से भी दो भेद गोम्मटसार मे किये गये हैं ।

गोम्मटसार के अनुसार अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान का स्वरूप इस प्रकार हैं—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियो मे से किसी भी इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान को अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं और इस श्रुतज्ञान का दूसरा नाम लिगज श्रुतज्ञान भी है ।

(२) श्रोत्रेन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं तथा इसको शब्दज श्रुतज्ञान भी कहते हैं । अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान की यही परिभाषा सर्वाधिक प्रचलित है ।

---

३८ आव निर्यु गा. ६७–४९

३९ नन्दीसू, ४८

४० श्रुतमविप्लवम् प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम्.   (प्र.सं९, पृ ६

४१. जै त वा, प ७४

४२ तत्पर्यायादिभेदेन व्यासाद्विंशतिधा भवेत्   (त सा, का ६४. प ९)

४३ परम् विंशतिभेद यत्पर्यायाद्यामिधानत श्रुतम् तदापि वक्ष्येह यथाशक्ति ..

४४ द्रष्टव्य— (क) गो सा, (जी,का) गा ८८७–६७
(ख) सि सा स, का ८५८–६४, प, ८६–८९

अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक रूप से जो श्रुतज्ञान के दो भेद किये गये है इनका सबसे प्राचीन उल्लेख अकलक के 'तत्वार्थवार्तिक' मे मिलता है। अकलकदेव का कहना है स्मृति, तर्क अनुमान आदि प्रमाणो के द्वारा जब ज्ञाता स्वयं जानता है उस समय वे अनक्षरश्रुत है और जब वह इनके द्वारा दूसरो को ज्ञान कराता है तो वे अक्षर-श्रुत है।

ऊपर जो अक्षर और अनक्षरश्रुत की परिभाषा दी गयी है उसकी अकलकदेव के उक्त कथन के साथ संगति नही बैठती है। क्योकि इनके अनुसार तो एक ही श्रुतज्ञान अनक्षरात्मक भी होता है और अक्षरात्मक भी होता है। जब तक वह ज्ञान रूप रहता है तब तक अनक्षरात्मक है और जब वह वचनरूप होकर दूसरे को ज्ञान कराने मे कारण होता है तब वही अक्षरात्मक कहा जाता है।

यदि हम दोनो परिभाषाओ की तुलना करे तो दोनो मे कोई विशेष अन्तर नही हैं। प्रचलित परिभाषा के अनुसार तो अक्षर के निमित्त से होने वाला श्रुतज्ञान अक्षरात्मक है और अकलकदेव के अनुसार अक्षरोच्चारण मे निमित्तज्ञान अक्षरात्मक है। परन्तु विचार करने पर दोनो ही श्रुतज्ञानो को अक्षरात्मक मानना उचित प्रतीत होता है। क्योकि वास्तव मे ज्ञान अक्षरात्मक नही होता है वह तो भावरूप ही होता है और अक्षर द्रव्यरूप होता है। किन्तु ज्ञान अक्षर के निमित्त से उत्पन्न होता है इसलिय इसको (ज्ञान को) अक्षरात्मक कहते हैं। वैसे अक्षर के निमित्त के बिना जो श्रुतज्ञान होता है वह अनक्षरश्रुत है।

श्रुतज्ञान के अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक रूप से जो दो भेद किये गये है वे श्वेताम्बर परम्परा को भी मान्य है किन्तु इनके स्वरूप के विषय मे दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओ मे आंशिक मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार अक्षर और अनक्षरश्रुत ये दोनो ही शब्दज हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि अक्षरात्मक श्रुतज्ञान अक्षरात्मक शब्द से उत्पन्न होता है और अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान को अक्षरात्मक और लिंगज को अनक्षरात्मक श्रुत माना गया है। यद्यपि यह बात तो दिगम्बर परम्परा भी मानती है कि श्रुतज्ञान मे शब्द की प्रधानता होती है। और गोम्मटसार के जीवकाण्ड मे तो स्पष्टतया लिखा है कि—श्रुतज्ञान के शब्दज और लिंगज ये दो भेद हैं किन्तु इसमे शब्दज की ही प्रमुखता है।[४४] परन्तु दोनो ही श्रुत शब्दज होते है यह बात दिगम्बर परम्परा को मान्य नही है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने अपने-अपने ढग से श्रुतज्ञान के भेद किये है। उन मे श्रुतज्ञान के अक्षर और अनक्षर रूप से जो दो भेद किये गये हैं, अधिक प्राचीन और सर्वाधिक प्रचलित प्रतीत होते हैं। क्योकि श्रुतज्ञान के इन दो भेदो का उल्लेख किसी न किसी रूप मे सभी जैनाचार्यों ने किया हैं। आवश्यक निर्युक्ति[४५] और नन्दी सूत्र[४८] मे भी जो अकखसन्नी सम्मं— आदि चौदह श्रुत के भेद सर्वप्रथम देखने को मिलते हैं, वे किसी प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थ मे देखने को नही मिलते हैं, फिर भी उनमे अक्षर और अनक्षरश्रुत ये भेद सर्व प्रथम देखने को मिलते है। यहा तक कि प्रथम प्रयत्न के फलस्वरूप माना जाने वाला अंगप्रविष्ट

४४. णियमेणिह सद्जम् पमुहम् (गो सा- (जी का.), गा. ७५५)

४५ गा ८९

और अ गबाह्य श्रुत भी दूसरे प्रयत्न के फलस्वरूप मुख्य अक्षर और अनक्षर श्रुत मे समा जाता है। यद्यपि अक्षरश्रुत आदि चौदह प्रकार के श्रुत का निर्देश आवश्यकनिर्युक्ति और, नन्दीसूत्र, के पर्ववर्ती ग्रन्थो मे नही देखा जाता है, फिर भी इन चौदह भेदो के आधारभूत अक्षरात्मक और अनक्षारात्मक श्रुत की कल्पना तो प्राचीन ही प्रतीत होती है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओ के कर्म-साहित्य मे समान रूप से वर्णित श्रुत के बीस प्रकारो मे भी अक्षर श्रुत का निर्देश है।

अत श्रुतज्ञान के कितने भेद हैं इस विषय मे जैनाचार्यों मे परस्पर मतभेद होते हुए भी कोई मौलिक भेद नही है।

श्रुतज्ञान का प्रमाण्य

जैनाचार्यों ने श्रुतज्ञान को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक, बौद्ध आदि दार्शनिको का खण्डन किया है। इनका कहना है कि इन्द्रियो से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षज्ञान जैसे अपने और अपने विषय के जानने मे सम्वादी होने के कारण भी प्रमाणरूप माना जाता है उसी प्रकार स्व और अर्थ के जानने मे सम्वादी होने के कारण श्रुतज्ञान भी प्रमाणरूप है। तथा जैन दार्शनिको का यह भी कहना हैं कि चार्वाको और बौद्धो के अपने शास्त्र हैं और उनको पढ-कर उनको जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान से भिन्न ज्ञान नही है। इनका यह भी कहना है कि इस शब्द जन्य श्रुतज्ञान के अभाव मे गू गे और वाग्मी मे कोई विशेषता नही रहेगी, क्योकि मूर्ख को पण्डित बताने मे या बालक को उत्तरोत्तर ज्ञानशाली बताने मे शब्द ही प्रधान कारण है। जैनाचार्यों का कहना है कि कही कही विसम्वाद हो जाने के कारण यदि सभी श्रुतज्ञानो को अप्रमाण ठहराया जायेगा तो सीप मे चादी का ज्ञान होना, एक चन्द्रमा को जान लेना आदि प्रत्यक्षो के अप्रमाण हो जाने से सभी प्रत्यक्ष अप्रमाण हो जायेंगे। यह ठीक है कि प्रत्यक्षा-भास के समान श्रुताभास भी मान लिया जाय, किंतु उनका श्रुतज्ञान को एकदम अप्रमाण ठहराना कदापि उचित नही हैं।

अत उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता हैं कि अन्य प्रमाणो के समान श्रुतज्ञान भी एक स्वतन्त्र प्रमाण है। और यदि इसको प्रमाण न माना जायेगा तो लोक व्यवहार चलना भी मुश्किल हो जायगा। क्योकि व्यवहार मे भी एक दूसरे के वचनो पर विश्वास करके ही कार्य किया जाता हैं।

श्रुत ज्ञान का महत्व

श्रुतज्ञान ही एक ऐसा ज्ञान है जो ज्ञानरूप भी है और शब्दरूप भी हैं। इसे ज्ञान स्वयं भी जानता है और दूसरो को भी ज्ञान कराता है। वैसे शब्द प्रमाण तो श्रुतज्ञान ही हैं, किन्तु अन्य। दर्शनो मे माने गये उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, ऐतिह्य, सम्भव और प्रतिभा प्रमाणो का भी शब्द योजना होने पर श्रुतज्ञान ही अन्तर्भाव हो जाया जाता है।[४६] श्रुतज्ञान के द्वारा ही पूर्वज तीर्थंकरो गणधरो और इनके उत्तरोत्तर आचार्यों शिष्य प्रशिष्यो का ज्ञान प्रवाहित होता हैं। इसको कोई श्रुत, कोई श्रुति और कोइ आगम कहते हैं।

---

४६. (क) आगमत्वम् पुन सिद्धमुपमानम् श्रुत यया सिहासने स्थितो राजेत्यादिशब्दोत्थवेदनम्.
त श्लो वा अ (३ २० १२४) प ६५५

(ख) उत्तरप्रतियत्याख्या प्रतिभा च श्रुतम मता नाभ्यसजा सुसवित्ति कूटद्रुमादिगोचरा.
वही,प, ६६१

संकेत सूची

१.	अनु० सू०	अनुयोगद्वारसूत्रम् (ज्ञान मन्दिर, पाटण)
२.	अष्टश०	अष्टशती
३	अष्टसह०	अष्टसहस्त्री (सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद)
४	आ० मी०	आप्तमीमासा (श्रीशान्तिवीर दिगम्बर जैन सस्थान, शान्तिवीरनगर
५.	आव० निर्यु०	आवश्यकनिर्युक्ति
६.	गो० स्वा० (जी० का०)	गोम्मटसार (जीवकाण्ड), (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, आगास)
७.	जै० तर्कभा०	जैनतर्क भाषा (सिंघी जैनग्रन्थमाला, अहमदाबाद)
८.	त० सू०	तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय (लालाशादीराम, गोकुलचन्द जौहरी देहली)
९	त० वा०	तत्त्वार्थवार्त्तिक (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी)
१०.	त० श्लो० वा० अ०	तत्वार्थश्लोकवार्तिकालकार (कल्याणभवन, सोलापुर)
११.	त० सा०	तत्वार्थसार (श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी)
१२	नन्दीसू०	नन्दीसूत्र (अ० भा० श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट)
१३.	न्या० अव०	न्यायावतार (जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई)
१४.	नि० सा०	नियमसार (श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई)
१५	प्र० न० त० लो० ल०	प्रमाणनयतत्वालोकालकार (यशोविजय जैन ग्रन्थमाला बनारस)
१६.	प्र० प्रमे०	प्रमाप्रमेय (जैन संस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर)
१७	प्रमे० रत्न०	प्रमेयरत्नमाला (चौखम्बा, वाराणसी)
१८,	प्र० स०	प्रमाणसग्रह (सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद)
१९.	भगवतीसू०	भगवतीसूत्र (अ० भा० श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट)

२०.	रत्नक० उपा०	रत्नकण्ड-उपासकाध्ययन (वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली)
२१	विशे० आ० भा०	विशेषावश्यक भाष्य (भारतीय सस्कृति विद्या मन्दिर, अहदावाद)
२२.	षड्द० समु०	षड्दर्शनसमुच्चय (भारतीय ज्ञान पीठ, काशी)
२३.	सर्वद० स०	सर्व दर्शन सग्रह (चौखम्बा, वाराणसी)
२४.	सर्वा० सि०	सर्वार्थसिद्धि (भारतीय ज्ञानपीठ काशी)
२५	स्था० सू०	स्थानाग सूत्र (अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धारसमिति, राजकोट)
२६.	सि० सा० स०	सिद्धान्तसारसग्रह (जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर)



सद्भिरेव सहासीत सद्भि कुर्वीत सगतिम् ।
सद्भिर्विवाद मैत्री च, नासद्भिर्किञ्चिदाचरेत् ।।

सज्जनो के साथ ही बैठो, सज्जनो के साथ ही रहो, सज्जनों के साथ ही दोस्ती करो, सज्जनो के साथ ही झगडा करो, तात्पर्य जो कुछ भी आचरण करो केवल सज्जनो के साथ ही करो, असत्पुरुषो के साथ जरा सा भी किसी भी प्रकार का सम्पर्क मत रखो ।

वृत्तं यत्नेन सरक्षेत्, वित्तमायाति याति च ।
अक्षीणो वित्तत क्षीणो, वृत्ततस्तु हतो हत ।।

अपने चरित्र की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिये क्योकि धन चले जाने पर भी मनुष्य क्षीण नही होता, उसका कुछ नही बिगडता किन्तु जिसका चरित्र नष्ट हो जाता है वह मनुष्य तो मरे हुए के समान ही है ।

४

नय

☐ सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते है और प्रमाण से गृहीत वस्तु के एक देश मे वस्तु का निश्चय ही अभिप्राय है। आशय यह है कि प्रमाण का विषय द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु है। उसके एक देश द्रव्य अथवा पर्याय को वस्तु रूप से ग्रहण करने वाला ज्ञान नय है प्रमाण का विपय एकात नही है क्योकि एकान्त तो अवस्तु है और नय का विषय अनेकात नही है क्योकि एकान्त रूप अवस्तु मे अनेकान्त रूप वस्तु का आरोप नही हो सकता। इसके सिवाय प्रमाण का विषय न तो केवल विधि है क्योकि ऐसा होने पर प्रमाण जिस पदार्थ को जानेगा, दूसरे पदार्थों से उसकी भिन्नता का ग्रहण न करने पर घट की तरह पट मे भी उसकी प्रवृत्ति हो जायेगी क्योकि उसे तो केवल विधि का ही ज्ञान है यह नही है, इस निषेध का ज्ञान नही है। तथा प्रमाण केवल निपेध को भी ग्रहण नही करता, क्योकि विधि को जाने बिना घट पट से भिन्न है, इस प्रकार के निषेध को जानना शक्य नही हे। प्रमाण मे विधि और निषेध दोनो परस्पर मे भिन्न भी प्रतिभासित नही होते, क्योकि ऐसा होने पर पूर्वोक्त दोनो दोषो का प्रसंग आता है। अत विधि-निपेधात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है और इसलिए प्रमाण का विषय एकान्त नही हैं। अत. प्रमाण से जानी हुई वस्तु के एक देश मे वस्तुत्व की विवक्षा का नाम नय है। यत. प्रमाण से गृहीत वस्तु मे जो एकान्त रूप व्यवहार होता है वह नयनिमितक है इसलिये समस्त लोक व्यवहार नय के अधीन है।

अकलक देव ने कहा है[1] –प्रमाण से ग्रहीत अस्तित्व–नास्तित्व, नित्यत्व–अनित्यत्व आदि अनन्त धर्मात्मक जीवादि पदार्थों के धर्मों का निर्दोषरूप से कथन करने वाला नय है। शायद कहा जाये कि ज्ञाता के अभिप्राय का नाम नय है, किन्तु अभिप्राय तो अबोध रूप होता है वह जीवादिपदार्थों के धर्मो का दोष रहित कथन करने वाला कैसे हो सकता हैं? इस का समाधान यह है कि द्रव्य और पर्याय के अभिप्राय से उत्पन्न द्रव्य पर्याय के निरूपणात्मक बचनो को अथवा अभिप्राय वाले पुरुष को नय मानने से उक्त दोष नही आता है। आचार्य पूज्यपाद-ने कहा है[1] अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म का ज्ञान कराते समय श्रेष्ठ हेतु की अपेक्षा करने वाला निर्दोष प्रयोग नय है। वहा भी जैसे अभिप्राय वाले प्रयोक्ता को नय कहा है वैसे ही प्रयोक्ता के अभिप्राय को प्रकट करने वाले नय जन्य प्रयोग को भी कार्य मे कारण का उपचार करके नय कहा है। साराश यह है कि अनेक धर्मो से युक्त की विवक्षा है शेष धर्मो की विवक्षा नही है। नय के तीन रूप हैं अर्थरूप, शब्दरूप और ज्ञानरूप। वस्तु का एक धर्म अर्थ नय है, उस धर्म का वाचक शब्द शब्द-रूप नय है

ग्रौर उस धर्म का ग्राहक ज्ञान ज्ञानरूप नय है। वस्तु का एक धर्म नय के द्वारा ग्राह्य है इसलिये उसे नय कहा जाता है ग्रौर उस धर्म का वाचक शब्द रूप नय है और उस धर्म का ग्राहक ज्ञान ज्ञानरूप नय है। वस्तु का एक धर्म नय के द्वारा ग्राह्य हैं इसलिये उसे नय कहा जाता है और उस धर्म का वाचक शब्द तथा ग्राहक ज्ञान एक धर्म को ही कहता ग्रथवा जानता है इसलिये वह तो नय है ही क्यो कि वस्तु के एक देश के ग्राहक को नय कहते है ग्रौर सकल वस्तु के ग्राहक को प्रमाण कहते है।

नय ही अनेकांत का मूल्य

सब दर्शनो मे एक जैन दर्शन ही ग्रनेकातवादी है। ग्रनेकात का लक्षण है सदैकान्त, ग्रसदैकान्त, नित्यैकान्त, ग्रनित्यैकान्त ग्रादि सर्वथा एकान्तो का निरसन करके जो वस्तु को कथ चित सत् कथ चित असत्, कथ चित नित्य, कथ चित् ग्रनित्य ग्रादि रूप स्वीकार करता है वह दर्शन ग्रनेकान्तवादी है।

यदि वस्तु को सर्वथा सत्यस्वरूप ही माना जायेगा दूसरे शब्दो मे यदि भावैकान्त माना जायगा तो ग्रभाव का सर्वथा लोप हो जाने से अनेक दोष उत्पन्न होगे। ग्रभाव के चार प्रकार हैं, प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव ग्रौर ग्रत्यन्ताभाव। घट के उत्पन्न होने से पहले जो उसका ग्रभाव है उसे प्रागभाव कहते हैं। प्रागभाव का अभाव होने पर घर उत्पन्न होता है। यदि प्रागभाव को न माना जायेगा तो घट आदि कार्य अनादि हो जायेगें। उत्पत्ति के पश्चात् जो ग्रभाव होता है उसे प्रध्वसाभाव कहते हैं जैसे घट के टूटने पर घट का प्रध्वसाभाव होता है। यदि प्रध्वासाभाव को न माना जायेगा तो घट ग्रादि सभी कार्य नित्य हो जायेगा, उनका कभी विनाश नही होगा। पुद्गल द्रव्य की दो पर्यायो मे जो परस्पर मे ग्रभाव होता है जैसे घट पट नही है ग्रौर पट घट नही है इसे ग्रन्योन्याभाव कहते है। अन्योन्योभाव का अभाव होने पर घट पट हो जायेगा ग्रौर पट घट हो जायेगा। एक द्रव्य मे दूसरे द्रव्य के ग्रभाव को ग्रत्यन्ताभाव कहते है जैसे जड का चेतन मे ग्रभाव है और चेतन का जड मे अभाव है। ग्रत्यन्ताभाव का ग्रभाव होने पर जड चेतन सब एक हो जायेंगे। पदार्थ की कोई ग्रपनी मर्यादा ही नही रहेगी। इसी तरह यदि केवल अभावैकान्त माना जाये कि ससार मे केवल अभाव ही है कुछ भी भाव रूप नही है तो उस ग्रभावैकात का समर्थन करने का साधन ही नही रहेगा, न ज्ञान ही होगा ग्रौर न शब्द ही, तव कैसे भावैकान्त मे दूषण देखकर ग्रभावैकान्त की सिद्धि कर सकेंगे।

अत प्रत्येक वस्तु स्वरूपादि चतुष्टय की ग्रपेक्षा सत् ही है ग्रौर पररूपादि चतुष्टय की ग्रपेक्षा ग्रसत् ही है कौन ऐसा विचार शील दार्शनिक है जो इस सत्य को स्वीकार नही करेगा। वस्तु का वस्तुत्व दो बातो पर नर्भर है। स्वरूप का ग्रहण ग्रौर पररूप परित्याग। यदि स्वरूप की तरह पर-रूप से भी वस्तु को सत् माना जायगा तो चेतन ग्रचेतन हो जायगा ग्रौर यदि पररूप की तरह स्व-रूप से भी वस्तु को ग्रसत् माना जायगा तो सर्वथा शून्यता की ग्रापत्ति उपस्थित होगी। स्वद्रव्य की तरह पर द्रव्य से भी वस्तु को सत् मानने पर द्रव्यो का कोई नियम नही रहेगा तथा पर द्रव्य की तरह स्वद्रव्य से भी वस्तु को ग्रसत् मानने पर भी द्रव्य निराश्रय हो जायेंगे। तथा स्वक्षेत्र की तरह

१. षट्खण्डागम (धवला टीका) पु. ६, पृ. १६६–१६७

पर क्षेत्र में भी वस्तु को सत् मानने पर किसी वस्तु का कोई सुनिश्चित क्षेत्र नही रहेगा। पर क्षेत्र की तरह स्वक्षेत्र से भी वस्तु को असत् मानने पर सभी द्रव्य निराश्रय हो जायेंगे तथा स्वक्षेत्र की तरह पर क्षेत्र से भी वस्तु को सत् मानने पर भी किसी वस्तु का कोई सुनिश्चित क्षेत्र नही रहेगा। पर क्षेत्र की तरह स्वक्षेत्र से भी वस्तु को असत् मानने पर वस्तु के क्षेत्र का ही अभाव हो जायेगा। स्वकाल की तरह पर काल से भी वस्तु को सत् मानने पर कोई सुनिश्चित काल नही रहेगा। पर काल की तरह स्वकाल से भी वस्तु को असत् मानने पर समस्त काल ही असम्भव हो जायेगा। तब आप कैसे किसी इष्ट और अनिष्ट तत्व की व्यवस्था कर सकेंगे। अत प्रत्येक वस्तु कथचित सत्स्वरूप और कथचित असत्स्वरूप है। कहा भी है—

भावैकान्ते पदार्थानाम भावा नाम पन्हवात्।
सर्वात्मक मनाद्यन्तम स्वरूपमतावकम् ॥९॥
अभावैकान्त पक्षेऽपि भावा पन्हववादिनाम्।
बोधवाक्य प्रमाण न केन साधम दूषणम् ॥१२॥
सदेव सर्व को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ १५॥

जैसे प्रत्येक वस्तु कथंचित् सत्स्वरूप और कथचित् असत्स्वरूप है वैसे ही कथंचित् नित्य और कथचित् अनित्य है। जैन दर्शन मे सत् को युक्त हो उसे सत् कहा है। जैसे मिट्टी का पिण्डाकार नष्ट होकर घटाकर उत्पन्न होता है किन्तु दोनो ही अवस्थाओ मे मिट्टी न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। जो मैं पहले सुखी था वही मैं अब दु,खी हूं। इस प्रतीति मे सुखी रूप का विनाश, दु'खी रूप का उत्पाद और एक पुरुष रूप त्मक है। उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनो भी परस्पर मे सापेक्ष है। क्योकि व्यय और ध्रौव्य के बिना केवल उत्पाद नही होता, उत्पाद और व्यय के बिना केवल ध्रौव्य नही होता और उत्पाद के बिना केवल सत्ता सम्भव नही है अत सत उत्पाद व्यय ध्रोव्यात्मक है। इसके लिये आचार्य समन्तभद्र ने दो उदाहरण दिये है—एक राजा के के पास सोने का घडा है। उसकी पुत्री को वह प्रिय है किन्तु राजपुत्र घट तुडबाकर उसका मुकट बनवाता है। जब घट टूटता है तो पुत्री रोती है, मुकुट के बनने से राजपुत्र प्रसन्न होता है किन्तु राजा मध्यस्थ रहता है। यहा घट की इच्छुक पुत्री को इसलिये शोक हुआ कि घट नष्ट हो गया। मुकुट के इच्छुक राजपुत्र को इसलिये आनन्द हुआ कि मुकुट उत्पन्न हुआ और सुवर्ण का इच्छुक राजा इसलिये मध्यस्थ रहा है कि सुवर्ण का सुवर्ण बना रहा। इन तीनो का यह शोक, आनन्द और मध्यस्थ भाव अकारण नही है अत सिद्ध है कि वस्तु उत्पादादि तीन रूप है।

इसी तरह एक व्रती यह नियम लेता है कि आज मैं दूध ही पीऊंगा वह दही नही खाता। दूसरा व्रती यह नियम लेता है कि आज मैं दही खाऊंगा वह दूध नही पीता। तीसरा व्रती यह नियम लेता है कि आज मैं गोरस नही खाऊगा वह न दही खाता है और न दूध पीता है क्यों कि दोनो ही गोरस रूप है। इससे सिद्ध है कि वस्तु त्रयात्मक है।

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिनयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥
पयोव्रतो न दध्यगत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्वं त्रयात्मकम् ॥६०॥

आप्तमीमांसा।

इस तरह यत वस्तु ध्रौव्यात्मक है अत नित्य है और यत वस्तु उत्पाद-व्ययरूप है इसलिये अनित्य है अत वस्तु कथचित् नित्य और कथचित् अनित्य है।

इस तरह जैन दर्शन वस्तु को अनेकान्तात्मक मानने से अनेकान्तवादी कहा जाता है। अनेकात-वस्तु के कथन करने का नाम स्याद्वाद है। स्याद्वाद के बिना अनेकान्तत्मक वस्तु का कथन करना शक्य नही हैं क्योकि जैसे ज्ञान (प्रमाण) अनेकान्तात्मक वस्तु को एक साथ जान सकता है उस प्रकार शब्द उसे कह नही सकता। अत वक्ता एक धर्म के द्वारा अनन्तधर्मात्मक वस्तु का कथन करता है इसी से शेष धर्मों का सूचक या द्योतक "स्यात्" शब्द के प्रत्येक वाक्य के साथ प्रकट या अप्रकट रूप से सयुक्त रहता है जो इस बात को बतलाता है कि वस्तु मे अनेक धर्म है। कथचित आदि शब्द भी "स्यात्" शब्द के ही पर्याय शब्द हैं। अत स्यात् सत् या कथचित सत् का एक ही अर्थ है। इस तरह स्याद्वाद अनेकान्त को अपना कर सात भगो की तथा नय की अपेक्षा से वस्तु को स्वरूप की अपेक्षा सत् पररूप की अपेक्षा असत् इत्यादि कथन करता है। इसलिये आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद के द्वारा गृहीत अनेकान्तात्मक अर्थ के नित्यत्व आदि विशेष धर्मों के पृथक पृथक प्रतिपादन को नय कहा है। यथा—

स्याद्वाद प्रविभक्तार्थ विशेष व्यजनको नय ।।१०६।।

आप्तमीमासा।

अत अनेकान्त की प्रतिपत्ति का नाम प्रमाण है और एकान्त की प्रतिपत्ति का नाम नय है।

किन्तु जैन दर्शन कहता है कि जो कुछ सत् है वह सब अनेकान्तात्मक है और एकान्त रूप वस्तु-तत्व कोई है ही नही। ऐसी स्थिति मे एकान्त का ग्राही नय मिथ्या ही ठहरता है। इस आशका का परिहार यह है कि अनेकान्त और एकान्त दोनो ही सम्यक और मिथ्या के भेद से दो प्रकार के हैं। प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एक देश को सयुक्ति ग्रहण करने वाला सम्यग् एकान्त है और एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है। एक वस्तु मे युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों को ग्रहण करने वाला सम्यक् अनेकात है और वस्तु को तत् अतत् आदि स्वभाव से शून्य कह कर उसमे अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करने वाला अर्थ शून्य वचन विलास मिथ्या अनेकान्त है। सम्यक एकान्त को नय कहते है और सम्यक अनेकान्त को प्रमाण कहते है। प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त रूप वस्तु है और नय की अपेक्षा एकान्त रूप है।

यदि अनेकान्त ही माना जाय और एकान्त को न माना जाये तो जैसे पूर्वादि के अभाव मे वृक्ष का भी अभाव होता है वैसे ही एकान्त के अभाव मे अनेकान्त का भी अभाव हो जायेगा, क्योकि एकान्तो के समूह को ही अनेकान्त कहते हैं। किन्तु वे एकान्त अन्य एकान्त सापेक्ष होना चाहिये। निरपेक्ष नही होना चाहिये। जो धर्मान्तर की अपेक्षा रखते हुए वस्तु के एक अ श (धर्म) को ग्रहण करता है उसे नय कहते हैं और जो केवल उस एक धर्म को ही पूर्ण मानकर उसके प्रतिपक्षी धर्म का निराकरण करता वह तो दुर्लभ है। अत निरपेक्ष नय मिथ्या है और सापेक्ष नय सुनय है उनका समूह ही वस्तु है। निर-पेक्षता का मतलब है प्रतिपक्षी धर्म का निराकरण, सापेक्षता का मतलब है प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा न होने से उपेक्षा।

अत अनेकान्त रूप अर्थ के ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। उसके एक अ श के ग्रहण को नय कहते

हैं और जो धर्मान्तर का निराकरण करता है वह दुर्नय है । इस तरह अनेकान्त का मूल नय है ।

इस तरह वस्तु के एक धर्म की विवक्षा से लोक व्यवहार को साधने वाला नय ही है । नय के तीन रूप हैं– अर्थ रूप, शब्दरूप और ज्ञानरूप । वस्तु का एक धर्म अर्थरूप नय है उस धर्म का वाचक शब्द शब्द-रूप नय है और उस धर्म का ग्राहक ज्ञान ज्ञानरूप नय है । वस्तु का एक धर्म नय के द्वारा ग्राहक है इसलिये उसे भी नय कहा जाता है । उस धर्म का वाचक शब्द और ग्राहक ज्ञान तो नय है ही । जैसे अनेक धर्मों को अनेकान्त कहते हैं वैसे ही वस्तु के एक धर्म को एकान्त कहते है । अनेकान्त रूप वस्तु प्रमाण का विषय है और एकान्त रूप वस्तु नय का विषय है । अत प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त है तो नय की अपेक्षा एकान्त है । यदि एकान्त को नही माना जाये तो अनेकान्त भी नही बन सकता क्यो होने पर भी उस वस्तु के दूसरे अविवक्षित अंशों के विषय मे केवल उदासीन रहता है, उस अंश के का आग्रह नही रखता और केवल अपने वक्तव्य अंश मे ही प्रवृत्ति होता है वही नय है । इस तरह अने-कान्त का मूल नय है । नय को जाने बिना अनेकान्त को नही जाना जा सकता ।

नय का विकास

कहा है—तीर्थंकरो के वचनो की सामान्य और विशेप रूप राशियो के मूल प्रतिपादक द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय है। बाकी के सब इन दोनो के ही भेद हैं। आगे इन दोनो नयो का विशेष विवेचन करते हुए कहा है।

१ द्रव्यार्थिक का वक्तव्य पर्यायार्थिक की दृष्टि मे नियम से अवस्तु है इसी तरह पर्यायार्थिक की वक्तव्य वस्तु द्रव्यार्थिक की दृष्टि मे अवस्तु है (गा० १०)

२. पर्यायार्थिक की दृष्टि मे सभी पदार्थ नियम से उत्पन्न और नष्ट होते हैं द्रव्यार्थिक की दृष्टि मे सभी वस्तुए सदा उत्पत्ति और विनाश से रहित है। (गा० ११)

३. दोनो मूल नय अलग अलग मिथ्यादृष्टि हैं। (गा० १३)

४ जिस तरह ये दोनो नय उसी तरह दूसरे सब नय भी अलग अलग द्रव्य हैं (गा० १५)

५ दोनो मूलनय अलग अलग मिथ्यादृष्टि क्यो है? इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है।

६ द्रव्यार्थिक के पक्ष मे ससार नही घटता क्योकि वह नित्यत्ववादी है और पर्यायार्थिक के पक्ष मे भी संसार नहीं घटता क्योकि वह नाशवादी है। नित्यवाद मे भी सुख दु ख सम्भव नही और सर्वथा विनाशवाद मे भी सम्भव नही है। (गा० १७-२०)

जैसे मूल्यवान रत्न भी यदि बिखरे हुए हो तो रत्नावली नाम नहीं पाते उसी तरह सभी नय परस्पर मे निरपेक्ष होने पर सम्यग्दर्शन व्यवहार नही पा सकते। और जैसे वे ही रत्न अपने अपने गुण के अनुसार डोरे मे पिरोये जाने पर रत्नावली कहलाते हैं वैसे ही सभी नय यथोचित रूप से सकलित होकर व्यवस्थित होने पर सम्यग्दर्शन व्यवहार पाते हैं।

इस तरह आचार्य सिद्धसेन ने नयो के सम्बन्ध मे अनेक आवश्यक बातो का कथन करने के साथ अपने कुछ विशेष मन्तव्य भी रखे। उन्होने सात नयो मे से नैगम को पृथक नय स्वीकार नही किया तथा व्यवहार नय पर्यन्त ही द्रव्यार्थिक की मर्यादा स्थापित की और ऋजुसूत्र नय को पर्यायार्थिक नय का भेद माना।

आचार्य समन्तभद्र ने अपने आप्त[3] मीमांसा के अन्त मे नय का स्वरूप बतलाया तथा सापेक्ष नयो को सम्यक् और निरपेक्ष नयो को मिथ्या कहा (श्लोक १०६,१०८)।

अपने बृहत्स्वयभूस्तोत्र मे भगवान विमल जिन की स्तुति मे भी परस्पर सापेक्ष नयो को स्वपरोपकारी कहा तथा अरजिन की स्तुति मे अनेकान्त मे अनेकान्त की अवतारणा करके अनेकान्त की सर्वव्यापकता को सिद्ध किया। प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त और नय की अपेक्षा एकान्त हैं। यह कथन सर्वप्रथम उन्ही के ग्रन्थ मे मिलता है। इन दोनो आचार्यों के पश्चात् आचार्य मल्लवादी ने द्वादशाग[4]

---

३ आप्त मीमासा और वृ० स्व० स्तोत्र का हिन्दी अनुवाद वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट देहली से प्रकाशित हुआ है।

४ इस ग्रन्थ पर सिंह सूरि की टीका ही उपलब्ध है। उसके कुछ भाग का प्रकाशन बडौदा गायकवाड सिरीज से हुआ था। उसके पश्चात् वि०स० २००४ मे लब्धी स्मूरिश्वर जैन ग्रन्थमाला छाणी से हुआ।

नयचक्र नाम का ग्रन्थ रचा। सम्भवतया नय पर यह प्रथम स्वतन्त्र ग्रन्थ था। इसके नाम मे नय के साथ चक्र शब्द सयुक्त करके नयचक्र नाम दिया गया। चक्र गाडी के पहिये को कहते हैं। पहिये मे जो डण्डे लगे होते हैं उन्हे अर कहते हैं। इस नय चक्र मे भी विधि निषेध रूप १२ अर होने से द्वादशार नयचक्र नाम दिया गया।

नय को चक्र की उपमा क्यो दी गई यह बात विचारणीय है। हमारी दृष्टि मे चक्र का कोई भाग सदा ऊचा या नीचा नही रहता। चक्र के चलने पर ऊचा भाग नीचा और नीचा भाग ऊचा हो जाता है। नय की भी ऐसी ही स्थिति है विवक्षावश वस्तु के एक अ श को ग्रहण करने वाला नय मुख्य होता है और विवक्षा नही होने पर वही गौण हो जाता है। नय की इसी सरणि का सूचन उसके साथ सयुक्त चक्र शब्द से होता है। उपलब्ध साहित्य को देखते हुए 'नयचक्र' नाम की परम्परा का सर्वत्र यही नय चक्र प्रतीत होता है।

तत्वार्थ सूत्र के व्याख्याकार आचार्य पूज्यपाद, भट्टाकलक और विद्यानन्द ने अपने अपने व्याख्याग्रन्थो मे नय के सात भेदो का विवेचन किया है। इन तीनो मे से आचार्य विद्यानन्द ने अपने 'तत्वार्थ श्लोकवार्तिक' मे नय की स्थिति को विशेष रूप से स्पष्ट किया है। भट्टाकलक देव ने अपने लघीयस्त्रय और सिद्धिविनिश्चय मे नयो का सुन्दर विवेचन किया है। यह विवेचन दार्शनिक सरणिको लिये हुए है। 'सिद्धिविनिश्चय' का दसवा प्रस्ताव अर्थ नय सिद्धि है और ग्यारहवा प्रस्ताव शब्द नय सिद्धि है। अकलक देव ने सात नयो मे से नैगम से लेकर ऋजुसूत्र पर्यन्त नयो का अर्थ प्रधान होने से अर्थनय और शेष तीन नयो के शब्द प्रधान होने से शब्द नय कहा है। (लघीय स्त्रय का २२)। ऊपर लिख आये है कि ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते है तथा उस अभिप्राय को ही पूर्ण वस्तु मानना दुर्नय या नयाभास है। अकलंक देव ने नयाभास का विवेचन करते हुए वैशेषिक दर्शन को द्रव्यार्थिकाभास, साख्यमत को नैगमाभास, ब्रह्मवाद को सग्रहाभास तथा बौद्धमत को ऋजुसूत्राभास बतलाया है।

अकलक के अनुवादक आचार्य विद्यानन्द ने तत्वार्थ श्लोकवार्तिक मे प्रथम अध्याय के छठे तथा तेतीस के सूत्रो की व्याख्या मे नय का इतना सुन्दर विवेचन किया है कि उस विवेचन का सकलन नय[५] विबरण नाम से किसी ने पृथक कर दिया है और वह एक स्वतन्त्र प्रकरण जैसा प्रतीत होता है। इसमे आचार्य विद्यानन्द ने प्रमाण और नय के भेद को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रमाण स्व और अर्थ का निश्चायक है तो नय उसके एक देश का निश्चायक है वह अ श न तो वस्तु हैं और न अवस्तु है किन्तु वस्तु का अ श है जैसे समुद्र का अ श न समुद्र है और न असमुद्र है किंतु समुद्राश है। यदि अ श को ही समुद्र कहा जायगा तो शेष अ श असमुद्र कहलायेंगे या फिर एक एक अ श को समुद्र मानने पर बहुत से समुद्र हो जायेंगे इसी तरह नय का विषय स्वार्थैकदेश वस्तु न ही है क्योकि उस एक देश को ही वस्तु मानने पर स्वार्थ के अन्य देश अवस्तु कहलायेगे या फिर एक एक देश को ही वस्तु मानने से वस्तु बहुत्व का प्रसग प्राप्त होगा। वह एक देश अवस्तु भी नही है उसे अवस्तु मानने से शेष अ श भी अवस्तु कहलायेंगे और तब वस्तु की व्यवस्था ही नही बन सकेगी। इसलिये नय का विषय वस्तु का एक देश है।

इस पर से यह आशका की गई कि जैसे अ शी

---

५. संस्कृत प्रथम गुच्छक (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित) मे।

वस्तु को जानने वाले ज्ञानको प्रमाण कहते है वैसे ही उसके एक अ श को जानने वाला नय प्रमाण क्यो नही है[६] इसका उत्तर देते हुए कहा है कि जिस अ शी के सब अ श गौण है उसका ज्ञान नय है और वह द्रव्यार्थिक है किन्तु जिस अ शी के सभी अ श प्रधानता को लिये हुए हो उसका प्रमाण ही है अत. प्रमाण से नय भिन्न है ।

इस पर पुन आशका की गई कि यदि नय प्रमाण नहीं है तो वह अप्रमाण हुआ और अप्रमाणात्मक नय से वस्तु का यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है ? तो इसका उत्तर दिया गया कि नय न तो प्रमाण है और न अप्रमाण है किन्तु प्रमाण का एक देश है ।

अब प्रश्न हुआ कि जैन दर्शन मे पाच ज्ञान प्रमाण माने गये हैं उनमे से किस प्रमाण का एक देश नय है ? इसका उत्तर दिया गया कि मतिज्ञान अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान से ग्रहीत वस्तु के अश मे नयो की प्रवृत्ति सम्भव नही है क्योकि नय समस्त देश और कालवर्ती अर्थ को विषय करते है और मति आदि ज्ञानो का विषय समस्त देश और कालवर्ती पदार्थ नही है । नय त्रिकलावर्ती समस्त पदार्थों के एक देश मे प्रवृत्त होते हैं इसलिये वे केवलज्ञान के भेद हैं ऐसा भी नही समझना चाहिये क्योकि केवलज्ञान स्पष्ट है और नय अस्पष्ट अवभासी है । शेष बचे श्रुत ज्ञान के ही भेद नय हैं ।[७]

इस तरह आचार्य विद्यानन्द ने नय की स्थिति को सम्यक् रीति से स्पष्ट किया है ।

आचार्य समन्तभद्र के 'आप्तमीमासा' नामक प्रकरण पर अकलक देव ने अष्टशती नामक भाष्य रचा है और भाष्य पर आचार्य विद्यानन्द ने अष्टमहस्त्री नामक दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की है । कारिका १०४ पर निर्मित भाष्य की एक पंक्ति इस प्रकार है– 'द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक प्रविभागवशा न्नैगमादय शब्दार्थनया बहुविकल्पा मूलनय द्वय शुद्धय शुद्धिभ्याम्' इसकी व्याख्या मे विद्यानन्द ने मूलनय द्रव्यार्थिक की शुद्धि और अशुद्धि से नयो के भेदो का विवेचन करते हुए नैगम नय के अनेक भेदो का निर्देश किया है और नय के भेदो को नयचक्र से जानने की प्रेरणा की है । 'तत्वार्थ[८] श्लोकवार्तिक' मे भी उन्होने नैगमादिनयो के भेदो का विवेचन करके नय चक्र मे उनका विस्तार देखने का निर्देश किया है ।

आचार्य विद्यानन्द के पश्चात् आचार्य देवसेन के नयचक्र तथा उसके ऊपर विरचित 'आलाप पद्धति' मे तथा तदनुसारी द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नय चक्र मे ही नयो का भेद प्रभेदो का विस्तृत विवेचन मिलता है । जिनका परिचय आगे कराया जायेगा । इस तरह हम देखते हैं कि उत्तरोत्तर नय तथा तद्विषयक साहित्य का क्रमश विकास हुआ है और इसका कारण सम्भवतया नयो की उपयोगिता के साथ नय विषयक जिज्ञासा की वृद्धि है ।

---

६ 'तत्वार्थश्लोकवार्तिक' मूल गाधी नाथारग जैन ग्रन्थ माला वम्बई से सन् १९१८ मे प्रकाशित हुआ । हिन्दी अनुवाद के साथ कुन्थु सागर जैन ग्रन्थमाला शोलापुर से प्रकाशित हुआ है ।

७ इति मूलनय द्वय शुद्धयशुद्धिभ्या बहुविकल्पा नया. नयचक्रत प्रतिपत्तव्या । अष्ट स०पृ० २८८

८ सक्षेपेण नयास्तावद व्याख्यातास्तत्र सूचिता । ताद्विशेषा प्रपञ्चेन संचित्या नयचक्रत. । ॥१०२॥ त० श्लो०वा० १।३३।

नय का महत्व

आचार्य देवसेन ने अपने नयचक्र के प्रारम्भ मे नय का महत्व बतलाते हुए कहा है कि जैसे सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है या सप्त धातु का मूल भोजन के पाचन से बनने वाला रस है वैसे ही अनेकान्त का मूल नय है। तथा लिखा है कि जिनके नय रूपी दृष्टि नही है वे वस्तु के स्वरूप को कैसे देख सकते है और जो वस्तु के स्वभाव से ही अनजान है वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं जैसे धर्महीन[६] मनुष्य सुख की वाञ्छा करता है, जैसे प्यासा मनुष्य बिना पानी के प्यास बुझाना चाहता है वैसे ही नय के ज्ञान से रहित मनुष्य वस्तु स्वरुप का निश्चय करना चाहता है इन वचनो से स्पष्ट है कि वस्तु स्वरूप को जानना कितना आवश्यक है। और वस्तु स्वरुप के ज्ञान के लिये नयो का ज्ञान कितना आवश्यक है।

असल मे ज्ञानो मे दो ज्ञान सब से बडे है- प्रत्यक्ष ज्ञानो मे केवलज्ञान और परोक्षज्ञानो मे श्रुतज्ञान। दोनो ही परस्पर एक दूसरे के कारण है। केवलज्ञान के द्वारा श्रुत या आगम का प्रकाशन होता है और आगम के अभ्यास से केवलज्ञान प्रकट होता है। इस तरह केवल ज्ञानी और आगम की सन्तान अनादि है। जैसे केवलज्ञान सर्वतत्व का प्रकाशक है वैसे ही श्रुत भी सर्वतत्व प्रकाशक है। जैसे आगम दूसरो के लिये समस्त जीवादि तत्वो का कथन करता है वैसे ही केवली भी करता है अन्तर केवल इतना है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष है और श्रुतज्ञान परोक्ष है। इस प्रकार श्रुतज्ञान ही ऐसा है जो ज्ञान रूप भी है और बचन रूप भी है किन्तु जैसे केवल ज्ञान समस्त तत्वो का एक साथ जानता हैं उस तरह कोई वाक्य ऐसा नही है जो एक साथ सब का कथन कर सके।

इसके साथ ही वचन का आधार वक्ता का अभिप्राय है वक्ता वस्तु को जानकर भी अपने अभिप्राय के अनुसार कथन करता है। इससे किसी भी एक वस्तु के बारे मे जितने वचन प्रकार सभव है उतने ही उस वस्तु के विषय मे भिन्न-भिन्न अभिप्राय है ऐसा समझना चाहिये।

इन अभिप्रायो को ही नय कहते है। अतः एक वस्तु के एक-एक धर्म को विषय करने वाले ये जितने भी वक्ता के अभिप्राय रूप नय है वा उसके विषयभूत त्रिकालवर्ती एकान्त है उन सब एकातो का जो तादात्म्य रूप सम्बन्ध है वही तो द्रव्य है। ऐसा ही स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

नयोपनयैकाताना त्रिकालानां समुच्चय॰ ।
अविभ्राड्भावसम्बधो द्रव्यमेकमनेकधा ॥

आप्तामीमांसा, श्लो०१०७।

इसीलिये जैन दर्शन मे नय का इतना महत्व है। नयो के ज्ञान के बिना वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नही हो सकता और वस्तु स्वरूप का ज्ञान हुए बिना सम्यग्दृष्टि नही हो सकता।

नय के भेद

आचार्य सिद्धसेन ने अपने सन्मति तर्क प्रारम्भ करते हुए कहा है कि तीर्थंकर के वचनो की

---

६. जह सद्धाणमाई सम्मत्तं जह तवाइ निलये। धाओ वा एयरस तह णयमूलो अणेयंतो ॥१०॥

सामान्य और विशेष रूप राशियो के मूल व्याख्यान करने वाले द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दोनो के ही भेद है। यथा—

तित्थयर वयरा संगह विसेस पत्थार मूलवायरणी।
दव्वट्ठयो य पज्जवण ओ य सेसा वियप्पा सिं॥
सन्मति १।३

यही बात आचार्य देवसेन ने नय चक्र मे कही है—
दो चेव मूलिमणया भणिया दव्वत्थ पज्जयत्थगया।
अण्ण असख सखा ते तब्भेया मुणेयव्वा॥११॥

आशय यह है कि वस्तु सामान्य विशेषत्मक या द्रव्य पर्यायात्मक है। सामान्य या द्रव्याश को ग्रहण करने दृष्टि को द्रव्यार्थिक नय और विशेष या पर्यायाश को ग्रहण करने वाली दृष्टि को पर्यायार्थिक नय कहते। इसीसे ये दो ही मूल नय है। इन दोनो दृष्टियो का विवेचन आचार्य अमृतचन्द्र जी ने प्रवचनसार की टीका मे किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने न तो नय की परिभाषा दी है और न उसके भेदो का निर्देश किया हैं किन्तु द्रव्य की चर्चा करते हुए लिखा है.

दव्वट्ठिएण सव्व दव्व त पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्ण तक्काले तम्मयत्तादो॥११४॥

इसी की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—सभी वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। अत. वस्तु के स्वरूप को देखने वालो के क्रमश सामान्य और विशेष को जानने वाली दो आखें हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। जब पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके एक मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा जीव द्रव्य को देखा जाता है तो नारक, तिर्यच, मनुष्य, देव और सिद्ध पर्यायरूप विशेषो मे रहने वाले एक जीव सामान्य को देखने वाले और विशेषो को न देखने वालो को सब जीव द्रव्य है, ऐसा भासित होता है और जब द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके केवल मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है तो जीव द्रव्य मे रहने वाले नारक तिर्यच मनुष्य देव और सिद्ध पर्यायरूप विशेषो को देखने वाले और सामान्य को न देखने वाले जीवो को वह जीव द्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है क्यो कि द्रव्य उन उन पर्यायो के समय उस उस पर्यायमय होने से उन पर्यायो से अभिन्न है। और जब उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनो आखो को एक साथ खोलकर देखा जाता है तो नारक तिर्यच मनुष्य देव और सिद्ध पर्यायो मे रहने वाला जीव सामान्य और जीव सामान्य मे रहने वाले नारक तिर्यच मनुष्य देव और सिद्ध पर्याय रूप विशेष एक साथ दिखाई देते है। एक आख से देखना एक देश देखना है और दोनो आखो से देखना सम्पूर्ण देखना है।

इस तरह द्रव्यार्थिक नय वस्तु को केवल सामान्य रूप ही देखता है और पर्यायार्थिक नय उसी वस्तु को केवल विशेष रूप से देखता है। इसलिये पर्यायार्थिक की दृष्टि मे सभी पदार्थ नियम से उत्पन्न होते है और नष्ट होते हैं। किन्तु द्रव्यार्थिक की दृष्टि मे सभी वस्तुए सर्वदा न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि कोई भी वस्तु ध्रौव्य से रहित केवलमात्र उत्पाद विनाशवाली नही है। बल्कि प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है। वह मूल रूप मे ध्रुव रहने पर भी प्रतिसमय परिवर्तनशील है। वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है। एक ही वस्तु मे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य विरुद्ध नही है, वास्तविक

११ धम्म विहीणो सोक्ख तहण छेद जलेण जह रहिदो। तह इह बदई मूरो णयरहिओ हव्वणिच्छिति॥६॥

नयचक्र

हैं। ये तीनों–उत्पाद व्यय ध्रौव्य वस्तु मे एक साथ मिलकर ही रहते है। अत. दोनो नयो का अलग-अलग विषय वस्तु का लक्षण नही है। इसलिये दोनो ही मूल नय अलग-अलग मिथ्या है। यदि कोई दोनो मे से एक ही नय को अपना कर वस्तु के सम्पूर्ण रूप को कहने का दावा करता है तो वह मिथ्यादृष्टि है। क्योकि किसी एक नय को ही स्वीकार करने पर ससार मोक्ष नही बन सकते है।

केवल द्रव्यार्थिक या केवल पर्यायार्थिक के पक्ष मे ससार नही बनता क्योकि उनमे मे एक केवल नित्यतावादी है और दूसरा केवल अनित्यतावादी है। दोनो ही पक्षो मे सुख दुःख का सम्बन्ध नही बनता क्योकि आत्मा की कायिक, वाचनिक और मानसिक प्रवृत्ति के कारण कर्म का बन्ध होता है और कषाय के कारण बद्ध कर्म मे स्थिति पडती है किन्तु आत्मा को सर्वथा अपरिवर्तनशील या सर्वथा क्षणिक मानने पर न बन्ध ही बनता है और स्थिति ही। और जब बन्ध ही सम्भव नही है तो ससार के भय की बात तथा मोक्ष सुख की बात काल्पनिक ठहरती है क्योकि कर्मबन्ध से ही ससार होता है और उसको काटने से मोक्ष सुख मिलता है ऐसा सभी मानते है। अत, केवल अपने-अपने पक्ष का आग्रह करने वाले सभी नय मिथ्या है परन्तु परस्पर सापेक्ष होने से सब समीचीन हैं।

इस तरह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से नय के दो ही मूल भेद है। उनमे से द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद है–नैगम, सग्रह और व्यवहार। इनमे से जो सत्ता आदि की अपेक्षा से सबको पर्यायरूप कलक का अभाव होने से अद्वैत रूप से जानता है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक संग्रह नय है। और जो सग्रह नय के द्वारा ग्रहीत पदार्थों के भेद प्रभेदो को ग्रहण करता है वह व्यवहार नय है। यत. यह नय पर्याय रूप कलक से मुक्त होता है। अत अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय हैं। इसके सम्बन्ध में सन्मति सूत्र की नीचे लिखी गाथा दृष्टव्य है–

दव्वट्ठिय णय पयडी सुद्धा सगहपरूवणाविसओ।
पडिरूव मणवयत्थाणित्थयो तस्स ववहारोत।१।४।

अर्थात् सग्रहनय की प्ररूपणाका विषय द्रव्यार्थिक नय की शुद्ध प्रकृति है और पदार्थ के प्रत्येक भेद के प्रति शब्दार्थ का निश्चय करना उसका व्यवहार है।

इसका आशय यह है कि सत्ता या द्रव्य के अभेद से वस्तु के ग्रहण करने वाला सग्रह नय है और सत्ता या द्रव्य के भेद से वस्तु को ग्रहण करने वाला व्यवहार नय है। इसी से संग्रह नय सामान्यग्राही द्रव्यार्थिक नय की शुद्ध प्रकृति है और व्यवहार नय अशुद्धप्रकृति है। व्यवहार नय को द्रव्यार्थिक नय की अशुद्ध प्रकृति कहने का कारण यह है कि यद्यपि व्यवहार नय सामान्य धर्म की मुख्यता से ही वस्तु को ग्रहण करता है। इसलिये वह द्रव्यार्थिक है फिर भी वह सामान्य या अभेद मे भेद मानकर प्रवृत्त होता है इसलिये वह द्रव्यार्थिक होते हुए भी उसकी अशुद्ध प्रकृति है।

जो सत्य है वह भेद और अभेद दोनो को छोड कर नही रहता है। इस प्रकार जो केवल एक को ही अभेद या भेद को ही प्राप्त नही होता किन्तु मुख्यता और गौणता से भेदाभेद दोनो को ही ग्रहण करता है। उसे नैगम नय कहते हैं। अर्थात् सग्रह और व्यवहार नय के परस्पर भिन्न दोनो विषयो का अवलम्बन करने वाला नैगमनय है। शब्द, शील, कर्म, कार्य, कारण आधार, आधेय, सहचार, मान, मेय, उन्मेय, भूत, भविष्यत, वर्तमान आदि का आश्रय लेकर होने वाला उपचार नैगम नय का विषय हैं। आचार्य विद्यानन्द ने तत्वार्थ श्लोकवार्तिक व अष्ट सहस्त्री (पृ० २८७) मे नैगम नय के अनेक भेदो का कथन किया है। यह नय भी अशुद्धि को लिये हुए है क्योकि सोपाधिवस्तु को

विषय करता हैं। आशय यह है कि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से शुद्धि–अभेद है और अशुद्धि भेद है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से शुद्धि भेद है, अशुद्धि अभेद है क्योकि द्रव्यार्थिक का शुद्ध विषय द्रव्य ही है और पर्यायार्थिक का शुद्ध विषय पर्याय ही है। द्रव्य अभेदरूप है ओर पर्याय भेद रूप हैं। द्रव्यार्थिक की दृष्टि मे जितना अ श भेद को विषय करता है उतना अ श अशुद्धि मूलक या अशुद्धि का जनक हैं और पर्यायार्थिक की दृष्टि मे जितना अ श अपभेद को विषय करता है उतना अ श अशुद्धि मूलक या अशुद्धि का जनक होता है।

पर्यायार्थिक नय के चार भेद है—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, और एवमूत है। इनमे से ऋजुसूत्र नय अशुद्धि मूलक है क्योकि वह काल भेद और लिंग भेद होन पर अभेद रूप का ही ग्राहक है शब्द नय शुद्धि मूलक है क्योकि कालादि के भेद से वस्तु को भेद रूप ग्रहण करता है। समभिरूढ नय शब्द नय से भी शुद्धतर है क्योकि पर्यायवाचक शब्दो मे परस्पर भेद होने से वस्तु को भी भेद रूप ग्रहण करता है। एवभूत नय शुद्धतम है क्योकि क्रिया के भेद से भेद मानता है।

त्रिकाल विषयक अपूर्व पर्यायो को छोड कर जो केवल वर्तमान काल विषयक पर्याय को ग्रहण करता है वह ऋजु सूत्र नय है। अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय की स्थिति के अनेक प्रकार होने से उसके अनेक भेद होते है। यहा शुद्ध ऋजुसूत्र नय का विषय बतलाते है चूकि इस नय का विषय एक क्षणवर्ती वर्तमान पर्याय है अत, यह नय पकते हुए भात को पच्यमान पक्व कहता है क्योकि उसका कुछ अ श वर्तमान मे पकता है और कुछ अ श पक चुकता है। इसी तरह किये जाने वाले कार्य को क्रियमाण–कृत भोजन करते हुए को भुज्यमान भुक्त कहलाता है। इस नय की दृष्टि मे कुम्भकार सज्ञा भी नही बनती क्योकि कुम्भ (घडा) से पहले होने वाली शिविकादि पयायो मे तो कुम्भपना नही है इसलिये उनके होने पर तो उनके कर्त्ता को कुम्भकार नही कहा जा सकता है और कुम्भ पर्याय के समय वह कुम्भ अपने अवयवो से ही उत्पन्न हो जाता है उसमे कुम्भकार क्या करता है? कार्य की उत्पत्ति तो उत्पादन कारण से ही होती है ऐसा होने से शेष सहकारी कारणो के व्यपार को निष्फलता का प्रसग आता है। ठहरे हुए किसी पुरुष से कहा से आरहे हो ऐसा प्रश्न करने पर कही से भी नही आ रहा हू ऐसा ऋजुसूत्र नय मानता है क्योंकि प्रश्न के समय आगमन रूप क्रिया नही पाई जाती। इस नय की दृष्टि मे विनाश निर्हेतुक है उसका कोई कारण नही हैं जैसा बौद्ध मानते हैं इसी तरह उत्पत्ति भी निर्हेतुक हैं तथा इस नय की दृष्टि मे सर्वथा अभिन्न दो पदार्थों मे और सवथा भिन्न दो पदार्थों मे सयोग सम्बन्ध अथवा समवाय सम्बन्ध भी नही बनता है क्योकि जो सर्वथा एकपने को प्राप्त है ऐसे दो पदार्थ मे सयोग या समनवय सम्बन्ध मानने तो विरोध आता है और सर्वथा भिन्न दो पदार्थों मे सयोग अथवा समन्वय सम्बन्ध मानने पर अव्यवस्था पैदा होती है। इसलिये इस नय की दृष्टि मे शुद्ध परमाणु ही वास्तविक है, स्तम्भादि रूप स्कन्धो का बोध हैं।

इससे लोक व्यवहार के उच्छेद का भय नही करना चाहिये क्योकि लोक व्यवहार तो सर्व नयो से होता है। यह तो ऋजुसूत्र नय की दृष्टि को बतलाया है।

कालकारक लिंग आदि के भेद से जो वस्तु को भेद रूप ग्रहण करता है उसे शब्द नय कहते है और जो शब्द भेद से अर्थ भेद मानता है। समभिरूढ नय है। जैसे एक हा देवराज इन्दन क्रिया अर्थात् आज्ञा एश्वर्य आदि से युक्त होने से इन्द्र,

शक्तिशाली होने से शुक्र और पुर अर्थात् नगरो का कारण-विभाग करने से पुरन्दर कहलाता है। शब्दनय की दृष्टि मे तो ये तीनो शब्द एक ही लिंग वाले होने से एकार्थक है किन्तु समभिरूढ नय की दृष्टि मे भिन्न भिन्न अर्थ से सम्बन्ध रखने के कारण एकार्थ नही है। चू कि अर्थ भेद के बिना पदो मे भेद नही बन सकता इसलिये शब्द भेद से अर्थ भेद होना ही चाहिये यह समभिरूढ नय की दृष्टि है तथा जिस शब्द का जिस क्रिया रूप अर्थ है उस क्रिया रूप प्रवृत्ति जिस समय होती हो उस समय ही उसे उस शब्द के द्वारा अभिहित करना एवभूत नय है। जैसे 'इन्द्र' शब्द का अर्थ आनन्द करने वाला है जिस समय आनन्द करना हो उसी समय इन्द्र है, अभिषेक या पूजन करना हो तो उसे अभिषेचक या पूजक कहना होगा। यह है एव-भूत नय दृष्टि है। इस तरह यह नयो का विवेचन है।



संकटो को जीतने वाले, बुरे सस्कारो पर काबू पाने वाले, साहसी, आत्म संयमी और हठ प्रतिज्ञ लोग ही सच्चा ज्ञान, धर्म और सही आचरण प्राप्त करते है।

५

भारतीय दर्शन में आत्मा

कुमारी प्रीति जैन एम.ए. रिसर्च स्कालर

इस विशाल विश्व की प्रत्येक वस्तु की ओर मानव अनवरत दृष्टि लगाकर देखता आ रहा है, और प्रयास करता रहा है कि विश्व की समस्त वस्तुओ का मुझे ज्ञान हो। समस्त वस्तुओं के माध्यम से वह विश्व को जानना चाहता है। विश्व को जानने की चिरवांच्छा के साथ ही उसे शका हुई कि क्या मुझमे विश्व को जानने की क्षमता है? क्या मैं विश्व की भौतिक वस्तुओ को जान सकता हू? और इन शंकाओ के साथ ही एक नई जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि य हमें जो समस्त विश्व को जानने के लिये प्रयत्नशील हू, वह क्या है। उसमे ऐसी कौनसी विशिष्टता है जिसके कारण वह विश्व को जान सकता है और उसके लिये अथक प्रयास कर रहा है? यह जानने की जो उत्सुकता है उसके पीछे कौनसी प्रवृत्ति है, उसमे क्यो कुछ जानने की अभिलाषा है? जानने की यह जिज्ञासा बाह्य से अन्तर्मुखी होती गई और अन्तर से एक के बाद एक प्रश्न, 'मैं' कौन हू 'मेरा स्वरूप क्या है' 'मेरा लक्ष्य क्या है, मै के बारे में उठने लगे। प्रश्न जटिल किन्तु स्वभाविक हैं। इन जिज्ञासाओ तथा उत्सुकताओ के माध्यम से उस (मानव) ने अनुभव किया कि मुझ मे तथा विश्व मे दृष्टिगत हो रही प्रायः सभी वस्तुओ मे कुछ पृथकत्व है। परन्तु यह पृथकत्व क्यो है, किस कारण से है? इन सभी शंकाओ के समाधान के लिये वह प्रयत्न करने लगा, इसके लिये अध्ययन चिन्तन एवं मनन का सहारा लिया।

अध्ययन–चिन्तन के माध्यम से उसने जाना मैं क्या हूं? मेरा स्वरूप क्या है? ऐसे आग्रही प्रश्न अनादि काल से चले आ रहे हैं। इन प्रश्नो के समाधान हेतु मनीषियो द्वारा काफ़ी चिन्तन होता रहा है और उसे व्यवस्थित रूप भी दिया जाता रहा है। अपने चिन्तन के माध्यम से प्राय सभी मनीषी इस निष्कर्ष पर पहु चे कि सभी अनुभवो, जिज्ञासाओ आदि के पीछे जो 'मैं' परिलक्षित होता है, वह इन समस्त भौतिक वस्तुओ से पृथक चेतना सत्ता है, जिसे उन्होनें आत्मा नाम से अभिहित किया है।

आत्मा की सत्ता स्वीकारने के तुरन्त पश्चात् समस्या सम्मुख आती है कि उसका स्वरूप क्या है? उसमे कौन कौन सी विशिष्टतायें हैं जो उसे इस जगत की अन्य वस्तुओं से पृथक करने मे सहायक होती हैं? वह एक है अथवा अनेक हैं? वह सादि सान्त है अथवा अनादि अनन्त है? उसका परिणाम क्या है? क्या वह कर्तृत्व भोक्तृत्व शक्ति युक्त है? इत्यादि। इनके समाधान में सभी भारतीय मनीषियों (दार्शनिकों) ने अपने अपने चिन्तन के अनुसार उसका स्वरूप बताया है?

आत्मा का स्वरूप–लगभग सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायो ने आत्माको नित्य, चैतन्य-युक्त एवं स्वतन्त्र स्वीकार किया है, चार्वाक दर्शन व बौद्ध दर्शन इसके अपवाद हैं।

चार्वाक दार्शनिकों ने आत्मा की सत्ता को तो स्वीकार है किन्तु उनके अनुसार पच महाभूतो से निर्मित इस भौतिक देह से पृथक आत्मा की कोई

नित्य स्वतन्त्र सत्ता नहीं है जब तक देह है तब तक चैतन्य है उसके पश्चात कोई पृथक चैतन्य सत्ता का अस्तित्व नही है ।

बौद्ध दार्शनिको ने भी नित्य शाश्वत आत्म सत्ता का निषेध किया है, परन्तु आत्मा के अस्तित्व का निषेध नही किया । बुद्ध की मान्यता थी कि कि सब कुछ अनित्य, गतिशील, क्षणिक तथा परिवर्तनशील है 'सर्वक्षणिक' । कही भी कोई भी स्थायित्व या नित्यत्व नही है अत, उन्होने अपनी इस मान्यता के अनुसार स्थायी एव नित्य आत्मसत्ता का निषेध किया है ।

बौद्ध दार्शनिको के अनुसार मनुष्य केवल एक समष्टि का नाम है, बाह्य रूप युक्त शरीर, मानसिक अस्थायी, सज्ञा, सस्कार, चेतना के समूह या सघात को ही मनुष्य कहते है । इस संघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई अन्य सत्ता नही है ।

इन दोनो दर्शनो के अलावा न्याय दार्शनिक, साख्य दार्शनिक, मीमासक, अद्वैतवेदान्त दार्शनिक तथा जैन दार्शनिको ने नित्य चैतन्य युक्त तथा स्वतन्त्र आत्मसत्ता स्वीकार की है । इन दार्शनिक सम्प्रदायो ने चार्वाक द्वारा स्वतन्त्र नित्य आत्म सत्ता के निषेध की आलोचना की है । जैन, न्याय व वेदान्त-दर्शन के मानने वालो का कथन है 'मैं हू' ऐसा स्व-सवेदन प्रत्येक व्यक्ति को होता है । **जैनों के अनुसार** स्वानुभव प्रत्यक्ष के सिद्ध 'आत्मा' को चार्वाक दार्शनिक किस आधार पर अस्वीकार करता है, जब कि चार्वाक वादियो ने केवल मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार किया है । **नैयायिकों के अनसार** प्रत्येक मनुष्य को 'अहम् सुखी' 'अहम् दु:खी 'अहम् जानामि' इत्यादि भान होता है ।

साख्य, न्याय, मीमासा, अद्वैतवेदान्त व जैन दार्शनिको ने आत्माका चैतन्य युक्त तो माना किंतु चैतन्य आत्मा का स्वरूप ही है । ऐसा सबने नही माना ।

न्याय दर्शन व मीमासा दर्शन मे 'चेतना को' आत्मा का एक आगन्तुक गुण माना है । उनकी मान्यतानुसार 'चेतना का' आत्मा के साथ विशेष परिस्थितियो मे ही सम्पर्क होता है, और तभी आत्म चैतन्युक्त होती है, सदैव नही है । न्याय दर्शन मानता है कि आत्मा मे चेतना का सचार तभी होता है जब आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रियो के साथ, इन्द्रियो का बाह्य वस्तुओ के साथ सम्पर्क होता है, अन्यथा आत्मा चैतन्य शून्य ही होता है । इस मान्यतानुसार जब आत्मा मुक्त होती है तब उसमे ज्ञान चेतना का अभाव रहता है, सुषुप्तावस्था मे भी चेतना का अभाव रहता है ।

मीमासा दर्शन भी चेतना को आत्मा का एक औपाधिक गुण मानता है, जो किसी अवस्था विशेष मे उत्पन्न होता है । मीमासा दर्शन की मान्यता है कि आत्मा स्वत: प्रकाशक नही है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो हमे प्रगाढ निद्रा मे भी ज्ञान होता है, जबकि मीमासानुसार ऐसा नही होता ।

किन्तु इनसे विपरीत जैन, साख्य, एव अद्वैतवेदान्ती चेतना को आत्मा का स्वभाव मानते हैं. वस्तु स्वभाव शून्य कदापि नही हो सकती, जब चेतना आत्मा का स्वभाव है तब आत्मा चैतन्य रहित हो जाये यह असम्भव है ।

जैन दार्शनिको के अनुसार न्याय दर्शन मे चेतना को आत्मा का आगन्तुक गुण माना है और मुक्तावस्था मे भी जड़रूप हो जाती है । ऐसी अवस्था मे बाह्य भौतिक जड-पदार्थों व मुक्तात्मा की स्थिति मे क्या अन्तर शेष रह जाता है, मुक्तावस्था फिर अर्थ मे स्पृहणीय रह जाती, शुष्क शिलावत् मोक्षावस्था से तो यह सुख दु:ख रूप ससार ही भला हैं । जैनो के अनुसार तो जीव अथवा आत्मा ज्ञान चैतन्य स्वरूप तथा सदा प्रकाशयुक्त है ।

अद्वैतवेदान्ती भी आत्मा को ज्योतिर्मय मानता है। जिस प्रकार प्रकाशित करने के लिये कोई वस्तु उपस्थित न रहने पर भी सूर्य स्वतन्त्र रूप से चमकेगा ही उसी प्रकार आत्मा के अन्दर चैतन्य सदा विद्यमान रहता है, ऐसी अवस्था मे भी जबकि कोई ज्ञातव्य विषय उपस्थित न भी हो।

साख्य का पुरुष (आत्मा) शुद्ध चैतन्य स्वरूप है जो सर्वदा ज्ञाता के रूप मे रहता है। वह चैतन्य का आधार भूत द्रव्य नही अपितु स्वत, चैतन्य स्वरूप है।

आत्मा व ज्ञान

मानव की कुछ जानने की इच्छा, उत्कंठा को देखते हुये जिज्ञासा होती है कि मानव का किसी भी वस्तु को जानना, उसका ज्ञान होना यह कैसे सम्भव है ? यह किस की प्रवृत्ति है, यह कौन सी शक्ति है जिसके कारण उसकी प्रवृत्ति ऐसी है, अथवा जानना देखना आत्मा का स्वभाव है। अथवा किसी विशिष्ट सयोग से आत्मा ज्ञान (जानने) की ओर प्रवृत्त होती है।

भारतीय दार्शनिको के अनुसार 'ज्ञान' आत्मा की एक विशिष्ट शक्ति अथवा गुण है, जिसके कारण आत्मा की जानने की प्रवृत्ति है। ज्ञान को आत्मा का गुण प्राय सभी भारतीय दार्शनिको ने माना है, किन्तु कुछ दार्शनिक गुण मानते हुए औपाधिक अथवा संयोगिक सम्बन्ध मानते हैं और कुछ दार्शनिक ज्ञान को आत्मा का स्वभाव मानते हुए तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। (ज्ञान को चेतना भी कहा जाता है)।

न्याय दर्शन मे 'चैतन्य' आत्मा का औपाधिक गुण है। नैय्यायिको के अनुसार चेतना का आत्मा के साथ किन्ही विशेष परिस्थितियो मे सम्पर्क होता है। अत ज्ञान अथवा चैतन्य का भी आत्मा के साथ किन्ही विशिष्ट परिस्थितियो मे ही सम्पर्क होता है इनके अनुसार आत्मा व ज्ञान दोनो का सयोगात्मक सम्बन्ध है। अत, आत्मा ज्ञानमयी नही है।

साख्य दर्शन आत्मा व ज्ञान के बारे मे अधिक स्पष्ट नही है। साख्य दार्शनिक मानते हैं कि पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, वह चैतन्य का आधारभूत द्रव्य नही अपितु स्वय चैतन्य स्वरूप है, चैतन्य इसका स्वभाव है। परन्तु इस मान्यता के साथ मे वे यह भी कहते हैं कि आत्मा को स्वतः विषयो का साक्षात्कार नही होता, यदि ऐसा होता तो आत्मा को सब वस्तुओ का ज्ञान सदा होना चाहिये, जब कि ऐसा होता नही है। कारण यह है कि आत्मा को बुद्धि मन तथा इन्द्रियो के सहारे ही पदार्थों का ज्ञान होता है। साख्य मतानुसार न अकेले पुरुष मे ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है और न बुद्धि मे, बल्कि दोनो के सम्मेलन से ही ज्ञान, अनुभव व्यापार समझाया जा सकता है। बुद्धि प्रकृति से उत्पन्न होती है। अतः पुरुष (आत्मा) से ज्ञान भिन्न ही है। यहा साख्यमत स्पष्ट नही है, वह आत्मा को शाश्वत चैतन्य मानते हुए भी ज्ञान युक्त नही मानता। अपितु जड प्रकृति के परिणाम बुद्धि के सम्मेलन से ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं। मीमासा दर्शन की मान्यता भी न्याय दर्शन जैसी ही है, ये भी चेतना को आत्मा का औपाधिक गुण मानते हैं।

अद्वैतवेदान्तियो का मानना है कि चैतन्य, ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। आत्मा का यथार्थ स्वरूप नित्य ज्ञान है। आत्मा सर्वांगरूप मे प्रज्ञा के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है। प्रज्ञा ही उसका अनन्य स्वरूप है, जैसे नमक का स्वरूप उसके नमकीन स्वाद मे है। आत्मा ज्ञानरूप है तथा ज्ञाता भी है। ज्ञाता वस्तुत. ज्ञान से पृथक नही होता।

विशिष्टाद्वैत दर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञान का सारतत्व है और ज्ञान उसका गुण है। आत्मा नित्य है इसलिये ज्ञान भी, जो इसका गुण हैं, नित्य है।

जैन दर्शन मे ज्ञान आत्मा का गुण है किन्तु औपाधिक नही है। जैन दर्शन के अनुसार गुण और गुणी पृथक्-पृथक् नही है, गुणी से भिन्न कोई गुण नही है। क्योकि गुणी से पृथक् गुण उपलब्ध नही होते। गुण गुणी के स्वभावी होते है, उसमे तादात्म्य सम्बन्ध होता है।

जैन-दर्शन के अनुसार जैसे अग्नि स्वभाव से उष्ण होती है वैसे ही आत्मा स्वभाव से ज्ञानी है। देवदत्त और डण्डा ये दो पृथक् वस्तुएं हैं, जब देवदत्त डण्डे को हाथ मे लेता है तब वह डण्डे के सम्बन्ध से दण्डी कहलाने लगता है, किन्तु जैसा सम्बन्ध डण्डे व देवदत्त मे है वैसा सम्बन्ध आत्मा व ज्ञान मे नही है। आत्मा व ज्ञान गुणी व गुण है, गुण व गुणी के प्रदेश पृथक् पृथक् नही होते इसी से गुण सदैव गुणी वस्तु मे ही पाया जाता है। गुणी की विशिष्टता ही गुणो के कारण है। एक प्रकार से गुण व गुणी मे तादात्म्य सम्बन्ध है।

आत्मा की अनेकता

आत्मा के सम्बन्ध मे विचार करते समय प्रश्न उठता है कि आत्मा एक है अथवा अनेक ? प्राय सभी भारतीय दार्शनिको ने आत्मा की अनेकता मे विश्वास किया है, मात्र अद्वैतवेदान्त इसका अपवाद है।

साख्य दार्शनिकों के अनुसार आत्मा प्रत्येक शरीर मे भिन्न-भिन्न है। यदि सभी शरीरो मे एक ही आत्मा मानी जाये तो एक के उत्पन्न होते ही सब मृत हो जायेंगे। प्रत्येक मानव की प्रवृत्तियो, सुख दु ख रूप अनुभव इत्यादि भिन्न-भिन्न हैं।

नैयायिक भी आत्मा की अनेकता को स्वीकारते है। प्रत्येक व्यक्ति की जीवात्मा पृथक् पृथक् है। यदि पृथक् न होती तो सबके अनुभव एक समान हो जाया करते। न्याय भाष्य (३:२,३२) मे एक ही आत्मा द्वारा भिन्न-भिन्न शरीरो के सचालन की सम्भावना को असाधारण घटना माना गया है।

मीमासक भी आत्मा के अनेकत्व की प्राकल्पना को मानते हैं, इसलिये कि अनुभवो की विविधता की व्याख्या की जा सके। जिस प्रकार मेरी क्रियायें मेरी आत्मा के कारण हैं, इसी प्रकार दूसरो की क्रियाये अन्य आत्माओ के कारण है। आत्मा के गुणो की अपेक्षा जो भेद दिखाई देते हैं वे भिन्न भिन्न आत्माओ के कारण ही है।

जैन-दर्शन मे भी आत्मा की अनेकता मान्य है। जैन दर्शन कर्म की अलध्य व्यवस्था मे विश्वास करता है। जो प्राणी जैसा करता है वैसा ही फल भोगता है। आनुभविक स्तर पर हम सुख दु ख, अमीर-दरिद्र, जन्म-मृत्यु, रोग-शोक गत आदि विभिन्नताओ का अनुभव करते हैं, यह सब विभिन्नता कर्मजन्य है। प्रत्येक आत्मा पृथक् पृथक् कर्म करती है, तदनुसार कर्मफल भोगती है। यदि एक ही आत्मा होती तो एक को मोक्ष प्राप्त होते ही सब प्राणियो को मोक्ष प्राप्त हो गया होता। एक ही आत्मा है तो वह ससारी होगी या मुक्त, यदि वह संसारी आत्मा है तो सब प्राणियो को संसारी होना चाहिये और यदि वह मुक्तात्मा है तो सब प्राणियो को भी मुक्त होना चाहिये। अद्वैतवेदान्त मे एक ही आत्मा ब्रह्मरूप भी है और ससारियो मे भी व्याप्त है, यह किस प्रकार सम्भव है, जबकि शकर ने आत्मा को अविभागी व एक माना है ? अद्वैत मानने वाले शकर एक ही आत्मा मे एक ही समय ब्रह्मरूप व निरा अज्ञानी व्यावहारिक स्तर

का प्राणी मानकर ही द्वैत को स्थान दे रहे हैं।

आत्मा का परिमाण

आत्मा के स्वरूपादि के बारे मे विचार करने के पश्चात् प्रश्न उठता है कि उसका परिमाण कैसा है ? क्या आत्मा का कोई निश्चित परिमाण है ? अथवा वह निराकार है ? इस सम्बन्ध मे सभी दार्शनिको की मान्यता पृथक पृथक है। आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकारने वाले साख्य दार्शनिक, न्याय दार्शनिक, अद्वैतवेदान्ती, मीमासक तथा जैन दार्शनिक सभी का इस सन्दर्भ मे मत-वैभिन्य है। परिमाण के सम्बन्ध मे साख्य दर्शन का कोई स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नही होता। मीमासा दर्शन व अद्वैतवेदान्त मे आत्मा को विशिष्ट परिमाण मे मानकर सर्वव्यापक परिमाण माना है।

न्याय-दर्शन मे परिमाण की चर्चा करते समय कहा गया है कि आत्मा अणु परिमाण नही माना जा सकता, क्योंकि अणु के गुण प्रत्यक्ष गोचर नही हो सकते जबकि आत्मा के गुण बुद्धि इच्छा राग, द्वेष, प्रयत्न, कृति इत्यादि मानस प्रत्यक्ष गम्य हैं। यदि आत्मा को घटपटदि की भाति मध्यम परिमाण वाला पदार्थ माना जाये तो यह प्रश्न उठता है कि उसका आकार कितना बडा है, शरीर तुल्य है, शरीर से छोटा है, अथवा शरीर से बडा है ? यदि शरीर तुल्य माने जाये तो आत्मा का आकार गर्भावस्था से ही बढने लगता है, तो आत्मा का आकार किस समय के शरीर तुल्य माना जाये। यदि आत्मा का आकार शरीर से छोटा माना जाये तो एक साथ सम्पूर्ण शरीर मे चैतन्य की व्याप्ति कैसे सम्भव है ? यदि आत्मा को शरीर से बडा माना जाये तो फिर वह शरीर मे प्रवेश कैसे कर सकता है ? इस प्रकार अनेक शका समाधानो के पश्चात् न्याय दर्शन मे भी आत्मा को सर्व-व्यापक ही माना गया है।

जैन दर्शन मे आत्मा को स्वदेश परिमाण माना गया है। जो आकार देह का है वही आकार आत्मा का है। स्पष्ट रूप से कर्मानुसार प्राप्त छोटे बडे शरीर के अनुसार सकोच और विस्तार करके उस शरीर प्रमाण परिमाण वाला होता है। जीवका जिस समय मे जिस भौतिक शरीर से सम्बन्ध होता है। वह उसके विस्तार के अनुसार ही संकोच और विस्तार की क्षमता रखता है। (समुद्घात की स्थिति के अलावा)। इसकी तुलना दीपक से की गई है जो एक समान रह कर भी जिस छोटे या बडे स्थान अथवा कक्ष मे रखा होता है, उसके अन्दर के पूर्ण स्थान को प्रकाशित करता है। तत्वार्थ सूत्र (अध्याय पंचम, सूत्र १६) मे कहा भी है।

"प्रदेशसहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्"

किन्तु उपर्युक्त कथन कर्म सयुक्त आत्मा की अपेक्षा से हैं, क्योकि पुद्गल शरीर का योग पुद्गल कर्मों के कारण है। जब पुद्गल कर्मों का नितान्त अभाव होगा तब पुद्गल शरीर का योग अथवा साहचर्य किस अपेक्षा से सम्भव है ? अत शुद्ध स्वरुप आत्मा का कोई विशिष्ट परिमाण नही माना गया है।

आत्मा का कर्तृत्व भोक्तृत्व

कर्तृत्व भोक्तृत्व का प्रश्न आत्मा के सदर्भ मे चर्चा करते समय अवश्य उठता है। क्या आत्मा मे कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव है अथवा आत्मा निष्क्रिय है।

साख्य दर्शन के अनुसार पुरुष (आत्मा) अपरिणामी है। पुरुष केवल दृष्टा है, उसमे कोई क्रिया नही होती, वह निष्क्रिय तथा अविकारी है। साख्य दार्शनिक मानते हैं कि पुरुष स्वभाव से ही शुद्ध

अपरिणामी होने से ससार दशा मे विकृत नही होता । पुरुष कर्ता नही है वह तो प्रकृति के कर्तृत्व के साथ भ्रमवश कर्ता प्रतीत होता है । साख्य दर्शन मे पुरुष को भोक्ता तो माना गया है, उसके अस्तित्व प्रमाण मे कहा गया है—

'पुरुषोस्ति भोक्तृभावत' (स० का० १७) । यहा शंका उठती है कि पुरुष कर्ता नही है तो भोक्ता कैसे हो सकता है ? कर्ता प्रकृति और भोक्ता पुरुष है । ऐसा मानें तो इसका तात्पर्य है कि कर्म कोई और करे और भोक्ता कोई और हो, यह मान्यता तो नैतिकता के विरुद्ध है । अत; पुरुष को केवल भोक्त मानना, कर्ता नही मानना एक अस्पष्ट स्थिति है ।

मीमासा दर्शन मे, प्रभाकर मत मे आत्मा क्रियाशीलता, अनुभव सुखोपभोग आदि गुणो का अधिष्ठान है अर्थात् कर्त्ता भोक्ता है ।

बौद्ध दार्शनिको ने स्वतन्त्र नित्य आत्मसत्ता को न मानते हुए भी कर्तृत्व भोक्तृत्व को स्वीकार किया है । उनके अनुसार प्राणी अपने किये गये कर्मों का फल आगामी जीवन मे भोगता है ।

न्याय-दर्शन के अनुसार जीव प्रयत्नशील होने के कारण कर्ता, सुखी दुखी होने कारण भोक्ता है । किन्तु यह आत्मा का यह कर्तृत्व भोक्तृत्वादि गुण तभी तक रहता जब तक वह शरीर के साथ सम्बन्ध रखता है शारीरिक बन्धन से मुक्त हो जाने पर इच्छा, सुख दुःख, कर्तृत्व, भोक्तृत्व सभी गुण लुप्त हो जाते हैं । जब मन व इन्द्रिय सहित शरीर से आत्मा का सम्पर्क छूट जाता है तब ये गुण भी नष्ट हो जाते हैं । अर्थात् न्याय दर्शन के अनुसार ससारी अवस्था तक ही आत्मा मे कर्तृत्व भोक्तृत्व गुण हैं, तत्पश्चात् नही ।

जैन-दार्शनिको ने आत्मा मे कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वीकार किया है । जैनो की 'आत्मा' उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यात्मक परिणमन करने के कारण कर्तृत्व-भोक्तृत्व पर्याय से स्वय परिणत होता है । बन्धक भी उसका होता है और मोक्ष भी उसी का होता है । जैन-दर्शन मे शुद्ध आत्मा भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व युक्त मानी गई है ।

यदि आत्मा मे कर्तृत्व भोक्तृत्व न स्वीकार किये जाये तो आत्मा निष्क्रिय जड रूप हो जायेगी । आनुभविक स्तर पर भी हम देखते हैं कि 'मैं' को किसी न किसी क्रिया के माध्यम से ही जानते हैं, साख्य-दर्शन की स्थिति विचित्र है । चेतस पुरुष तो निष्क्रिय है और जड सक्रिय । प्रकृति के कर्तृत्व से वह भ्रमवश कर्तृत्वयुक्त प्रतीत होता है । एक चेतन सत्ता दूसरी जड सत्ता के प्रभाव से कर्तृत्वयुक्त-भोक्तृत्व कैसे प्रतीत होगी ? जब पुरुष निष्क्रिय सत्ता को कोई किस प्रकार प्रभावित कर सकता है, शुद्ध रूप से ससारावस्था मे कैसे ला सकता है ?

आत्मा की प्रभुत्वशक्ति

यहा एक प्रमुख प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित होता है कि आत्मा स्वयं अपना प्रभु है अथवा किसी अन्य सत्ता पर वह आश्रित हैं ? सुख-दुःख. जन्म-मरण मोक्ष आदि के लिए वह किसी पर आश्रित है अथवा स्वतन्त्र है ?

इस सन्दर्भ मे न्याय दर्शन का मत है कि प्राणियो का धर्म व्यवस्थापक, कर्मफलदाता व सुख दु ख का निर्णायक वह स्वय नही अपितु ईश्वर है । परमेश्वर ही जीवो को साधु तथा असाधु कर्म कराते हैं । जीव कर्म करने वाला है और परमेश्वर उन सब कर्मों को कराने वाले हैं अर्थात् हेतु कर्ता या प्रयोजन कर्ता है। वे ही सब जीवो के सब कर्मों के अध्यक्ष हैं ।

अर्थात् सब अदृष्टो के अधिष्ठाता हैं तथा वे ही जीवो को कर्मों का फल देने वाले हैं। न्याय दर्शन मे जीवात्माओ की मुक्ति के लिए भी ईश्वर को ही आधार माना गया है। कहा भी है—वास्तव मे परमेश्वर की पराभक्ति के बिना तत्वज्ञान प्राप्त ही नही हो सकता। ईश्वर की परमभक्ति के फल-स्वरूप परमात्मा का दर्शन होने पर, तब उन्ही के अनुग्रह के शरणागत 'मुमुक्षु' साधक को अपनी आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है। ईश्वर का दर्शन ही मुक्तिलाभ का एकमात्र मार्ग है। ईश्वर के अनुग्रह के बिना किसी को किसी भी कर्म मे सफलता नही मिल सकती। इसलिए मुक्ति भी नही मिल सकती ?

इस प्रकार न्याय दर्शन के अनुसार 'ईश्वर' ही जीवो को कर्म कराते हैं तथा फल देते हैं। इससे यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि ईश्वर ही जीवो से साधु असाधु कर्म करवा कर सुखी दु खी करता है, एक महान् सत्ता के लिए किसी को सुखी किसी को दुखी कर पक्षपाती नीति अपनाना कहा तक समीचीन है।

साख्य दर्शन मे आत्मा (पुरुष) निष्क्रिय है। अत कर्म व कर्मफल के लिए वह किसी के आश्रित नही है। साख्य का पुरुष न बधता है न मुक्त होता है। अत वह मुक्ति के लिये किसी पर भी आश्रित नही है।

अद्वैतवेदान्त मे आत्मा अथवा ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है, अत कर्म, कर्मफल इत्यादि के लिए किसी अन्य सत्ता के ऊपर आश्रित होने की सम्भा-वना ही नही है, अर्थात् आत्मा ही अपना प्रभु है। अद्वैतवेदान्त मे आत्मा को न कुछ प्राप्त करना है न कुछ त्यागना होता है, अत मोक्ष के लिए आत्मा को किसी अन्य सत्ता की मुक्ति, कृपा आदि की आवश्यकता ही नही है।

जैन दर्शन मे आत्मा अपने समस्त कर्म, कर्मफल, ज्ञान, मोक्ष इत्यादि के लिए पूर्णरूपेण स्वतन्त्र है। यह जीव स्वयं ही प्रभु है। प्रभु का अर्थ है स्वामी। यह जीव स्वय अपना स्वामी है। स्वय ही अपने कार्यों द्वारा कर्म से बद्ध होता है और स्वय ही अपने कार्यों के द्वारा कर्मबन्ध से मुक्त होता है। इसका बन्धन व मुक्ति किसी अन्य की कृपा या रोष का परिणाम नही है। ऐसी प्रभुत्व शक्ति से युक्त जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चरित्र के द्वारा चार घातिकर्मों को नष्ट करके जब अनन्त चतुष्टय से युक्त होता हुआ अर्हन्त दशा को प्राप्त होता है तब उसमे प्रभुत्व शक्ति का पूर्ण विकास होता है, और जब वह शेष चार अघाति कर्मों को भी नष्ट करके सिद्ध युक्त हो जाता है तब वह स्वय साक्षात प्रभु ही हो जाता है।

जैनो का, जीव के नैसर्गिक अनन्त सामर्थ्य मे गम्भीर विश्वास है। वह प्राणी मात्र के लिए आशा का सन्देश व स्वावलम्बन की श्लाघनीय शिक्षा देता है।

आत्मा के भेद

आत्मा कर्ता है, भोक्ता है, वह दु ख सहता है, सुखको भोक्ता है। इन बातो पर विचार करते हुए एक जिज्ञासा होती है कि क्या जीव अथवा आत्मा इन ससार के दु खो से मुक्त हो सकता है ? ससार के दु खो से मुक्त होने का क्या तात्पर्य है ? ससार से मुक्त होने के पश्चात् उसकी स्थिति क्या होती है ? इत्यादि।

दु ख की पीडा उससे मुक्ति की प्रेरणा देती है, उससे मुक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। प्राय सभी भारतीय दार्शनिको ने दुःख के कारण व उनके निवृत्ति के उपाय खोजे हैं, वे सभी दार्श-निक इस बात से सहमत हैं कि मोक्ष की अवस्था

प्राप्त होने पर मानव को सासारिक दु खो से निवृत्ति मिल जाती है। इस प्रकार लगभग सभी भारतीय दार्शनिक आत्मा के दो भेद अथवा अवस्थाये स्वीकार करते है (१) सासारिक (२) मुक्त।

सासारिक स्थिति मे तो लगभग सभी दार्शनिको ने समान अवस्था स्वीकार की है किन्तु मुक्तावस्था मे सभी दार्शनिको ने आत्मा की अवस्था को भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वीकारा हैं।

न्याय-दर्शन के अनुसार आत्मा के दो माने है: (१) जीवात्मा (२) परमात्मा।

जीवात्मा अनेक तथा प्रति शरीर मे भिन्न-भिन्न है। जीवात्मा के इच्छा, राग, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु ख, और ज्ञान गुण है। जीव कर्त्ता, भोक्ता तथा अनुभवी है, किन्तु आत्मा का कर्तृत्व-भोक्तृत्व, इच्छा, रागद्वेष गुण तभी तक रहता है जब तक वह शरीर के साथ सम्बद्ध रहता है। शारीरिक बन्धन से मुक्त हो जाने अथवा मोक्ष प्राप्त होने पर आत्मा बिल्कुल शान्त और निर्विकार हो जाता है, उस अवस्था मे उसे न सुख रहता है न दु ख, शरीर सापेक्ष धर्म है, अतः जब मन इन्द्रिय सहित शरीर से आत्मा का सम्पर्क छूट जाता है तब ये धर्म भी नष्ट हो जाते हैं, उस अवस्था मे वह जड पाषाणवत् शून्य हो जाता है।

'परमात्मा' एक जगत् का सृष्टा, पालक व संहारक है। उसे सभी वस्तुओ तथा घटनाओ का यथार्थ ज्ञान है। अतः वह सर्वज्ञमयी है।

यहा स्पष्ट है कि न्याय दर्शन ने जीवात्मा व परमात्मा, आत्मा के ये दो ही स्तर माने हैं किन्तु उसकी मान्यता ने तीसरा भेद 'मुक्तात्मा' और स्वीकारा है, क्योकि जो आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है वह न तो जीवात्मा के स्तर का रहा, न परमात्मा के स्तर का, (क्योकि परमात्मा तो एक ही है) तब फिर मुक्त आत्माओ की न्याय दर्शन मे क्या स्थिति है? न्याय दार्शनिक यह भी स्वीकार नही सकते कि मुक्त आत्माये परमात्मा मे विलीन हो जाती है, इस मान्यता से तो उसकी आत्मा के अनेकत्व को ठेस पहुचती है। तब मुक्त आत्माओ की स्थिति क्या है? यह विचारणीय प्रश्न है।

साख्य दर्शन मे भी आत्मा के (१) लौकिक जीवात्मा व (२) पुरुष, दो भेद (स्तर) स्वीकार किये है।

जैन दर्शन मे मुख्यत जीवो के दो स्तर माने हैं (१) ससारी (२) मुक्त।

कर्मबन्धन से बद्ध जो जीव एक गति से दूसरी गति मे ससरण करते है, राग द्वेष युक्त है वे जीव संसारी है और जो इनसे छूट चुके है वे मुक्त हैं, अर्थात् मुक्ति या मोक्ष शब्द का अर्थ छुटकारा है, अत आत्मा के समस्त कर्म बन्धनो से छूट जाने को मोक्ष कहते हैं। जैसे धातु को गलाने तपाने से उसमे से मल आदि दूर होकर शुद्ध धातु प्राप्त हो जाती है वैसे ही आत्मा के गुणो को कलुषित करने वाले दोषो कर्मों को दूर करके शुद्ध आत्मा की स्थिति को मुक्ति या मोक्ष कहते हैं। जैन दर्शन मे न तो आत्मा के अभाव को मोक्ष कहा गया है– न आत्मा के गुणो के विनाश को। अपितु जैन दर्शन मे आत्मा एक स्वतत्र द्रव्य है जो ज्ञाता–दृष्टा है, किंतु अनादिकाल से कर्म बन्धन से बन्धा हुआ होने के कारण अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता रहता है। जब वह उस कर्म बन्धन का क्षय कर देता है तो मुक्त कहलाने लगता है।

मुक्तावस्था मे जीव के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख व अनन्तवीर्य आदि स्वाभाविक

गुण विकसित हो जाता है। जैसे स्वर्ण मे से मल के निकल जाने पर उसके स्वाभाविक गुण पीतता आदि ज्यादा विकसित हो जाते हैं, इसी से शुद्ध सोना अधिक चमकदार व पीला होता है। वैसे ही आत्मा मे से कर्ममल के निकल जाने से आत्मा के स्वाभाविक गुण निखर उठते हैं।

मुक्त अवस्था मे आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप मे स्थित होता है, वह ज्ञान की चरमावस्था है, जैनो ने उसे 'केवलज्ञान' कहा है। उस अवस्था मे आत्मा को तीनो लोक का त्रिकालाबाधित ज्ञान होता है। लोक की भूत, भविष्यत्, वर्तमान की सर्व ही वस्तुओ का युगपत् ज्ञान होना केवलज्ञान है। एक वार केवल ज्ञान अथवा मुक्ति प्राप्त होने के पश्चात् आत्मा कभी वन्धन मे नही फसती, जन्म मरण सब से वह पूर्ण-रूपेण मुक्त हो जाती है।

जैनो ने स्थूल रूप से तो आत्मा के ससारी व मुक्त ये दो ही स्तर माने हैं किन्तु सूक्ष्मरूप से अनेक स्तर है। मुक्तावस्था मे तो कोई भेद नही है। किन्तु ससारी-अवस्था मे जीवो के अनेकानेक भेद है। गति की अपेक्षा से जीवो के चार भेद हैं—मनुष्य, देव, तिर्यञ्च और नारकी। इन्द्रिय अपेक्षा से जीवो के पाच भेद है एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पचेन्द्रिय।

एकेन्द्रिय, दो-इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय व पचेन्द्रिय जीवो का वर्णन भी अत्यन्त स्पष्ट व सुव्यवस्थित रूप से किया है। इस प्रकार जैन-दर्शन मे वृक्ष कृमि, चीटी, मक्खी, मच्छर घोडा, बैल आदि का व्यवस्थित वर्णन किया हैं, अर्थात् जैन दर्शन ने पशु-पक्षी कीडे मकोडे मानव सभी का वर्णन किया है।

इस प्रकार विदित होता है कि आत्माकी स्वतत्र सत्ता स्वीकार ने वाले सभी दार्शनिक मतो ने अपने चिन्तन का लक्ष्य मोक्षावस्था को माना है। सभी ने आत्मा की पूर्णता मुक्तावस्था मे ही माना है, वही दुख से निवृत्ति की अवस्था नित्य है शाश्वत है।

सक्षेप मे चार्वाक दर्शन व बौद्ध-दर्शन के अनुसार स्वतन्त्र आत्मा सत्ता नही है। न्याय-दर्शन की मान्यता है कि चैतन्य आत्मा का अगतुक गुण है, मीमासा-दर्शन मे भी चेतना को आत्मा का औपाधिक गुण माना है। अद्वैतवेदान्ती एक ही आत्मा स्वीकार करते हैं। साख्य-दार्शनिक मानते हैं कि आत्मा (पुरुष) निष्क्रिय व अविकारी है। विशिष्टाद्वैत मे आत्मा पूर्ण-रूपेण ईश्वर पर निर्भर है किन्तु जब जैन दृष्टिकोण पर विचार करते हैं तो पाते है कि उन्होने, स्वतन्त्र आत्मा सत्ता है, ज्ञान-चैतन्य आत्मा का स्वरूप है, आत्मा अनेक है, कर्तत्व-भोक्तृत्व युक्त है तथा पूर्णरूपेण स्व-निर्भर है, ऐसा मानकर सभी भारतीय दर्शनो की आत्मा सम्बन्धी नकारात्मक मान्यताओ को भी युक्तिसंगत रूप से मान्यता प्रदान की है और इससे अनेकान्त सिद्धान्त का अद्भुत उदाहरण पेश किया है।

जैन-दर्शन ने मानव-पशु-पक्षी, कीडे-मकोडो आदि का व्यवस्थित वर्णन किया है जबकि अन्य दर्शनो ने केवल आत्मा-परमात्मा का व मानव जाति का वर्णन किया है अन्य जीवो की विभिन्नता सम्बन्धी उलझन को नही सुलझाया है जो कि मात्र जैन दर्शन ने किया है। ऐकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय व पचेन्द्रिय जीवो का वर्णन कर विश्व के सूक्ष्म काय से स्थूलकाय के जीवो का वर्णन किया है।

जैन दर्शन की परिमाण, परिणामन, पुरुषार्थ के द्वारा अपने शुद्ध रूप मे स्थित होना, आदि के बारे मे अत्यन्त स्पष्ट व युक्ति सगत मान्यता है। इस प्रकार हम देखते है कि व्यावहारिक व पारमार्थिक दोनो ही स्तर पर जैन दर्शन की मान्यता उचित व उपयुक्त है। दोनो ही स्तर पर यह मानवीय शकाओ का निराकरण करती है।



कहा मुडाए मूंड बसे कहा मठ्ठका।
कहा नहाए गंग नदी के तट्टका।।
कहा वचन के सुने कथा के पट्टका
जो बस नाहि तोहि पसेरी अट्ठका।।

अर्थ—जब यह आठ पसेरी का मन ही तुम्हारे वश मे नही है तो हे मनुष्य सिर मु डवाने, मठ मे रहने, गगा मे रहने अथवा कथा पाठ के सुनने से क्या काम ? अर्थात् किञ्चत भी लाभ नही है।

भैया भगवती दास

६

जैनदर्शनसार–परिशीलन

पं० गुलाबचन्द जैनदर्शनाचार्य

पण्डित चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ की कई मौलिक रचनाए हैं, उनमे जैनदर्शनसार उनकी विशिष्ट कृति है। इसमें जैन दर्शन के प्राय सभी मुद्दे आ गये है जा कि तत्वतः कहे जा सकते हैं या गिनाये जा सकते हैं। इनकी गणना जैन दर्शन के आधुनिक ग्रन्थो मे तो है ही किन्तु भारतीय दार्शनिक ग्रन्थो मे भी यह अपना स्थान उसी रूप मे रखता है जिस रूप मे अन्य प्राचीन ग्रन्थ रखते आये है। यह ग्रन्थ अर्वाचीन होते हुए भी प्राचीन ग्रन्थो की कोटि मे भली प्रकार गिनाया जा सकता है क्योकि ग्रन्थकर्त्ता ने इसमे उन सभी विषयो का समावेश किया है जिनमे पूर्वाचार्यों को ख्याति प्राप्त हुई है।

भाषा

ग्रन्थ की भाषा सरल एवं सुबोध संस्कृत है। ग्रन्थकर्त्ता ने अपनी रचना को छोटे-छोटे वाक्यो मे सुगम शब्दो से इसलिए गूंथा है कि साधारण संस्कृतज्ञ भी इससे लाभ उठा सके।

प्राचीन दर्शन ग्रन्थ विषय की अपेक्षा से तो दुरूह होते ही हैं, वे भाषा की दृष्टि से और भी दुरूह हो जाते हैं। ऐसे ग्रन्थो मे एक तो विद्यार्थी का विषय प्रवेश ही कठिन फिर भाषा भी यदि क्लिष्ट हो तो छूने मे भी मन नहीं कर सकता यह भी एक कारण है कि दिनों दिन दर्शन के पढ़ने वालो की सख्या कम होती जा रही है। लेखक ने इस विषय को वडी गम्भीरता से सोचा है और यही सार निकाला है कि ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त सरल एव सुबोध हो ताकि विद्यार्थी उसको नोट्स के विना ही सरलता से समझ सकें। इसी का परिणाम है कि ग्रन्थ आद्योपान्त व्यवहार्य शब्दो द्वारा सरल सस्कृत मे रचा गया है। समासो की भी स्तोक रचना है। ऐसे वाक्य ग्रन्थ मे खोजने को भी नही मिलेगे जो दीर्घ समासो द्वारा ग्रथित हो।

शैली

जब हम न्याय के ग्रन्थों को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि इनकी शैली साहित्य आदि विषयो से जटिल और दुर्बोध जान पडती है। चाहे ये ग्रन्थ जैन दर्शन के हो या जैनेतर, सभी की शैली प्राय समान रूप से एकसी जटिल दिखाई पडती है। प्राचीन न्याय एव नव्य न्याय सभी की एक सी परिपाटी अवच्छेदकावच्छिन्नत्व से ओत प्रोत है। इनके पारिभाषिक शब्द भी सामान्यतया प्रचलित कोषो मे नही मिलते। इनके शब्द कोष भी विशेष ही होते है। न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, मीमासा प्रभृति दर्शन ग्रन्थो की शैली अपनी निराली ही है किन्तु जैन दर्शन भी इमसे अछूता नहीं रहा है। प्राचीन जैनाचार्यों ने भी अपने ग्रन्थो की रचना उसी दार्शनिक कठिन शैली मे की है। उनकी टीकाओ को

समझने के लिए भी टीकाओं की आवश्यकता पडती हैं। बिना गुरु सहयोग के इनसे भी ग्रन्थो का समझना सरल नही है। अष्टसहस्त्री को कष्ट-सहस्त्री का रूप देना उसकी शैली का महात्म्य ही तो है।

प्राचीन न्याय से नव्य न्याय को सरल होना चाहिये किन्तु यह नव्य न्याय प्राचीन न्याय से भी कष्ट साध्य सिद्ध हुआ है।

किन्तु हमारा प्रकृत ग्रन्थ जैनदर्शनसार सभी दृष्टियो से सरल एवं सुबोध हैं। न उसमे अवच्छेदकावच्छिन्नत्व की झडी है न दीर्घ समास और न दार्शनिक कठिन एव जटिल परिभाषायें। सारे विषय को सरल शैली मे आधुनिकता को लिए हुए समझाया है। यद्यपि दार्शनिक ग्रन्थो मे उतनी सरलता एव सरसता तो आ ही नही सकती जितनी कि साहित्यादि रोचक विषयो मे आया करती हैं। किन्तु फिर भी विषय को समझने के लिए इतनी कठिनता नही पडती जितनी कि अन्य दार्शनिक ग्रन्थों के समझने मे पडती है। अत कहना पडेगा कि समस्त ग्रन्थ सुबोध गद्यात्मक शैली मे रचा गया है।

विषय

जिसका नाम ही 'जैनदर्शनसार' है फिर जैन दर्शन का कौनसा विषय इसमे नही हो सकेगा, सभी होगे। ग्रन्थ कर्ता ने मगलाचरण से लेकर, अन्त तक उन सभी विषयो का वर्णन अपने प्रतिपाद्य ग्रन्थ मे कर दिया है।

जैन दर्शन का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति है जो कि सभी भारतीय दर्शनो का अपना एक है। जैन दर्शन का प्राचीनतम सूत्र ग्रन्थ तत्वार्थ सूत्र है जो आचार्य उमास्वामी द्वारा रचित है। इस ग्रन्थ का आदि सूत्र "सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग" है। ग्रन्थ कर्त्ता ने भी इसी सूत्र को आधार बना कर ग्रन्थ की सगति प्रारम्भ की है। मोक्ष की प्राप्ति किस को होती हैं और किन से मोक्ष मिलता है। इन सभी तत्वो का दिग्दर्शन ग्रन्थ मे सुचारू रूप से कराया गया हैं।

तत्व विवेचन

जैनदर्शन मे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर-निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वो की प्रमुखता है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे इन सातो तत्वो का खुलासा विवेचन किया गया हैं।

'द्रव्य सग्रह' का आधार लेकर जीव के नव अधिकारो का वर्णन अपनी स्वय की विशेषता रखता है। तर्क वितर्क एव शका समाधानो के साथ सभी अधिकारो का सक्षिप्त एव सुन्दर विवेचन किया है। इन्ही नवो अधिकारो के बीच आत्मा की सनातन सिद्धि ग्रन्थ की अपनी स्वय की मौलिकता है। आत्मा को ससारावस्था मे शरीर प्रमाण सिद्ध करना और उसका व्यापकपना वटकणिका मात्रपना, अणु प्रमाणपना इत्यादि न होना अनेको युक्तियो से निषेधा गया है। सभी युक्तिया प्रमाण नय और निक्षेपो से युक्त अत्यन्त मनोरम हैं।

आत्मा के अध्यात्म भाषया तीन रूप जो कि आध्यात्मिक ग्रन्थो मे बताये गये हैं ग्रन्थ कर्त्ता ने उन तीनो का विवेचन सोदाहरण करके पाठको का अज्ञान दूर किया है। आत्मा का बहिरात्म रूप कर्मोपाधि सहित होने से हेय बतलाया है और अन्तरात्मरूप साधक रूप मे स्वीकार किया है। तीसरा परमात्म रूप पद जिसको दो भागो मे विभक्त किया है सकल परमात्मपद और निकल

परमात्मपद। सकल परमात्मा अरहन्तावस्था और निकल परमात्मा सिद्धावस्था है। ऐसे आत्मा के तीनो रूपो को सयुक्तिक समझाया है। इसी आत्मा के अन्तिम रूप को उत्कृष्ट परमज्योतिरूप अविद्या से दूर और महान माना है। आत्मा का यही रूप मुमुक्षुओ द्वारा पृष्टव्य, एष्टव्य और दृष्टव्य है ऐसा ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ मे सिद्ध किया है। इसके विपरीत रूप को अविद्या मय एवम् त्यागने योग्य बताया है। हमे ग्रन्थकर्त्ता के कथनानुसार बहिरात्म रूप को हेय समझ कर छोडना चाहिए तथा अन्तरात्मरूप स्वय बन कर परमात्म पद की प्राप्ति करनी चाहिए। मानव जन्म का सार भी वस्तुत. यही है।

जैसा पूर्वाचार्यों ने अजीव तत्वो का विवेचन किया है ग्रन्थ कर्त्ता ने भी उसी का अनुसरण किया है। किन्तु धर्म अर्धम तत्व को समझाने की ग्रन्थ कर्त्ता की अपनी स्वय की विद्या है। सूक्ष्म और अमूर्त तत्वो को समझाना और उनके लिए प्रचलित उदाहरण पेश करना ग्रन्थकर्त्ता का निरालापन है।

मोक्ष तत्व के विवेचन मे कई शका समाधान प्रस्तुत कर सिद्ध किया है कि यही अन्तिम तत्व मानव को सुखदायी एव उपादेय है। यही पुरुष का चरम पुरुषार्थ है। इसके दोनो स्वरूपो का अर्थात् द्रव्य मोक्ष और भाव मोक्ष का, ग्रन्थ कर्त्ता ने सुन्दर विवेचन किया है।

प्रमाण निरूपण

दूसरे अध्याय मे प्रमाण का निरूपण किया गया है जिस प्रकार पूर्वाचार्यों ने प्रत्येक विवेच्य तत्व का लक्षण बाधा है उसी प्रकार ग्रन्थ कर्त्ता ने भी लक्षण निर्देश किया है। सर्व प्रथम लक्षण का लक्षण और उसके आत्म भूत और अनात्म भूत दो भेदो के लक्षण समझाये हैं और समझाया है कि जो लक्षण वस्तु के स्वरूप मे प्रविष्ट हो वह आत्मभूत और जो वस्तु के स्वरूप मे प्रविष्ट न हो वह अनात्मभूत लक्षण है। यथा अग्नि का लक्षण उष्णता आत्मभूत का उदाहरण और दण्डीका दण्ड अनात्मभूत लक्षण का उदाहरण है। ग्रन्थकर्ता ने लक्षण के अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असम्भव ये तीन दोष भी प्रकरणवश समझाये हैं।

प्रमाण के स्वरूप को समझाने मे भी पूर्वाचार्यों का ही अनुसरण किया गया है किन्तु विशेषता शैली की है। ग्रन्थकर्ता ने प्रमाण का लक्षण भेद प्रभेद और दृष्टान्तो को समझाने मे अपना निजीपन रखा है।

नय स्वरूप

"नयो हि प्रमाण विकल्प यह ग्रन्थ कर्त्ता की स्वतन्त्र परिभाषा है। उन्होने उदाहरण के रूप मे पूर्वाचार्यों का निदर्शन प्रस्तुत किया है "सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन." । अथवा "नानाभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन स्वभावे वस्तु नयनि नय" इस प्रकार कई उदाहरण देकर नयो का स्वरूप प्रतिपादन किया है। नय के दो भेद द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा द्रव्यार्थिक के नैगम सग्रह और व्यवहार ये तीन भेद तथा पर्यायार्थिक नय के चार भेद ऋजुसूत्र, शब्द समभिरूढ और एवभूत इन सभी को ग्रन्थ मे सोदाहरण सरल तरीके से समझाया गया है।

स्याद्वाद निरूपण

जैन दर्शन की आधारशिला स्याद्वाद का विवेचन भी सुगमतया समझाया है कहा है "स्याद्वा-

दोहि जैनागमस्य बीज" अर्थात् स्याद्वाद जैनागम का बीज है। स्याद् का अर्थ कथचित् और वाद का अर्थ सिद्धात है। जिस वाद मे स्यात् की प्रधानता है वह स्याद्वाद है। ग्रन्थकार ने इसे निराग्रहवाद भी कहा है। इसमे उन्होने वस्तु का नित्यानित्यपना, सदसदात्मकपना द्रव्य–पर्यायात्मकपना, सामान्य विशेषात्मकपना, सिद्ध किया है। उन्होने कहा है कि वस्तु सामान्यतया उदित भी नही होती और नष्ट भी नही होती बल्कि विशेष रूप से उदित भी होती है और व्यय भी होती है।

सप्तभगी विवेचन

सप्तभगी विवेचन मे ग्रन्थ कर्त्ता ने स्यादस्ति, स्याद्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्याद्अवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्याद्नास्ति अवक्तव्य और स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य इन सातो भगो का सोदाहरण एवं सलक्षण निरूपण किया है। "प्रश्न-वशादेकत्र वस्तुनि अविरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना सप्तभगी"। अकलकदेव के इस लक्षण की सिद्धि कई शका समाधानो के साथ की है।

अहिंसा

जिस प्रकार ग्रन्थकर्त्ता ने सप्तभंगी विवेचन अनेको उदाहरणो शका समाधानो एव उद्धरणो के साथ किया है वैसे अहिंसा का विवेचन भी ग्रन्थ कर्ता की मौलिकता है। "प्रमत्तयोगात् प्राण–व्यपरोपण हिंसा" इसी सूत्र के आधार पर सम्पूर्ण विवेचन है। द्रव्यहिंसा और भाव हिंसा का विवेचन अनेको प्रश्नोत्तरो के साथ किया है प्राणघात होते हुए भी यदि भावो मे विकृति नही है तो वह हिंसा नही कहलायगी और यदि भावो मे विकार है तो चाहे प्राणघात न हो तब भी हिंसा है। इसमे किसान को हिंसा करते हुए भी अहिंसक और धीवर को हिंसा न करते हुए भी हिंसक सिद्ध किया है। गृहस्थ को आरम्भी उद्योगी और विरोधी हिंसा का त्यागी न बता कर सकल्पी हिंसा का त्यागी बताया है और मुनि को सर्वथा अहिंसक सिद्ध किया है। मन्त्र, औषध, देवता, यज्ञ और अतिथियो के लिए भी हिंसा करना वर्जित बताया गया है। इस प्रकरण मे कई आचार्यों के उद्धरण दिये है और सिद्ध किया है कि अहिंसा ही सब धर्मों की जननी है।

जाति तत्व मीमांसा

ग्रन्थ मे जाति तत्व को बडे ही सुन्दर ढंग से समझाया है। सर्वप्रथम यही कहा गया है कि जब तक जाति नाम का मद नष्ट नही होना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही होती जो कि रत्नत्रय की नीव है। एकेन्द्रियादि जाति अथवा मनुष्य पशु इत्यादि जातियो पर ही विशेष बल दिया है। अन्य जातिया धन्धो अथवा पेशो के आधार से ही मानी गई है जो अपना पृथक मूल्य रखती है इसमे ऊच और नीच का प्रश्न ही नही पैदा होता है। जिन शासन मे इस प्रकार के जातिवाद को कोई स्थान नही जहा मानव की मानवता नष्ट की जाती है।

निक्षेप

अर्थों का शब्दो मे और शब्दो का अर्थों मैं आरोप करना निक्षेप कहलाता है इसके आरोप, निक्षेप, न्यास, विन्यास आदि कई नाम है। ग्रन्थ मे इसके चार भेद नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के रूप मे गिनाये गए हैं। इन नामादिको को बडी सुन्दर युक्तियो के साथ उत्तमोत्तम उदाहरण देकर ग्रन्थकर्त्ता ने पाठको के सम्मुख रखा है।

इस प्रकार पडितजी की 'जैनदर्शनसार' दर्शन शास्त्र की अमर कृति है।



७

जैन दर्शन में अवयव–समीक्षा

डा० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य

जैन दर्शन में अनुमान के अवयवो का सर्व प्रथम सकेत हमे आचार्य गृद्धपिच्छ के तत्वार्थसूत्र मे मिलता है। गृद्धपिच्छ ने अनुमान का उल्लेख अनुमान शब्द द्वारा नही किया। न उन्होने अवयवो का निर्देश अवयव रूप मे किया है। पर उसके द्वारा दशवें अध्याय मे मोक्ष के प्रसग से आत्मा के उर्ध्वगमन का प्रतिपादन प्रतिज्ञा हेतु और दृष्टान्त के प्रदर्शनपूर्वक किया है। उन्होने मुक्त जीव के उर्ध्वगमन की सिद्धि तर्क पुरस्सर करते हुए निम्न प्रकार लिखा है—

१ तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्

२ पूर्वप्रयोगादसगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागति परिणामाच्च।

३ आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालवूव देरण्डवीजवदग्निशिखावच्च।

इन सूत्रो मे ऊर्ध्वगमग रूप प्रतिज्ञा (पक्ष), उसे सिद्ध करने वाले चार हेतु तथा इन चार हेतुओ की सम्पुष्टि के लिये प्रयुक्त चार दृष्टान्त प्राप्त होते है। इससे इतना स्पष्ट है कि आचार्य गृद्धपिच्छ ने यहा अनुमान के प्रतिज्ञा. हेतु और उदाहरण इन तीन अवयवो का सकेत किया है।

हमारे इस कथन को प्रमाणित करने वाला सर्वार्थसिद्धि गत इन सूत्रो की व्याख्या है जिसमे व्याख्याकार पूज्यपाद ने बताया है कि हेतु के कथन किये विना उर्ध्वगमन का निश्चय नही हो सकता। तथा पुष्कल हेतुओ का प्रयोग होने पर भी वे दृष्टान्त के समर्थन विना अभिप्रेतार्थ की सिद्धि करने मे असमर्थ है। यथा—

अनुपदिष्टहेतुकमिदमूर्ध्वगमन कथमध्यवसातु शक्यमिति। अत्रोच्यते–आह–हेत्वर्थ पुष्कलोऽपि दृष्टान्तसमर्थनमन्तरेणाभिप्रेतार्थं साधनाय नालमिति, उच्यते। १०।६,७ की उत्थानिका

पूज्यपाद के इस व्याख्यान से स्पष्ट है कि आ० गृद्धपिच्छ को यहा अनुमान के तीन अवयवो द्वारा ऊर्ध्वगमन की सिद्धि करना अभीष्ट है।

गृद्धपिच्छ के बाद स्वामी समन्तभद्र का स्थान आता है। उन्होने भी उक्त अवयवत्रय का नामत उल्लेख किये विना अनुमेयार्थ की सिद्धि प्रतिज्ञा हेतु और दृष्टान्त से की है। किन्तु समन्तभद्र की विशेषता यह है कि उन्होंने अनुमेय–सिद्धि पुष्ट तर्क के आलोक मे की है। आ० गद्धपिच्छ जहा चार-चार हेतु और चार-चार दृष्टान्त उपस्थित कर साध्यकी सिद्धि करते है वहा आ० समन्तभद्र एक पुष्ट प्रतिज्ञा और उसकी सिद्धि के लिए एक-एक ही पुष्ट हेतु और दृष्टान्त प्रयुक्त करते हुए मिलते है। इसके अतिरिक्त समन्तभद्र ने प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीनो का शब्दत भी प्रयोग किया

है, जो उनके ग्रन्थो मे विकशलित उपलब्ध होते हैं। किन्तु गृद्धपिच्छ ने उनका विशकलित भी प्रयोग नही किया। विकास सिद्धान्त के अनुसार ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

समन्तभद्र ने उक्त अवयवत्रय के प्रदर्शक कुछ उद्धरण उदाहरणार्थ यहा प्रस्तुत है—

(क) सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसस्थितिः॥

(ख) अस्तित्व प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेद विवक्षया॥

जैन न्याय के विकास क्रम मे समन्तभद्र के पश्चात् न्यायावतारकार सिद्धसेन का महत्वपूर्ण योगदान है। सिद्धसेन ने न्यायावतार मे पक्षादि वचन को परार्थानुमान कहकर उसके पक्ष हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवो का स्पष्टतः निर्देश किया है तथा प्रत्येक का स्वरूप विवेचन भी किया है। देखिए का० १४,१७,८१,१६, उत्तरकाल मे प्रतिपाद्यो की दृष्टि से अवयव प्रयोगः।

सिद्धसेन तक जैन चिन्तको ने सामान्यतया तीन अवयवो के प्रयोग की मान्यता को स्वीकार किया है। पर उत्तरकाल मे प्रतिपद्यो को दो वर्गों मे विभक्त कर उनकी अपेक्षा से अवयवो के प्रयोग का कथन किया है। प्रतिपाद्य दो प्रकार के है—(१) व्युत्पन्न और (२) अव्युत्पन्न।

अकलकदेव ने अवयवो की समीक्षा करते हुए पक्ष और हेतु इन दो ही अवयवो का समर्थन किया है। उनका अभिमत है कि कुछ अनुमान ऐसे भी है, जिनमे दृष्टान्त नही मिलता। पर वे उक्त दो अवयवो के सद्भाव से समीचीन माने जाते हैं। अकलंक पक्ष और हेतु की समीक्षा न कर केवल दृष्टान्त की मान्यता का आलोचन करते हुए कहते है कि दृष्टान्त सर्वत्र आवश्यक नही है। सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापि साधनात्। अन्यथा सर्वभावाना प्रसिद्धोऽय क्षणक्षयः॥) न्या०वि०३८। अतः एव अकलंक के विचार से किन्ही प्रतिपादो के लिए या कही पक्ष और हेतु ये दो ही अवयव पर्याप्त है। दृष्टान्त किसी प्रतिपाद्य विशेष अथवा स्थल विशेष की अपेक्षा ग्राह्य है, सर्वत्र नही।

आ० विद्यानन्द ने प्रमाणपरीक्षा और पत्रपरीक्षा मे कुमारनन्दि भट्टारक ने वादन्याय के, जो आज अनुपलब्ध है, कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये है, जिनमे बताया गया है कि परार्थानुमान के अवयवो के प्रयोग की व्यवस्था प्रतिपाद्यो के अनुसार की जानी चाहिए।

जैसा कि विद्यानन्द के उल्लेख से प्रकट है कि अवयव व्यवस्था मे नया मोड़ स्पष्टतया आ० कुमारनन्दि ने उपस्थित किया है। उन्होने अवयवो के प्रयोग को 'प्रयोग परिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधत' कह कर उनका प्रयोग प्रतिपाद्यो के अनुसार बतलाया है।

विद्यानन्द ने अकलक और कुमारनन्दि से प्रकाश पाकर प्रतिज्ञा और हेतु को व्युत्पन्न प्रतिपाद्यो तथा शेष अवयव को अव्युत्पन्नो प्रतिपाद्यो की अपेक्षा प्रतिपादित किया है। 'बोध्यानुरोध मात्रातु शेषावयवदर्शनात्'। पत्रपरीक्षा पृ० ३।

'तत्वार्थश्लोकवार्तिक' मे विद्यानन्द ने तीन प्रकार के बोध्य बतलाये हैं :

१. सन्दिग्ध,
२. विपर्यस्त और
३. अनध्यवसित।

माणिक्यनन्दि ने अपने 'परीक्षामुख' मे बहुत ही स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि 'एतद्द्वयमेवानुमानाग नोदाहरणम्' प० मु० ३।१७।

प्रभाचन्द्र, देवसूरि और हेमचन्द्र इन तीनो जैन विचारको ने माणिक्यनन्दि का पूरा समर्थन किया है। ध्यान रहे इन विद्वानो ने वीतराग कथा (शास्त्र) मे ही दृष्टान्तादि का प्रतिपादन किया है।

पंच शुद्धियां

भद्रबाहु और उनके अनुसर्ता देवसूरि, हेमचंद्र और यशोविजय ने उक्त प्रतिज्ञादि पाच अवयवो के अतिरिक्त उनकी पाच शुद्धिया भी वर्णित की है और इस प्रकार उन्होने अधिक-से-अधिक दश अवयवो का कथन किया है। वे इस प्रकार हैं १—प्रतिज्ञा, २—प्रतिज्ञाशुद्धि, ३—हेतु, ४—हेतु शुद्धि, ५—दृष्टान्त, ६—दृष्टान्तशुद्धि ७—उपसहार, ८—उपसहारशुद्धि, ९—निगमन और १०—निगमन शुद्धि। इन तार्किको का मन्तव्य है कि जिस प्रतिपाद्य को मतिज्ञानादि पाच अवयवो के स्वरूप मे शक हो या उनमे दश—भाषादि दोषो की सम्भावना हो तो उस प्रतिपाद्य को उनके परिहार के लिए उक्त प्रतिज्ञा शुद्धि आदि पाच शुद्धियो का भी प्रयोग किया जाना चाहिये। उल्लेखनीय है कि भद्रबाहु ने एक अन्य प्रकार से भी दशावयवो का निरूपण किया है। उनके नाम हैं—१—प्रतिज्ञा, २—प्रतिज्ञाविभक्ति, ३—हेतु, ४—हेतुविभक्ति ५—विपक्ष, ६—विपक्ष प्रतिषेध, ७—दृष्टान्त ८—आशका, ९—आशका प्रतिषेध और १०—निगमन। पर इन दश अवयवो का देवसूरि आदि ने अनुगमन नही किया और न उनका उल्लेख किया है।

ध्यान रहे कि ये दोनो दशावयवो की मान्यताएं श्वेताम्बर परम्परा मे स्वीकृत हैं। दिगम्बर परम्परा के तार्किको ने उन्हे प्रश्रय नही दिया। इसके कारण पर विचार करते हुए प० सुखलाल जी सघवी ने लिखा है कि 'इस तफावत का कारण दिगम्बर परम्परा के द्वारा श्वेताम्बर आगम साहित्य का परित्याग जान पडता है'। हमारा अध्ययन है कि दिगम्बर परम्परा के तार्किको ने अपने तर्कग्रन्थो मे न्याय व वैशेषिक परम्पराओ के पचावयवो पर ही चिन्तन किया है, क्योकि वे ही सबसे अधिक लोक प्रसिद्ध, चर्चित और सामान्य थे। यही कारण है कि वात्स्यायन द्वारा समीक्षित और युक्ति दीपिकाकार द्वारा प्रतिपादित जिज्ञासादि दशावयवो की भी उन्होने कोई अनुकूल या प्रतिकूल चर्चा नही की। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार वात्स्यायन ने पाचो अवयवो का प्रयोजन बतलाते हुए हेतु और उदाहरण की परिशुद्धि का जिक्र किया है अर्थात् वात्स्यायन ने निर्दोष हेतु और उदाहरण के प्रयोग द्वारा ही पक्षादि दोष परिहार हो जाने का प्रतिपादन किया है। उसी तरह दिगम्बर जैन तार्किको ने भी पक्षादि दोषो को परिहार साध्याविनाभावी हेतु के प्रयोग और प्रत्यक्षाद्याविरुद्ध पक्ष (साध्य) के प्रयोग द्वारा ही हो जाने से उन्हे स्वीकार नही किया।

तुलनात्मक अवयव-मीमांसा

यहा जैन दर्शन के अवयव विचार के सदर्भ मे जैन दर्शनेतर दर्शनो मे हुए अवयव-विचार को भी प्रस्तुत किया जाता है, जो ज्ञातव्य है।

न्याय और वैशेषिक तार्किको ने पचावयव के प्रतिपादक वचनो को परार्थानुमान स्वीकार किया है। पर ज्ञान को प्रमाण मानने वाले जैन और बौद्ध विचारको ने वचन को उपचार से परार्थानुमान कहा है। उनका अभिमत है कि वक्ता के

---

१ प्रमेय कमलमार्त्तण्ड ३।३७

२ प्र०नं० त० ३।२८।२

३. प्र० मी० २।१।९ पृ० ५२

स्वार्थानुमान के विषय (साध्य और साधन) को कहने वाले वचनो से श्रोता (प्रतिपाद्य) को जो अनुमेयार्थका ज्ञान होता है वह ज्ञानात्मक मुख्य परार्थानुमान है और उसके जनक वक्ता के वचन उसके कारण होने से उपचारत परार्थानुमान हैं।

विचारणीय है कि वक्ता का कितना वचन समूह प्रतिपाद्य के लिए अनुमेय की प्रतिपति मे आवश्यक है ? न्यायसूत्रकार १ और उनके अनुसर्ता वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, जयन्त भट्ट, प्रभति न्याय परम्परा के तार्किको तथा प्रशस्तपाद[२] आदि वैशेषिक विद्वानो का मत है कि प्रतिज्ञा, हेतु, [३] उदाहरण[४], उपनय[५] और निगमन[६] ये पाच वाक्यावयव अनुमेय प्रतिपत्ति मे आवश्यक है। इन मे से एक का भी अभाव रहने पर अनुमान सम्पन्न नही हो सकता और न प्रतिपाद्य को अनुमेय की प्रतिपत्ति हो सकती है[७]।

साख्य विद्वान युक्तिदीपिकाकारने[८] उक्त पचावयवो मे जिज्ञासा, सशय योजन, शंक्य प्राप्ति और सशयव्युदास इन पाच अवयवो को और सम्मिलित करके परार्थानुमान के दशावयवो का कथन किया है। परन्तु माठर ने[९] परार्थानुमान वाक्य के तीन (पक्ष, हेतु और दृष्टान्त) अवयव प्रतिपादित किये है। साख्यो की यही त्रिरवयव मान्यता दार्शनिको द्वारा अधिक मान्य और आलोच्य रही है।

बौद्ध विद्वान दिङनाग के शिष्य शकर स्वामी का[१०] मत है कि पक्ष हेतु और दृष्टान्त द्वारा प्राश्विको को अप्रतीत अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है, अतः उक्त तीन ही साधनावयव है। धर्मकीर्ति[११] इन तीन अवयवो मे से पक्ष को निकाल देते है और हेतु तथा दृष्टान्त इन दो अथवा मात्र हेतु को ही परार्थानुमान वाक्यका अवयव मानते है।

---

४. परार्थं तु तदर्थ परामर्शिवचनाज्जात। तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ।

५. प्रतिज्ञाहेतूदारणोयनयनिगमनान्यवयवा । न्यायसू० १।१।३२

६. अवयवा पुन प्रतिज्ञाऽपदेश निर्शनानुसन्धान प्रत्याम्नाय: । प्रश० भा० पृ० ११४, ३, ४, ५, ६. प्रशस्तपाद ने हेतु के स्थान मे अपदेश, उदाहरण के लिये निदर्शन, उपनय की जगह अनुसन्धान और निगमन के स्थान मे प्रत्याम्नाय नाम दिए हैं। पर अवयवो की पाच सख्या तथा उनके अर्थ मे प्राय. कोई विशेष अन्तर नही है।

७. वात्स्या भाष्य १।१।३९, १. ५३।

८. युक्तिदीपि कार १ की भूमिका तथा का० ६ पृ० ४७—५१

९. पक्षहेतु दृष्टान्ता इति त्र्यवयवम्—माठर (का० ५ की) वृत्ति

१० न्याय प्र० पृ० १,२ (११) प्रमाण वा० १।१२८। हेतुवि० पृ० ५५।

१२. प्रकरण प० पृ० २२०।

मीमासक तार्किक शालिकानाथ[12] नारायण भट्ट[13] और पार्थसारथि ने[14] उक्त तीन (प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त) अवयव वर्णित किये हैं। नारायण भट्ट दृष्टान्त, उपनय और निगमय इस प्रकार से भी तीन अवयव मानते हुए मिलते है।

उपसहार

भारतीय दर्शनो मे इस प्रकार हमे अवयवो की बडी दिलचस्प चर्चा मिलती है। जैन तार्किको के चिन्तन मे जो वैशिष्ठय दिखायी देता है वह यही है कि उन्होने उल्लिखित अवयवो को सबकी अपेक्षा से न मानकर विभिन्न प्रतिपाद्यो की दृष्टि से उन्हे न्यूनाधिक प्रतिपादित किया है। अर्थात् आरम्भ मे प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवो की मान्यता होने पर भी उत्तर काल मे अकलक, कुमारनन्दि, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, देवसूरि, हेमचन्द्र, धर्मभूषण, यशोविजय प्रभृति तार्किकोने प्रतिपाद्यो को दो भागो मे विभक्त कर उनकी दृष्टि से उनका प्रतिपादन किया है। अत्यन्त व्युत्पन्न प्रतिपाद्य के लिए केवल दो और अव्युत्पन्नो मे किसी अव्युत्पन्नने प्रतिपाद्य की अपेक्षा से तीन, किसी अन्य प्रतिपाद्य की दृष्टि से चार और किसी अन्य की अपेक्षा से पाच अवयव प्रतिपादित हैं।



१३. मानमेयो० पृ० ६४।
१४ न्यायरत्ना० पृ० ३६१

अलप थकी फल दे घना, उत्तन पुरुष सुभाय
दूध झरै तृण को चटै, ज्यो गोकुल की गाय ॥
जेता का तेता करे, मध्यम नर सन्मान
घटै बढै नहि रचहू, धरयो कोठरै धान ॥
दीजै जेता ना मिलै, जघनपुरुष की बान।
जैसे फूटे घट धरयो, मिलै अलप पयथान ॥

—बुधजन



परिग्रह-परिमाण व्रत और समाजवाद

पूर्णचन्द्र जैन, एम० ए० शास्त्री

दृश्यमान जगत का प्रत्येक प्राणी कल्पित सुखो की प्राप्ति एव दुःखो की निवृत्ति के लिए ही प्रयत्नशील है। वर्तमान युग भौतिकता का युग है अतएव सभी मनुष्य भौतिक-सुखो को ही अपना प्रेय समझ कर उन्ही सुख साधनो की पूर्ति हेतु प्रशस्त अथवा अप्रशस्त मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। प्रत्येक प्रवृत्तिमूलक आचारवादी तथा सग्रही प्रवृत्तिवाला होने के कारण स्वार्थजन्य शत्रु-मित्रता को ही जन्म देता हैं जो कि मानसिक द्वन्द तथा सामाजिक क्रान्ति जैसी भारी अस्थिरता को ही जन्म देती है।

ससार मे व्यक्तियों की संख्या सीमित है किन्तु उनकी इच्छाए अनन्त एव असीमित है जिन्हे प्राप्त सीमित साधनो के द्वारा सन्तुष्ट नही किया जा सकता। सुख साधनो के प्रति असीमित इच्छाओ का उद्वेलन ही वर्ग संघर्ष एवं विश्वसघर्ष का जन्मदाता है। वर्ग सघर्ष का अभाव तथा विश्वशान्ति को सुरक्षित एवं स्थायी बनाने के लिए वह आवश्यक है कि मनुष्य अपनी इच्छाओ को सीमित करें।

भौतिक जगत की वे वस्तुएं जिन पर व्यक्ति या देश का स्वामित्व होने के कारण वह सर्वसामान्य की अपेक्षा विशेष सम्माननीय एवं प्रभावशाली माना जाता है वे हैं जमीन जायदाद, महल, मकान, वन आदि। यही बाह्य परिकर ही व्यक्ति या देश को स्वार्थी बनाता है क्योकि इस परिकर का सचय बिना किसी मनुष्यो को कष्ट दिये सम्भव नही है। इस कार्य मे प्राणियो तथा मनुष्यो का शोषण अनिवार्य है जो कि वर्ग सघर्ष तथा विश्व सघर्ष का जनक है। समाजवाद तथा साम्यवाद इसी के प्रतिरूप है।

जब जब भी किसी समस्या विशेष ने जन्म लिया, प्रबुद्धमानव ने उसके निराकरण के उपाय अवश्य खोज निकाले। कुशल चिकित्सक जिस प्रकार असाध्य रोग को क्रमशः शमित करने का प्रयास करता है, ठीक उसी प्रकार आचार्य उमास्वामी तथा परवर्ती जैन चिन्तको मे से नीतिशास्त्रकर पं० आशाधर ने मानव-समाज व्यवस्था एव शान्ति को ध्यान मे रख कर व्यक्ति की सचयप्रवृत्ति जैसी बीमारी से छुटकारा पाने के लिए पचाणुव्रत रूपी महौषधी प्रदान की। जिसे इस प्रकार समझा जा सकता है—

(१) मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्रकार से प्राणीमात्र के प्रति अहितकारी कार्य न करना।

(२) स्वार्थ-सिद्धि के लिये यथार्थ को अयथार्थ तथा अवास्तविक को वास्तविक रूप प्रदान कर कथन न करना ।

(३) दूसरे देशो तथा व्यक्तियो के स्वत्व को सुरक्षित रखना ।

(४) भौतिक-विषयो (व्यसनो) के प्रति आत्मा की सजगता रखना ।

(५) अनावश्यक वस्तुओ का सग्रह तथा उनके प्रति ममत्व का भाव न रखना ।

स्वर्गीय प० जवाहरलाल नेहरु के द्वारा प्रतिपादित पचशील का सिध्दान्त इसी का दूसरा रूप है ।

इन उपरोक्त पाच अणुव्रतो का अनुसरण एव अनुकरण ही सम्पूर्ण विश्व मे एक आदर्श समाजवाद की स्थापना कर सकता है । अन्य कोई भी शक्ति चाहे वह मजदूर क्रान्ति अथवा पू जीवादी सघर्ष के रूप मे हो समाजवाद या साम्यवाद स्थापित नही कर सकती ।

परिग्रह-परिमाण-व्रत तथा समाजवाद के स्पष्टीकरण के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि व्रत क्या है तथा उसके पूर्व परिग्रह परिणाम जैसा विशेषण जोडने का क्या महत्व है ? जैसा कि ऊपर कहा है कि विश्व मे समाजवाद की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ को सीमित बनाये तथा आचरण को प्रशस्त करे ।

व्रत की परिभाषा

व्रत की परिभाषा करते हुए समाजशास्त्रकार प० आशाधर ने लिखा है कि "जीवनोपयोगी भौतिक" वस्तुओ के प्रति सकल्पपूर्वक नियम करना अर्थात् हिंसादि पाच पापो या सामाजिक अपराधो तथा परोपकारादि शुभ कार्यों मे प्रवृत्ति को ही व्रत कहते हैं ।[1] अर्थात् विषयाभिलाषाओ का स्वेच्छया नियमन करना ही व्रत है । जब कि इच्छाओ का नियम किसी व्यक्ति का परिस्थिति द्वारा किराया जाय तब वह व्रत न होकर 'दण्ड हो जायेगा । यथा भिखारी का भूखा रहना तथा कैदी का जेल मे रहना उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति के विपरीत है एव पराधीनता के कारण व्रत नही है ।

मनुष्यमात्र मे भोगविलास एव भौतिक सुखो की प्राप्ति की इच्छा सहज स्वाभाविक है किन्तु ससार मे इच्छाओ एव साधनो की असमानता है । कुछ ऐसे व्यक्ति है जिनके पास अपनी इच्छाओ को तृप्त करने के पर्याप्त साधन है, कुछ ऐसे हैं जिनके पास इच्छापूर्ति के साधन सीमित तथा इच्छायें असीमित हैं । कुछ ऐसे ऐसी भी व्यक्ति हैं जिनकी इच्छाये असीमित तथ, पूर्ति के साधनो का नितान्त अभाव है । ऐसी अवस्था मे यह आवश्यक है कि सर्वमसान्य मे साधनो का समान रूप से वितरण करने के लिए स्वार्थ साधन से परे अपनी इच्छाओ का निग्रह करें । इस तरह स्वेच्छया व्यक्ति की अपनी लालसाओ का नियमन हो जायेगा । इसी इच्छा नियमन को दूसरे शब्दो मे व्रत कहेगे । किन्तु त्याग जैसे भावना का अनुसरण कष्ट साध्य होता है, क्योंकि अच्छे कार्य

---

१. सकल्पपूर्वक सेव्ये, नियमो शुभ कर्मण । निवृत्ति वा व्रत स्याद्वा, प्रवृत्ति शुभकर्मणि ॥८०।२ सागार धर्मामृत ।

प्राय प्रयत्न साध्य है जब कि असद्कार्य सहज एव आकर्षक होते हैं।

असद् कार्यों मे प्रवृत्ति सदैव विध्वसात्मक होती हैं। अत समाज मे एकरूपता लाने के लिए व्रतो की उपायदेयता स्वय सिद्ध है। व्यक्ति समाज की एक इकाई हैं। अनेक व्यक्तियो के मेल मे समाज का निर्माण होता है। जिस समाज मे जिस स्तर के व्यक्ति को समाज को उन्नत रूप प्रदान करने के लिए अपने कर्तव्य के अनुरूप सदाशयी एव नैतिक-गुणो का धारक होना चाहिए। समाज की सुव्यवस्था, शान्ति सौहार्द तथा सृजन के वातावरण के लिए नैतिक मूल्यो के निर्धारण की आवश्यकता है, जिसके फलस्वरूप समाज मे विभिन्न वर्गों के भेद भाव से उत्पन्न होने वाले सघर्ष, अतिसचय की भावना ऊच नीच की भावना, दुराचरण, झूठ-चोरी, हत्यायें तथा अन्त मे युद्ध आदि प्रलयकारी मनोवृत्तियो को रोका जा सकता है, सुधारा जा सकता है क्योकि इन सभी बुराईयो की जड एक-मात्र भौतिकवादी दृष्टिकोण है।

वर्तमान युग मे भौतिक मूल्यो के आधिक्य के कारण सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक वातावरण भी पूर्णत भौतिकता से प्रभावित होता जा रहा है। फलस्वरूप सर्वत्र केवल अर्थ की प्रतिष्ठा तथा नैतिकता की उपेक्षा की जा रही है। 'सर्वे गुणाः काचनमाश्रयन्ति" के अनुसार अर्थ की ही प्रधानता है। प्रत्येक व्यक्ति काले या सफेद माध्यमो से लक्ष्मीपति बनने का प्रयास कर रहा हैं। वर्तमान सभ्य-ससार को अलकृत करने वाले व्यक्तियो की रूपसज्जा, सौन्दर्य प्रसाधन और उनके मनोरजन के साधन उपन्यास, नाटक, नौटकी, सिनेमा, क्लब, भोजन की विविध सामग्री एवं स्थान, शिक्षा, परिधान का ढग तथा इन सबके आधार पर निर्मित समाज का वातावरण मनसा, वाचा, कर्मणा व्यभिचार एव दुराचरण का साधन बन गया है। नैतिकता को ताक मे रखकर युद्ध और शोषण का विश्व व्यापी दौर चल रहा है।

आज के युग मे जीवन की परिभाषायें बदलती जा रही है। आजकल "जीने की अपेक्षा भोग-विलास मे—अनियन्त्रित रूप से सलग्न रहने का नाम ही जीवन है।" तदर्थ धनोपार्जन के लिये नैतिक तथा अनैतिक साधनो का प्रयोग किया जा रहा है। निर्धन—वर्ग अति निर्धन तथा अमीर वर्ग और धनिक बनता जा रहा है। शोषण का बाजार चारो ओर गर्म है। मजदूरवर्ग तथा पूजी पतियो के बीच सघर्ष ही इसका प्रतिफल होगा। विस्तृत क्षेत्र मे इसी के प्रतिरूप उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद एव युद्ध तथा अन्त मे जातीय एव सास्कृतिक परम्पराओ का लोप हो जाता है। युद्ध से नागरिक जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है, सम्पत्ति का विनाश व्यापारियो मे मुनाफा खोरी, चोर बाजारी, अतिसंग्रह तथा घूंसखोरी आदि अनैतिक प्रवृत्तिया जन्म ले रही है। ऐसी अवस्था मे यह नितान्त आवश्यक है कि समूचे विश्व मे पुन नैतिकता के मूल्यो की स्थापना की जाये तथा मनुष्य के भौतिकवादी दृष्टिकोण मे परिवर्तन लाया जाय अन्यथा विज्ञान की बढती हुई विनाशकारी शक्तियो मानव जाति का कभी नाम निशान समाप्त कर सकती है। अतएव मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का ज्ञान करते हुए अपनी लालसाओ को सयमित करना होगा। जिसका एक मात्र माध्यम अणुव्रतो का अनुसरण करना ही है। अणुव्रतो के माध्यम से व्यक्ति के सुधार के बाद समाज तथा विश्वसुधार किया जा सकता है।

अणुव्रत कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र और विश्व के मनुष्यो एव समस्त प्राणियो के प्रति व्यक्ति के व्यवहार की नैतिक गारटी है। क्योकि "मनुष्य के कर्त्तव्यो की व्यवस्थित व्याख्या का नाम ही अणु-

व्रत है।[२] अणुव्रतो के माध्यम से व्यक्ति को नैतिक जीवन को अंगीकार करने की प्रेरणा दी जाती है। अणुव्रतो के द्वारा वर्गविहीन' धनी, निर्धन, भिक्षुक पूंजीपति आदि भेदभाव से रहित सच्चे अर्थों मे समाजवादी समाजव्यवस्था को मूर्त्तरूप दिया जा सकता है।

परिग्रह की परिभाषा—

व्रत की परिभाषा एव उसकी आवश्यकता के कथन के पश्चात् "परिग्रह क्या है" जिसके परिमाण के फलस्वरूप समाजवाद सम्भव हो सकता है, जान लेना आवश्यक है। परिग्रह की परिभाषा विभिन्न चिन्तको ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। आचार्य श्री उमास्वामी ने "मूर्च्छा परिग्रह" अर्थात् भौतिक वस्तुओ के प्रति आसक्ति को ही परिग्रह कहा है[3] परवर्ती चिन्तको ने इसी सूत्र की विस्तृत व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं। पुरुषार्थ–सिद्धियुपाय के अनुसार यद्यपि जीवन की आवश्यकताओ की मूर्ति पदार्थों से होती है फिर भी पदार्थ स्वय मे परिग्रह नही है प्रत्युत उनके प्रति ममत्व भाव ही परिग्रह है। सर्वार्थसिद्धि मे की गई व्याख्या के अनुसार बाह्य गौ, भैंस मणि, मुक्ता आदि चेतन अचेतन पदार्थों के प्रति रागादि भावो का सरक्षण, अर्जन आदि रूप व्यापार को 'मूर्च्छा' कहा है। परिग्रह की उत्पत्ति ममत्व भाव से ही है अतएव उसे परिग्रह कहा है। धन धान्यादि बाह्यपदार्थ ममत्व के आलम्बन एव उद्दीपक होने से उन्हे भी परिग्रह की कोटि मे रखा है। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार "अपनी जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओ के अनुरूप वस्तुओ से अतिरिक्त वस्तुओ का सग्रह को परिग्रह कहा है"[५] आचार शास्त्रकार प० आशाधर के अनुसार "यह वस्तु मेरी है इस प्रकार के सकल्प का नाम ही परिग्रह है"[६] आगे परिग्रह को दो भागो मे विभक्त करते हुए लिखा है कि मिथ्यात्व, क्रोध मान, माया लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, स्त्रीवेद और पुवेद और तथा नपुंसकवेद इस प्रकार चौदह प्रकार का अन्तरग परिग्रह तथा बाह्य-परिग्रह भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति को कहा है। इसके प्रति इच्छाओ को सयमित करना चूकि युगपत् सम्भव नही होता अतएव देश, काल जाति, पदवी तथा अवस्था के अनुरूप क्रमश वस्तुओ के प्रति आसक्ति का कम करने का विधान भी किया है।[७] आचार्य उमास्वामी ने बाह्य परिग्रह की चर्चा करते हुए क्षेत्र, वस्तु, हिरण्य सुवर्ण, धन, धान्यादि को परिग्रह कहा है।[८]

---

२. विपरित स्थूलबधादे–र्मनवचोऽङ्ग, कृतकारितानुमतै
क्वचिदपरेऽप्यननुमते पचाहिंसाणुव्रतानि ।।५।४।

३. तत्वार्थसूत्र अा ७।१७ सूत्र।

४. श्लोक सख्या १११ मे १२१ तक पुरूषार्थ०।

५ घनधान्यादि ग्रन्थ परिमाय ततोऽधिकेपु निस्पृहता,
परिमिति परिग्रह स्यादिच्छा परिमाणनामापि ।।

६. ममेदमिति सकल्पश्चिदचिन्मिश्रवस्तुसु, ग्रन्यस्तत्कर्षनात्तेषाम कर्षनम्
तत्प्रमाव्रतम ।।(६१।। रत्नकरण्ड श्रा०। ५६।४ सा० घ०।।

७ श्लोक सख्या ६०, ६१, ६२। अ० ४ सागा० ध०।

८. क्षेत्रवस्तुहिरण स्वर्णधन धान्यादि दासी दास कुप्य प्रमाणीतिद्रुमा। तत्वार्थसूत्र–७।२६

परिग्रह के दोष

जैसा कि पहले कह चुके हैं कि परिग्रह ही अनन्त अनर्थों का मूल है। व्यष्टिगत, समष्टिगत, देशगत अथवा विश्वव्यापी जिन्होने सघर्ष हुए हैं वे सभी अतिसग्रह, ममत्व भाव तथा दुराग्रहवादिता के कारण ही हुए हैं। प्रसिद्ध नीतिशास्त्रकार आशाधर ने परिग्रह जन्य दोपो को इस प्रकार स्पष्ट किया है जिस प्रकार रात्रि मे अन्धकार बढता है वैसे ही मानव-समाज मे परिग्रही व्यक्ति के प्रति अविश्वास बढता है। अग्नि को बढाने के लिए जिस प्रकार घी सहायक होता है उसी प्रकार पदार्थों के प्रति मोह या तृष्णा को प्रज्वलित करने लिए परिग्रह सहयोगी होता है तथा व्यक्ति के मानस सागर मे इच्छाओ के ज्वार आने लगते है।

परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार

परिग्रह की सूक्ष्म एव स्पष्ट विवेचना करते हुए गृहस्थ धर्म शास्त्रकार आशाधर ने कहा—

वास्तु क्षेत्रे योगात् धनधान्ये बन्धनात् कनकरूप्ये।
दानात् कुप्ये भावान्न गवादौ गर्भतो मितिमतीयात्॥
सा धर्मामृत ६४। ४

अर्थात् १—वास्तु क्षेत्र योग, २—धन धान्य बन्धन, ३—कनकरूप्यदान ४—कुप्यभाव तथा ५—गवादिगर्भ के विषय मे निर्धारित मर्यादा का उल्लघन करना परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार नामक दोष होने से नैतिक अपराध है।

१. क्षेत्र वास्तुयोगातिचार

वास्तु अर्थात् घर, ग्राम, नगर या देश की मर्यादा का उल्लघ न करना। यथा घर की मर्यादा लम्बाई, चौडाई तथा संख्या सीमित होने पर उसे दो या तीन मजिला बनवाना अथवा दो मकानों को मिलाकर एक कर लेना। दूसरे देशो की सीमा मे अपने देश की सीमा निर्धारित करना। नगरो और ग्रामो को राजाओ द्वारा अपने राज्य मे मिला लेना।

२ धनधान्य बन्धनातिचार

धन—गणिम, धरिम, मेय और परीक्ष्य के भेद से चार प्रकार का है। व्यक्तिगत तथा व्यापारिक दृष्टिकोण को ध्यान मे रख कर सीमोल्लघन के भय से कभी-कभी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को अपने पास न रख किसी दूसरे के सरक्षण मे रख देता है। व्यापारी अपना माल दूसरे व्यापारी के यहा बन्धक करा देता है। इस तरह वस्तुओ की प्राप्ति के अभाव मे सामान्य जनता को बहुत कष्ट का सामना करना पडता है तथा आवक कम होने से वस्तुओ के मूल्य भी बढ जाते हैं। जीवनोपयोगी वस्तुओ का अतिसंग्रह करना मानवता का हनन करना है।

३. कनकरूप्यदानातिचार

सोना, चादी को सीमाति रोक के भय से दूसरो परिचितो के पास रख देना अथवा छोटे गहनो को बढा लेना या जमीन मे गाड देना आदि।

४ कुप्यभावातिचार

स्वर्ण तथा चादी से भिन्न ताम्बा, पीतल, वाम, लकड़ी मिट्टी आदि तथा इनसे बने हुए उपकरणो का व्यापार या प्रयोग करना तथा सीमातीत होने पर उन्हे दूसरो के पास सुरक्षित रखना।

५. गवादि गर्भातिचार

गाय, भैस आदि के गर्भाधान होने पर सीमा का उल्लंघन होते भी पशुओ को रखना। आचार्य

उमास्वामी ने भी परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचारो को इस प्रकार कहा है—१. क्षेत्र तथा वास्तु का प्रमाणत अतिक्रमण, २. हिरण्य—सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रमण। ३ धन और धान्य के प्रमाण का अतिक्रमण, ४ दासी-दास के प्रमाण का अतिक्रमण, ५ कुप्य के प्रमाण का अतिक्रमण।[3]

इस प्रकार परिग्रह परिमाण व्रत की परिभाषा तथा अतिचारो के विवेचन से स्पष्ट होता है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति परिग्रह परिमाणव्रती बन कर अपने कर्त्तव्य का सही रूप मे पालन करे तो न केवल उसका वरन् समाज, देश तथा विश्व के समस्त मनुष्यो का जीवन शांति एव सुखमय बन सकता है।

विश्व मे प्रचलित समाज सुधार के विभिन्न वादो से परिग्रह परिमाणव्रतवाद कहा तक मेल खाता है तथा कहा तक उनकी तुलना मे उपयोगी सिद्ध होता है, इसका ज्ञान करने के लिए हमे प्रथमत सभी वादो का परिचय अपेक्षित है।

समाजवाद

प्रबुद्धविचारक—कार्ल मार्क्स के अनुसार "समाजवाद एक ऐसा समाज है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार पूर्ण एव स्वतन्त्र विकास का अवसर प्राप्त हो।" मानव इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। उत्पादनो के परिवर्तन के साथ ही समाज मे परिवर्तन होता है। क्योकि सभी सुखसाधनो के प्राप्ति की इच्छा रखते है और उसका समाधान सघर्ष मे ही होता है। यह संघर्ष–दासो का स्वतन्त्र व्यक्तियो से, साधारण जनता का कुलीन तन्त्रियो से, कृषिदासो का भूमिपतियो से, वेतन भोगियो का श्रेणिपतियो से या पूजीपतियो से होता रहा है। राज्य का आधार चूंकि वर्ग समाज है अतएव समाजवाद को कार्यान्वित करने के लिए वर्ग सघर्ष आवश्यक होगा।

साम्यवाद

साम्यवाद का लक्ष्य भी व्यक्ति मात्र को समाज मे समान रूप से विकास के साधनो की उपलब्धि कराना है। ऊंच नीच तथा अमीर गरीब का भेद भाव रहित समाज के निर्माण की यह कल्पना वर्ग–क्राति एव हिंसा का सहारा लिये बगैर सम्भव नही हो सकती क्योकि इसका उदय सामन्तवाद तथा पूजीवाद के उन्मूलन के लिये ही हुआ। राजनीति के प्रमुख विचारक 'प्लेटो' ने साम्यवाद के दो रूपो मे विभाजित किया है। यथा १–आर्थिक-साम्यवाद तथा २ पारिवारिक साम्यवाद। आर्थिक साम्यवाद के अन्तर्गत (क) सरक्षक वर्ग की अपनी कोई निजी सम्पत्ति नही होती। (ख) व्यक्ति की आवश्यकताओ की पूर्ति राज्य द्वारा की जायेगी। (ग) सैनिक एव शासको का निवास शासन द्वारा निर्धारित स्थानो मे ही होगा। (घ) भोजन सभी का शासकीय भोजनालयो मे ही होगा। चूकि राजनैतिक तथा आर्थिक शक्तियो का गठबन्धन राज्य के जीवन को घातक सिद्ध होता है अतएव इस साम्यवाद के अन्तर्गत दोनो शक्तियो को अलग रखा जायेगा और व्यक्तिगत हित की अपेक्षा समाज या राज्य हित की प्रधानता न होगी।

२ पारिवारिक साम्यवाद

प्लेटो महोदय का कथन है कि "जब व्यक्ति विशेष का अपना निजी परिवार होता है तब वह उसे उत्तरोत्तर समृद्धिशाली बनाने का प्रयास करता

---

६ क्षेत्रवास्तु हिरण्यसुवर्ण धन धान्यादि दासीदासकुप्य प्रमाणातिक्रम ॥२६।७ तत्वार्थ सूत्र

है । अतएव स्वार्थबद्ध दृष्टि होने से ऐसा व्यक्ति साम्यवाद का कभी पोषक नही हो सकता । ऐसे ही भेद–भाव को दूर करने के लिए प्लेटो ने पारिवारिक साम्यवाद को निम्न आधारो पर खडा किया है—

(१) सरक्षक वर्ग की पारिवारिक सस्था की समाप्ति ।

(२) पति–पत्नी के सम्बन्धो का अन्त ।

(३) स्त्री पुरुष का सम्भोग सयोग केवल देश के लिए अच्छी सन्तान प्राप्ति हेतु ।

(४) उत्पन्न बच्चो पर समाज का अधिकार ।

(५) सम्राट् पूर्णत ब्रह्मचारी तथा (६) उत्पादक वर्ग पर किसी प्रकार का बन्धन नही ।

इसी प्रकार के साम्यवाद की कल्पना अप्रायोगिक ही नही हास्यास्पद भी है । क्योकि ऐसा करने से समाज स्वत दो भागो मे विभक्त हो जायेगा और समाज मे भ्रष्टाचार फैल जायेगा । मनुष्य केवल मशीन के एक पुर्जे की तरह ही अस्तित्वहीन हो जायेगा । समाज शास्त्री वीसेज के अनुसार–"परिवार एक आधारभूत एव सार्वभौमिक सस्था है । प्रत्येक समाज का जीवन इसी पर निर्भर है । अतएव इसे समाप्त नही किया जा सकता ।"

रूस, चीन अमेरिका जैसे भौतिकवादी प्रगतिशील देशो मे प्रचलित उपरोक्त वादो से भारतीय प्रवुद्ध विचारक भी अप्रभावित नही रह सके । उन्होने प्राचीन भारतीय नीतिशास्त्रो के परिप्रेक्ष्य तथा सस्कृति क परिवेश मे प्रजातन्त्रात्मक राज्य की कल्पना को मूर्त रूप प्रदान किया । भारतीय सविधान व्यक्ति को अपने बहुमुखी विकास के समान रूप से के अवसर प्रदान किये है । महात्मा गाधी ने भी अपने सर्वोदय सिद्धात के द्वारा व्यक्ति को उसके सर्वांगीण विकास के लिये अपनी एक निजो परिकल्पना प्रदान की है । इसके अन्तर्गत वर्ण तथा वर्गहीन समाज मे ग्रामीण स्वराज्य का आधार अहिंसा एव प्रेम को ही बनाया है ।

परिग्रह–परिमाण व्रत एवं समाजवाद

वर्तमान विश्व मे प्रचलित समाजवाद, व्यक्ति के विकास के प्राचीन मार्ग का ही एक नया रूप है । भारतीय चिन्तको ने अपरिग्रहवाद के रूप मे इसे बहुत पहिले ही प्रतिपादित किया था । जिसके परिणाम स्वरूप ही विश्व मे हुए अपने उतार-चढाव के बाद ही मानव जाति शाति से जी सकी । २५०० वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने "जीओ और जीने दो" का सिद्धात का प्रतिपादन मानव के समान रूप से विकास को ध्यान मे रखकर किया था । आचार्य जिनसेन के अनुसार मनुष्य जाति एकैव जातिकर्मोदयोद्भवा" अर्थात् मनुष्य मात्र मे देश गत, जाति या वर्णगत कोई भेद नही प्रत्युत मानव मात्र की एक ही जाति है । अतएव सभी को अपने विकास के साधन एव अवसर मिलना चाहिये ।

परिग्रहपरिमाण व्रतानुसार पदार्थो के सग्रह की मर्यादा का विधान है । साथ ही अपनी आवश्यकताओ से अधिक सग्रहीत वस्तुओ को उन्हे जिनके पास उनका अभाव है, प्रदान कर देना चाहिये । "अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्" उपरोक्त कथन की पुष्टि करता है । तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति से अधिक सग्रह न करे जिससे समाज के अन्य सदस्यो की आवश्यकतायें भी पूर्ण हो सके । इस तरह साम्यवाद, समाजवाद एव सर्वोदयवाद अपने

सिद्धान्तो के अनुसार अपरिग्रह-वाद के पर्यायवाची शब्द कहे जा सकते हैं।

परिग्रहवादी व्यक्ति लोभी होने से दूसरो को विकास के अधिकारो से वचित करता है तथा उनका शोषण करता है। सामन्तशाही तथा साम्राज्यवादिता इसी के सुविकसित रूप हैं। इनके विस्तार मे ही अनेक सघर्ष जन्म लेते हैं। अतएव जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का सग्रह न कर सग्रहीत वस्तुओ के त्यागने का इच्छुक रहेगा तभी मानवमात्र मे सौहार्द्र एव सहानुभूति तथा सहिष्णुता की भावना जाग्रत होगी। तब सही अर्थों मे विश्वबन्धुत्व की स्थापना होगी।

मनुष्यो मे दो प्रकार आसक्ति अपनी सग्रहीत वस्तुओ के प्रति होती है। १-क्षणिक आसक्ति २-स्थायी आसक्ति। मृग जगल मे क्षणिक आसक्ति के साथ घास का भक्षण करता है। भय की आशका होते ही निर्ममत्व भाव से उसे छोड कर आगे बढ जाता है तथा बाद मे भी उसके प्रति पश्चाताप नही करता किन्तु बिल्ली अपने शिकार चूहे पर इतनी अधिक आसक्त होती है कि प्राणो पर आ बनने पर भी उसे अपनी इच्छा से त्याग नही कर सकती।

दूसरी कोटि के मनुष्य जो कि चमडी की अपेक्षा दमडी का अधिक मूल्य अधिक समझते हैं, ऐसे व्यक्ति ही अपने कर्तव्य को ताक मे रख कर दूसरो का शोषण करने की योजनायें बनाते हैं। परन्तु स्वत उनके ही अन्तकरण से प्रेरणा प्रवाहित होना चाहिये कि जब वे अपने विकास मे किसी की बाधा पसन्द नही करते तब उन्हें दूसरो के बाधक बनने का क्या अधिकार है? अतएव मनुष्य मात्र को अपने लिए मानव समाज का एक सेवक मात्र समझना चाहिए तथा अपने द्वारा उपार्जित धन समाज कल्याण के लिए प्रयोग करना चाहिए। अपनी सग्रहीत सम्पत्ति का समाज को ओर स्वय अपने को उसके सरक्षक समझना चाहिए जिससे उसका दुरुपयोग न हो। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि व्यक्ति विशेष को अपनी सचित प्रतिभा के प्रयोग करने मे अकर्मण्यता नही लाना चाहिए तभी उसकी कमाई मे शुध्दता आयेगी क्योकि "जो व्यक्ति आर्थिकरूप से पवित्र होगा वही पवित्र या सुसस्कृत कहा जायेगा"।[१०]

परिग्रह-परिमाण व्रत का पूर्णतः व्यावहारिक रूप से पालन करने पर प्रत्येक समाज तथा देश परस्पर विश्वबन्धुत्व के सूत्र मे बधेंगे और समाजवाद की कल्पना साकार हो जायेगी। इसमे हिंसा के साधनो का सहारा भी नही लेना पडेगा।

परिग्रह परिमाण-व्रत के सन्दर्भ मे स्वामी कार्तिकेय ने कहा कि जो व्यक्ति अपनी लोभी प्रवृत्ति का हनन कर सतोषरूपी रसायन से संतुष्ट होकर नश्वर भौतिक पदार्थों के प्रति तृष्णा का नाश करता है तथा धन धान्यादि भौतिक वस्तुओ का परहितार्थ परिमाण करता है वही व्यक्ति यथार्थत परिग्रह-परिमाण व्रती या समाजवादी हो सकता है।[११] परिग्रह-परिमाणव्रत मानव समाज

१०. "योऽर्थशुचिः सो शुचि" स्मृतिकार, मनु

११ जो लोहणिहणित्ता सन्तोष रसायणेण सन्तुट्ठो।
णिहणदि तिण्हादुट्ठा मणातो विणस्सर सव्व ॥३३९॥
जो परिमाण कुव्वदि धणधाण सुवण्ण खित्त माईण।
उवयोग जाणित्ता अणुव्वय पचम तस्स ॥३४०॥ कार्तिकेयानुप्रेक्षा।

९

जैन दर्शन में स्याद्वाद सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रमाण ज्ञान का विषय

पं० मूलचन्द जैन शास्त्री

जैन दर्शन या आर्हत दर्शन मे सामान्य रूप से यावत् सत् को परिणामी नित्य माना गया है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण वाला सत्[1] होता है, प्रत्येक सत् अनन्त धर्म विशिष्ट कहा गया है। इस अनन्त धर्म विशिष्ट सत् का यथार्थ रूप मे प्रतिपादन करने वाला या एक धर्म मुखेन उस सत् रूप पदार्थ मे रहे हुए अनन्त धर्मों को एक साथ विषय करने वाला प्रमाण है—प्रमाण वह स्फार प्रकाश वाला दीपक है कि जिससे पूर्ण प्रकाशित हुई वस्तु का कोई भी अंश अज्ञान नही रह पाता है। यद्यपि जैन दार्शनिको ने पदार्थ के मौलिक रूप को जानने के लिये दो साधनो का उपदेश[2] दिया है, परन्तु उनमे से प्रथम साधन द्वारा ही ऐसा है जो स्याद्वाद सिद्धान्त की शिखर पर पूर्णकलश की तरह

१. "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"-तत्वा० सू० अ० ५

२ "प्रमाण नयैरधिगम" तत्वा० सू० अ० १

शेष पृष्ठ १४० का

के लिए जैन सस्कृति की देन है। प्रत्येक जैन व्यक्ति अनासक्तभाव से सम्पत्ति का सचय करता है तथा समय आने पर वर्णगत एव धर्मगत भेद भावो को भूल कर मानवता की रक्षा के लिए सर्वस्व समर्पित कर देता है। चक्रवर्ती भरत तथा राजर्षि जनक ऐसे ही परिग्रह-प्रमाणव्रती थे जिहोने अपार सम्पत्ति के बीच रहते हुए भी उससे अशमात्र भी ममत्व नही रखा। प्रत्येक जैन गृहस्थ देवदर्शन के साथ ही अपनी ली गई मर्यादा का स्मरण तथा अनुसरण करने की प्रतिज्ञा करता हैं साथ ही अधिक वस्तुओ को नि सकोच दूसरो को प्रदान करता है। उसकी यह भावना सच्चे समाजवादी होने को प्रमाणित करती है।

> क्षेम सर्वप्रजानां प्रभवतु वलवान-धार्मिको भूमिपाल·
> काले काले च सम्यक वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ॥
> दुर्भिक्ष चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्ममूज्जीवलोके।
> जैनेन्द्र धर्मचक्र प्रभवतु सततं सर्वसौख्य प्रदायी ॥



रह कर उसकी शोभा मे चार-चाद लगा देता है। इसलिये "सकलादेश प्रमाणाधीनः" ऐसा कह कर जैन दार्शनिको ने प्रमाण का अभिनन्दन किया है। प्रमाण वस्तु को अखण्ड रूप से ग्रहण करता है। इसके द्वारा अपने अक मे बैठायी हुई वस्तु के किसी भी धर्म मे ऐसी पक्षपातमय स्थिति उत्पन्न नही की जाती है कि यही धर्म हमे प्यारा है और इसका यह धर्म हमे इस समय प्यारा नही है। इसकी दृष्टि मे सभी धर्मो का वस्तु के उपर युगपत् अखण्ड साम्राज्य रहता है। जिस प्रकार अहमिन्द्रो मे कोई किसी की दृष्टि मे हीन-या उच्च नही होता प्रत्युत सबका एकसा आधिपत्य होता है उसी प्रकार प्रमाण की दृष्टि मे भी वस्तुगत समस्त धर्मो मे मुख्य गौण की स्थिति नही होती। सभी धर्मो का वस्तु के ऊपर एक सा अधिपत्य होता है।

यह प्रमाण वाक्य किसी एक धर्म के ग्रहण द्वारा समस्त पदार्थगत धर्मो को युगपत् किस पद्धति से अपना विषय बनाता है इसे स्पष्टरूप से समझाने के लिये शास्त्रकारो ने काल, आत्मभूत, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, ससर्ग और शब्द "इन आठ द्वारो का-प्रकारो का-उपायो का प्रदर्शन किया है। इनके द्वारा उन्होने यह समझाया है कि इन[3] काल आदि की अपेक्षा वस्तु मे अभिन्न रूप से रहने वाले सम्पूर्ण धर्मो मे एव धर्म और धर्मो मे अभेद भाव की प्रधानता रख कर अथवा इन काल आदि की अपेक्षा लेकर भिन्न-भिन्न भी धर्म और धर्मो मे अभेद का उपचार मान कर सम्पूर्ण धर्म और धर्मो का एक ही साथ जो कथन किया जाता है, उस समय यह सकलादेश होता है। इस सकलादेश के प्रभाव से ही कालआदि की अभेद दृष्टि अथवा अभेदोपचार की अपेक्षा वस्तु के समस्त धर्मो का एक साथ ज्ञान होता है। वस्तु गत धर्म उसके गुण होते है। इसीलिये गुणो के समुदाय[4] को द्रव्य कहते है। गुणो को छोड कर द्रव्य कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही माना गया।

द्रव्य का कथन गुणवाचक शब्द के माध्यम से ही होना है इसलिये अस्तित्व आदि अनेक गुणो के समुदाय रूप द्रव्य का, निरशरूप पूर्णरूप से अभेदवृत्ति (द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा समस्त धर्म अभिन्न हैं और अभेदोपचार (पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा समस्त धर्मो मे भिन्नता है फिर भी उनमे एकता का आरोप किया जाता है) को लेकर एक गुण के कहने द्वारा ही कथन हो जाता है, यही सकलादेश है और यही प्रमाण का प्रमेय है।

जब "स्याज्जीवादिवस्तु सदेव" जीवादिक वस्तुए कथ चित् किसी अपेक्षा-सत् ही है। ऐसा कहा जाता है तो इस प्रकार के कथन मे यद्यपि जीव के एक अस्तित्व गुण का ही कथन किया गया है अन्य उस के उसमे रहे हुए और अनन्त गुणो का नही। पर इस कथन को सकलादेश-वस्तुगत अनन्त धर्मो का कहने वाला इसलिये माना जायगा कि वक्ता का अभिप्राय यहा काल आदि आठ प्रकार के माध्यम से उस एक प्रतिपादित हुए अस्तित्व

---

३ "कलादिभिरभेदेनाभेदोपचारेण च द्रव्यार्पितेन सकलस्यवस्तुन कथनादिति ब्रूम" अप्टसहस्नी
"कालात्मरूपसबधा ससर्गोपक्रिये तथा ।। गुणिदेशार्थ शब्दाश्चेत्यष्टौ कालादय स्मृता"

४. "तस्मादुणसमुदायो द्रव्य स्यात् पूर्व सूरिभि प्रोक्तम्" पचाध्यायी।

गुण के साथ वस्तु मे रहे हुए अन्य अविवक्षित-नास्तित्व-अवक्तव्य आदि अनेक गुणो की अभेद-वृत्ति एव अभेद का उपचार लेकर परस्पर मे अभिन्नता की ओर है। तात्पर्य इसका इस प्रकार है—जीवादिक वस्तुओ मे जिस समय अस्तित्व गुण वर्तमान है उसी समय उसमे और भी अनन्त गुण मौजूद है। ऐसा तो है नही कि जिस समय अस्तित्व गुण मौजूद हो उस समय अन्य अशेष-गुण उनमे मौजूद न हो। जब पुत्र ऐसा कहता है कि "यह मेरा पिता है" तो पितृत्व धर्म की उपस्थिति मे और जो पतित्व भागिनेयत्व, पितृव्यत्व, आदि धर्म हैं वे भी उनमे उस समय रहे हुए हैं। नय की दृष्टि मे ही वस्तुगत अन्य अविवक्षित धर्म गौणता की कोटि मे प्रक्षिप्त हो जाते हैं और प्रमाण की दृष्टि मे ये ही सब धर्म एक गुण के प्रतिपादन द्वारा सबके सब उसी समय ग्रहीत कर लिये जाते है।[५] इस तरह काल की अपेक्षा लेकर एक विवक्षित हुए धर्म के साथ अन्य अविवक्षिति धर्मों की अभेदवृत्ति[६] बन जाती है। अस्तित्व गुण जिस प्रकार जीव का स्वभाव है उसी प्रकार और भी शेष धर्म उसके स्वभावरूप है। आत्म स्वरूप है, यह आत्मरूप की अपेक्षा से उस विवक्षित धर्म के साथ अन्य अविवक्षित गुणो की अभेदवृत्ति है। जिस प्रकार जीवादिक वस्तुए विवक्षित हुए अस्तित्व धर्म की आधारभूत है, उसी प्रकार वे और भी धर्मो की जो उसमे रहे हुए है आधारभूत है। इस तरह यह आधार को लेकर उस अस्तित्व के साथ अन्य धर्मों की अभेदवृत्ति है। जीवादि द्रुतधर्मों को ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार सातो मे से एक किसी-किसी धर्म की मुख्यता से समान धर्मों के ग्रहण करने मे प्रमाण सप्त भगी घटित हो जाती है। शंका—भग सात ही होते है इसका कारण क्या है ?

उत्तर—जानने वाले के प्रश्न सात होते है

प्रश्न—सात प्रकार के प्रश्न होने मे कारण क्या है ?

उत्तर—सात प्रकार की जिज्ञासा।

प्रश्न—सात प्रकार की जिज्ञासा क्यो होती है ?

उत्तर—क्योकि सात प्रकार के सशय होते हैं।

प्रश्न —सात ही प्रकार के संशय होने मे क्या कारण है ?

उत्तर—सात प्रकार के संशय होने का कारण उसके विषयभूत सात प्रकार के वस्तुधर्मों का होना है।

---

५ "प्रमाणप्रतिपन्नानत धर्मात्मक वस्तुन. कालादिभिरभेदवृत्ति-प्रधान्यादभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वच सकलादेश स्याद्वादरत्नाकार-स्याद्वादमजरी।

६ "तत्र स्याज्जीवादिवस्तु अस्त्येव इत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्काला शेषा अन्तधर्मो वस्तुन्येक त्रेति तेषां कालेनाभेद वृति । यदेवास्तित्वस्य तदुगत्वमात्मरूप तदेवान्यायनन्त गुणानामपीति आत्मरूपेणा-भेदवृति, य एवाधाराऽर्थो द्रव्याख्यो ऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्योणामित्यर्थेनाभेदवृति, य एवाविष्वग्भाव. कथचित् तादात्म्यलक्षणः सबधो ऽस्तित्वस्य स एव शेष विशेषाणामिति सबधेना भेदवृति, य एव चोपकरो ऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरणं स एव शेषैरपि गुणौरित्युपकारेणाभेदवृति, य एवगुणिन संबधी देश. क्षेत्र लक्षणो ऽस्तित्वस्य स एवान्य गुणानामिति गुणि देशेनाभेद वृतिः इत्यादि–स्याद्वाद मंजरी पृ० २८४।

सात प्रकार के वस्तुधर्म इस प्रकार से हैं
(१) कथंचित् सत्व
(२) कथंचित् असत्त्व
(३) कथचित् क्रमार्पित सत्त्वासत्त्व,
(४) कथचित् सहार्पित अवक्तव्येध्
(५) कथचित् सत्त्वविशिष्ट अवक्तव्य
(६) कथचित् असत्त्व विशिष्ट अवक्तव्य
(७) कथचित् क्रमार्पित उभय विशिष्ट अवक्तव्य

इन सात प्रकार के वस्तुगत धर्मों को लेकर सात प्रकार का जो सशय उद्भूत होता है वह इस प्रकार से होता है कितन के वादियो की ऐसी धारणा है कि वहा सत्त्व धर्म होगा वहा असत्व कैसे रह सकता है। इस तरह की मान्यता मे तो न सत्व धर्म के ही रहने का निर्णय हो सकता है। और न असत्व धर्म के हीर हने का निर्णय हो सकता है। अत इनके एकत्र मिलकर रहने मे सशय का होना स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार से आगे के भगो मे– धर्मों मे– समझ लेना चाहिये। अत इन सात प्रकार के सशयो को दूर करने के लिये सात प्रकार के वचन प्रयोग रूप सात भग होते है। इन भगो द्वारा अमुक-अमुक अपेक्षा लेकर उन उन धर्मों का जीवादिवस्तुओ मे सस्थापन किया जाता है।

नयज्ञान का विषय ·

प्रमाण वस्तु को पूर्णरूप से ग्रहण करता है और नय प्रमाण ग्रहीत पदाथ के एक धर्म को अपना विषय बनाता है। जैनाचार्यों ने नय के सम्बन्ध मे उनके भेद प्रभेदो की प्ररूपणा करके उसके विषय क्षेत्र को विशेष रूप से स्पष्ट किया है। ससार का जितना भी व्यवहार चलता है, वह इसी नय वाद के आधीन है। सुनय और दुर्नय रूप मे इस पूर्ण-नयवाद को विभक्त किया गया है। जो नय किसी एक धर्म का किसी विवक्षा वश उसे प्रधान करके कथन करता है और वस्तु गत अन्य धर्मो का खण्डन नही करता है वह सुनय है और इससे विपरीत जो नय है वह दुर्नय है। दुर्नय का दूसरा नाम नयाभास भी है।

सुनय और दुर्नय मे भी "और' ही का अन्तर है। जब वक्ता का अभिप्राय किसी एक धर्म को वस्तु मे ही लगाकर प्रकट करता है––उसका कथन करता है जैसे यह पिता ही है तो ऐसा वह अभिप्राय दुर्नय की कोटि मे आ जाता है। और जब ऐसा कहा जाता है कि यह पिता भी है तो इस कथन को सुनय का स्थान दिया जाता है दुर्नय अन्य धम का निराकरण कर अपने मंतव्य को ही पुष्ट करता है और सुनय अपने मन्तव्य का पोषण करता हुआ भी उस वस्तुगत अन्य धर्मों का निराकरण नही करता है। इसी बात को "अर्पितानर्पित सिद्धे." इस सूत्र द्वारा सूत्रकार उमास्वामी ने स्पष्ट किया है। मुख्य गौण रूप से प्रत्येक धर्म की स्थापना वस्तु मे नय ही करता है प्रमाण ज्ञान नही।

शका छद्मस्थ जीवो के ज्ञान वस्तु को पूर्ण रूप से नही जान पाते अत प्रमाण ज्ञान से वे उसके पूर्ण रूप को कैसे जान पायेगे। यदि जान लेते हैं तो उन्हे सवज्ञ की उपाधि से विभूषित कर देना चाहिये।

उत्तर प्रमाण ज्ञान से समग्र वस्तुगत धर्मों को जानने का अभिप्राय ऐसा है कि जितना भी उन्होन जाना है यदि उनकी दृष्टि समग्र को ग्रहण करने की है तो वह दृष्टि प्रमाण ज्ञान है और यदि वस्तुगत एक धर्म

को ग्रहण करने की ओर है तो वह दृष्टि अंशग्राहीनय रूप है।

शका प्रमाण सप्तभगी मे और नय सप्तभगी मे जो स्यात् शब्द का प्रयोग होता है सो नयसप्त भगी मे तो यह उचित है क्योकि वहा यह शब्द प्रतिपादित हुए उस धर्म की मुख्यता बतलाता है और शेष अविवक्षित धर्मों की गौणता। प्रमाण सप्त भगी मे तो यह बात नही। क्योकि विवक्षित एक धर्म के द्वारा अन्य अविवक्षित हुए धर्म गृहीत ही हो जाते हैं हैं अत. इसका प्रयोग यहा निरर्थक ही प्रतीत होता है क्योकि यहा किसी भी धर्म की मुख्यगौण विवक्षा नही है।

उत्तर · पहिले हमे यह समझ लेना चाहिये कि वाक्य के साथ जोडा गया यह "स्यात्" किस अर्थ का कथन करने वाला है—स्यात् शब्द अव्यय–निपात–रूप है और यह किसी अपेक्षा, कोई एक दृष्टि, कोई एक धर्म की विवक्षा इस अर्थ का द्योतक या कथक है। यह शायद, भ्रमवाद, अनिश्चयवाद, सम्भ–ववाद आदि का कथक नही है। 'स्यात्' शब्द से यह ज्ञान हो जाता है कि वस्तु केवल उस विवक्षित धर्म वाली ही नही है किन्तु इससे अतिरिक्त और भी धर्म इसमे विद्यमान है। परन्तु वर्तमान मे इस धर्म की विवक्षावश मुख्यता हो रही है। एतावता अन्य अशेष विद्यमान धर्मों का इसमे अभाव नही है। विवक्षित धर्म यदि यह समझता हो कि मैं ही इस समय इस वस्तु मे मुख्य रूप से विवक्षित हुआ हू। अत मेरा ही सर्वदा इस पर एकच्छत्र राज्य रहेगा सो "स्यात्" शब्द उसकी इस सर्वहरा प्रवृत्ति को चुनौती देता है कि यह तेरा मन्तव्य क्षणिक है क्योकि यहा तो अन्य अनन्त धर्मों का भी साम्राज्य है। मैं इसी बात को द्योतित करने या कहने के लिये बैठा हुआ हू। मेरा सम्बन्ध विवक्षित धर्म से नहीं है। क्योकि उसका उल्लेख तो उस वस्तु मे उस प्रयुक्त शब्द के द्वारा हो ही रहा है। मेरा सबन्ध तो इस वस्तु मे अविव–क्षित अन्य अशेष धर्मों से है। जब अन्य धर्म की विवक्षा होगी तब तुम अविवक्षित की कोटि मे पहुचा दिये जाओगे। इस तरह यह 'स्यात्' शब्द विवक्षित धर्म की सर्व–हरा प्रवृति को शमित करता है और वस्तु पर सर्वदा के उसके एकाधिपत्य को निय-मित करता है।

शका यह स्यात् शब्द अनेकान्त का द्योतक या वाचक है सो इसका क्या ह्रद्य है ?

उत्तर जिस प्रकार अधकार मे स्थित घटादिक पदार्थों का दीपक प्रकाशक होता है उसी प्रकार यह शब्द अस्ति आदि पदो द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त का द्योतक-प्रकाशक होता है यह कहता है कि वस्तु मे अनेका-न्तात्मकता स्वाभाविक है। अप्राकृतिक नही। घटादि रूप वस्तु का परिवार बहुत बडा है। वह इतना ही नही है कि जितना वह विवक्षित शब्द द्वारा प्रकट किया जा रहा है।

वाचक पक्ष . जब "स्यात्" शब्द अनेकान्त का कथन परक होता हैं यह विवक्षित धर्म का कथन करता हुआ अविवक्षित धर्मों की रक्षा करता है।

शंका : जब स्यात् शब्दार्थ कथचित् शब्द सदादि पदो द्वारा कथित अर्थ का द्योतन ही कर देता है तो फिर वाक्य मे इसके प्रयोग की

आवश्यकता ही क्या है। इससे तो उल्टा वाक्य मे पुनरुक्ति दोष का ही सद्भाव प्रकट होता है। इसी तरह जब यह अनेकान्त का कथक होता है तो फिर वाक्य मे सदादि पदो के प्रयोग की भी क्या जरूरत है। क्योकि इसी से सदादि-पदो द्वारा वाच्यार्थ का प्रतिपादन हो ही जाता है।

उत्तर शंका यद्यपि ठीक है। परन्तु इस विचार से वह वाक्य मे प्रयुक्त न किया जाय तो मिथ्यैकान्त की शका का व्यवच्छेद नही हो सकता। अत उसके-व्यवच्छेद निराकरण के लिए उसका प्रयोग किया जाता है। प्रमाण वाक्य मे यदि प्रतिपात्त स्याद्वादशैली से अभिज्ञ है-अपरिचित है तो उसकी अपेक्षा उस वाक्य मे स्यातपद के प्रयोग की कोई विशेष जरूरत भी नही हैं। यह द्योतक पक्ष के सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण है।

वाचक पक्ष में स्पष्टीकरण इस प्रकार से है

यद्यपि स्यातपद के प्रयोग से अनेकान्त का बोध हो जाता है परन्तु वह बोध सामान्यरूप से ही होता है। विशेष रूप से नही। अत विशेष रूप से विशेष अर्थ का बोध कराने के लिए सदादिक पदो का ही उच्चारण करना पडेगा। सामान्य शब्द की शक्ति तो सामान्य का ही बोध कराने वाली होगी। विशेष नहीं। इसलिए विशेष के बोधार्थ विशेष सदादिक पदो के प्रयोग की आवश्यकता होगी ही जैसे "वृक्षो न्यग्रोध" यहा पर सामान्य के अन्तर्गत होने पर भी विशेष रूप से न्यग्रोधका बोध कराने के लिऐ "न्यग्रोध" पद का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग होता है। नयज्ञान समुद्र बिन्दु की तरह प्रमाणैक-देश कहा गया है। जिस प्रकार समुद्र की बिन्दु न समुद्र कही जाती है और न असमुद्र ही किन्तु वह समुद्र का एक देश कहलाती हैं। इसी प्रकार नयज्ञान भी प्रमाणैक देश कहा गया है। नय सक्षेप मे शब्दनय अर्थनय और ज्ञानमय इस प्रकार से तीन और विशेष रूप से नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजु, सूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत ये सात कहे गये हैं। इनका विशेष वर्णन जैन ग्रन्थो से जाना जा सकता है।



१०

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों की द्रष्टि में भेद-विज्ञान

□डा० (श्रीमती) पुष्पलता जैन, नागपुर

स्व-पर का विवेक भेद विज्ञान कहलाता है। उसका प्रकाश आदि काल से लगे हुए जीव के कर्म और मोह के नष्ट हो जोने पर होता है। सम्यक् दृष्टि ही भेद-विज्ञानी होता है। उसे भेद-विज्ञान सासारिक पदार्थों से ऐसे पृथक् कर देता है जैसे अग्नि स्वर्ण कटिट्का आदि से भिन्न कर देती हैं।[१] रूपचन्द इसी को सुप्रभात कहते हैं– "प्रभु मो को सुप्रभात भयो"। वह मिथ्या भ्रम, मोह, निद्रा, क्रोधादिक कषाय, कामविकार आदि नष्ट होने पर प्राप्त होता है। यही मोक्ष का कारण है।[२]

भेद विज्ञान होने पर चेतन को स्वानुभव होने लगता है। अनयपक्ष के स्थान पर अनेकान्त की किरण प्रस्फुटित हो जाती है, आनन्द कन्द अमन्द मूर्ति मे मन रमण करने लगता है।[3] इसलिए भेदविज्ञान को "हिये की आखे" कहा गया है। जिसके प्राप्त होने पर अमृतरस बरसने लगता है और परमार्थ स्पष्ट दिखाई देने लगता है।[४] जैसे कोई व्यक्ति धोवी के घर जाकर दूसरे के कपडे पहन लेता है और यदि इस बीच उन कपडो का स्वामी आकर कहता है कि ये कपडे मेरे है तो वह मनुष्य अपने वस्त्र का चिन्ह देखकर त्याग बुद्धि करता है, उसी प्रकार यह कर्म सयोगी जीव परिग्रह के ममत्व से विभाव मे रहता है अर्थात् शरीरादि को अपना मानता है। परन्तु भेदविज्ञान होने पर जब स्व-पर का विवेक हो जाता है तो वह रागादि भावो से भिन्न अपने स्व-स्वभाव को ग्रहण करता है।[५]

जिस प्रकार आरा काष्ठ के दो खण्ड कर देता हैं, अथवा जिस प्रकार राजहंस क्षीर-नीर का पृथक-करण कर देता है उसी प्रकार भेद-विज्ञान अपनी भेदक शक्ति जीव और पुद्गल को जुदा जुदा करता

१. नाटक समयसार, जीवद्वार, २३
२. हिन्दी पद सग्रह पृ० ३६
३ वही पृ० ३६–३७
४. वही बनारसीदास, पृ० ५६
५. नाटक समयसार-जीवद्वार ३२

है। पश्चात् यह भेद-विज्ञान उन्नति करते करते अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और परमावधि ज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है और इस रीति से वृद्धि करके पूर्ण स्वरूप का प्रकाश अर्थात् केवलज्ञान स्वरूप हो जाता है जिसमे लोक-अलोक के सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिबिंबित होते है।

जैसे करवत एक काठ बीच खण्ड करै,
जैसे राजहस निरवारै दूध जलकौं।
तैसे भेदग्यान निज भेदक सकति सेती,
भिन्न भिन्न करै चिदानन्द पुदगल कौ ॥[6]

शुद्ध, स्वतन्त्र, एकरूप, निराबाध भेदविज्ञान रूप तीक्ष्ण करौंत अन्त करण मे प्रवेश कर स्वभाव-विभाव और जड-चेतन को पृथक पृथक कर देता है। यह भेद विज्ञान जिनके हृदय मे उत्पन्न होता है उन्हे शरीर आदि पर वस्तु का आश्रय नही सुहाता। वे आत्मानुभव करके ही प्रसन्न होते है और परमात्मा का स्वरूप पहचानते हैं।[7] इसलिए भेद विज्ञान को सवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण माना गया है।[8] भेद-विज्ञान के बिना शुभ-अशुभ की सारी क्रियायें भगवद्भक्ति, बाह्य तप आदि सब कुछ निरर्थक है।[9]

भेद विज्ञानी अपनी ज्ञानशक्ति से द्रव्यकर्म-भावकर्म को नष्ट कर मोहान्धकार को दूर कर केवलज्ञान की ज्योति प्राप्त करता है। कर्म और नोकर्म से न छिप सकने योग्य अनन्त शक्ति प्रगट होती है जिससे वह सीधा मोक्ष प्राप्त करता —

जैसे कोऊ मनुष्य अजान महा बलवान,
खोदि मूल वृच्छ को उखारै गहि बाहू सौं।
तैसे मतिमान दर्वकर्म भावकर्म त्यागि,
रहै अतीत मति ग्यान की दसाहू सो।
यही क्रिया अनुसार मिटै मोह अधकार,
जगै जोति केवल प्रधान सविताहू सौ।
चुकै न सकतीसौ लुकै न पुद्गल माही,
धुकै मोख थलकौ रुकै न फिर काहू सौं ॥[10]

भेद-विज्ञान को ही आत्मोपलब्धि कहा गया है। इसी से चिदानन्द अपने सहज स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। पीताम्बर ने ज्ञानबावनी मे इसी तथ्य को भावात्मक ढग से बहुत स्पष्ट किया है। बनारसीदास ने इसी को काम नाशिनी, पुण्यपापतापहरनी, रामरमणी विवेकसहचरनी, सहजरूपा, जग माता रूप सुमति देवी कहा है।[12]

---

६ वही अजीव द्वार १४ पृ० ६४

७ वही सवरद्वार, ३ पृ० १२३

८ वही सवरद्वार, ६ पृ० १२५

९. वही निर्जरा द्वार ६, पृ० १३५

१० वही, पृ० २१०

११ बनारसीविलास ज्ञान बावनी पृ० ७२-९०

१२. वही, नवदुर्गाविधान, पृ० ७ पृ० १६६-७०

भैय्या भगवतीदास ने "जैसो शिवखेत तेसौ देह मे विराजमान, ऐम लखि सुमति स्वभाव मे प्रगति है।[13] कहकर "ज्ञान बिना बेर बेर क्रिया करी केर फेर, कियो कोऊ कारज न आतम जतन को कहा है।[14] कवि का चेतन जब अनादिकाल से लगे मोहादिक को नष्ट कर अनन्तज्ञान शक्ति को पा जाता है तो कह उठता है :

> "देखो मेरी सखीये आज चेतन घर आवै ।
> काल अनादि फिर्‌यो परवश ही अब निज सुघहि चितावै ।।[15]

भेद विज्ञान रूपी तरुवर जैसे सम्यक्त्व रूपी धरती पर ऊगता है तो उसमे सम्यग्‌दर्शन की मजबूत शाखायें आ जाती है, चरित्र का दल लहलहा जाता है, गुण की मजरी लग जाती है, यश स्वभावतः चारो दिशाओ मे फैल जाता है। दया वत्सलता, सुजनता, आत्मनिन्दा, समता, भक्ति, विराग, धर्मराग, त्याग, धैर्य, हर्ष, प्रवीणता आदि अनेक गुणमंजरी मे गूथे रहते हैं।[16] भूधरदास को भेदविज्ञान हो जाने पर आश्चर्य होता है कि हर आत्मा मे जब अनन्तज्ञानादिक शक्तिया है तो ससारी जीव को यह बात समझ मे क्यो नही आती। इसलिए वे कहते है :

> पानी बिन मीन प्यासी, मोहे रह रह आवै हासी रे ।।[17]

द्यानतराय आत्मा को सबोधते हुए स्वय आत्म रमण की ओर झुक जाते है और उन्हे आत्मविश्वास हो जाता है कि 'अब हम अमर भये न मरेंगे'। भेद विज्ञान के द्वारा उनका स्वपर विवेक जाग्रत हो जाता है और अत्मानुभूतिपूर्वक चिन्तन करते हैं। अब उन्हे धर्म चक्षुओ की भी आवश्यकता नही। अब तो मात्र आत्मा की अनन्त-गुणशक्ति की ओर हमारा ध्यान है। सभी वैभाविक भाव नष्ट हो चुके हैं और आत्मानुभव करके ससार दु ख से छुटे जा रहे हैं

> हम लागे आतमराम सौं ।
> विनाशीक पुद्‌गल की छाया, कौन रमे घन-वाम सौ ।।
> समता सुख घट मे परगास्यो, कौन काज है काम सौ ।
> दुविधाभाव जलाजुलि दीनौं, मेल भयौ निज स्वास सौं ।
> भेद ज्ञान करि निज पर देख्यौ, कौन विलोकै चाम सौ ।।
> उरै परै की बात न भावै, लौ लागी गुण–ग्राम सौं ।।
> विकल्प भाव रक सब भाजें, झरि चेतन अभिराम सौं ।
> 'द्यानत' आतम अनुभव करि कै, छूटे भव-दुख धाम सौ।[18]

कवि छत्रपति ने भी भेदविज्ञान के माहात्म्य का सुन्दर वर्णन किया है।[19] 

---

१३ ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, पृ० ३४
१४ वही, शत अष्टोत्तरी, पृ० ६७
१५ वही, परमार्थ पद पक्ति, १४, पृ० ११४
१६. वही, गुणमजरी, २-६ पृ० १२६
१७. हिन्दी पद सग्रह पृ०
१८. अध्यात्म पदावली ४७, पृ० ३५९
१९. मनमोदन पद ७६, पृ० ३६

जैन धर्म में मूर्ति-पूजा

□श्री नीरज जैन सतना

जैन मान्यता के अनुसार अरहन्त तीर्थंकरो और सिद्ध भगवानो की मूर्तिया स्थापित करने, उनके मन्दिर निर्माण कराने, और उनकी पूजा करने की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। इनके वर्णन मे मनुष्यो द्वारा निर्मित, स्थापित और प्रतिष्ठित अनेक जिन विम्वो और जिनालायो का उल्लेख तो प्राचीन काल से मिलता ही है, असख्यात अकृत्रिम जिन बिम्वो और जिनालयो का भी उल्लेख तिलोयपण्णति और त्रैलोक्यसार आदि ग्रन्थो मे पाया जाता है। ये सभी अनादि-निधन अकृत्रिम रचनायें नन्दीश्वर आदि द्वीपो मे तथा देवो के आवासो मे होने के कारण ऊर्ध्व, मध्य, और पाताल इन तीनो लोको मे पाई जाती है। भरत क्षेत्र मे ऐसी किसी भी अकृत्रिम रचना का उल्लेख नही है।

पौराणिक उल्लेख

जैन धर्म मे मूर्ति पूजा की परम्परा को सिद्ध करने वाले हजारो उल्लेख जैन शास्त्रो मे भरे पडे हैं। इस हुडावसर्पिणी काल मे चौथे काल के प्रारम्भ से ही तीर्थंकरो, कुलकरो, शलाकापुरुषो अन्य अनेक महा पुरुषो के जीवन वृत्त हमारे पुराणो मे गाए गये हैं, जिनमे यथास्थान जिनेन्द्र की बन्दना, पूजा आदि का उल्लेख प्रचुरता से मिलता है। प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरत द्वारा भूत भविष्यत् और वर्तमान काल सम्बन्धी तीन चौबीसी जिन प्रतिमाओ की स्थापना और पूजा का उल्लेख आदि पुराण मे है। भरत ने गृहस्थाश्रम का उपदेश देते हुऐ अनेक अवसरो पर अर्हन्तो और सिद्धो की पूजा का भी उपदेश दिया है।

रविषेणाचार्य के पद्मपुराण मे भी भगवान राम के जीवन चरित्र से सम्वद्ध अनेक स्थलो पर जिनालयो और जिनबिम्वो की चर्चा आती है। बनवास के समय मार्ग मे प्रथम रात्रि विश्राम राम ने एक जिन मन्दिर मे ही किया था। लका मे रावण के महल मे भी भगवान शान्ति-जिनेन्द्र का सुन्दर और भव्य जिनालय था जैसा उल्लेख है। रावण ने बहुरूपिणी विद्या की सिद्धि इसी मन्दिर में बैठ कर की थी और रावण को मार कर भगवान राम ने जब लका मे प्रवेश किया तो इसी मन्दिर मे उन्होने जिन पूजा की थी।

सीता ने पुष्पक विमान से नीचे गिरने का अशुभ स्वप्न देख कर अनिष्ट की शाति के लिये मन्दिरो मे जिनेन्द्र भगवान का पूजन किया। गर्भिणी सीता को जिन मन्दिरो की वन्दना का दोहला उत्पन्न हुआ और राम ने उसकी पूर्ति की। मन्दिरो को सजाया गया और राम ने सीता के साथ उन मन्दिरो के दर्शन किये। प्रजाजनो मे अपवाद प्रचारित होने पर राम ने सीता को बनवास के लिये भेजते समय भी जिन मन्दिरो के दर्शन कराने का ही बहाना लिया था। पद्मपुराण मे

इन घटनाओं का विस्तृत वर्णन आचार्य रविषेण ने किया है ।[1] यह भी उल्लेख आता है कि एक बार हनुमान मेरु पर्वत की वन्दना के लिये अकृत्रिम जिन चैत्यालयो की वन्दना करके जब वे भरत क्षेत्र को वापस लौट रहे थे तब आकाश मे विलीन होती हुई उल्का को देख कर ही वह ससार से विरक्त हुए ।[2] मूर्ति स्थापना और पूजा का महत्व बताते हुए रविषेणाचार्य ने लिखा है—

"जो जिन भगवान की आकृति के अनुरूप जिन बिम्ब बनवाता है, तथा जिनेन्द्र भगवान की पूजा और स्तुति करता है उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नही है" ।[3]

आचार्य रविषेण सातवीं शताब्दी के विद्वान थे । सातवी ही शताब्दी मे रचित एक अन्य ग्रन्थ 'परमात्म प्रकाश' मे कहा गया है कि—

"तूने न तो साधुओ को दान दिया, न जिनेन्द्र भगवान की पूजा की और न पच परमेष्ठी को नमस्कार ही किया, फिर तुझे मोक्ष का लाभ कैसे हो............?[4]

इसी शताब्दी मे रचित जटासिहनंदि के 'वराग चरित' (सर्ग २२) मे जिन पूंजा के महत्व के साथ जिनबिम्बं और जिनालय निर्माण का भी बडा महत्व बताया है । आचार्य अमितगति ने जिनेन्द्र की अ गुष्ठ प्रमाण । वाल का भा अविनाशी लक्ष्मी की प्राप्ति का पात्र कहा है । आचार्य पद्मनंदि ने तो उससे भी आगे बढकर बिल्व पत्र के आकार के मन्दिर मे जौ के दाने के बराबर मूर्ति की शान्तिपूर्वक स्थापना करने वाले को ऐसे पुण्य का पात्र कहा है जिसका वर्णन करने मे सरस्वती भी असमर्थ है ।

श्रीमान् पडित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री सिद्धाताचार्य ने उपासकाध्ययन की प्रस्तावना मे[5] इस विषय का विशद विवेचन करते हुये लिखा है कि "यह सहज रूप मे कहा जा सकता है कि मूर्ति पूजन की परम्परा जैन धर्म मे बहुत पुराने समय से चली आ रही थी, और उत्तर काल मे तो जिन प्रतिमा और जिनालयो का निर्माण बहुतायत से होने लगा । जब भारत पर मुसलमानो के आक्रमण होने लगे और मन्दिर तथा मूर्तिया तोडी जाने लगी तो उसकी प्रतिक्रिया के रूप मे भारत मे मन्दिरो और मूर्तियो के निर्माण पर पहिले से ही अधिक जोर दिया जाने लगा । ग्यारहवी शताब्दी के बाद का युग तो इन प्रवृत्तियो के चरमोत्कर्ष का युग रहा । इसी युग मे प्रतिष्ठा पाठो आदि की रचना हुई और पूजा साहित्य का भी विशेष रूप से सृजन हुआ ।

सोमदेव सूरि ने अपने उपासकाध्ययन मे तो जैन मूर्ति पूजा का बडा ही सागोपाग विधि-विधान

---

१ पद्म पुराण पर्व ६५, ६६ एव ६७ ।

२ आचार्य रविर्षण, पद्मपुराण पर्व ११२

३. जिनविम्ब जिनाकार जिनपूजा जिनस्तुतिम् ।
य. करोति जनस्तस्य न किंचि दुलर्भ भवत् (पद्मपुराण पर्व १४ श्लोक २१३)

४. दाण ण दिण्णऊ मुनिवरहु, णवि पुज्जिउ जिणणाहु, पचण वदिउ परमगुरु, किमु होसइ सिवलाहु ।
(परमात्म प्रकश १६८)

५. ज्ञानपीठ से प्रकाशित उपासकाध्ययन प्रस्तावना पृष्ठ ४८-४६-५०

वर्णन किया है। अन्य ग्रन्थो से भी पूजा के भेद, पूजा की विधि और पूजा के फल की जो विवेचना की गई है वह जैन धर्म मे मूर्ति पूजा के महात्म्य को सहज ही सिद्ध करती है।

ऊपर के इन उद्धरणो से यह अनुमान लगाना ठीक न होगा कि जैन साहित्य मे पूजा का समावेश इसी काल से हुआ होगा। वास्तव मे प्रथम शताब्दी से ही जब से ग्रन्थ रचना का प्रारम्भ हुआ, सभी आचार्यों और ग्रन्थकारो ने जिन बिम्ब और जिनालयो की स्थापना तथा उनकी नियमपूर्वक पूजा का उपदेश दिया है। प्रथम शताब्दी के पूज्य आचार्य भगवान कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थो मे अरहत, सिद्ध, चैत्य और प्रवचन भक्ति का निर्देश किया है[६] तथा देवता साधु और गुरु की पूजा का भी निर्देश किया है।[७]

दूसरी शताब्दी के प्रसिद्ध तार्किक विद्वान् आचार्य सम्भन्तभद्र ने तो विशेष रूप से भक्ति साहित्य का रचना भी की है। उनकी स्तुतिविद्या, देवागमस्तोत्र आदि ग्रन्थ जिन पूजा की महत्ता का ही उद्घोष करते हैं। इतना ही नही उन्होने स्वय अपने भक्ति बल से, स्वयम्भू स्तोत्र का पाठ करते हुए, अत्यन्त चमत्कार पूर्वक आठवें तीर्थ कर चन्द्रप्रभु भगवान की प्रतिमा का आवाहन किया था। समन्तभद्राचार्य स्वामी ने श्रावक धर्म का उपदेश देते हुए अर्हन्त देव के चरणो की प्रतिदिन आदर पूर्वक पूजा करने का स्पष्ट उपदेश किया है।[८]

इस प्रकार हम देखते है कि प्रारम्भ से ही, प्राय सभी आचार्यों और ग्रन्थकर्त्ताओ ने जिन बिम्बो और जिनालयो की स्थापना तथा पूजा का उपदेश यथा स्थान दिया है अत पौराणिक तथा ऐतिहासिक रूप से भी पूजा की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है।

अब हम इस विषय पर, हमारे देश मे उपलब्ध सामग्री के आधार पर, इस दृष्टिकोण से विचार करेंगे कि जिन बिम्बो और जिनालयो का अस्तित्व हमारे यहा कब से मिलना प्रारम्भ होता है तथा समय-समय पर उनमे किस प्रकार के परिवर्तन हुए और कैसे वे अपनी वर्तमान परम्परा तक पहुचे हैं।

कलिंग के अग्रजिन और सम्राट खारवेल

भगवान महावीर के समय मे ही कलिंग मे जैन स्तूपो तथा मूर्तियो का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। आज भी कलिंग से उपलब्ध प्राचीनतम शिल्पीकोष जैन है। आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की एक प्रसिद्ध प्रतिमा राज्य के इष्ट देव की तरह पूजी जाती थी तथा उसे कलिंग कहते थे। महावीर के जन्म के पूर्व भी कलिंग जनपद मे

---

६. पचास्तिकाय गाथा-१६६।

७. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार १—६६

८. देवाधिदेवचरणे परिचरण सर्वदुखनिर्हरणम। कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुया दाहतो नित्यम्॥ आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ११६।

उक्त कलिंग जिन की प्रतिष्ठा थी। कलिंग नगर के निकट कुमारी पर्वत पर भगवान महावीर का समवशरण आया था। इस पावन घटना की स्मृति मे उक्त स्थान पर स्तूप आदि स्मारक बनाये गये थे और मुनियो के निवास के लिये गुफाये भी निर्मित हुई थी, जो सम्राट खारवेल के समय के बहुत पूर्व से वहा विद्यमान थी। प्रो० बनर्जी का भी यही मत है।[९]

यही कलिंग जिन 'अग्रजिन' के नाम से भी प्रसिद्ध थे। वीर निर्वाण संवत् १०३ (४२४ ई० पूर्व) मे मगध नरेश नदिवर्धन कलिंग पर आक्रमण करके राजधानी मे प्रतिष्ठित इस भव्य मूर्ति को अपने साथ उठा ले गया था। कालान्तर मे सम्राट् खारवेल ने अपने राज्य के बारहवें वर्ष मे मगध को जीत कर इस मूर्ति को बडे समारोह पूर्व वापस ले जाकर यथा स्थान पुर्नस्थापित किया था। कलिंग सम्राट खारवेल की इस पराक्रम पूर्व विजय को उल्लेख खण्डगिरी की हाथीगुफा मे प्राकृत के एक शिलालेख मे किया गया है। इस घटना से अनेक महत्व पूर्ण बाते सिद्ध होती है। एक तो यह कि नन्दकाल, अर्थात् ईसा पूर्व पाचवी चौथी शताब्दी मे, जैन मूर्तियो का निर्माण कराकर उनकी पूजा प्रतिष्ठा किये जाने की परम्परा विद्यमान थी। दूसरे यह कि उस समय कलिंग देश मे एक प्रसिद्ध जैन मन्दिर व मूर्ति थी जो इस प्रदेश भर मे लोक पूजित थी। तीसरे यह कि नन्द सम्राट, जो इस जैन मूर्ति को अपहरण करके ले गया और उसे अपने यहा सुरक्षित रखा, अवश्य ही जैन धर्मावलम्बी रहा होगा व उस लोक पूजित जिन बिम्ब के लिये उसने अपने यहा भी जिनालय बनवाया होगा। चौथे यह कि कलिंग की जनता व राजवश मे उस जिन प्रतिमा के लिये बराबर दो तीन सौ वर्ष तक ऐसी अटूट श्रद्धा बनी रही कि अवसर मिलते ही कलिंग सम्राट ने उसे वापस लाकर अपने यहा पुनर्स्थापित करने का महान् कार्य किया। इस प्रकार जैन धर्म मे मूर्ति पूजा का इतिहास सम्मत उल्लेख हमे ईसा पूर्व सातवी आठवी शताब्दी मे निर्विवाद रूप से प्राप्त होता है।[१०]

मथुरा ककाली टीला

तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के काल को यदि हम वर्तमान मान्यता के अनुरूप भारतीय मूर्तिकला का प्रारम्भ काल माने तो हमे ज्ञात होता है कि भारतीय मूर्तिकला के उद्भव और विकास की इस यात्रा मे जैन कलाकारो का उल्लेखनीय और महत्व-पूर्ण यागदान प्रारम्भ से ही रहा है और भारतीय मूर्तिकला की कोई ऐसी विधा नही है, कोई ऐसा प्रकार नही है तथा कोई ऐसा काल नही है जिसका समर्थ एव सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व जैन कला मे प्राप्त न होता हो।

इस काल की जो जैन मूर्तिया व शिल्पावशेष प्राप्त हुए है उनमे मथुरा के ककाली टीला से प्राप्त सामग्री अपनी प्राचीनता तथा अन्य कलागत विशेषताओ के लिए सारे ससार मे प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। यहा प्राप्त शिलालेखो के आधार पर स्मिथ ने अपने ग्रन्थ मे लिखा है कि "मथुरा का यह देव निर्मित स्तूप भारत मे वास्तुकला का सर्वाधिक प्राचीन उदाहरण है। इससे प्राचीन कोई भी मानव निर्मित उदाहरण समूचे भारत मे कही भी

९ डा० ज्योति प्रसाद जैन—भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृष्ठ १८१
१०. डा० हीरालाल जैन भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान पृष्ठ ३०७

नही पाये गये ।

जैन गफाएं

जैन स्तूपो के निर्माण के थोडे ही काल उपरात की बनी अनेक जैन गुफाए हमारे देश मे प्राप्त होती हैं। गया के समीप बाराबर तथा नार्गाजुनी पहाडियों पर तीन जैन गुफाओ का निर्माण सम्राट् अशोक के राज्य काल मे हो चुका था ।

यद्यपि इन गुफाओ को आजीवको को दान किये जाने का उल्लेख है परन्तु आजीवक सम्प्रदाय का उद्भव जैन सघ से ही हुआ और उसका विलीनीकरण भी जैन सघ मे ही हुआ अत इन गुफाओ के जैन गुफा चैत्य होने मे सन्देह की कोई गु जाइश नही है ।[११] इन मौर्य कालीन गुफाओ के पश्चात सर्वाधिक उल्लेखनीय खण्डगिरि उदयगिरि की वे गुफाएं हैं जिनका उत्खनन उडीसा मे कटक के समीप ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी मे सम्राट खारवेल द्वारा कराया गया । ये सभी गुफाए सुन्दर और विशाल जिन-प्रतिमाओ से सुसज्जित हैं और तात्कालिक मूर्ति पूजा की परम्परा का जीवित प्रमाण हैं ।

जैन गुफाओ की इस श्रृंखला मे जूनागढ (काठियावाड) के बाबा प्यारा मठ के समीप श्री धरसेन आचार्य की चन्द्रगुफा तथा उसी स्थान के पास ढग की गुफाएं भी जैन मूर्तियो से युक्त हैं। इनका निर्माण भी ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी मे हुआ था ।

गुप्त काल मे चन्द्र गुप्त द्वितीय के उल्लेख सहित गुफा स० १०६ (४२३ ईस्वी) मे मध्य प्रदेश मे, विदिशा के पास उदयगिरि मे भगवान पारसनाथ की भव्य मूर्ति से युक्त गुफा का निर्माण हुआ । उस्मानाबाद के पास की गुफाए तथा तेरापुर के समीप पर्वतपुर की गुफाए भी जैन मूर्तियो से युक्त हैं ।

दक्षिण भारत मे बदामी की जैन गुफा का निर्माण भी सातवी शताब्दी का माना जाता है। आठवी शताब्दी मे राष्ट्रकूट के अमोघवर्ष ने दिगम्बर दीक्षा लेकर इसी गुफा मे तपश्चरण किया था । गुफा मे एक ओर बाहुबली तथा दूसरी ओर पारसनाथ की मूर्तिया बनी हैं । इसी प्रकार अइहोल की गुफाओ मे भी जैन मूर्तिया हैं । ऐलोरा मे तो पाच जैन गुफाएं हैं जिनमे इन्द्र सभा नाम की दो मजिली गुफा तो अत्यन्त सुन्दर और कलात्मक है । ऐलोरा की इन गुफाओ मे विशाल तीर्थंकर प्रतिमाओ के अतिरिक्त बाहुबलि, इन्द्र-इन्द्राणी, चक्रेश्वरी पद्मावती आदि अनेक अन्य मूर्तियो का उत्खनन भी बडी सुरुचि और सयोजना पूर्वक हुआ है। मध्यकालीन गुफाओ मे 'इन्द्र सभा' अपनी अनेक विशिष्टताओ के कारण अद्वितीय मानी जाती हैं । दक्षिण मे अकार्य तकायी आदि अनेक गुफाए और भी है। गुफा-तक्षण कला के ह्रास के काल मे निर्मित ग्वालियर की गुफाए इस श्रृखला की अन्तिम उपलब्धि हैं ।

मन्दिर और मूर्तियां

गुप्त काल को कला और सस्कृति के विकास मे इस देश का स्वर्ण युग कहा जाता है । उसके प्रारम्भ (चौथी शताब्दी ईस्वी) से ही बराबर जैन मन्दिरो और मूर्तियो का निर्माण प्राय सारे देश मे प्रचुरता से होना पाया जाता है ।

---

११ डा० हीरालाल जैन : भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का योगदान पृ० ३०७ ।

कुषाण काल और मौर्य काल मे, अथवा यो कहे कि ईसा पूर्व के निर्माण मे तीर्थंकर प्रतिमाओ मे चिन्ह या लाञ्छन बनाने की पद्धति नही थी। शासन यक्ष तथा यक्षिणियो का अकन भी तब तक मूर्ति के साथ नही किया जाता था। गुप्त काल से मूर्तियो मे चिन्ह बनना प्रारम्भ हुआ और पूर्व मध्य काल (छठवी सातवी शताब्दी) से तो यह अनिवार्य परम्परा ही हो गई। शासन देवियो को भी तीर्थंकर के पादमूल मे इसी काल से स्थान मिलना प्रारम्भ हुआ।

गुप्त काल मे देवगढ, सीरा पहाड, नचना, राजघाट-वाराणसी और मन्दसोर आदि मे जैन मन्दिरो और मूर्तियो का निर्माण हुआ। इस काल की दर्जनो एक से एक सुन्दर और मनोज्ञ प्रतिमाएं हमारे देश के अनेक सग्रहालयो मे सुरक्षित हैं।

जैन मूर्ति निर्माण और पूजन प्रतिष्ठा की यह परम्परा तब से आज तक जिस उल्लेखनीय कलात्मकता और निर्माण की विशेषता के साथ प्रवर्तमान है वह तो देश के उपलब्ध पुरातत्व से सहज ही स्पष्ट है। श्रवणबेलगोला मे गोम्मटेश्वर भगवान बाहुबलि की जगत् प्रसिद्ध प्रतिमा इस परम्परा का एक अद्वितीय और शानदार उदाहरण है। कारकल आदि मे भी बाहुबलि की बडी बडी प्रतिमाएं है। उत्तर भारत मे आहार, थूबोन जी, खजुराहो और बजरगगढ की शान्तिनाथ प्रतिमाओ की गणना भी इन्ही मे करना पडेगा। पद्मासन विराजमान मूर्तियो मे कुण्डलपुर, चान्दनपुर महावीर, तेवर, देवगढ तथा राजस्थान की सुन्दर सगमरमर की मूर्तिया उल्लेखनीय हैं। इन सब के साथ यथेष्ठ परिकर सज्जा और कथन उपकथन आदि से सम्बन्धित अकन भी प्राय हर जगह देखने को मिलते हैं।

जैन मन्दिरो के निर्माण की शृंखला भी हमारे देश मे पिछले पन्द्रह सौ वर्षों से अनवरत चली आ रही है। देवगढ के विविधता पूर्ण मन्दिर, खजुराहो के उत्कृष्ट कलायुक्त विशाल जिनालय तथा आबू-देलवाडा, रनकपुर आदि के विशाल और विशिष्ट मन्दिर इस बात के प्रतीक हैं कि जैन सस्कृति मे मूर्ति पूजन और मन्दिर निर्माण की परम्परा एक प्रमुख और प्राणवान परम्परा रही है। जब से हमारा इतिहास पाया जाता है, या यों कहे कि जब से हमारा अस्तित्व पाया जाता है, तभी से मूर्ति पूजा की यह परम्परा हमारी धार्मिक आस्था और आस्तिक्य भावना की अभिव्यक्ति का बडा सहज माध्यम बन कर हमारे प्राणो से जुडी रही है।



12

Characteristics of Jaina Mysticism

Dr (Miss) Shanti Jain

The religious history of mankind draw our attention to those great per sonalities for whom the attainment of supiritual values constituted the essential meaning of life. Though these personalities where born in different environments, yet they exhibit a remarkable similarity of spiritual experience, Such personalities are known as mystics and the phenomenon is known as mysticism In Jaina mystical literature various expressions of mystical experience or mystical vision are invariably found. words like Svasamaya, Suddhopayoga, Suddhabhavas, Svarupasatta, Niscayanaya, Antaratman, Paramatman. Tattvanubhava, Ahimsa and so on are indicative of mystical expression in Jainism. In view of this the question whether mysticism is possible in Jainisms seems to be insignificant get us now turn to the marked characteristics of Jaina mysticism.

In point of fact, mystical canscio-usness entails certain expressions by virtue of which its presence may easily be recognised. In other words, these characteristics may serve as the criteria of Jaina mysticism. Though to recognize mystical states is not as easy as may be thought, Jaine mystics have endeavoured to present some such characteristics as may give an idea of the presence of this mystical phenomenon. In view of its obstruseness there is every likeli-hood of its being misunderstood. Only those who are mystically minded and are prone to mystical way of life can ascertain the presence of mystiscal experience. Mr. Stace rightly says that "the imposibility of communitating mystical experience to one who has not had such an experience is like the impossibility of communicating the nature of colour to a man born blind. This is the reason why the spiritually seeing man, the mystic cannot communicate what he has experienced to the non-mystic"[1], It may be said that these mystical expcriences do not possess objectivity of gross type, but it dose not meen that they are purely subject ve in the narrow sense of the words. In fact

1. Mysticism and Philosophy, P. 283

they are subjective, yet they are very much objective. Hence in Jaina spiritual literature certain characteristics are invariably found. These characteristics consist of spiritual knowledge, spiritual joy, spiritual steadfastness, intuition, ineffability, activistic attitude, moral elevation, freedom from fear, permanancy and so on. We may say that these are the articulate expressions of mystical life.

(1) Spiritual Knowledge.

First. self knowledge or spiritual knowledge is a characterizing feature of transcendental life. 'Know thyself' is an often quoted maxim. Knowledoe of the Atman is the supreme knowledge. The Samayasara pronounces that the self with spiritual knowledge knows his ture nature and he lacking in the knowledge, blinded by. his own nescience is unable to perceive his ture nature.[2] In other words the self with spiritual knowledge by contemplating upon the impure nature of the self becomes himself impure.[3] Moreover, knowledge is the self, there connot be (any) knowledge a part form the self[4] The self who knows the ture nature of reality becomes Jitamoha or conqueror of delusion who by subjugating the delusion realises that the self is intrinsically of the nature of knowledge[5] Therefore, the realization of the self as the knower by nature leads towards the eschewment of the sence of mineness[6] Further, it is pointed out that the soul is co-extensive with knowledge, knowledge is said to be co-extensive with the objects of knowledge, the object of knowledge comprises the physical and non-physical universe therefore knowledge is omnipresent[7] The knower of the self become an omniscient and the omniscient neigther accepts ncr abandons, nor transforms the external objectivity, he sees all round and knows everything completely[8] Moreover, the knower of the self knows simultaneously the whole range of variegated and unequal objectivity possible in all places and present in three tenses[9] Hence, in the omniscient the knowledge reaches the very verge of objectivity and the vision extends over the physical and super-physical universe[10] Thus, knoledge and epiritual

2. Samayasara, 185
3. Samayasara, 186
4 Pravacanasara,—I. 27
5. Samayasara, 32.
6. Pravacanasara II 109
7 Ibid I 23
8 Ibid I 32
9. Pravacanasara I, 15
10. Ibid I. 61

life arc not two different phenomena. They are inseparable.

(ii) Spiritual Joy -

Secondly, spiritual knowledge is accompanied with spiritual joy. The Pravacanasara tells us that the self who has destroyed the knot of delusion (Moha) who has overthrown attachment and aversion and is indifferent to pleasure and pain attains eternal happiness[11] This eternal happiness born of the self, is supersensuous, incomparable, infinite anb indestructible[12] Spiritual knowledge and hapiness are one and the same thing Therefore, spiritual knowledge wich is spreads perfect and pure which over infints things is called real happiness[13] It may be noted that that happiness derived through sense organs is dependent, amenable to disturbances, terminable, and is the cause of bondage[14] In fact spiritual joy is beyond the reach of senses or it is supersensuous happiness, which a mystic enjoys in the hours of transcendental experience[15] The Jnanarnava, therefore beautifully expresess the same thing while pronouncing that in the State of spiritual joy the mysties have the eternal and everlasting bliss and possessing an attitude of equanimity they really shed the karmas 6 Hence, the great mystic yogindu sums up the whole matter when he tells us that the self realiz ing personalities who are detached from the sense of attach ment and aversion who are busy with introspection of the pure self possess the serenity of mind aud are really the happiest beings in this world[17]

(iii) Spiritual steadfastness .

Thirdly spiritual steadfastness is also a feature of transcendental life The aspirant is firmly established in the knowledge of the self He dose not speak while speaking, does not move while moving and does not see while seeing.[18] Though empirically it seeme to be a paradoxical statement, its implications are solely mystical The mystic is a unique being and transcendentally he is free from all volitional activity And therefore. mystic's worldly activities are free from volitional attitude His activity is only spiritual knowledge and in that knowledge of the self he is steadfast Since he is beyond attachment and consequently is apprehending the nature of reality, all his doubts are resolved[19]

---

11 Pravacansara II 103
12 Ibid I. 13,
13 Ibid I 59.
14 Ibid I 76
15 Ibid II 106
16 Jnanarnava, 24 . 18,
17 Parmatmaprakasa II 43
18 Istopadesa 41
19. Pravacanasara I-14 II 105.

Hence speaking in the language of the mystic we may say that with the emergence of the Atmanic experience and steadfastness in it, the conquest over the senses, mind and passions, become automatic. The mystic is steadfact in his true nature.

(iv) Intuitive insight

Fourthly intuitive insight is a characterizing mark of mystical exeprience, the intuitive insight is the Pratyaksa Jnana or direct and immediate apprehension of realty This Pratyaksa knowledge perceives (all) the nonconcrete things among the concrete and those that are beyond the scope of senses, those that are hidden and all other than are related to substances and also that are not 20 Moreover, the mystic who possesses self knowledge, directly visualizes all objects and their modifcations, he does even comprehend them through sense perception[21] To be more clear we may say that nothing is indirect to him who is himself omniscient that who is all round rich in the qualities of all the organs of senses though himself beyod the senses[22] Hence the intuitive insight of self khowledge is able to penetrate into the innermost core of phenomenal and noumenal realities.

The intuitive insight is also termed as Yogi perception Haribhadra pronounces that Zogic perception will take cognizence of even such things as are beyond the perception of non-yogi[23] Thus Yogic perception pierces through the veils of reality directly and immediately. Prof: Ranade rightly says that "mysticism denotes that attltude of mind which involves a direct immediate intuitive apprehension of God"[24] Montague points out that "the theory that truth can be attained by a super rational and super sensuous faculty of intuition is mysticism"[25] thus, mystical experience involves the full operation of the intuitive faculty which subsums under it the operations of intellect, will and feeling and is not contradictory to them All things are visualized simultaneously and therefore, the Siddhas and Arhats are the masters of this intuitive insight.

(v) Ineffability

Fifthly, the mystic experience or transcendental experience is ineffable or it is inarticulate and unverifiable by empirical methodology. In other words, the spiritual things are beyond the categories of verifability through the senses The

20 Pravacanasara I 54
21 Ibid I 21
22 Pravacanasara I 22
23 Yogabindu, 50. P. 15
24 Pathway to God in Hindi Lit. Preface P 2
25. The ways of knowing, P 54
26 Pathway to God in Hindi Lit. Preface pp 3 4

mystic while reflecting upon the nature of the self and solely concentrating on it enjoys, the ineffable experience of transcendental life[27] Similarly plotinus tells us that the vison is a unque experience, it is not to be told not to be written[28] william James rightly points out that the Subject of it (mystic experience) immediately says that it defies expression, that no adequate report of its contents can be given in words It follows from this that its quality must be directly experienced, it cannot be imparted or transferred to others"[29] Hence mystic experience is essentially an ineffable experience It is the experience par-excellence, which transcends the limitations of linguistic formulations This experience has nothing to do with the out spoken Ianguage, because the mystic experience is indesiriable and unutterable through words The immediacy of the experience is confronted with this inadequacy of reporting the spiritual matters to the others who are spiritually blind The nature of this experience is supra dialaectical, supar logical supra rational and supra-conceptional Mr WT Stace is perfectly right when he says that "one of the best known facts about mystics is that they feel that Ianguage is inadequate or even wholly useless, as a means of communicating their experience or their insights to others They says that what they experience is unutterable or Ineffable According to Plotinus the vision beffles talling"[30] Moreover, the same author again points out that "mystical experience during the experience, is wholly unconceptualizable and therefore wholly unspeakable and must be so you cannot have a concept of anything within the undifferentiated unity bacause there are no separate items to be conceptualised"

(vi) Activistic Attitude

Sixthly, activity is also a marked characteri-stic of transcendental life Passivity is no more a goods and likable thing for mystic Or, spiritual life is fully an active life The quiet and contemplating spirit is active in spiritual matters therefore it has always been true that mystics are the sleepless ones The Yogi or a mystic sleeps where worldly business is concerned and he has been always awake in the business of transcendental experience and similarly, he who is awake in worldly matters sleeps in the business of the self[32] The pure self is endeavouring to remove the obstacles to mystical life. The joy unbounded, the knowledge infinite, the intuitive insight and the power everlasting are the results of most active

---

27 Tattvanushasana, 170 P 156
28 Plotinus in the Idight of Vehanti Thesis P 313
29 Varieties of religious experience, P 371
30 Mysticism and Philosophy, P 277
31 Mysticism and Philosop y, P 297
32 Moksapahuda, P 31 Samadhi Sataka, 78 P. 86 Parmatma prahasa II, 46

life of a mystic. The lazy and lethargic person cannot attain such perfection in every aspect of life. Miss Underhill has rightly pointed out that 'true mysticism is active and practical, not passive and the critical. It is an organic life process a something which the whole self does; not something an opinion[33] We may say that spiritual perfection is an arduous task in the human life, how can it be pronounced as passive ? Assiduity in spiritual pursuits is wholly indispenaable. The mystics have not turned their backs from the betterment of the worldly people. They are ever ready for the spiritual mission to which they are whole heartedly devoted. Therefore, the mystic's heart is set upon the transcenental self on the one hand and on the other he is endeavouring for the overall uplitgrment of the society. The Tirthamkaras set the examples of this activistic attitude towrds mystical life. Mr. William James seems to be partially right when he characterizes the mystical life with passivity. Outworldly the mystics appear to us as passive being; but for their own welfare and for the welfare of the people they are fully active. To be more clear we may say that seeming inactivity is not an essential feature of spirituality. They are most active beings trying hard for the betterment of the society.

(vii) moral Elevation

Sevently, moral elevation is another distinguishing feature of Jaina mysticism. Mystics are the upholders of all that is good and perfect, and simultaneously they are the upolders of moral and spiritual values. They follow a full-fledged moral life or we may say that they teach an eternal ethical code which is beyond the spatis temporal limitations. We find in them a perfcotion of moral virtues. Supreme forbearance modesty, straight forwardaness, 'truthfulness, purity, self restraint, austerity, renunciation. non-attachment and celibacy are constitutive of mystics, moral life. It is inconceivable that the mystic who has attained supremacy on account of the realization of perfact Ahinsa may in the least pursue an ignoble life of Hinsa. a life of vice. He is no doubt beyond the category of virtue and viee. Punya and Papa (good and evil Subha and Asubha psychical states, yet he may be pronounced to be the most virtuous soul in the world. Dr. Radhakrishnan sums up the whole matter, while saying that the great sin is the sin of disbelief in the potential powers of the soul. To know onself and not to be untrue to it, is the essence of the goods life"[34]

(iii) Freedom from fear :

Eightly, the transcendental life is free from fear. Mystical state is free

---

33. Mysticism, P. 81
34. Idealist View of life, P. 118

state. It is free from every type of foreign thing ether than the spirit. The Samayasara tells us that the souls with right belief free themselves from doubt and therefore they are free from fear. The seven types of fears are not found in mystic Thus fear relating to this life, fear leating to future life fear of being without protection, fear of the disclosure of what is kept in secret, fear of pain, fear of accident, and fear of death are not seen in a mystic[35] Hence, the mystical life is a life of fearlessness

(ix) **Holiness** •

Ninethly, spirituality with intuitive insight, ineffability moral eleavation is also associated with holiness, The mystics belong not to an ordinary world but to the world of holiness They are the prefect incarnation of holiness and secredness The mystics are the holy beings and are rejoicing the breath of holiness Or the holy mystics transcend the categories of good and evil, right and wrong etc. The emergence of holiness is a concomittant phenomenon in the mystic's sacred life. They radiate the rays of holiness to the other worldly beings.

(x) **Permanacy :**

Tenthly, the transcendental experience is not a temporary phase in mystic's life. Rather it is a permanent state of transcendental self. Though, it is worthy to note in the stages of spiritual development i e. the Gunasthanas, we come across the transient states of illumination, yet after the stages of Sayogakevalin and Ayogakevelin, the self is in the State of permanent peace joy and bliss Thus this view "that mystical states cannot be sustained for long,"[36] has an half truth we may say that the self in the illuminative stage casually enjoys the spiritual bliss, but Arhata and the Siddhas are the inhabitants of the enternal and infinite spiritual world. Therefore, the essential characteristic of jaina mysticism rather than traniency

(xi) **Social Characteristics .**

Finally the transcendental life is associated with some of the social characteteristics Though it appears to be a paradox at a first glance, because mystic is a man of solitude, he adopts an introvertive and quietistic attitude to life He observes silence and likes solitariness[37] Then, how it may be possible to characterize him with social attributes ? The reply is the Tirthamkaras set an example of doing an ample good to society Mystics heart is full of compassion and generosity for all the creatures of this

---

35 Sāmayasāra, 228

36. Varieties of Religions Experience, p 572

37 Istopodesa 40

universe He is the most benevolent being in the world It is said that the mystics evince a feeling of friendliness towards those who ares uperior to oneseg in perfection, that of combassion towards those who are superior to onself in perfection, that of compassion to wards those who are in a state of suffering and that of neutrality towards those who are incorrigible [38] Shri Subhacandra proclaimo that the mystical life is so much effective that even furious animals become modest and humble, the cruel tigers give up their cruelty and become free from the feeling of enmity This change in feelings is an natural as the rains from the clouods which extinguishes the fire in the forest In other words the company of mystic who possesseso equanimity, removes the ferocity from the hearts of the animals Moreover, the same idea is exquisitely expressed in the one verse by the same author when he says that in the presence of a mystic the tigress loves the youngone of a dear, the cow caresses the cat, the cat fondles the youngone of the swan and peahen plays with the youngone of the snake[39] Here, we see that all types of enmity is brushed aside In a similar veino. Hardhadra tells us that on account of spiritual life one finds onself in possession of firmness. patience faith, friendliness (for all beings), popularity (in the eyes of the worldly ones), intuitive awareness of the nature of things, freodom from obsessions contentment, forbearance, gentlemanly conduct, honour received from otheros and the sup-eme bliss of calmness.[40]



38 Yogasataka, 79 p. 88
39. Jnanarnava, 24 : 21–22
40. Yogabinqu, 52–54 p. 16

Books

1. Mysticism philosophy by W T. Stace. (Macmillan & Company, London).
2. Samayasara of Kundakunda (Bhartiya Jana Pitha Kasi)
3. Pravachana Sara of Kundakunda (Raya Chandra Jaina Shastra Mala Bomby).
4. Jnanarnava of Subha Chandra, Raya Chandra Jaina Shastra Mala Bombay).
5. Parmatma Prakash of Yogindu (Raya Chendra Jaina Shasta Mala Bomby).
6. Istopodesa of Punjyapada (Raya Chandra Jaina Shastra Mala Bomby).
7. Yoga bindu of Hari Bhadra (L. D. Institute Inof dology, Ahmedabad).
8. Pathway to god in Hindi Literature by R. D. rana (Adhyatma Vidya Mandir Allahabad)
9. Way of knowing by (P. Montague (Macmillan Company New-York).
10. Tatvanusasana of Naga Kumar Muni (Veer Seva Mandir Delhi).
11. Plotoinus in the light of Vedanta (Thesis) dy Theresa Gabriel (The University of Rajasthan, Jaipur).
12. Varieties of Religious Experience by William James (The modern Library New York).
13. Moksa Pahuda of Kundakunda, under the titls of Asta Pahuda (Patani Digamabara Jaina Grantha Mala, Marotha).
14. Samadhisataks of Pujyapada. (Veer seva Mandir, Delhi).
15. Mysticism by vnderhill (Methnen & Comyany, London).
16. Tattavarthasutra under the title of sarvarthasiddhi (Bhartiya Juana Pitha Kasi).
17. Yoga Sataka of Hari Bhadra (L. D. Institute of Indology, Ahemdabad).



१३

ध्यान द्वारा आत्म सिद्धि

श्री रतनचन्द्र जैन रत्नेश
एम. ए., एम एड, लामटा

प्रत्येक धर्म ध्यान का विशेष महत्व है। किसी न किसी रूप मे ध्यान की महिमा सब धर्मों मे गाई गई है। कठोपनिषद् की प्रसिद्ध श्रुति है:—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू
स्तस्मान् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष—
दावृत्तचक्षुरमृत्वमिच्छन्॥"

अर्थात् मनुष्य स्वभाव से ही बहिर्मुख होता है। वह आत्मदर्शन मे साधारणतः प्रवृत्त नही होता। कोई धीर-वीर व्यक्ति ही ऐसा होता है जो इन्द्रियो के बाह्य विषयों से अलग, अन्तरात्मा के दर्शन (ध्यान) मे दत्तचित्त होता है।

ऐसा साधक ही विभिन्न सीमागत धरातलो से ऊपर उठकर स्वय का अनुभव करता है।

जैनधर्म मे भी मोक्ष (मुक्ति हेतु ध्यान की प्रेरणा की गई है) आचार्य रामसेन अपने 'तत्वानुशासन' (ध्यानशास्त्र) नामक ग्रन्थ मे कहते है।

"स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्माद्वाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यस्दन्तु ध्यान सुधियः सदाऽप्यपास्याऽऽ-
लस्यम ॥३३॥"

दोनो प्रकार का (निश्चय एवं व्यवहार) मोक्ष-मार्ग ध्यान से सधता है। अतः मुमुक्षुओ को आलस्य त्यागकर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

डाक्टर मगलदेव[1] शास्त्री के अनुसार "सब धर्मों मे निश्चय ही अध्यात्म की विशेषता यह रही है कि उसका नेतृत्व लौकिक स्वार्थ सिद्धि से असम्पृक्त तथा विश्व-कल्याण को चाहने वाले ऐसे मुनिजनो के हाथ मे रहा है जो आतरिक शत्रुओ पर विजय प्राप्ति का व्रत धारण किए हुए थे) यह बात अन्य धर्मों मे देखने मे नही आती। यही कारण है कि अन्तर्दृष्टि और आत्म-समीक्षण का जितना अधिक विचार जैन धर्म के अध्यात्म ग्रन्थो मे मिलता है उतनी मात्रा मे कदाचित् अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता।

स्वर्गीय प० जुगलकिशोर जी मुख्तार 'युगवीर' (सम्पादक एवं व्याख्याकार 'तत्वानुशासन') के

१. भूमिका तत्वानुशासन पृ० १८।

शब्दो मे—"विषय कपाय की ज्वालाए सदा आत्म-हृदय को झुलसती और अशान्त बनाये रखती हैं। जो भव्यात्मा अपने शुद्ध स्वरूप का आभास पाकर उन ज्वालाओ से ऊपर उठता और अन्य सब चिन्ताओ को छोडकर उस शुद्ध स्वरूप के चिंतन मे ही अपने को एकाग्र करता है वह योगी अपने इस योग-बल से, पूर्व के बँधे हुए दृढ कर्म बन्धनो को ढीले, त्रुटित एव भस्मीभूत करता हुआ नये कर्मों के आत्मप्रदेशो मे प्रवेश को भी रोकता है और इस तरह स्वात्मोपलब्धि रूप-सिद्धि के पथ पर अग्रसर होता है। उसे अपनी उस ध्यानावस्था मे बाह्य पदार्थ-जन्य सुख दु ख भी महसूस नही होता और न मोह-माया तथा अहकार-ममकार ही सता पाते हैं। वह अन्तर्दृष्टि द्वारा कर्म गणो को योगानल मे भस्म और उनके स्थान पर स्वात्मगुणो को विकसित होता हुआ देखकर, जिस अतीन्द्रिय आनन्द एव स्वाधीन सुख को प्राप्त होता है उसके आगे ससार के सभी सुख नगण्य हैं। ऐसा अध्यात्म निष्ठ रागद्वेष-विहीन योगी शुद्धात्मा के ध्यान की विशुद्ध किरणो अथवा निर्दोष विचार–तरगो से विश्व को व्याप्त कर उसके कल्याण मे, बिना किसी इच्छा तक प्रयत्न के स्वत सहायक होता है।[२]"

ध्यान का लक्षण और उसका फल

आचार्य रामसेन ने ध्यान के बारे मे कहा है—

"एकाग्र चिन्तारोधो य परिस्पन्देन वर्जित ।
तद्ध्यान निर्जरा हेतु सवरस्य च कारणम् ।।"

आचार्य उमास्वामी ने भी कहा है-।।५६।।

"एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्"

अर्थात् चिन्ता का निरोध ही ध्यान है और ध्यान निर्जरा तथा संवर का कारण है।

२ तत्वानुशासन के भाष्य की भूमिका।

आचार्य पूज्यपाद के अनुसार निश्चल अग्नि-शिखा के समान अवभासमास ज्ञान ही ध्यान है। अर्थात् ध्यान और ज्ञान अलग-अलग नही हैं।

'ध्यानशातक' मे भी ज्ञान की एकाग्र अवस्था को ही ध्यान कहा गया है—

"ज थिरमज्झवसाण त झाण ज चलतय चित्त ।
त होज्ज भावना वा अणुपेहा वा अहव चिंता ।।"

आत्मा और ज्ञान मे क्या सम्बन्ध है? इस बारे समयसार कलशा मे कहा गया है—

"आत्मा ज्ञान स्वयं ज्ञान, ज्ञानादन्यत्करोतिकिम्"

आत्मा का ध्यान ही ध्यान है—

तत्वानुशासन मे निश्चयनय से आत्मा को ही ध्यान कहा गया है—

"स्वात्मान स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यत
षटकारकमयस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात् ।।७४।।"

"चूकि आत्मा स्वय को, स्वय मे, स्वय के द्वारा, स्वय के लिए, स्वय के ही हेतु से ध्याता है अत कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ऐसे षटकारक रूप परिणत हुआ आत्मा ही निश्चय नय की दृष्टि से ध्यानस्वरूप है।"

ध्यान की सामग्री—

ध्यान के लिए आवश्यक वस्तुओ के बारे मे कहा गया है—

"सग त्याग कषायाना निग्रहो व्रतधारणम् ।
मनोऽक्षाणा जयश्चेति सामग्री ध्यान जन्मनि ।।"

'परिग्रहो का त्याग, कषायो का निग्रह–नियत्रण, व्रतो का धारण, मन और इन्द्रियो को

जीतना—यह सब ध्यान की उत्पत्ति-निष्पत्ति मे सहायभूत सामग्री है'

परिग्रह-त्याग, कषाय निग्रह व्रतधारण तो सभव होता है पर मन एव इन्द्रियो पर नियंत्रण कठिन है—अत ज्ञान और वैराग्य के द्वारा इन्द्रिय रूपी घोडो को वश मे करना चाहिए। कहा भी है—

"ज्ञान वैराग्यरज्जुभ्या नित्यमुत्पथवर्त्तिन
जितचिन्तेन शक्यन्ते धर्तुमिन्द्रिय-वाजिन ॥७७॥"

आत्म द्रव्य ही ध्येय—

ससार मे विभिन्न द्रव्य हैं परन्तु आत्म द्रव्य ही ध्येय है। आत्मा सत्, चित् एव आनन्द स्वरूप है।

"सति ही ज्ञातरि ज्ञेय ध्येता प्रतिपद्यते
ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतम.स्मृत ॥"

'ज्ञाता के होने पर ही ज्ञेय ध्येयता को प्राप्त होता है इसलिए ज्ञान स्वरूप यह आत्मा ही ध्येयतम-सर्वाधिक ध्येय है। इसी की उपासना या ध्यान करना चाहिए'

आत्म द्रव्य के ध्यान में पंचपरमेष्ठी प्रधान है-

आत्मा के ध्यान मे वस्तुतः (व्यवहार से) पच परमेष्ठी ही ध्यान किये जाने योग्य है। इनमे अरहत, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी सकल (शरीर सहित) है और सिद्ध परमेष्ठी निष्कल (शरीर रहित) हैं तथा स्वामी हैं।

"तत्रापि तत्वत पच ध्यातव्याः परमेष्ठिन।
चत्वारः सकलास्तेषु सिद्ध स्वामी तु निष्कलः॥

सिद्धात्मक ध्येय का स्वरूप

सिद्धो का स्वरूप एवं उनके ध्येय का स्वरूप निम्न प्रकार है—

"अनन्त दर्शनज्ञानसम्यक्त्वादि गुणात्मकम्।
स्वोपात्तऽनन्तर-त्यक्-शरीराऽऽकार धारिणम् ॥
साकार च निराकारममूर्तमजरमरम्।
जिनबिम्बमिव स्वच्छ स्फटिक-प्रतिबिम्बितम् ॥
लोकाग्र शिखराऽऽरूढमुद्ढ—सुखसम्पदम्।
सिद्धात्मान निराबाध ध्यायेन्निर्धूतकल्मषम् ॥

"अनन्त दर्शन, ज्ञान एवं सम्यक्त्व आदि गुणो से परिपूर्ण, स्वग्रहीत और पश्चात् परित्यक्त ऐसे (चरम) शरीर के आकार का धारक है, साकार और निराकार दोनो रूप है, अमूर्त्त है, अजर है, अमर है, स्वच्छ स्फटिक मे प्रतिबिम्बित जिनबिम्ब के समान हैं, लोक के अग्रशिखर पर आरूढ है, सुख सम्पदा से परिपूर्ण है, बाधाओ से रहित और कर्म-कलंक से विमुक्त है—ऐसा स्वरूप है सिद्धात्मा का, सिद्धो का। ऐसे सिद्धो को ध्याता ध्यावे–अपने ध्यान का विषय बनावे।

पंच–परमेष्ठी का ध्यान स्वयं की आत्मा का ध्यान है

एकाग्रता से पच परमेष्टी का ध्यान स्वय का ध्यान है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार मे कहा है—

"जो जाणदि अरहंत दव्वत-गुणत्त-पज्जयत्तेहि।
सो जाणदि अप्पाण मोहो खलु जादि तस्य लओ॥

"जो अरहन्त को द्रव्य, गुण और पर्याय से जानता है, वह अपनी आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षीण हो जाता है।"

वर्तमान समय में भी ध्यान सम्भव है

कुछ लोगो का यह कथन हैं कि इस पचमकाल

मे ध्यान सम्भव नही है। यह कथन ठीक नही है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है—

'भरहे दुस्समकाले घम्मज्झाण हवेइ णाणिस्स।
त अप्पसहावट्ठिये ण हु मराणई सो अण्णाणी ॥'

अर्थात इस भरत क्षेत्र एव इस दु षम पचम-काल मे ज्ञानी के धर्म ध्यान होता है और वह आत्मस्वभाव मे स्थित—आत्मभावना मे तत्पर होता है—जो इसे नही मानता वह अज्ञानी है। आचार्य देवसेन भी अपने 'तत्वसार' मे ऐसा कहने वालो को 'शका काक्षा मे फंसे हुए, विषयो मे आसक्त और सन्मार्ग से प्रभ्रष्ट' बताते हैं।

ध्यान के भेद

ध्यान चार प्रकार का होता है—१-आर्त्त-ध्यान २-रौद्रध्यान ३-धर्मध्यान और ४-शुक्ल-ध्यान। इनमे से प्रथम दो ध्यान तो कुध्यान हैं अत: मुमुक्षुओ को त्यागने योग्य है। धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान उपादेय हैं।

इस काल मे सहनन की हीनता, श्रुतज्ञान की अनुपलब्धि और उपशम एव क्षपक श्रेणियो मे चढने की क्षमता का अभाव आदि के कारण शुक्ल ध्यान इस काल मे सम्भव नही होता। धर्मध्यान ही सम्भव है। इसीलिए इस काल मे शुक्ल ध्यान का निषेध है, धर्म ध्यान का नही। कहा भी गया है—

"अत्रेदानी निषेधन्ति शुक्लध्यानजिनोत्तमा।
धर्म्यध्यान पुन. प्राहुः श्रेणिभ्या प्राग्विवर्त्तिनाम् ॥
(तत्वानुशासन पृ० ८२)

इसी प्रकार के कथन महापुराण एवं तत्त्वार्थ-वार्तिक मे भी हैं। इससे स्पष्ट है कि इस पचमकाल मे शुक्ल ध्यान सम्भव नही है परन्तु धर्मध्यान सम्भव है जो कि परम्परा से शुक्लध्यान एव आत्म-सिद्धि का साधक है।

ध्यान अभ्यास सम्भव है

जैसे अभ्यास से महाशास्त्र का अध्ययन सम्भव होता है उसी प्रकार अभ्यास से भी एकाग्रता, स्थिरता, सिद्धि या ध्यान की प्राप्ति सम्भव होती है। कहा भी है—

यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महानपि।
तथा ध्यानमपि स्थैर्य लभतेऽभ्यासंन्त्यवर्तिनाम ॥

ध्याता को परिकर्म पूर्वक ध्यान करना चाहिए

परिकर्म का अर्थ सस्कार, उपकरण, सामग्री आदि होता है—इन बाह्य कारणो से ध्यान की स्थिरता बनती है। अत. स्थान, काम, आसन आदि का चुनाव अच्छा होना चाहिए। खाली घर, गुफा, साफ स्थान मे सुविधानुसार समय पर सुखा-सन, अन्य कोई आसन या कार्योत्सर्ग मुद्रा से ध्यान मे रत होना चाहिए।

नय दृष्टि से ध्यान के भेद

जैन परम्परा मे ध्यान नय दृष्टि से दो प्रकार का है १—निश्चय ध्यान-आत्मा स्वरूप के अवलम्बन द्वारा, २—व्यवहार ध्यान—पर के अवलम्बन द्वारा

निश्चय-ध्यान मे साधक स्वय की आत्मा का ध्यान करता है। इसमे वह किसी पर वस्तु (अरहत, सिद्धि आदि) का अवलम्बन नही लेता। यह

३. प० जुगलकिशोर मुख्तार, तत्वानुशासन टीका, पृ० ९६

निश्चय ध्यान बडा दुर्लभ होता है और स्थायी नही रह पाता । किंचित् यदाकदा ही यह सम्भव होता है । व्यवहार ध्यान से ही कभी कभी इसकी झलक एक पल के लिए प्राप्त हो पाती है । छठवें एव सातवे गुणस्थान के बीच झूलते हुए मुनिराज ही इसका आस्वादन कर पाते हैं । कुछ सद्गृहस्थ भी इसकी अनुभूति भाग्यवशात् कभी कर लेते हैं । व्यवहार ध्यान ही निश्चय ध्यान का राजमार्ग है- "पहले व्यवहारनयाश्रित भिन्न (आलम्बन) ध्यान के अभ्यास को बढाया जाय । तत्पश्चात् निश्चय-नयाश्रित अभिन्न (निरालम्बन) ध्यान के द्वारा अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप मे लीन हुआ जाय ।[3]

व्यवहार-ध्यान मे किसी भी मन्त्र आदि का आलम्बन लिया जाता है । अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु-इनका आलम्बन लिया जाता है । व्यवहार ध्यान से ही निश्चय ध्यान की परम्परा आगे बढती है । अर्हन्तदेव के ध्यान का फल तत्वानुसार मे निम्नप्रकार कहा गया है-

"वीतरागोऽप्यय देवो ध्यायमानो मुमुक्षिभि' ।
स्वर्गाऽपवर्ग-फलद शक्ति स्तस्य हि तादृशी ॥"

वीतराग होने पर भी अर्हन्तदेव मुमुक्षुओ को स्वर्ग तथा मोक्ष प्रदान करने मे सहायक होते है ।

इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानादि से सम्पन्न आचार्य, उपाध्याय एव साधु ध्यान के योग्य हैं ।

इसी प्रकार अकार से लेकर हकार पर्यन्त जो मन्त्ररूप अक्षर हैं वे अपने अपने मण्डल को प्राप्त हुए परम शक्तिशाली ध्येय हैं । वैसे 'अमन्त्रमक्षर नास्ति नास्ति मूलमनौषधं' अर्थात् ऐसा कोई अक्षर नही है जो कि मन्त्र के काम नही आता और ऐसी कोई मूल नही जो कि औषधि के रूप मे काम मैं न आती हो । केवल 'योजकस्तत्र दुर्लभः' इनकी सयोजना करने वाले ही दुर्लभ होते हैं ।

महामन्त्र णमोकार, असिआउसा-सयुक्ताक्षार ॐ, ह्री, श्री, क्ली, अर्ह का ध्यान करने से आत्म सिद्धि प्राप्त होती है ।

परमेष्ठियों के ध्यान से सब कुछ ध्यात होता है । फिर उससे कुछ और पृथक ध्यान की आवश्यकता नही होती, कहा भी है—

"संक्षेपेण यदत्रोक्त विस्तरात्परमागमे ।
तत्सर्व ध्यातमेव स्याद् ध्यातेषु परमेष्ठिसु ॥"

हृदय, ध्यान का स्थल है

हृदय-कमल के पत्रो पर असिआ उसा की स्थापना करना चाहिए । ये पच परमेष्ठी के वाचक शब्द है ।

हृत्पकजे चतुष्पत्रे ज्योतिष्मन्ति प्रदक्षिणम् ।
अ-सि-आ-उ साऽक्षराणि ध्येयानि परमेष्ठिनाम् ॥

ध्येयों के प्रकार

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से ध्येय चार प्रकार के होते हैं । इनका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

"वाचस्य वाचकं नाम प्रतिमा स्थापना मता ।
गुण पर्ययवद् द्रव्य भाव. स्याद्गुणपर्ययो ॥"

वाच्य का वाचक 'नाम' कहलाता है। प्रतिमा को 'स्थापना' कहते हैं और गुण-पर्याययुक्त 'द्रव्य' कहलाता है तथा गुण और पर्याय दोनो 'भाव' कहलाता है।

नाम ध्येय मे मन्त्र एव नाम आते हैं। स्थापना ध्येय मे भगवान् की कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाए आती है। द्रव्य ध्येय मे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप द्रव्य (तत्व) का ध्यान आता है। द्रव्य के छ भेद होते हैं। (पुद्गल, नभ, धर्म, अधर्म काल आत्मा) इनमे आत्मा द्रव्य ध्येय हैं। अन्य द्रव्यो को जानकर उनकी प्रतीति करना चाहिए। द्रव्य की पर्यायो (अर्थ एव व्यजन) तथा गुण (मूर्त्तिक और अमूर्त्तिक) को जानकर उनका यथास्थिति चिन्तन करना भावध्येय है।

प्रमुख ध्येय प्रकार

प्रमुख रूप से ध्येय के दो ही प्रकार है—द्रव्य ध्येय और भावध्येय।

द्रव्यध्येय को पिंडस्थ-ध्येय भी कहा जाता है। यहा ध्यान मे स्थिरता के परिपुष्ट हो जाने पर ध्येय का स्वरूप, ध्येय के सनिकट न होते हुए भी स्पष्ट रूप से आलेखित (प्रतिबिम्बित) जैसा प्रतिभासित होता है।

भावध्येय मे ध्याता, ध्येय के समान ही अपने आपको बनाने का प्रयत्न करता हैं। वह ध्यान के बल पर अपने शरीर को शून्य बनाकर ध्येय स्वरूप मे आविष्ट प्रविष्ट हो जाने से अपने को तत्सदृश बना लेता है। उस समय वह उस प्रकार की सवित्ति से भेद विकल्प को नष्ट करता हुआ परमात्मा, गरुण अथवा कामदेव हो जाता है। तत्वानुशासन मे कहा गया है—

"यदा ध्यान-बालाद्ध्याता शून्यीकृत स्वविग्रहम्।
ध्येय स्वरूपाविष्टत्वात्ताहम् सम्पद्यते स्वयम्॥
यदा तथाविध ध्यान-संवित्ति-ध्वस्त-कल्पन।
स एव परमात्मा स्याद्वैनतेयश्च मन्भवः॥"

समरसी भाव और समाधि का स्वरूप

ध्येय और ध्यात का एकीकरण समरसीभाव कहलाता है। यही एकीकरण ही समाधि है जोकि दोनो लोको के फल को देने वाली है।

"सोऽय समरसीभावसादेकीकरण स्मृतम्।
एतदेव समाधि स्याल्लोक-द्वय-फल-प्रदः॥"

द्विविधि ध्येय का वास्तविक अर्थ

द्रव्य ध्येय या भावध्येय वह सब प्रकार मात्र है। वास्तव मे ध्यये का स्वरूप जानकर, श्रद्धा करके और उसमे मध्यस्थता वीतरागता धारण करने वाले को-अपने ध्यान का विषय बनाना चाहिए। इस माध्यस्थ-भाव के अनेक नाम हैं। समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, नि स्पृहता, वितृष्ण्य (तृष्णा का अभाव) प्रशम और शान्ति ये सब इसी माध्यस्थ भाव के ही विभिन्न नाम है। इनको धारण करके ही वास्तव मे ध्यान होता है। इनके बिना ध्यान, ध्यान नही बनता। इसी वीतरागता से निश्चय ध्यान बनता है। इसी वीतरागता का ध्यान वीत-राग बनने का अभ्यास करते हुए करना चाहिए।

निश्चय ध्यान के इच्छुक व्यक्ति को परामर्श

जो निश्चय ध्यान करने का इच्छुक है उसे स्व और पर को यथास्थिति जानकर, श्रद्धान कर-उस रूप आचरण करना चाहिए, अर्थात् पर को निरक्षक जानकर छोड़े और केवल स्व को ही देखे-जाने स्व के ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप को ही पकड़े।

"दिध्यासु स्व पर ज्ञात्वाश्रद्धाय च यथास्थित।
विहयाऽन्यदनर्थित्वात् स्वमेवाऽवैतु पश्यतु॥"

स्व और पर के ज्ञान हेतु श्रुत (आगम) ज्ञान आवश्यक है। आगमन को तीसरा नेत्र कहा गया है। अत. पहले श्रुत द्वारा अपने आत्मा मे आत्म सस्कार को आरोपित करना चाहिए। श्रुत (आगम) मे आत्मा को जिस यथार्थ प्रकार का बताया गया है। उस प्रकार भावनाओ के द्वारा हमे आत्मा को संस्कारित करना चाहिए। इसके पश्चात् इस सस्कारित आत्मा मे एकाग्रता (तल्लीनता) प्राप्त करना चाहिए।

श्रोती भावना --

आगम मे जिस प्रकार आत्मा को बताया गया है, उसे श्रोती-भावना कहते है। इस श्रोती भावना का स्वरूप निम्न प्रकार है—

—"मैं चेतन हू, असख्य प्रदेशी हूँ मूर्त्तिरहित, अमूर्त्तिक हूँ, सिद्धसदृश, शुद्धात्मा हूँ और ज्ञान-दर्शन लक्षण से युक्त हूँ।"

शरीर अन्य है, मैं अन्य हूँ, मैं चेतन हू, शरीर अचेतन है, शरीर नाशवान है, मैं अक्षय हूँ।

मैं अन्य नही हु, मैं अन्य का नही हूँ। अन्य मेरा नही है। मैं, मैं ही हू, अन्य अन्य का है।

अचेतन मेरा नही होता, मैं अचेतन का नही होता। मैं ज्ञान-स्वरूप हू, मेरा कोई नही है और न मैं किसी दूसरे का हू।

इस ससार मे मेरा शरीर के साथ जो स्व-स्वामि सम्बन्ध हुआ है और दोनो मे जो एकत्व का भ्रम है, वह पर के निमित्त से है, स्वरूप से नही।

"योऽत्र स्व-स्वामि सम्बन्धो ममाऽभूद्वपुषा सह
यस्त्वेकत्व भ्रमस्सोऽपि परस्मान्न स्वरूपत

इस श्रोती भावना मे आत्मा अपने मे स्थित हुआ, अपने द्वारा, अपने आपको इस रूप मे देखता है कि अन्य पदार्थों से उसे रूचि नही रहती उनसे स्वत विरक्ति हो जाती है।

इस प्रकार, इस भावना मे लीन होकर आत्मा अन्य शरीरादिक से अपने आपको भिन्न निश्चित करके स्वय मे ही लीन हो जाता है और अन्य किसी प्रकार की चिन्ता नही करता। यह ध्यान की प्रमुख सीढी है।

चिन्ता का अभाव तुच्छ नही यह स्वसवेदन रूप है —

चिन्ताऽभावो न जैनाना तुच्छो मिथ्या द्यशामिव।
दृग्बोध साम्य रूपस्य स्वस्य सवेदनं हि स ॥

चिन्ता का अभाव जैन मत मे वैशेषिक दर्शन के समान तुच्छ अभाव नही है। बल्कि यह अभाव वस्तुत: दर्शन, ज्ञान और समता रूप आत्मा के सवेदन रूप है।

जैन दर्शन मे अभाव को भी वस्तु धर्म माना है जो कि वस्तु-व्यवस्था के अग रूप है। यदि एक वस्तु मे दूसरी वस्तु का अभाव स्वीकार न किया जाय तो किसी भी वस्तु की कोई व्यवस्था नही बनती। इस दृष्टि से अभाव सर्वथा असत् रूप या तुच्छ नही है, जिससे चिन्ता के अभाव रूप होने से ध्यान को ही असत् कह दिया जाय। वह अन्य चिन्ताओ के अभाव की दृष्टि से असत् होते हुए भी स्वात्म-चिन्तात्मक-स्वसवेदन की दृष्टि से असत् नही है, और इसलिए तुच्छ नही है। ध्यान के लक्षण मे प्रयुक्त 'निरोध' अथवा 'रोध' शब्द का अर्थ करने पर उसका यही आशय है, न कि सर्वक्ष चिन्ता के अभाव रूप, ध्यान का ही अभाव।[४]

४. पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार' वही पृ० १५१

स्वसंवेदन का लक्षण

साधक जब अपने आत्मा का स्वय के द्वारा अनुभव करता है—वेद्यपना और वेदकपना यही स्व सवेदन है। यही आत्मा का दर्शन रूप अनुभव है।

समस्त कर्मज भावो से सदा भिन्न अपने निर्मल ज्ञान स्वभाव एव उदासीन (वीतराग) आत्मा को आत्मा के द्वारा ही देखना चाहिए।

'कर्मजेभ्य समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहम्।
ज्ञस्वभावमुदासीन पश्येदात्मानमात्मना ॥'

आत्मा कब दिखलाई पड़ता है ?

इन्द्रियज्ञान तथा मन के द्वारा आत्मा दृश्य नही होता। इन्द्रियो और मन का व्यापार रुकने पर ही स्वसंवित्ति द्वारा आत्मा दर्शन होता हैं।

इस ज्ञान स्वरूप आत्मा को न देखने वाला योगी नही हो सकता और आत्म ज्ञान के विना सब निस्सार है। बल्कि वह ध्यान, मूर्छा-वाला मोह ही सिद्ध होता है—

'समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नाऽनुभूयते ।
तदा न तस्य तद्ध्यानं मूर्छावन्मोह एव स ॥"

आत्मानुभव का फल

ज्ञान स्वरूप आत्मा का अनुभव करके योगी उस परम एकाग्रता और स्वाधीन स्थायी आनन्द का अनुभव करता है जोकि वचन के अगोचर है। यह ध्यान मुक्ति का एक मात्र रास्ता है।

"ध्यानाऽभ्यास प्रकर्षेण त्रुटयन्मोहस्य योगिन
चरमाङ्गस्य मुक्ति स्यात्तदैवाऽन्यस्य च क्रमात् ॥

अर्थात् ध्यान से ही मोह नष्ट होता है। इससे चरम शरीरी तो उसी भव से मोक्ष जाते है और अन्य लोगो की क्रमश मुक्ति होती है।

"तक्ष ह्ययचरमाऽङ्गस्य ध्यानमभ्यस्यत सदा ।
निर्जरा संवरश्च स्यात्सकलाऽशुभ कर्मणाम् ।
आस्नवन्ति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रतिक्षणम् ।
यैर्महर्द्धिर्भवत्येष त्रिदश कल्पवासिषु ॥"

"ध्यान का अभ्यास करने वाले अचरमाङ्ग योगी के सदा अशुभ कर्मो की निर्जरा होती है और (अशुभ कर्मास्रव के निरोध स्वरूप) सवर होता है। साथ ही साथ उसके प्रतिक्षण पुण्यकर्म का आश्रव प्रचुर मात्रा मे होता है। इससे यह योगी कल्पवासी देवो मे महा ऋद्धिधारक देव होता है।"

इसके पश्चात् पुन मनुष्य होकर वह चक्रवर्ती आदि की सम्पदा प्राप्त करके और उन्हे स्वय छोड कर, निर्ग्रन्थ हो—चार प्रकार के शुक्ल ध्यान को ध्याकर और आठो कर्मों का नाश करके अक्षय मोक्ष पद की प्राप्ति करता है।

कर्मों के बन्धनो को विध्वंस करके—

ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने के कारण-मुक्त आत्मा एक क्षण (समय) मे ही लोक-शिखर के अग्र भाग मे पहुच जाता है और अन्त समय तक वहाँ अक्षय सुख को भोगता है जन्म मरण के चक्कर से वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है। इस प्रकार ध्यान स्थायी-सुख को प्राप्त कराने का एक मात्र साधन है। यही आत्मसिद्धि का राजमार्ग है।

इस प्रकार ध्यान के द्वारा वह उस सार पदार्थ (मोक्ष) को प्राप्त करता है। अत ध्यान आत्मसिद्धि अथवा मोक्ष का श्रेष्ठतम साधन है। ध्यान के बिना मोक्ष का प्राप्ति सभव नही है। इसी कारण यह सब कहा गया है—

सारश्चतुष्टयेऽप्यस्मिन्मोक्ष स ध्यानपूर्वक ।
इति मत्वा मया किंचिद्ध्यानमेव प्रपञ्चितम् ।२५२।
(तत्वानुऽशासन)



14

Analytical Treatment Of Transfinite Numbers In Dhavala

L. C. Jain

In the authors article (1967)[1] certain set theoretic approaches of Virsena's life-long work "DHAVALA"[2] (circa ninth century) commentary of "SHATKHANDAGAMA" were related in briefo In the present article only a few pages of DHAVALA are exposed in simple modern mathematical operational symbols. The units of set measures are classified as simple measure and number measure about which dteails are available else where.[4] Herern and what follows the symbols and notataons of number measure will be adhernd to as already adopted, unles otherwise stated.[5]

1. Logarithmic Treatment

At the out set it may be noted that in DHAVLA, the mathematical details are given in sentences without any notations practically. The sets treated therein are finite, transfinite, ordered, well-ordered, plain and mixed. One may call those sets mixed which have been formed as a result of mixing well-orderd set or sets with plain or ordered set or sets [6] There seems no

1 Cf JSM.
2. Cf. DT.
3 For its preliminary mathematical details, Cf. MD.
4 Cf JSM. ND, BCM TPG etc.
5 Cf. JSM.
6 Cf AST for details; Cf. as for symbolic repreaentations.

distinction between the sets and their cardinal or ordinal numbers so far as their mathematical manipulations are concerned, because they are implied so at different places It thus appears that the school made use of the Arciom of choice freely [7]

Virasena, in the following[8] has attempled to prove that $\overline{I_{1J}}|^{3}$ is imfinite times less than the cordinal of the set J of all living beings in the whole universe (LOKA) [9]

He proceds as follows[10]

$$\log I_{pj} + 1 + \log \log I_{pj} = \log \log I_{1J} \quad \ldots\ldots (1\ 101)$$

$$[2 \log I_{pJ}] \ [I_{pJ}] = \log I_{1J} \quad \ldots\ldots (1.102)$$

because

$$I_{1J} = [I_{yJ}]^2 = \left[(I_{pJ})^{I_{pJ}}\right]^2$$

Further

$$\log I_{1J} = A \ [I_{yJ}] \quad \ldots\ldots (1\ 103)$$

or

$$\log I_{1J} = \frac{[I_{pJ}]^2}{A} \quad \ldots\ldots (1.104)$$

because of (1.102) and $I_{pJ}) = A_{au} + 1$

Now

$$\log I_{1J} > \log I_{pj} \quad \ldots\ldots (1.105)$$

7 Cf RAC for details.

8 Cf DT, p 21 et seg.

9 Cf RY, pp. 138, 248 for definition etc.

10 Unless otherwise stated the symol for logarithm ie. log will stand for logariltion to the base two, ie. for $\log_2$ This is the operational symbol for bisection

or Ardhaccheda Similarly $\log_2 \log_2$ stands for Vargasataka, or Ardhaccheda of Ardhaccheda

and

$$\log I_{1j} + \log\log I_{1j} = \log\log \overline{I_{1j}}|^{1} \quad \ldots\ldots (1.106)$$

$$I_{1j} (\log I_{1j}) = \log \overline{I_{1j}}|^{1} \quad \ldots\ldots (1.107)$$

Therefore

$$\log \overline{I_{1j}}|^{1} = I\ [I_{1j}[\quad \ldots\ldots (1.108)$$

Similarly

$$\log \overline{I_{1j}}|^{1} = \frac{[I_{1j}]^{2}}{I} \quad \ldots\ldots (1.109)$$

Further

$$\log \overline{I_{1j}}|^{1} + \log\log \overline{I_{1j}}|^{1} = \log\log \overline{I_{1j}}|^{2} \quad \ldots\ldots (1.110)$$

Also

$$[\log I_{1j}|^{1}]\ [\overline{I_{1j}}|^{1}] = \log \overline{I_{1j}}|^{2} \quad \ldots\ldots (1.111)$$

Fherefore

$$\log \overline{I_{1j}}|^{2} = I\ [\overline{I_{1j}}|^{1}] \quad \ldots\ldots (1\ 112)$$

Similary

$$\log \overline{I_{1j}}|^{2} = \frac{[I_{1j}|^{1}]^{2}}{I} \quad \ldots\ldots (1.113)$$

It is known that

$$\log \overline{I_{1j}}|^{2} + \log\log \overline{I_{1j}}|^{2} = \log\log \overline{I_{1j}}|^{3} \quad \ldots\ldots (1.114)$$

Now

$$\log\log \overline{I_{1j}}|^{3} < [\overline{I_{1j}}|^{1}]^{2}$$

because according to (1 111) and (1 114)

$$\log\log \overline{I_{1j}}|^{3} = \log \overline{I_{1j}}|^{2} + \log\log \overline{I_{1j}}|^{2}$$

$$= [I_{1j}]^{I_{1}\quad 1} \log I_{1j} + [I_{1j} + 1] \log I_{1j}$$

$$+ \log\log I_{1j} \quad \ldots\ldots (1\ 115)$$

Thus the log log $\overline{I_{1j}}|^{3}$ has not reached even a single square-place (Varga-Sthana) above $\overline{I_{1j}}|^{1}$ from this the auther concluds

"तेणे देसि दोण्ह रासीण वग्गसलागाओ सरिसाओ"

$$\log \log [\overline{I_{1J}}|^{1}]^{2} = \log \log \log \log \overline{I_{1J}}|^{3} \ldots\ldots (1.116)$$

The L H.S. of (1.116) is also stated as

$$\log \log [\overline{I_{1J}}|^{1}]^{2} = 1 + \log \log \overline{I_{1J}}|^{1}$$

$$= 1 + A' \; I_{pJ} + \log I_{pJ} + 1 + \log \log \; SPS$$

$$= A \; I_{pj} \ldots\ldots (1.117)$$

Now Virasena applies the method of reductio-ad-absurdum

If we take it for granted that

$$\log \log \overline{I_{1J}}|^{3} = \log \log (J)$$

in which care

$$\overline{I_{1J}}|^{3} = J$$

Which is not so, becauose according to Parikarma,

$$\log \log (J) = [\{(I_{1J})^{2}\}^{2}]^{2} \ldots\ldots (1.118)$$

the square indices being raised I1m times

Where as

$$\log \log \overline{I_{1J}}|^{3} \quad [\{(I_{1J})^{2}\}^{2}]^{2} \ldots\ldots (1\ 119)$$

The indices on R H.S. being raised I1m times

As a matter of fact

$$\log \log \overline{I_{1J}}|^{3} = [I_{1J}]^{2^{(A\ I_{pJ})}} \ldots\ldots (1\ 120)$$

Virasena proceeds to submit proof for (1.120) as follows :

It is known that

$$\log \log I_{1J} > \log I_{pJ} \ldots\ldots (1\ 121)$$

because

$$I_{1J} = \left[(I_{pJ})^{I_{pJ}}\right]^{2}$$

$$\because \log I_{1j} = 2 \; I_{pJ} \log I_{pJ}$$

$$\therefore \log I_{1J} > I_{yJ} \text{ proing} \quad (1.121)$$

Again

$$\log \log \overline{I_{1j}}|^3 < [\overline{I_{1j}}|^1]^2$$

by virtue of (1.115)

Therefore

$$\log \log \log \log \overline{I_{1j}}|^3 < \log \log \left\{ (I_{1j})^{(I_{1j})} \right\}^2$$

$$< \log 2\, I_{1j} + \log \log I_{1j}$$

$$\leqslant [I_{1j}]^2 \qquad \text{......................(1.122)}$$

Now

$$\log \log \log \log \overline{I_{1j}}|^2 < 1 + \log I_{1j} + \log \log I_{1j}$$

$$\therefore \log \log \log \log \overline{I_{1j}}^3 - \log \log I_{1j} < 1 + \log I_{1j}$$

$$< 1 + 2\, I_{pj} \log I_{pj}$$

$$\text{......................(1.122a)}$$

At the same time

$$\log \log \overline{I_{1j}}|^3 > \overline{I_{1j}}|^1 \text{ by virtue of (1 115)}$$

$$\because \log \log \log \log \overline{I_{1j}}|^3 > \log [I_{1g} \log I_{1g}]$$

$$> \log I_{1j} + \log \log I_{1j}$$

Or

$$\log \log \log \log \overline{I_{1j}}|^3 - \log I_{1j} > \log \log I_{tj}$$

$$> 2 I_{pj} \log I_{pj} \text{..................}$$

$$\text{................(1·122b)}$$

Now if in (1·122a) and (1·122b)

A is substituted in place of 2 log Ipj

Then

$$\log \log \log \log \overline{I_{1j}}|^3 - \log \log I_{1j} = A\, I_{pj}$$

$$\text{.................1·123)}$$

Again, from (1·120)

$$\log \log \log \log \overline{I_{1j}}|^3 = \log \left[2^{A\,(I_{pj})} \log I_{1j} \right]$$

$$= A\, I_{pj} \log 2 + \log \log I_{1j}$$

$\therefore$ log log log log $\overline{I_{IJ}}|^{3}$–log log I_{IJ} = A I_{PI}

$$\text{.......} \; \text{.........}(1{\cdot}124)$$

Which is the same as (1·123)

Thus the proof is evident from the relations (1·118) and (1·120)

It may be remarked that the proof will be changed if the term $\overline{I_{IJ}}|^{3}$ is taken in the form $\overline{I_{IJ}}|_{3}$ which stands for third vargita samvargita Rasi in Tiloya Pannatti.[11]

2.

ANALYSIS OF FLUENT[12] MEASURE

Dravya (Fluent) is that which always flows through its Gunas (Controls) and paryayas (Events). Gnna always remains in whole of Dravya in all its Paryayas. Paryaya is an accurrence every Samaya (Instant) in a Guna of a Dravya.

The knowledge of fluentmeasure (Dravya-Pramananugama) is the second Anuyogadvara in which measure of a particular set of living beings is described relative to fluent, Time, Quarter and Becoming (Bhava).

The present treatment will be limited only to the measure of the set of souls who have Mythic or false view, i e., the Mithya-drishti-Jiva-Rasi.

should be replaeed by $\overline{}|_{3}$ One may note that

$\overline{a}|_{a}$ stands for $\overline{a}|_{1}$

further $\overline{\overline{a}|_{1}}|^{\overline{a}|_{1}}$ stands for $\overline{a}|_{2}$

Similarly $\overline{\overline{a}|_{2}}|^{\overline{a}}$ stands for $\overline{a}|_{3}$

The original verses related in satkhandagama are ;

---

11. Cf. TPG pp 58-60, where $\overline{}|^{3}$

12. Cf. Ry pp 8, 129-134, 162-163 for details.

(1) How many are the Mythic view souls relative to Fluent-measure, in general ? (They) are Infinite.[13]

(2) Relative to time (the Mythic view souls) are not exhausted by Infinite-Infinite Hypo-serpentine and. Hyper-Serpentine (periods).[14]

(3) Relative to quarter (the Mythic view souls) are Infinite-Infinite Universes (lokas)[15]

(4) The knowledge of the (above) three (measures) is the Becoming measure.[16]

Now we proceed to expose the details given by Virasena.

FLUENT-MEASURE

This measure has been shown by Virasena to be equivalent to Iim, where the number is said to be between the following terms :[17]

$$\left[\left\{(Iij)^2\right\}^2\right]^{2\cdots\cdots} < Iim < \left[\left\{(Iiu)\, y^2\right\}^{y^2}\right]^{y^2\cdots\cdots} \quad \cdots\cdots(2\ 101)$$

Where the proeess of squaring and extracting square roots is an infinitum.

---

13. ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया ? अणंता ॥2॥
Cf. DT, verse 2.
14. अणंताणंताहि ओसप्पिणि-उस्साप्पिणीहि ण अवहिरंति कालेण ॥3॥
Cf. DT, verse 3.
15. खेत्तेण अणंताणंता लोगा ॥4॥
Cf. DT, verse 4.
16. तिण्हं पि अधिगमो भाव पमाण ॥5॥
Cf. DT, verse 5.
17. Cf. DT, p. 10.

In what follows, the set of the Mythic-view souls will be denoted by the symbol Jमि

TIME-MEASURE

Relative to time Jमि is such that it cannot be exhausted by the set of Samays (Instants) contained ih the past time. We shall denote this set of instants in the past by Kभू It is clear that this set is ordered and has for its order type w* Its elements are given as {.......... .....1, 3, 2, 1 }

By application of the method of one-to-one corresopndence,[18] Virasena compares the above two sets and shows

Kभू < Jमि .... (2 102)

This result is confirmed by comparing the above sets with the sixteen types of sets related in mixed comparability [19] Comparability means Alpa-bahutva.

Virasena derives that

$$\text{Jमि} = \text{Kभू}\left[\frac{\text{Jमि}}{\text{I}}\right] - \frac{(1\frac{6}{8}\ \text{month})\ \text{Kभू}}{(\text{S. S}\ \ \text{Kआ}+1)} + \text{Iyı}\ (\text{Kव}),$$

.............(2 103)

Where I is infinite, S is summable (samkhyata), $1\frac{6}{8}$ month denote the set of instants, Kव stends for one present instant. K आ is the set of instants contained in a single Avalika which consists of Ayj instants Here[20] I must stand for infinite, less than Iim, and it is then evident that Jमि >Kभू Then result shows that Jमि is not exhausted inspite of the fact that relative to the liberated souls the set of souls of the non-liberated or word's souls is continually losing.

---

18 Cf. DT, p 28.

19 Cf. DT, pp. 30 et seq, for "सोलह राशि गत अल्पबहुत्व"।

20 Cf. CT p 31.

QURTER MEASURE

Relative to quarter, or Kshetra, the measure of the set Jfि is said to be I_1 times the measure of the set L which is the set of space-points (Pradesas)[21] contained in Loka or universe beyond which is non-universe or empty space. Virasena follows the method of mapping of Jfि upon L, ie., by alloting to every space-point of the universe L an element of Jfि, and repeating the process I_1 times.

The Loka (universe) has 343 cublic Rajus of volume. A Raju is a unit of cosmological measure of the immense distances of the Loka. This length in a Euclidean flat space may be considered to be a straight line & the set of space-points contained in it may be denoted by R

The measure of space-points or Pradesas in R has been discussed by Virasena analytically[22]

Let the number of islands and oceans be n and the diameter of Jambudvipa be denoted in terms of the set of space-points contained in the stretch, Z. In the discussion, it appears that the term "gunide" should be replaced by "bhanide", otherwise results obtained would be incorrect.

Thus according to one of the schools,

$$\left[2^{\{n+1+\log_2 z\}}\right]=R \quad \ldots\ldots\ldots \quad (2\ 104)$$

or taking log both the sides,

$$n+1+\log z = \log R \quad \ldots\ldots\ldots (2\ 105)$$

According to the other school,

$$\left[2^{\{n+S+\text{Log}\ z\}}\right]=R \quad \ldots\ldots\ldots \quad (2\ 106)$$

If one insists on having "gunide" $\log 2_2$ will have to be interpreted for "Chinnavisitthama" and thus

---

21 Pradesa is the space occupied by an ultimate particle of matter, known as Pudgale-Paramanu.

Cf. R-Y, p. 135 for details.

22. Cf. DT, p 34 et seq. Cf. also TPG, pp. 99–102.

$$R = 2^{\{n+(1+S)+\log_2 z\} \log^2_2}$$

....(2.107)

Every ocean has an even number as its label and every island would have an odd nnmber for its label. Thus the "Savyambhu ramana" ocean would have n=2w for its lable. Its correspoding island would have n—1 or 2w—1 for its lable. Now the diameter of the ocean is 2^{2-w1} lacs of yojanas[23], Hence the measure of a Raju in lacs of Yojanas would be

$$1+2\ [\,2+2^2+2^3+\ \ldots\ \ldots\ \ +2^{2-2w-1}]$$

. . . . (2 108)

Whose run is $2^{2w+1}-3$ ... . .. (2.109).

This is the measure according to first school Now we proceed to find the value of $\log_2 R$ from the above, remembering that ultimately $\log_2$ of a lac of yojana will have to be determined in terms of space-points.

This first middle point or bisection (ardhaccheda) of the Raju, the width of the mid-universe, would lie at the centre of the Jambu dvipa from where the distance of the out skirt of the "Svayambhu ramana' ocean would be

$$\tfrac{1}{2}+[2+2^2+2^3+\ldots\ \ +2^{2w-1}]$$
$$=2^{2w}-\tfrac{3}{2} \text{ lace of Yojanas.}$$

(2 110)

The middle point of the above distance (2 110) would lie on or outside or the corresponding island because the distance of the out-skirt of the "Svayambhu ramana" island from the centre of the Jambudvipa is

$$\frac{1}{2}+\left[2+2^2+2^3+\qquad +2^{2^{w-2}}\right]$$

lacs of Yojanas, or, $2^{2w-1}-\frac{3}{2}$ lacs of Yojanas

. . (2 111)

---

23. Cf TPG, pp 18-23 for Raju and Yojana.

Dividing (2·110) by 2 we have

$2^{2^{w-1}} - \frac{3}{4}$ lacs of Yojanas

$$\ldots\ldots\ldots(2\cdot112)$$

As

$$2^{2^{w-1}} - \tfrac{3}{4} > 2^{2^{w-1}} - \tfrac{3}{2} \qquad \ldots\ldots(2\cdot113)$$

hence the second mid-section of the Raju will fall on the "Svayambyu ramana" ocean

Similary the third mid-section or ardhaccheda will lie on the corresponding island, because the distance of the centre of the ocean preceding the Svayambhuramana" island from its own. outskirt is

$$\tfrac{1}{2} + \left[2 + 2^2 + 2^3 + \ldots\ldots + 2^{2^{w-3}}\right]$$

$$= 2^{2^{w-2}} - \tfrac{3}{2} \text{ lacs of Yojanas,} \qquad \ldots\ldots\ldots\ldots(2.114)$$

Whereas the half of amount given in (2·112) is

$$2^{2^{w-2}} - \frac{3}{2^3} \qquad \ldots\ldots\ldots(2\cdot115)$$

And

$$2^{2^{w-2}} - \frac{3}{2^3} > 2^{2^{w-2}} - \frac{3}{2} \ldots\ldots\ldots\ldots(2\cdot116)$$

Similar it is obvious that

$$2^{2^{w-3}} - \frac{3}{2^4} > 2^{2^{w-3}} - \frac{3}{2}$$

— .. ..

. ...

and in general

$$2^{2^{w-(x-1)}} - \frac{3}{2^x} > 2^{2^{w-(x-1)}} - \frac{3}{2}$$

$$\ldots\ldots\ldots\ldots(2\cdot117)$$

Where x is the number of cuts or sections.

If we start from the "Svayambhu ramanan' ocean, then the Order-number of the "Lavana" ocean would be (2w–1). As the first cut lies on the centre of the Jambudvipa, the value of x is 2w. Substituting this value of x in (2.117), we have.

$$2^{2w-(2w-1)} - \frac{3}{2^{2w}} > 2^{2w-(2w-1)} - \frac{3}{2}$$

Or

$$2-\frac{3}{2^{2w}} > 2-\frac{3}{2} \qquad \ldots (2{\cdot}118)$$

The result shows that the 2w th cut lies on the "lavana" ocean.

This cut or section lies at a distance of $\left(\frac{1}{2}+\frac{3}{2^{w}}\right)$ lacs of Yojanas inside the "Lavana" ocean from its out skirt

Now on calculating the (2w+1) th cut, one gets

$1-\frac{3}{2(2w+1)}$ lacs of Yojanas which is greater than the radius of Jambudvipa Thus the (2w+1) th cut also lies inside the "Lavana" ocean This shows that two cuts lie inside the "Lavana" ocean The next cut lies at a distance of $1\frac{1}{2}+\frac{3}{2(2w+1)}$ lacs of Yojanas inwards, from the outskirt of the ocean It my be noted that n or 2w is some Asamkhyata number, therefor in the limit $\frac{3}{2(2w+1)}$ my be ignored

Thus after getting (2w+1) cuta of the Raju, $1-\frac{3}{2^{3w+1}}$ lacs of Yojanas of distance is left. The remaining argument may be seen from the test.

R has also been defined as follows .

$$\left[(\text{अं})^3\right]^{\left\{\frac{\log_2 \text{प}}{A}\right\}} = \text{श्रे} = 7R$$

(2 119)[24]

Where अ is the sct of space-points in the specified finer width प Is the set of instants contained in Palyopama period of time, and श्रे is the world-line or Jaga-sreni which is a set of space-point contained in a length of seven Rajus.

BECOMING–MEASURE—

The knowledge of the three foregoing measures is the Becoming measure or Bhave-pramana Virasena, perhaps on the basis of traditional knowledge, has deserided this in an analytical form in details through the methods of cut (khandita), division (bhaita), spread (viralana) reduction (aphrita), measure (pramana), reason (karana), explanation (nirukti), and extra-creation (vikalpa)[25]

The method of vikalpa (abstraction or extracreation) is classified as adhastana vikalpa (lower-abstraction) and uparima vlkalpa (higher abstraction) wher the use of the concepes of dharas (sequences) play roles, as muell as use is made of the logarithnrs to different bass.

An example regarding logarithrns is the equation

$$\frac{(J)^2}{\left\{\log_n\left(\frac{J^2}{J\text{मि}}\right)\right\}} = J\,\text{मि}$$

.. . (2 121)

3. APPENDIX

The following copy of a table from Artha Samdrishti chapter of Todaramala illustrate the symbolic expressions about measures of various types of sets relative to Fluent, Quarter, Time and Becoming measures.

24 Cf. TPG, p 22

25. Cf. DT, p, 40 et seq

नाम	जीव	पुग्दल	धर्म	अधर्म	लोकाकाश	मुख्य काल	व्यवहार काल	अलोकाकाश
द्रव्यमान	१६	१६ ख	१	१	१	≡	१६ ख ख	१६ ख ख ख
क्षेत्रमान	≡ ख	≡ ख ख	≡	≡	≡	≡	≡ ख ख ख	≡ ख ख ख ख
कालमान	अ ख	अ ख ख	क a	क a	क a	क a	अ ख ख ख	अ ख ख ख ख
भावमान	के ख ख ख ख	के ख ख ख	ओ a	ओ a	ओ a	ओ a	के ख ख	के ख

Here १६ is the set of all souls, ख is infinity, १ is unity, ≡ is the volume of universe or Loka as a set of space-points, अ or अ is the set of instants in the past, क is the set of instants in Kalpa (creation) period of time, ओ or ओ is the set of Avadhi (clairvoyance), a for asamkhyata, and के is the set of indivisible-corresponding-sections of the knowledge of Cmniscience.

2(Cf AS, p. 177

The first row may be rather translated as, name, Soul, Matter, Medium of motion, Medium of Rest, Universe, real time, practical time, non-universe (empty space), the words carrying some shade of the meaning attached to them.

The first column may be similarly translated as name, fluent-measure, quarter-measure, time-measure and becoming-measure.

REFERENCES

AS · "ARTHA SAMDRISHTI" of todaramala, Gandhi Hari Bhai Deokaran jain Granthamala, Calcutta. (date of publication not mentioned). Note : This chapter is on Jiva Kanda and Karma-Kanda of Gommatasara (pp. 1–308). There is one more chapter on "ARTHA SAMDRISHTI" on Labdhi-sara and Kshapan-asara by the author under the same publications (pp. 1–207). The work was completed by the author in A. D 1771 We shall denote the later chapter by ASL.

AST "ABSTRCCT SET THEORY" by A. A. Fraenkel, Amsterdom (1953)

BCM : "The Jain School of Mathematics" B.B Datta, Bul. Cal Math. Soc., vol XXI, 1929, pp. 115-145

DT . "DHAVALA TIKA samanvitah SHATKHANDAGMA'i, by Virasenacarya, book 3, edited by Hiralal Jain, Amaroti (1941).

JSM "On the Jain School of Mathematice", L. C. Jain, Chotelal Smriti Grantha, Calcutta (1667), pp 265–292

MD : Mathematies of Dhavala", A. N. Singh, Shat khandagama, vol IV, Amarasoti, (1942), V–XXI.

RAC . The Role of the Axiom of choice in the development of the Abstract Theory of Sets", doctoral thesis by W. L. Zlot,

Columbia University 1957, Library of congress numbur Mic 57-2164

RY : "REALITY" by S A Jain, (English translation of shri Pujyapadas 'SARVARTHASIDDHI'), Calcutta (1960)

TPG : "Tiloya Pannthi Ka Ganita", L.C Jain, reprinted from introduction to 'JAMBUDIVAPANNATTI SAMGAHO', Sholapur (1958), pp 1-104

खण्ड 3



साहित्य एवं संस्कृति

१५

पुष्पदन्त और सूरदास का कृष्णलीला चित्रण एक तुलनात्मक अध्ययन

□ डा० देवेन्द्रकुमार जैन

महाकवि पुष्पदन्त और सूरदास का समय, दार्शनिक मान्यतायें, भाषा और यहा तक काव्य वस्तु भी विभिन्न है फिर भी दोनो के कृष्ण-लीला वर्णन मे मूलभूत स नताएं हैं। पुष्पदन्त अपभ्रंश के कवि हैं, जबकि सू ास ब्रज भाषा के। एक का समय (१० वी सदी मध्य बिन्दु) देशी राज्यो के बीच सत्ता सघर्ष का समय था, जबकि दूसरे का (१६ वी सदी का उत्तरार्ध) मुगल सत्ता के उत्कर्ष का। एक ने अपने महापुराण की गिनी-चुनी सन्धियो मे कृष्ण का वर्णन किया है, जबकि दूसरे ने सूर सागर मे कृष्ण की समूची लीलाओ का गान किया है। श्रीमद् भागवत पर आधारित होते हुए भी सूर दसवे स्कन्ध मे इन लीलाओ को इतना विस्तार कर डालते हैं कि वह एक स्वतन्त्र काव्य-सर्जना बन गई है।

'सूर सागर' मे वर्णित कृष्ण लीलाओ के परम्परागत स्रोत के सम्बन्ध मे अभी तक धारणा यह है कि विद्यापति पदावली और गीत गोवन्द से सूर ने प्रेरणा ग्रहण की। आचार्य शुक्ल का कहना है कि सूर के लीलागान की कोई पूर्व-परम्परा (चाहे वह मौखिक ही क्यो न हो) थी। पुष्पदन्त के महापुराण मे वर्णित लीलाओ को देखकर सन्देह नही रह जाता कि ई० सदी दसवी मे कृष्ण की बाल और यौवन लीलाए अपने नये सन्दर्भ मे न केवल लोकप्रिय थी, वरन् उन्हे भाषा काव्य मे प्रवेश मिल चुका था। मोटे तौर पर, पुष्पदन्त कृष्ण की लीलाओ के साथ उनकी देवी (पौराणिक) लीलाओ का भी वर्णन करते हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सूर। यह नही कहा जा सकता कि प्रेरणा सूर ने पुष्पदन्त से सीधे ग्रहण की। फिर भी यह तो कहा जा सकता है कि दोनो के लीला वर्णन मे कुछ न कुछ मूल समानता है और यदि यह कि पुष्पदन्त ने परम्परागत जैन कृष्ण नेमि पुराण मे जो कुछ नई बाते जोडी वह लोकप्रियता के कारण। महापुराण की दो सन्धियो (८५-८६) मे कृष्ण लीलाओ का ही मुख्य रूप वर्णन है। शेष सन्धियो मे (८७-८८) मे जरासन्ध और तीर्थंकर नेमिनाथ के प्रसग मे श्री कृष्ण का चरित्र आता है।

पुष्पदन्त के अनुसार श्रीकृष्ण का जन्म सामान्य समय से पहले, अर्थात् ७ वें माह मे होता है और वह भी माता-पिता की बन्दी अवस्था मे। यही कारण है कि मारने की इच्छा रखने वाला कस उनके जन्म की बात नही जान पाता। वसुदेव नवजात बालक को गोद मे उठाते है। बलराम उस पर छत्र की छाया करते हैं और एक देव, बैल

वनकर अपने सीगो से प्रकाश करता हैं। उन्हें डर है कि कही शत्रु को इसका पता न लग जाय। धीरे-धीरे वे तीनो चलते हैं बालक के अंगूठे के छू जाने से गोपुर का द्वार खुल जाता है। उग्रसेन यह जानना चाहते है कि यह वालक कौन है? परन्तु उन्हे यह वताकर की यह वालक उन्हे सुख देगा, वे आगे वढ जाते हैं अब मन्द-मन्द लहराती यमुना नदी उनके सामने है, कृष्ण की जैसे नीराजना करती हुई। कवि अपनी भावना, यमुना पर आरोपित कर वर्णन करता है —

'गरूयरतु' तोउ रतवरू।
णं परिहई चुय– कुसुमहिं कव्वरू॥
विणरि-थण सिहरई णं दावइ।
विब्भ मेहिं ण ससऊ भावहि॥
फिणिमणि–किरणहिं ण उज्जोयह।
कमलच्छिहिं णं कण्हु पलोयइ॥
मिसिणिपत्तथालेहिं सुणिम्मल।
उच्चाइय ण खल कण-तन्दुल॥
खलखलति ण मगलु घोसई।
ण माहवहु पक्खु सा पोसई॥
णउ का सुवि सामण्णहु अण्णहु।
अवसें तूसइ जवण सवण्णहु॥
विहिं भाइहिं थक्कउ तीरिणिजलु।
ण घरणारि विहतउ कज्जलु॥

यमुना नदी कृष्ण के प्रति इतनी भक्ति-विभोर हो जाय कि गेरू से रगे जल के कपडे पहन ले, गिरे हुए फूलो का जूडा बना ले, स्नान करती हुई किन्नरियो के स्तनो से अपना वात्सल्य दिखाए, लहरो के विलास से विभ्रम पैदा कर दे, नागराज की मणि किरणो से आलोक विखेर दे, कमल की आखो से देखे, कमलिनी के पत्तो पर जलकणो के चावलो से आरती उतारे और कृष्ण को मार्ग देने के लिए स्वय दो टुकडो मे वंट जाय।

सूर ने कृष्ण-जन्म की घटना को पौराणिक सन्दर्भ मे लिया है। वहा कृष्ण योगमाया से देवकी के घर मे आते हैं और जन्म के वाद वसुदेव से कह देते हैं कि वह उन्हे गोकुल पहुंचा दें।

"अहो वसुदेव जाहु लै गोकुल
तुम हो परम सभागे।"

वसुदेव गोद मे ले जाते हैं और शेष नाग उन पर अपने फनो से छाया करता है। वह सीधे नन्द के घर पहुच कर कन्या से विनिमय कर मथुरा वापस आ जाते है। वचन के अनुसार वह कन्या कस को सौप दी जाती है। पुष्पदन्त ने इस प्रसग को एक दम वल दिया है। उसके मूल मे तत्कालीन लोक-विश्वास सक्रिय है। उनके अनुसार यमुना पार करते ही वलराम को नन्द मिलते हैं। उनके साथ मे नवजात कन्या है पूछने पर वह वताते है कि उनकी पत्नी यशोदा ने लडके की मनौती की थी परन्तु हुई लडकी। वह उसे वापिस करने जा रहे है। देवी लडका देगी तो ठीक नही तो उसकी लडकी उसे वापिस। वलराम अवसर का लाभ उठाते हुए कहते हैं—लो, यह लडका। यह देवी ने तुम्हे भेजा है और लडकी मुझे दो। वह लडकी लेकर चले जाते है। यहा भी लडकी कस को दे दी जाती है। कस उसके नाक-कान काटकर तल घर मे डाल देता है। कन्या बाद मे साध्वी बन जाती है लेकिन वह कृष्ण जन्म की सूचना नही देती जबकि सूर सागर मे जैसे ही कंस कन्या को पछाडता है, वह कृष्ण जन्म की सूचना दे देती है। महापुराण मे कस को कृष्ण-जन्म का पता वरूण ज्योतिषी से वहुत वाद मे चलता है। इसमे सदेह नही कि महापुराण और सूरसागर मे कृष्ण जन्म की आलौकिक पृष्ठभूमि और परिस्थितिया समान

रूप से वर्णित है परन्तु उसके कारण अलग-अलग है।

"महापुराण" मे कृष्ण की बाल लीलाओ के दो भाग है मानवी लीलाए, देवी लीलाएं, बालपन की लीलाए जैसे धूलधूसरित बालक का गोपियो का हृदय चुराना, मथानी पकड लेना, मन्दिर तोड लेना, अर्धवेलिया दही बिखेर देना, गोपियो का पकडना और मथानी तोडने के बदले आलिंगन मागना या दिन भर आगन की कैद।

कृष्ण शरीर की श्याम छाया से गोपी का सफेद वस्त्र काला होना, उसे धीने के प्रयास मे सहेलियो हसी का पात्र बनना, कभी भैंस का पाड़ा पकडना, और कभी गाय का बछडा। यशोदा का (गु जाभे दुय-रइअपयोगे) मू गो की गेद बताकर उसे छुडाना बालक का मक्खन खाना और उसे पास पाकर गोपियो का घर के काम मे मन न लगना।

भद्दइ नियडि बिर घरयम्मु ण।
लग्गइ बारिहिं ॥ (८५।६)

पुष्पदन्त ने जिसे प्रयोग कहा है, सूरदास ने बाल-विनोद के वर्णन मे ऐसे कई प्रयोगो का उल्लेख किया है।

घी के वर्तन मे अपना प्रतिबिम्ब देखकर कृष्ण उसे बुलाते हैं। यह देखकर नन्द यशोदा आपस मे हसते हैं.

"घयभायणि अवलोइवि भावइ।
णिय पडि बिम्बू विट्ठ बोल्लावइ।
हसइ णदु लेप्पिणु अवरूडइ।
तहु उरयलु परमेसरू मन्डइ।
इसी तथ्य को शब्दो मे देखिये.
"माखनखात हंसत किलकत हरि
स्वच्छ घट देख्यो।
निज प्रतिबिम्ब निरखि रिस मानत
जानत आन परेख्यो ॥"

दूसरी लीलाएं देवी लीलाए जिनमे से कृष्ण का आलौकिक व्यक्तित्व उभर कर आता है। "सूर सागर" मे चूंकि कृष्ण जन्म की खबर कस को बालिका से लग जाती है अत उसमे ये घटनाए प्रारम्भ से ही होने लगती हैं। महापुराण मे कस को कृष्ण के जन्म की बात उस समय ज्ञात होती है जब उनका पुण्य प्रताप बढ चुका होता है। कस दुस्वप्न देखता है। उसका फल देखने पर उसका ज्योतिष वरूण उसे कृष्ण जन्म की सूचना देता है। वह पूतना को भेजता है, कृष्ण उसका रक्त मास चूस लेते हैं। वह भाग खडी होती है, फिर नहीं आती है। एक दूसरे दिन बालक जब अपनी स्वाभाविक क्रीडा मे लीन रहता है तब शकटाकार बना कर देवी आती है और मुह की खाती है। मा ऊखल से बालक को बाध कर यमुना किनारे चली जाती है। बालक उसके पीछे लगता है, एक राक्षस वृक्ष फेकता है जो उसकी बाहुओ से टकराकर नष्ट हो जाता है।

एक गर्धी और अश्व आते हैं, दोनो पराजित होते हैं। पनिहारिनें यशोदा को सब बाते बताती हैं। वह घबडाकर आती है और हाथ फेरकर देखती है कि कही बालक को चोट तो नही है? उसका बन्धन खोल देती हैं। बालक अरिष्ट को पछाडता है और उसकी कीर्ति सारी गोकुल बस्ती मे फैल जाती है। मा को जब मालूम होता है तो वह कुढती है. सोचती है कि कोख से बालक नही—राक्षस पैदा हुआ है। लोग तमाशा देखते हैं और मेरा लाल अकेला ही संकट से भिड़ जाता है। वह उसे नंद-गोठ ले जाती है। कृष्ण को मथुरा बुलाने

के लिये कस अपनी कन्या के स्वयवर का ढोग रचता है। जरासघ के पुत्रो के साथ कृष्ण भी हो लेते हैं। वर्षा मे गोर्वधन उठाने से उनकी कीर्ति दूर-दूर तक फैल जाती है। भानु सुभानु के साथ कृष्ण मथुरा जाते हैं। वे स्वयवर की तीनो बातें कर देते हैं। कस उन्हे मारने दौडता है। वलराम सब बात नन्द को बताते है। नद वहा से हटकर नद गोठ की स्थापना करता है। कस वहा भी पीछा नही छोडता। इन्दीवर चयन और चाणूर-वध के बाद वह कंस का काम तमाम करता है। आकाश के फूलो की वर्षा होती है। एक उद्धारकर्त्ता के रूप मे उनकी सब ओर प्रशसा होती है।

सूर सागर मे ये घटनाए न केवल विस्तार से आती है, अपितु इससे कुछ अधिक घटनाए आती हैं। उदाहरण के लिये उसमे कनछेदन आदि सस्कार, बालक की दैनिक चर्या, बालहठ आदि बातें विस्तार से आती हैं। इसके दो कारण है, एक तो सूर सागर मे स्थान अधिक है। दूसरे कवि अपनी प्रभु भक्ति की रसात्मक अनुभूति के लिए उन्हे विस्तार देता है।

पुष्पदंत ने बाल लीलाओ का ही प्रत्यक्ष वर्णन किया है। यौवन लीलाओ का वर्णन उन्होने जान बूझकर नही किया। लेकिन इन लीलाओ की जानकारी उन्हे थी। पुष्पदंन्त राक्षस द्वारा दो वृक्षो के गिराये जाने की बात तो करते हैं, पर वे हिन्दू पुराणो की उस मान्यता का उल्लेख नही करते, जिसके अनुसार उलूखल वाली घटना का सम्बन्ध कुबेर के बेटे, यमलार्जुन के उद्धार से है। सूरसागर मे यशोदा पुष्पदत की तरह बाहर नही जाती, घर मे ही रहती, कृष्ण चुपके से निकल जाते है। इसी प्रकार पुष्पदत बाल विनोदो के उपरात घटित होने वाली शृगार लीलाओ के वर्णन के विषय मे मौन हैं। कुछ हिन्दू पुराणो मे वर्णित देवी घटनाओ का वर्णन भी इसमे नही है। लेकिन कस द्वारा "कालिया दह" से कमल लाकर देने की घटना का वर्णन दोनो करते हैं। कस का यह आदेश सुनकर दोनो की प्रतिक्रिया एक सी होती है। पुष्पदत के नद की प्रतिक्रिया यह है

"ता णदु कवइ—सिरकमलु धुवइ
जहि दीप सरणु तहि ढुक्कु नरगु
जहि राउ हणइ अण्णऊ कुणइ
किं धरइ अण्णु तहि विगमगण्णु
हउ काइ करमि लइ जामि भरमि।

इसी घटना का आभास सूर की यशोदा को अपशकुनो से होता है। वह चौंक जाती हैं। वह और नद करे तो करें क्या ? कभी घर के भीतर है और कभी बाहर।

"खन भीतर खन आंगन ठाड़े,
खन बाहर देखत है जाइ।"

महापुराण के वर्णन-क्रम से सूरसागर के वर्णन-क्रम मे मुख्य महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि एक मे कृष्ण जरासघ के पुत्र भानु-सुभानु के अनुचर बनकर जाते हैं, जहा कस की कन्या के स्वयबर की तीनो शर्तो (नागशमन, शंख और धनुष) को पूरा कर देते हैं। कश अपने शत्रु को पहिचान लेता है और उसके ससैन्य वध की योजना बनाता है। बलराम यह बात नद को बताते है। नद सुरक्षा की दृष्टि से दूसरी बस्ती बताते हैं—"नदगोकुल" कस पीछा नही छोडता। वह यमुना के कमल लाने का आदेश भेजता है। इसकी नद पर गहरी प्रतिक्रिया होती है। कृष्ण न केवल कमल तोडकर लाते है, प्रत्युत हाथी और चाणूर के का भी काम तमाम कर देते हैं। आकाश से कुसुम वृष्टि के बीच

श्रीकृष्ण का अपने कुल के उद्धारक के रूप मे अभिनन्दन किया जाता है। उग्रसेन को मथुरा के राज्य पर स्थापित कर वह थौरीपुर जाने का निश्चय करते हैं। "सूरसागर" मे कस, कृष्ण को लेने के लिए अक्रूर को भेजता है। कृष्ण के साथ केवल नद जाते हैं—यशोदा और दूसरी गोपिया नही जाती है। देवकार्य (कस वध) होने के बाद भी, जब कृष्ण वृन्दावन नही जाते तो नन्द लौट आते हैं। कृष्ण के बिना उनकी इस वापसी पर यशोदा और गोपियो पर गहरी प्रतिक्रिया होती है। बाद मे कृष्ण कुशल सदेश देने के लिए उद्धव को भेजते हैं। उद्धव से निर्गुण साधना का उपदेश सुनकर गोपियों को गहरा आघात लगता है। वे उसका कड़ा विरोध विरोध करती है और इस प्रकार प्रेमभक्ति के समर्थन मे उपालम्भ प्रधान एक नया आख्यान चल पडता है। उद्धव, कुब्जा और राधा उसके प्रमुख पात्र या कोण है। पुष्पदत के कृष्ण काव्य मे उनका अभाव है। उनके अनुसार कृष्ण के साथ ग्वाल बाल सहित नन्द यशोदा भी मथुरा मे जाते हैं। थोरीपुर जाने के पहले वे सब की कामनाएँ पूरी कर बिदाई देते हैं। वह स्वीकारते हैं कि नन्द यशोदा का उन पर बहुत बडा उपकार है कि वे उसे भूल नही सकते—

"इय गोवीयरा वयणई सुरातु
कीलइ परमेसरू दर हसतु
सभासियऊ मेल्लिवि गव्वनाऊ
इह जन्महु महु तुहु तायताउ
परिपालिउ थरा थरारोरा जाइं
कीसरमि न खरगु भि जसोइमाइ
कइवय दियहिइ तुहुं जाहि ताम
पडिवक्ख कुलक्खऊ करभि जाय।"

इस प्रकार, गोपीजनो की बातें सुनते और कुछ हसते हुए परमेसरु क्रीडा करते रहे। बाद मे गर्व-भाव छोड कर उन्होने कहा—"इस जन्म मे आप मेरे तात हैं। मैं यशोदा माता को एक क्षरण के लिए भी नही भूल सकता, जिसने स्तन का दूध पिलाकर मुझे पाला है। कुछ दिनो के लिए आप लोग चले जाय, तब तक मैं शत्रुओ का नाश कर लू।

कृष्ण की कृतज्ञता के इस स्वर की अनुगंज सूर सागर मे कहा सुनाई देती है, जब उद्धव को सदेश देते हुए कृष्ण कहते हैं

"ऊधो मोहि ब्रज विसरत नाही
प्रात समय माता जसुमति
अरू नद देखि सुख पावत
माखन रोटी दही सजायो
अति हित साथ खबावत।"
"अनगन भाति करी बहुलीला
जसुदा नद निवाही"

ऊपर कहा जा चुका है कि गोपियो की बाते सुनकर कृष्ण कुछ मुसकाते रहे। आखिर ये वचन क्या थे। वास्तव मे इन वचनो के बहाने पुष्पदन्त ते अपने कौशल से कृष्ण की सयोग लीलाओ की झलक दे दी है। मथुरा मे ही कुछ दिनो तक कृष्ण के साथ रति क्रीडा (रइ कीलिरेहिं) करने वाली गोपिया उनसे कहती है—

कइ वय दियहहिं रइ कीलिरीहिं।
कोल्लावाउ पहु गोवालिणीहिं॥
पंगुत्तउ पइ माहव सुहिल्लु।
कालिंदि-तीरि मेरउ कहिल्लु।
एवंहि महुरा-कासिणिहिं रत्तु।
महु उपरि दोसहि अथिर चित्तु।
कवि भणइ दहिउ मथति यादू।
तुहु मइं धरियउ उब्भतियाइ।

लवणीय वित्तु करू तुज्झुलग्गु ।
कवि भणइ पलोयइ भज्भु भग्गु ।
तुहु णिसि णारायण सुर्याहि णाहि ।
आलिंगिउ अवरहिं गोवियाहिं ।
सो सुयरहि किण पउण्णवड्ढु ।
सकेय कुड गुडीडण रिड्ढु ।

घत्ता कावि भणइ वासन्तु उद्ध रिवि खीरभिंगारउ ।
कि वीसरियउ अज्जु ज मइ सित्तु भडारउ ॥
(८६।१०)

हे माधव ! तुमने यमुना के किनारे मेरे कटि-वस्त्र का अपहरण किया था और अब मथुरा की स्त्रियो पर तुम अनुरक्त हो, हम से तुम्हारा मन फट गया है । कोई कहती है—

दही मथते मैंने तुम्हे पकड लिया था और तुम्हारा मक्खन लिपटा हाथ मुझे लग गया था । कोई कहती—

तुम मेरा मार्ग देखो, रात तुम सो नही सके, दूसरी गोपियो ने तुम्हारा आलिंगन किया है । तुम्हारा रतिमुख से मन नही भरा और तुम सकेत विटप के पास जाने को उत्सुक हो ।
कोई कहती—

क्या तुम भूल गए, जब मैंने दूध के फूटे वर्तन से तुम्हारा अभिषेक किया था ।

यह वचन स्वयं बताते है कि पुष्पदन्त को कृष्ण की सयोग लीला कहानी का पूरा और गहरा परिचया था । इतना ही नही—उन्होने कृष्ण को एक जगह राधिका रमण-अर्थात् राधा का प्रिय कहकर (८८।१४) राधा से उनके सम्बन्ध का भी बोध करा दिया है । इन सूत्रो को जोड देने से कृष्ण की गोपियो और विशेष रूप से राधा के साथ प्रणय लीलाओ का चित्र हमारे सामने खिच जाता है और भारतीय साहित्य मे वर्णित पूर्व सूर-लीलाओ का लिखित प्रामाणिक सूत्र मिल जाता है—

तर्णक्य वलय—विहुसिय—कंस
वर्ण—कणियारि- कुसुम—रय—पिंजरू ।
संसुसिर वेणु—सद्द—मोहि—जणु
धरणि—धाउ—मण्डिय तणु ।
कूर—णिवन्धण—वेढिय—कन्दलु
कन्दल—पोसिय—महिसी—दलु ।
घत्ता—
गुंजा—हल—जडिय—दंडय—विहत्यु संचिल्लउ ।
महिवह—तणु—रूढेण आसण्णु पढुक्कु वोल्लिउ ।
(८५।१६)

और यह कहा जा सकता है कि अपनी दार्शनिक और पौराणिक भिन्नताओ के होते हुए भी—दोनों कस के सन्दर्भ मे कृष्ण जन्म की पूर्व पृष्ठ भूमि स्वीकार करते हैं । दोनो मानते हैं कि कृष्ण का जन्म असाधारण परिस्थितियो में हुआ, उनका अधिकाश जीवन लोक धर्म और राजनैतिक समाज व्यवस्था के सिद्धान्तों की स्थापना मे हुआ । कृष्ण का प्रारंभिक व्यक्तित्व चाहे जो रहा हो परन्तु मानवलीलाओ के मिश्रण से उनका व्यक्तित्व मनुष्य की बाल और यौवन लीलाओ की अभिव्यक्ति का प्रतीक बन गया और इस प्रकार उनके व्यक्तित्व भी अन्तिम परिणति सामान्य लोक जीवन की सुख दु खमय घटनाओं से जुड जाती है । वात्सल्य और शृगार का ऐसा नायक कि जो सबके हृदय को छू सके, जो सब में रम सके, और सबको रमा सकें, विश्व साहित्य मे दूसरा नही मिल सकता । जैन दार्शनिक दृष्टि से कृष्ण की ये लीलाएं राग मूलक अथवा प्रवृत्ति मूलक मानी जायेगी परन्तु हिन्दू दर्शन के अनुसार कृष्ण अवतार होने से इनमे व्यक्तिगत रूप से लिप्त

१६

मध्यकाल के राजस्थानी जैन काव्यों का वर्गीकरण

डा० देव कोठारी

जैन साहित्य के निर्माण एव सुरक्षा की दृष्टि से राजस्थान प्रदेश का वातावरण सर्वाधिक अनुकूल रहा है । यहा के जैन शास्त्र भण्डारो मे प्राकृत अपभ्रंश, सस्कृत, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषाओ मे लिपिबद्ध रूपात्मक तथा विषयात्मक विपुल हस्तलिखित साहित्य इसका पुष्ट एव प्रबल प्रमाण है ।

किन्तु मध्यकाल मे यहा जितना अधिक जैन सर्जित हुआ, उतना अन्य किसी शताब्दी मे नही हुआ । उस विपुल साहित्य मे भी राजस्थानी भाषा मे जैन काव्यो की रचना अत्यधिक परिमाण में हुई । वास्तव मे यह काल राजस्थानी जैन काव्य के निर्माण का स्वर्णकाल था । राजस्थानी के अधिकतर उत्कृष्ट जैन कवि इसी काल मे हुए तो काव्य सौष्ठव की दृष्टि से भी सर्वश्रेष्ठ राजस्थानी जैन काव्य इसी अवधि मे लिखे गये । इस काल के राजस्थानी के प्रसिद्ध जैन कवियो मे हेमरत्नसूरी, उपाध्याय जयसोम, सारग, उपाध्याय गुणविनय, महोपाध्याय समयसुन्दर पुण्यकीर्ति, भुवनकीर्ति, जिनोदयसूरि, जिनराजसूरि, केशराज, जटमल, महोपाध्याय लब्धोदय, सहजकीर्ति, श्रीसार, कनककीर्ति, उपाध्याय कुशलधीर, जिनसमुद्रसूरि, त्रीकममुनि, जयरग, लक्ष्मीवल्लभ, उपाध्याय लाभवर्द्धन, समयप्रमोद, कनकसुन्दर, महिमसुन्दर, लावण्यकीर्ति, जिनरगसूरि, कातिविजय, जयसोम तपागच्छी,य महिमोदय, धर्ममन्दिर, कनकनिधान, लोहट, खेतल, धनानन्द आदि प्रमुख है । इनकी राजस्थानी जैन काव्य रचनायें सैकडो की सख्या मे विविध जैन और जैनेतर ग्रन्थ भण्डारो मे सुरक्षित हैं । ये रचना प्रबन्ध और मुक्तक दो रूपो मे पाई जाती है—

प्रबन्ध काव्य

राजस्थानी के जैन प्रबन्ध काव्यों मे महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनो सम्मिलित हैं । इन काव्यो के नामकरण काव्य की नायक-नायिका अथवा कथा वस्तु मे जैन धर्म के मुख्य चर्चित सिद्धात के अनुसार या काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर हुआ है । ये जैन प्रबन्ध काव्य रस, चौपाई, वेलि, फागु, चर्चरी, चरित, सन्धि, धवल, बारहमासा, विवाहलो, प्रवाडा, प्रबन्ध आदि काव्य-रूपो मे सर्जित हैं ।

किन्तु मध्यकाल मे 'रास' काव्य के स्वरूप और शैली मे व्यापक परिवर्तन हो गया । लोकगीतो की देशियो तथा दोहो का प्रयोग इस अवधि के रासो काव्य मे अधिक हुआ । किसी-किसी रास मे चौपाई छन्द का प्रयोग भी किया गया, फलस्वरूप रासो को चतुष्पदी या चौपाई सज्ञा से भी अभिहित किया जाने लगा । कुछ ऐसी रचनाए भी उपलब्ध होती है, जिनमे चौपाई छन्द का प्रयोग नही किया गया है, फिर भी उनका नामकरण 'चौपाई' के नाम से किया गया है । ऐसी रचनाए आगे चल

कर चरित काव्यादि के लिये रूढ हो गई। परिणाम यह हुआ कि रास व चौपाई मे कुछ विशेष अन्तर नहीं रह गया और एक ही प्रकार की रचना को किसी ने रास तो किसी ने चौपाई के नाम से सबोधित किया।

इसी प्रकार 'सन्धि' शब्द अपभ्रंश काव्यो मे अध्याय अथवा सर्ग के लिये प्रयुक्त होता था किन्तु आलोच्यकाल मे जब अपभ्रंश मे सृजन कार्य अत्यन्त सीमित हो गया तो सन्धि शब्द राजस्थानी जैन काव्यो मे प्रबन्ध काव्य के लिये रूढ हो गया। इस काल मे फागु, विवाहलो, चर्चरी, प्रवाड आदि सज्ञक रचनाओ का निर्माण कम हुआ परन्तु रासो व चौपाई की तरह वेलि नामान्त रचनाएं काफी सख्या मे लिखी गई। इस अवधि मे पाये जाने वाले प्रबन्ध काव्यो का विषयानुसार वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है —

(क) धार्मिक व पौराणिक प्रबन्ध काव्य।

(ख) ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्य

(ग) उपदेशात्मक प्रबन्ध काव्य

(घ) कथात्मक प्रबन्ध काव्य

(ङ०) प्रेमव्य जनामूलक प्रवन्ध काव्य

धार्मिक व पौराणिक प्रबन्ध काव्य

इस वर्गीकरण के अन्तर्गत धार्मिक व पौराणिक आख्यानो से सम्बन्धित प्रबन्धकाव्य आते है। अधिकाश प्रबन्ध काव्य रामायण महाभारत एव अन्य कथानको से सम्बन्धित है। इनकी कथावस्तु जैन धर्म की मान्यता के अनुरूप गुम्फित है। उदाहरणार्थ कतिपय ऐसे प्रबन्ध काव्य इस प्रकार हैं।

नाम कृति	कर्त्ता	रचनाकाल
१. अञ्जना सुन्दरी रास[१]	उपाध्याय गुणविनय	वि० सं० १६६२
२ नल दमयन्ती प्रवन्ध[२]	,, ,,	वि० सं० १६६५
३. सीताराम चौपाई[३]	महोपाध्याय समयसुन्दर	वि० स० १६७७
४. रामयशो रसायणरास[४]	केशराज	वि० स० १६८३
५ हरिचन्द रास (चोपाई)[५]	महोपाध्याय सहजकीर्ति	वि० स० १६९७
६. द्रोपदी चौपाई[६]	विनय मेरू	वि० स० १६९८
७ रूकमणी चरित[७]	जिनसमुद्रसूरि	—

१. वडा उपाश्रम, बीकानेर हस्तलिखित प्रति. ग्रन्थाक १०३१
२ जैन गूर्जर कविओ, भाग–३ खण्ड १, पृ० ८३२
६ अभय जैन ग्रन्थालय, वीकानेर, ग्रन्थाक ४४०१
४ जैन गूर्जर कविओ, भाग–३ खण्ड–१ पृ० १०१५
५. अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, ग्रन्थाक ३७००
६, परम्परा (त्रैमासिक) भाग १५–१६, पृ० ८१
७. राजस्थानी (त्रैमासिक) भाग २, पृ० ४७

८. मोह विवेक रास[८]	धर्म मन्दिर	वि० स० १७४१
९. परमात्म प्रकाश चौपाई[९]	" "	वि० सं० १७४२

एतिहासिक प्रबन्ध काव्य

ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्य जैन धर्म के प्रभावक आचार्यों व जैन सघ के प्रमुख श्रावको से सम्बन्धित है। इनमे से ऐसे प्रभावक आचार्यों व श्रावको के प्रमुख कार्यो का अकन किया गया है, ताकि भावी पीढी उनसे प्रेरणा ग्रहण कर सके, ऐसे कुछ प्रबन्ध काव्य निम्न है—

१. कर्मचन्द वंशावलीरास[१०]	उपाध्यायगुण विनय	वि० स० १६५६
२ जिनचन्द्रसूरि निर्वाण रास[११]	समय प्रमोद	वि० स० १६७०
३. संघपति सोमजी निर्वाणवेलि[१२]	समय सुन्दर	वि० स० १६७० के बाद
४. विजयसेन सूरि निर्वाण स्वा[१३]०	गुणविजय	वि० स० १६८३
५. सुजस वेलि[१४]	कातिविजय	वि० स० १७४४ के लगभग

उपदेशात्मक प्रबन्ध काव्य

जैन धर्म की मान्यताओ व सिद्धान्तो को उपदेशात्मक तरीके से इन प्रबन्ध काव्यो मे प्रस्तुत किया गया है। कतिपय ऐसे प्रबन्ध काव्य निम्नलिखित है—

१. बारह व्रत रास[१५]	उप० गुणविनय	वि० स० १६५५
२. चार कषाय वेलि[१६]	विद्याकीर्ति	वि० स० १६७० के लगभग
३. बृहद्गर्भ वेलि[१७]	रत्नाकरगणि	वि० स० १६८०
४. पचगति वेलि[१८]	हर्षकीर्त्ति	वि० स० १६८०
५ बारह भावना वेलि[१९]	जयसोम	वि० स० १७०३

---

८. हस्तलिखित ग्रन्थो की सूची (जोधपुर), भाग १, पृ० २१६
९. जैन गूर्जर कविओ, भाग–२, पृ० २४०
१० वही, भाग–३, खण्ड १, पृ० ८३० ११. वही, पृ० ८९८
१२. समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० ४१५– १७
१३. जैन गूर्जर कविओ, भाग–१, पृ० ५२१ १४. वही, भाग-६, खण्ड–२, पृ० १२०९
१५ जैन गूर्जर कविओ, भाग ६, खण्ड १, पृ० ८२९
१६. अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर ग्रन्थाक ८६२९
१७. ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वड़ौदा, ग्रन्थाक १९१९०
१८. दिगम्बर जैन मन्दिर ठोलिया, जयपुर,
१९. अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, ग्रन्थाक ८५८६

६. धर्मवुद्धि पापवुद्धि चौपाई[२०] लाभवर्द्धन वि० स० १७४२

कथात्मक प्रवन्ध काव्य

कथात्मक प्रवन्ध काव्य जैन धर्म के तीर्थंकरो की जीवन कथाओ से सम्वन्धित है। प्रसंगानुसार तीर्थंकरो के जीवन व पूर्वभव की अन्य कथाओ का उल्लेख भी इनमे किया गया है। उदाहरण स्वरूप कुछ कथानक प्रवन्ध काव्य निम्न हैं—

१ वर्द्धमान जिन वेलि[२१]	सकलचन्द	वि० स० १६४३–६०
२ पार्श्वनाथ गुण वेलि[२२]	जिनराजसूरि	वि० सं० १६८६
३. पार्श्वनाथ रास[२३]	जिनसमुद्रसूरि	वि० स० १७१३
४. गुणसागर पृथ्वीवेलि[२४]	गुणसागर	वि० स० १७२४
४. आदिनाथ वेलि[५]	भट्टारक धर्मचन्द	वि० स० १७३०

प्रेमव्यंजनामूलक प्रबन्धकाव्य

इस श्रेणि के प्रवन्ध काव्यो के कथानक प्रेमव्यजनामूलक है। नायक-नायिका की प्रेमाभिव्यक्ति और एक-दूसरे को प्राप्त करने के प्रयास मे आने वाले संघर्षों का मुख्य रूप से इनमे चित्रण किया गया है। अन्त मे नायक नायिका के आत्मोद्धार का उल्लेख भी हुआ है। कथानक अधिकाशत जैन धर्म की लौकिक व पौराणिक कथाओ से सम्वन्धित है। अन्य प्रेम कथानको से युक्त काव्य भी मिलते हैं। उदाहरण इस प्रकार है।

१. मृगावती रास[२६]	समय सुन्दर	वि० स० १६६८
२ सिंहलसुत चौपाई[२७]	,,	वि० स० १६७२
३ पुण्यसार चौपाई[२८]	,,	वि० स० १६७३

---

२०. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, ग्रन्थाक ४०५६

२१ लालभाई दलपत भाई भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदावाद के कस्तूरभाई मणिभाई के सग्रह मे सुरक्षित, ग्रन्थाक ११३१

२२ जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड १, पृ० १०४६

२३ परम्परा (त्रैमासिक), भाग १५, १६ पृ० ६५

२४ डा० नरेन्द्र भानावत, राजस्थानी वेलि साहित्य, पृ० ३४०

२५ वही, पृ० २३४–३५

२६ डा० रामगोपाल गोयल–राजस्थानी प्रेमाख्यान परम्परा और प्रगति, पृ० ४८

२७ भवरलाल नाहटा-समयसुन्दर रास पचक, पृ० १-२४

२८ वही, पृ० १२०–१४८

४. लीलावती चौपाई[29]	हेमरत्न	वि० स० १६७३
५. पद्मिनी चरित चौपाई[30]	लब्धोदय	वि० स० १६८०
६. गोराबादल चौपाई[31]	जटमल	वि० स० १६८०
७. प्रेमविलास प्रेमलता चौपाई[32]	जटमल	वि० स० १६९३
८. लीलावती चौपाई[34]	लाभवर्द्धन	वि० स० १७४२

मुक्तक काव्य

राजस्थानी जैन प्रबन्ध काव्यो की तरह राजस्थानी जैन मुक्तक काव्य भी मध्यकाल मे संख्या, रूप एवं विषय-वैविध्य की दृष्टि से अपरिमित प्राप्त होते हैं। प्राय समस्त मुक्तक काव्यो का मूलस्वर धर्म व नैतिक जीवन के उत्थान के साथ-साथ आत्म कल्याण की अटूट भावना है। फलस्वरूप यह काव्य शान्त रसात्मक भक्ति का अ ग बन गया है। औपदेशिक प्रवृत्ति भी इनमे उपलब्ध होती है। किन्तु उसका स्वर भी भक्ति प्रधान ही है। इस कारण इन मुक्तक काव्यो को कण्ठस्थ करने की सामान्य प्रवृत्ति जैन समाज मे रही है। मन्दिरो मे पूजा, उत्सव एवं अन्य मागलिक अवसरो पर तन्मयता के साथ तथा भाव विभोर होकर विभिन्न देशियो मे गाना इनकी मुख्य विशेषता है। इनमे रचनाकाल का उल्लेख अत्यल्प पाया जाता है। अतः इन रचनाओ का निर्माण कारण कवि-समय ही मानना उपयुक्त रहता है।

रचनात्मक वर्गीकरण

मध्यकाल मे रचित राजस्थानी जैन मुक्तक काव्य बारह प्रकार के विभिन्न काव्य-रूपो मे उपलब्ध होता है, यथा—

(१) सख्यामूलक मुक्तक काव्य

ये वे मुक्तक काव्य है, जिसके नाम पद्यो की सख्या सूचक होते हैं। अर्थात् जिनका नामकरण उस रचना की कुल पद्य सख्या की ओर सकेत करता हुआ होता है, जैसे—

पचक, अष्टक, नवरसा, वीसी, इक्कीसी, चौबीसी, पच्चीसा, इकतीसी, बत्तीसी, छत्तीसी, चालीसी, पच्चासा, बावनी, सत्तरी, पिचहत्तरी, छिहत्तरी, शतक (सईक), सतसई, हजारा, मातृका, कक्का आदि।

छन्दमूलक मुक्तक काव्य

विशिष्ट छन्दो मे लिखे गये मुक्तक काव्य छन्दमूलक मुक्तक काव्य की श्रेणी मे आते है। ऐसे काव्य, छन्द के नाम से ही अभिहित किये जाते हैं। उदाहरणार्थ-निसाणी, गजल, छन्द, छप्पय, कुण्डलिया, लावणी, दोहा, गीत, ढाल, ढालिया

---

२९. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर ग्रन्थाक ३५००

३०. भवरलाल नाहटा-पद्मिनी चरित चौपाई, पृ० १-१०८

३१. वही, पृ० १८२-२०८

३२. जैन गूजर कविओ, भाग ३, खण्ड १, पृ० ४०१३

३३. अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, ग्रन्थाक ४०१३

आदि । इसमे ढाल व ढालिया जैन कवियो का प्रिय विशिष्ट छन्द है ।

(३) वन्दनामुलक मुक्तक काव्य

जिन राजस्थानी जैन मुक्तक काव्यो के द्वारा परमात्मा, तीर्थंकर अर्हत्, साधु, मूर्ति, देवी-देवता आदि की स्तुति या वन्दना की जाती है, वे रूप इस मे सम्मिलित किये जा सकते हैं—यथा-स्तुति, स्तव, स्तवन, स्तोत्र, थूई, पूजा, वन्दना, नमस्कार, पारणा, गडूली, कलश, प्रभाती, माझी, अभिषेक, घुपद आदि ।

(४) बुद्धिपरीक्षा मूलक मुक्तक काव्य

इस प्रकार के राजस्थानी जैन मुक्तक काव्यो को विभिन्न प्रकार से वुद्धि की परीक्षा, विकास या मनोरजन करने के उद्देश्य से लिखा जाता है, जैसे—हीयाली (पहेलिका), गूढा, समस्या, सिलोका आदि)

(५ उपदेशमूलक मुक्तक काव्य

इस प्रकार का मुक्तक काव्य समाज मे लोगो को उपदेश देकर सही आचरण करने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से लिखा जाता है, उदाहरणार्थ उपदेशी, सीख, बोल, थोकडा सज्ञक रचनाएं इसी श्रेणी मे आती है ।

(६) संवादमूलक मुक्तक काव्य

ऐसी रचनाओ मे दो वस्तुओ के मध्य चाहे विवाद हो अथवा न हो, इसको गौण मानते हुए एक वस्तु का दूसरी वस्तु से गुण, अवगुण, महत्त्व और हीनता का सवादात्मक काव्य रूप मे वर्णन होता है । सवाद, वाद, झगडो आदि सज्ञक रचनाएं इसी श्रेणी मे आती हैं ।

(७) मंगलमूलक मुक्तक काव्य

मागलिक अवसरो पर गाई जाने वाली रचनाए इसी काव्य रूप के अन्तर्गत आती है । बधावा या बधावणा के रूप मे ये उपलब्ध होती है ।

(८) तीर्थयात्रा मूलक मुक्तक काव्य

धार्मिक तीर्थों, उनकी यात्राओ, सघ-वर्णनो आदि से सम्वन्धित काव्य इस रूप के अन्तर्गत सम्मिलित किया जा सकता है, यथा-तीर्थमाला, चैत्य परिपाटी, चैत्य परिवाडी, सघ वर्णन ।

(९) मालामूलक मुक्तक काव्य

जिन राजस्थानी जैन मुक्तक रचनाओ के के शीर्षक के साथ 'माला' शब्द जुडा हो, उन्हें इस काव्य रूप के अन्तर्गत रखा जा सकता है । नाम माला, रागमाला, रूपकमाला, माला, मालिका, तीर्थमाला, मुनिमालिका आदि सज्ञक रचनाए इसी प्रकार की है ।

(१०) संगीतमूलक मुक्तक काव्य

जिन राजस्थानी जैन मुक्तक काव्यो को तालियो की ताल देते हुए तथा सगीत की लय के साथ पावो का ठेका देते हुए, रास की तरह गोलाकार घूमते हुए गाया जाता है, उन्हे इस श्रेणी मे सम्मिलित किया जाता है । हीच व हमचडी ऐसी रचनाए है ।

(११) स्वाध्याय मूलक मुक्तक काव्य

इस प्रकार का मुक्तक काव्य स्वाध्याय, मनन व अनुशीलन से सम्वन्धित है, यथा-स्वाध्याय, सज्झाय, कुलक आदि रचनाएं ।

(१२) अन्य मुक्तक काव्य

अन्य किसी श्रेणी मे नही आने वाले काव्यों-रूपो को इस वर्गीकरण के अन्तर्गत रखा गया है जैसे—प्रवहण, वाहण, गीत आदि ।

विषयनुसार वर्गीकरण

मध्यकाल मे पाये जाने वाले उपर्युक्त समस्त राजस्थानी जैन मुक्तक काव्य-रूपो का वर्ण्य-विषय विविध प्रकार के है। अत विषय विधिता की दृष्टि से जैन मुक्तक काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१ धार्मिक व सैद्धान्तिक मुक्तक काव्य
२. उपदेशात्मक मुक्तक काव्य
३ ऋतु व तिथि सम्बन्धी मुक्तक काव्य
४. स्तुति प्रधान मुक्तक काव्य
५ तीर्थ व यात्रा प्रधान मुक्तक काव्य
६. ऐतिहासिक मुक्तक काव्य
७ बुद्धि परीक्षा प्रधान मुक्तक काव्य
८. वर्णनात्मक मुक्तक काव्य
९. प्रकीर्णक मुक्तक काव्य

धार्मिक व सैद्धान्तिक मुक्तक काव्य

जिन मुक्तक काव्यो मे धार्मिक भावनाओ की अभिव्यक्ति और सैद्धान्तिक विश्लेषण को प्राथमिकता दी गई है, उन राजस्थानी जैन मुक्तक काव्यों को इस वर्गीकरण के अन्तर्गत रखा गया है। ऐसे कुछ काव्य निम्न है—

१. बारह भावना गीतम्[३४]	समयसुन्दर
२ श्रावक बारह व्रत कुलकम्[३५]	समयसुन्दर
३. सिद्धान्त श्रद्धा सज्झाय[३६]	समयसुन्दर
४ चौदह गुणस्थाणक[३७] स्तवण	धर्मवर्द्धण
५. अट्ठावीस लब्धि स्तवन[३८]	धमवर्द्धण
६. पंच इन्द्रिय री सज्झाय[३९]	जिनहर्ष
७. सामायक बत्तीस दोष सज्झाय[४०]	जिनहर्ष
८ नववाड सज्झाय[४१]	जिनहर्ष

२-स्तुति प्रधान मुक्तक काव्य

इस वर्गीकरण के अन्तर्गत उन मुक्तक काव्यो को लिया गया है जिनमे तीर्थंकर, विरहमान, ऐरावत क्षेत्र, तीर्थ, पौरणिक चरित्र, गुरू, एव साधु आदि की वन्दना, स्तुति के माध्यम से चौबीसी, बीसी व स्तवन के द्वारा की गई है। उदाहरणार्थ कुछ स्तुति प्रधान काव्य इस प्रकार है—

---

३४ नाहटा-समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० ४५६
३५. वही, पृ० ४६४
३६. वही. पृ० ४७७
३७ नाहटा–धर्मर्द्धन ग्रन्थावली. पृ० २७८
३८. वही, पृ० २८६
३९. नाहटा–जिनहर्ष, ग्रन्थावली, पृ० ४६६
४० वही, पृ० ३८१
४१, वही, पृ० ४९८

१. चौबीसी[४२]	समयसुन्दर
२ नाकोडा पार्श्वनाथ स्तवन[४३]	समयसुन्दर
३. संखेश्वर पार्श्वनाथ स्तवन[४४]	समयसुन्दर
४. बीस विरहमान जिणगीत[४५]	जिनराज सूरि
५. वासुपूज्य स्तवन[४६]	श्री सार

३–उपदेशात्मक मक्तक काव्य

इस विभाजन मे वे मुक्तक सम्मिलित किये गये हैं, जिनमें उपदेशात्मक प्रवृत्ति प्रमुख रुप से प्रकट हुई है और उस प्रवृत्ति के माध्यम से मानव को आत्म कल्याण की ओर प्रवृत्ति किया गया है। लोभ, मोह, कर्म, स्वार्थ, व्यसन, पाप, निन्दा, झूठ, अहकार, नश्वरता, चोरी, वासना, मन, पुण्य, क्षमा, आत्मा, जीव, शील आदि विपयो को उपदेशात्मक मुक्तक काव्य मे स्थान दिया गया है। कतिपय उपदेशात्मक मुक्तक काव्य निम्न है—

१. लोभ निवाकरण गीतम्[४७]	समयसुन्दर
२ जीव व्यापारी गीतम्[४८]	समयसुन्दर
३ सप्त व्यसन त्याग सज्झाय[४९]	धर्मवर्द्धण
४ तम्बाकु त्याग समज्झाय[५०]	धर्मवर्द्धण
५ कर्मबत्तीसी[५१]	जिनराजसूरि
६ शील बत्तीसी[५२]	जिनराजसूरि
७. स्वार्थ बत्तीसी[५३]	श्रीसार
८. उपदेश सत्तरी[५४]	श्रीसार
९. मोह छत्तीसी[५५]	पुण्यकीर्ति

४–तीर्थ व यात्रा प्रधान मुक्तक काव्य

उस श्रेणी मे उन मुक्तक काव्यो को लिया गया है, जिनमे जैन तीर्थों एव उनकी यात्राओ का वर्णन किया गया है। ऐसे कुछ मुक्तक काव्य इस प्रकार है—

---

४२ नाहटा–समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० १–१५
४३. वही, पृ० १६६–६५
४४. वही, पृ० १६२–३५
४५ वही। जैन गूर्जर कविओ, भाग १, पृ० ५१८
४६. प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, बीकानेर ग्रन्थाक ३६३७
४७. नाहटा–समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० ४३१
४८ वही, पृ० ४३८
४९ नाहटा–धर्मवर्द्धण ग्रन्थावली, पृ० ७६
५० वही, पृ० ७८
५१. नाहटा–जिणराजसूरि कृति कुसुमाजली, पृ० ११२–१३
५२. वही, पृ० ११६–१९
५३ अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, ग्रन्थाक १८९९
५४. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, बाकानेर, ग्रन्थाक ६४५६ (१५४)
५५. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, ग्रन्थाक २११६०

१ बीकानेर चैत्य परिपाटी[56] धर्मवर्द्धन
२ जैसलमेर चैत्य प्रवाडी[57] सहजकीर्ति
३. तीर्थयात्रा निरूपक गीतम्[58] जिनराज सूरि
४. गिरनार तीर्थयात्रा स्तवन[59] जिनरजासूरि
५. तीरथभास[60] समयसुन्दर
६ अष्टापद तीरथभास[61] समयसुन्दर

५–ऋतु व तिथि सम्बन्धी मुक्तक काव्य

ऋतु व तिथि विषयक मुक्तक काव्यो मे विभिन्न ऋतुओ, तिथियो एव पर्वों का वर्णन किया गया है। ऐसे कुछ मुक्तक काव्य निम्नलिखित है—

१. ज्ञानपञ्चमी बृहत्स्तवन[62] समयसुन्दर
२ मोन एकादशी स्तवन[63] समयसुन्दर
३. सीत उष्ण वर्षा वर्णन[64] धर्मवर्द्धन
४. पनरह तिथि रा सवैया[65] जिनहर्ष
५. वरसात रा दूहा[66] जिनहर्ष

६–ऐतिहासिक मुक्तक काव्य

इस प्रकार के मुक्तक काव्य इतिहास पुरुषों, ऐतिहासिक स्थानो एव घटनाओ से सम्बिन्धित है। जैन और जैनेतर इतिहास विषयक दोनो प्रकार के ऐसे मुक्तक काव्य उपलब्ध होते हैं, यथा—

१ अनूपसिंघ रा सवैया[67] धर्मवर्द्धन
२. गीत राउल अमरसिंघ रो[68] धर्मवर्द्धण
३. कवित्त जसवन्तसिंघ रो[69] धर्मवर्द्धण
४. कवित्त दुरगादास रो[70] धर्मवर्द्धण
५. गुर्वावली गीतम्[71] समयसुन्दर

७–बुद्धि परीक्षा प्रधान मुक्तक काव्य

जैसा कि नाम से स्पष्ट है इस प्रकार के मुक्तक काव्यों का विषय मानव बुद्धि की परीक्षा करना है। हियाली, गूढा, प्रहेलिकाए, समस्या आदि इसी श्रेणी के मुक्तक काव्य है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

---

५६ नाहटा–धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली, पृ० २१८
५७. जैन गूर्जर कविओ, भाग–३, खण्ड १, पृ० १०२२
५८. नाहटा–जिनराज सूरि कृति कुसुमाजली, पृ० ६०
५९. वही, पृ० ४२
६० नाहटा–समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० ६०
६१. वही, पृ० ६१–६३
६२. नाहटा–समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० २३६
६४ नाहटा–धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली, पृ० १०१
६५. नाहटा–जिनहर्ष ग्रन्थावली, पृ० ४०३
६६. वही, पृ० ४२२
६७. नाहटा–धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली, पृ० २४२
६८, वही, पृ० १४५
६९. वही, पृ० १४६
७०, वही, पृ० १४७
७१. नाहटा–समयसुन्दर कृति कुसुमांजली, पृ० ३४८

१. हियाली गीतम्[७२]	समयसुन्दर
१. नेमिनाथ गूढा गीतम्[७३]	समयसुन्दर
३ हियाली (थापणा, मन, जीभ मु इयति आदि)[७४]	धर्मवर्द्धण
४ समस्या[७५]	धर्मवर्द्धण
५. प्रहेलिकाए[७६]	जिनहर्ष

८–वर्णनात्मक मुक्तक काव्य

इस वर्गीकरण के अन्तर्गत उन मुक्तक काव्यों को सम्मिलित किया गया गया है, जिनमे किसी नगर, स्थान, वस्तु घटना आदि का यथा तथ्य उल्लेख वर्णनात्मक शैली मे किया गया है। कतिपय ऐसे काव्य निम्न है—

१. सत्यासिया दुष्काल वर्णन–छत्तीसी[७७]	समयसुन्दर
२ दुष्काल वर्णन[७८]	धर्मवर्द्धण
३ स्त्री-कुस्त्री वर्णन[७९]	धर्मवर्द्धण
४. दीपक वर्णन[८०]	धर्मवर्द्धण
५. लाहोर गजल[८१]	जटमल
६ चित्तौड गजल[८२]	खेतल

९–प्रकीर्णक मुक्तक काव्य

वे मुक्तक काव्य जिन्हे उपर्युक्त किसी वर्गीकरण मे सम्मिलित नही किये जा सके हैं, उन्हे इस वर्गीकरण के अन्तर्गत रखे गये है। यथा—

१. सप्ताक्षरी कवित्त[८३]	धर्मद्धंन
२, नारी कुंजर सवैया[८४]	धर्मद्धंन
३. राग करण समय कवित[८५]	जिनहर्ष
४ प्रेमपत्री रा दूहा[८६]	जिनहर्ष

---

७२ नाहटा–समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० ४९१–९२
७३. वही, पृ० १२८
७४. नाहटा–धर्मवर्द्धण ग्रन्थावली, पृ० १११–१३
७५ वही, पृ० १२१–३४
७६ नाहटा–जिनहर्ष ग्रन्थावली, पृ० ४१६
७७ नाहटा–समयसुन्दर कृत कुसुमाजली, पृ० ५०१–१४
७८ नाहटा–धर्मद्धंन ग्रन्थावली, पृ० १०२
७९. वही, पृ० १०३
८०. वही, पृ० ९८
८१. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, बीकानेर, पृ० ६५९८ (८)
८२. जैन गूर्जर कविओ, भाग ३, खण्ड २, पृ० १३६८
८३. नाहट–धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली, पृ० ३०७
८४. वही, पृ० ३१०
८५. नाहटा–जिनहर्ष ग्रन्थावली, पृ० ४०७
८६. वही, पृ० ३०८

५. सुन्दरी स्त्री [८७]	जिनहर्ष
६ यौवन [८८]	जिनहर्ष

मध्यकाल के राजस्थानी जैन काव्य के उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि इस अवधि मे राजस्थानी जैन काव्य कितना समृद्ध एव विशाल परिणाम मे उपलब्ध है। इस समस्त काव्य की भाषा सरल सुबोध राजस्थानी है जिस पर तत्कालीन लोक भाषा का प्रभाव भी स्पष्टतः परिलक्षित है। जहा कही पर भी भाषा मे क्लिष्टता आई है वह मात्र प्रसग की अनिवार्यता के कारण ही है। कला पक्ष एव भाव पक्ष की समृद्धि इनकी अन्य विशेषता है और उस दृष्टि से इस कारण के काव्य का स्वतत्र अनुसधानात्मक अध्ययन अपेक्षित है।



८७ वही, पृ० ४२५
८८. वही, पृ० ४२५-२६

(शेष पृष्ठ १९४ का)

नही है और लीलाओं के वर्णन का दार्शनिक उद्देश्य व्यक्ति चेतना को रागात्मक धरातल पर समष्टि चेतनाओ की प्रतीति कराता है। इस व्यापकता की अनुमति मे मनुष्य अह की व्यक्तिगत क्षुद्रताओ को तिरोहित कर देता है।



भक्त कवियित्री चम्पादेवी-एक अध्ययन

□श्रीमती सुशीलादेवी बाकलीवाल एम. ए

चम्पादेवी एक प्रसिद्ध कवियित्री थी। स्त्री समाज की वह उन इनी गिनी महिलाओ मे से हैं जिन्होने साहित्य निर्माण मे रूचि ली एव जीवन के अन्तिम वर्षों मे अपने आपको भक्ति रस मे डुबो दिया। भक्ति मे भाव विह्वल होकर अन्तरात्मा से जो भाव निकले, वे स्वमेयव पदो के रूप मे परिवर्तित हो गये। "चम्पा शतक" यद्यपि इसकी एक मात्र कृति हैं लेकिन वह अकेली ही चिरकाल तक कवियित्री के यशोगान के लिये पर्याप्त है। "चम्पाशतक" हिन्दी पद साहित्य की उत्कृष्ट कृति है जिसमे भक्तिरस से ओत-प्रोत १०१ पदो का सग्रह है। १९ वी शताब्दी मे ये प्रथम महिलाकवि थी जिन्होने अपने जीवन के सध्याकाल मे साहित्यिक क्षेत्र मे पर्दापण किया और थोडे समय ही मे अपनी प्रतिभा से हिन्दी भक्ति साहित्य को अलकृत किया। भक्त कवियित्रियो मे मीराबाई एव जडाववाई के पश्चात चम्पादेवी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिन्होने भक्ति के भावो से ओत-प्रोत होकर हिन्दी साहित्य की रचना की एव अपने को अर्हद् भक्ति मे समर्पित कर दिया।

चम्पादेवी देहली निवासी श्री सुन्दरलाल जैन टोंग्या की धर्म पत्नी थी। आपके पिता अलीगढ निवासी श्री मोहनलाल पाटनी थे। आपके दो बडे भाई थे। सन् १९१३ के करीव आपका जन्म हुआ। आपके जीवन पर आपके बडे भाई श्री प्यारेलाल का विशेष प्रभाव पडा। परिणाम स्वरूप आपकी रूचि स्वाध्याय की ओर वढने लगी। छोटी अवस्था मे ही आपका विवाह हो गया। आपके पिता श्री सुन्दरलाल जवाहरात के कुशल व्यापारी थे। पिता एव पति दोनो ही घरो मे आपका पूर्ण समादर था किन्तु ३० वर्ष की अवस्था मे ही आपके पति मृत्यु के करालगाल मे प्रवेश कर गये। आपके सन्तान भी नही थी। एक ओर पति का वियोग तथा दूसरी ओर सन्तान का अभाव दोनो ही दु ख आपको झेलने पडे। ससार के नश्वर क्षणो से विरक्त होकर आपने अपना अधिकतर समय स्वाध्याय मे लगाया। ६६ वर्ष की उम्र मे आप भयकर रूप से बीमार हुई, औषधि लेने पर भी रोग दूर न हुआ। अन्त मे भौतिक ससार से विरक्त होकर आपने अर्हद्-भक्ति को ही एक मात्र सहारा माना और उसमे तल्लीन होने पर निम्न पद आपके मुख से स्वत निकल पडा—

पडी मझधार मेरी नैया, उवारोगे तो क्या होगा,
तरण-तारण जगत्पति हो, जु तारोगे तो क्या होगा।
यहा कोई है नही मेरा, मेरे रक्षपाल तुम्ही हो,
वही जाती मेरी किश्ती, निहारोगे तो क्या होगा॥

भाव विह्वल हो कवियित्री अपनी सुधबुध एव अपना अस्तित्व खो बैठी। धीरे धीरे भक्ति की धारा नदी के रूप मे परिवर्तित हो गई और एक के बाद दूसरे पद का निर्माण होता चला गया।

तेरे दर्शन से हे स्वामी, लखा है रूप मैं मेरा,
तजू कब राग धन तन, वे सब मेरे विजाती हैं।

अर्हंद् भक्ति की कृपा से उनका रोग शात हो गया। ७० वर्ष की अवस्था मे उनका देहान्त हो गया।

चम्पाशतक मे यद्यपि अधिकाश पद भक्ति परक है किन्तु कुछ पद आध्यात्मिक, सामाजिक एव उपदेश परक भी मिलते हैं। अनेक राग एव रागनियो मे निर्मित इन पदो मे कवियित्री ने जो भाव भरे हैं उससे उनकी विद्वत्ता, सिद्धान्तभिज्ञता एव अध्यात्मिकता के दर्शन होते है। आपके पदो को हम भक्तिपरक, शिक्षा परक और अध्यात्म परक इन तीन भागो मे विभाजित कर सकते हैं।

आपके भक्तिपरक पदो मे कवियित्री के भक्त हृदय की स्पष्ट झलक निहित है। उनकी अन्तर्वेदना पद के प्रत्येक वाक्य से ध्वानित होती है। इन पदो का परायण करने से ऐसा प्रतीत होता है मानो उनमे हृदयगत भावो को गूंथ कर सामने रख दिया हो। आपकी कविताओ से परमात्मा की शॉंत मुद्रा के दर्शन होते है जिससे विपत्तिया स्वत. दूर होने लगती है। सभी पद वासना से मन् को हटाकर अपने आत्म स्वरूप मे लग जाने की प्रेरणा देते हैं। मानव विराट शक्तिशाली होता हुआ भी दीन, गरीब एव अल्पबुद्धि वाला है इसलिये दु खो से घबराकर उनसे वह छुटकारा पाना चाहता है। कवियित्री की धारणा है कि कर्म मोह का प्याला मिला कर उसे पूर्णत अज्ञानी बना देते हैं किन्तु अर्हंद् भक्ति ही एक ऐसा अमोघ मन्त्र है जिससे आत्मा का कल्याण सम्भव है और इसी भावावेश मे गा उठती है —

"करम म्हारो काई करसी,
जो म्हारे परमेष्ठी आधार।"

आपको परत्मामा के समान ही गुरू मे भी अटल विश्वास था। सच्चे गुरू वीतरागी होते है भक्ति ही मोक्ष मार्ग मे सहायक होती है। गुरू ही उसे उचित मार्ग पर चलने का उपदेश देते है। अत गुरू कैसे हो ? यह उन्होने इस प्रकार बताया है—

जिन्हो का ध्येय आतम है, लगी है लौ जहा जिसकी,
नही कुछ खबर बाहर की
सुरति खगी जिनमे लगी जिनकी
इसी चित्त ध्यान केवल ते, चिदानन्द ज्योति जागी है,
मिलेंगे कब गुरू हमको, को साचे वीतरागी है ॥

अध्यात्म परक पदो मे भी कवियित्री ने अध्यात्म की जो गगा बहायी है वह अपने आप मे पूर्ण है। वह आत्मा को सम्बोधित करके जगत के सभी विकल्पो को त्याग कर अपने आत्म सुख को वरण करने के लिये कहता है। आत्मा परमात्मा एक है। परमात्मा सिद्धावस्था को प्राप्त हो गये हैं किन्तु आत्मा अभी शरीर बन्धन से मुक्त नही हुई, बस यहा दोनो मे भेद है। आपको आत्मध्यान की तीव्र अभिलाषा है। इसीलिये आप कहती है —

"मैं कब निज आतम को ध्याऊ,
पर परिणति तजि, निज परिणति गही,
ऐसी निज निधि कब पाऊ,
इतने से ही उनको सन्तोष नही होता।
"समकित विन गोता खाओगे,
दर्शन बिन गोता खाओगे।"

कवियित्री ने अपने कर्म के पल भी गहरी आस्था प्रकट की है। जैसा कर्म वैसा ही फल—
"कारण कौन प्रभु मोहि समझावो,
एक मात ने दो सुत जाये, रग रूप मे भेद लखायो"
एक पाठशाला पढे दोऊ मिलि,

एक भया योगी, एक व्यसन लुभायो।

शिक्षात्मक पदो मे कवियित्री ने मानव को ऐसे ज्ञान का मन्त्र वताया जिसमे उसका कल्याण हो सके—

(१) वार-वार इम भ्रमण किम्रो,
वहुत कठिन-कठिन यहा आयो रे,
फिर यह दाव मिले नही भोदू,
यह सतगुरू फरमायो रे।

(२) *चेतन कुमति घर मति जाय,*
तोकू सुमति रही समभाय।
हिसा भूठ चोर धन लाया,
पर नारी पर मन भायो।
अरे यह महा दुख दाय,
चेतन कुमति घर मति जाय।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आपकी कविता सग्रह अपने आपमे स्वत. पूर्ण है। पदो मे तत्कालीन समाज मे फैली हुई बुराइयो की ओर भी व्यग किया है। शतक की भापा शुद्ध हिन्दी है किन्तु कही-कही व्रजभापा का पुट भी दिखाई देता है। उनका यह प्रयास हिन्दी भाषा के प्रति अगाध निष्ठा का द्योतक है। प्रस्तुत शतक की भापा *अत्यधिक प्राजल एव मधुर है। अत चम्पाशतक* सभी दृष्टियो से भक्ति साहित्य की एक उत्तम कृति है जिसके सतत् अध्ययन एव मनन से मानव मात्र को शाति मिल सकती है।

:

चम्पाशतक—सम्पादक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
प्रकाशक—साहित्य शोध विभाग, महावीर भवन, जयपुर

१८

अपभ्रंश के जैन प्रेमाख्यान काव्य

डा० त्रिलोचन पाण्डेय, जबलपुर

विगत शताब्दी के अन्तिम चरण मे हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने कुछ प्रेमाख्यानो की ओर सकेत किया था किन्तु इनकी ओर वास्तविक ध्यान 'पदमावत्' के उस स्स्करण से आकर्षित हुआ जिससे डा० ग्रियर्सन तथा पं० सुधाकर द्विवेदी ने प्रस्तुत किया था। तब से आज तक पिछले ७०-८० वर्षों मे इस काव्य धारा पर अनेक विद्वानो ने विचार किया है और सन्त-काव्य, राम-काव्य, कृष्ण-काव्य आदि की भाति इसकी भी प्रतिष्ठा हो चुकी है। इनका अध्ययन करते समय आज मुख्य रूप से दो प्रश्न उठते हैं—क्या इनका मूल स्रोत भारतीय माना जाय जैसा कि प० परशुराम चतुर्वेदी, प० रामपूजन तिवारी आदि विद्वानो ने लक्षित किया है? अथवा इन्हे फारसी काव्य-परम्परा मे स्थान दिया जाए जैसा पहले प० रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता थी। हम एक तीसरा प्रश्न रख सकते हैं—इनमे जन साधारण मे प्रचलित लोक कथाओ का आधार किस उद्देश्य के लिए किस सीमा तक ग्रहण किया गया है।

उपर्युक्त तीनो प्रश्नों का समाधान खोजने के लिए हमे उन जैन आख्यानो का विश्लेषण करना होगा जिनकी परम्परा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श से होती हुई हिन्दी मे चली आई है। हिन्दी मे इस समय दो प्रकार के प्रेमाख्यान स्वीकृत हैं—सूफी प्रेमाख्यान और असूफी (हिन्दू) प्रेमाख्यान। इनके अतिरिक्त प्रेमाख्यानो की एक तीसरी काव्य धारा है जैन प्रेमाख्यानो की जिसके बिना प्रेमाख्यानो का वास्तविक रूप ज्ञात नही हो सकेगा। एक प्रकार से यदि देखा जाए तो असूफी प्रेमाख्यानो मे आधे से अधिक जैन प्रेमाख्यान ही दिखाई देगें। ढोला मारू, मृगा-हसावली, उषाअनिरूद्ध, स्थूलिभद्र, नेमिनाथ, विद्या विलास आदि के वृत्तो को अनेक जैन कवियो ने ग्रहण किया है जो विशुद्ध भारतीय परिवेश को लेकर चले है। प्राकृत और अपभ्र श मे इनका प्राचीन स्वरूप देखना आवश्यक है। अपभ्र श के प्रेमाख्यान विशेष रूप से महत्त्व रखते है।

अपभ्र श के आख्यानो मे 'णायकुमार चरिउ', 'भविस्सयत्त कहा', 'करकड चरिउ', प्रकाशित हो चुके हैं जिनमे प्रेम, अपहरण, यात्रा विवाह, युद्ध, उदारता आदि के वर्णन यथा स्थान मिलते है। इनके अतिरिक्त कुछ आख्यानो का सकेत खोज रिपोर्ट से मिलता है। इस प्रकार अपभ्रंश के लगभग २५ ग्रन्थ उल्लेखनीय है :—

१ णायकुमार चरिउ	पुष्पदन्त	१० वी शताब्दी
२. विलासवई कहा	माधारण	११ ,,
३ सुदसण चरिउ	नयनन्दि	,, ,,
४ जम्बूसामी चरिउ	वीरकवि	,, ,,
५. करकण्डु चरिउ	कनकामर	,, ,,
६. पउमसिरी चरिउ	धाहिल	१२ वी ,,

७ भविस्सयत्त चरिउ–श्रीधर „ „
८. सुलोचना चरिउ देवेसन गणि „ „
९. अजना सुन्दरी कथा-अभयतिलक गणि „ „
१०. कथा कोष श्री चन्द्र „ „
११. सणकुमार चरिउ — हरिभद्र सूरि „ „
१२. पुज्जुण्ण चरिउ — सिंह कवि „ „
१३ सुकुमाल चरिउ — विबुध श्रीधर „ „
१४. जिणयत्त कहा — लाखू „ „
१५ भविस्सयत्त कहा — धनपाल धक्कड „ „
१६. धणकुमार चरिउ — रइधू „ „
१७ वाराग चरिउ — तेजपाल „ „
१८. सिरिवाल चरिउ — नरसेन १६ वी „
१९ अमरसेन चरिउ — माणिक्क राज „ „
२०. नागकुमार चरित „ „ „
२१. ससिलेहा चरिउ — भगवती दास १९ वी „
२२ सुभद्रा चरित — अभय तिलक गणि
२३ मदन पराजय — हरिदेव
२४. सतवसण कहा — — —
२४. मदन रेखा रचित — — —

इनके अतिरिक्त 'मेहेसर चरिउ,' 'सुकोसल चरिउ' 'पुण्णासव कहा कोसो' 'अणाथमिका कहा' शीर्षक रचनाए मिली हैं किन्तु अज्ञात रहने के कारण अभी इनके तत्त्वो का विवेचन नही हुआ है। यह आवश्यक नही कि प्रत्येक 'चरिउ' नाम धारी ग्रन्थ प्रेमाख्यान भी हो। कथा सघटन, काव्य-सूचियो और वातावरण निर्माण आदि की दृष्टियो से इन रचनाओ मे जो समानताए मिलती है वे इन्हे किसी निश्चित परिपाटी पर रचित सिद्ध करती है। असूफी और सूफी प्रेमाख्यानो की कई रूढियो इनमे विद्यमान हैं अत परवर्ती आख्यानो के लिए इन्होने आदर्श निर्धारित किए है।

१ उपर्युक्त अपभ्रंश रचनाओ की सघटनात्मक विशेषताएं जान लेना हमारे लिए उपयोगी होगा। वर्णन शैली की दृष्टि से हम देखते है कि काव्य के मगलाचरण मे जिनवर महावीर की वन्दना के पश्चात् कवि अपनी परम्परा, आश्रयदाता, नगर-वासियो आदि की चर्चा करता है। मुख्य कथा किसी निस्सतान नृपति से आरम्भ होती है जो अलौकिक शक्तियो के आशिर्वाद से सतान प्राप्त करता है। ज्योतिषी आकर उसके अनागत जीवन की भविष्य वाणी करते हैं। युवक होते ही कथा-नामक अपना राज्य छोड कर किसी सुन्दरी की खोज म निकल पडता है या निष्कासित होता है, उसकी यात्राए आश्चर्य से भरी रहती हैं। फिर कई राजकुमारियो से विवाह करते हुए अतुल धन-राशि लेकर वह अपने राज्य मे वापस लौट आता है। आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए अनन्तर किसी जैन मुनि का उपदेश सुन कर वह परम पद का अभिलाषी हो जाता है। ग्रन्थ की समाप्ति पर कवि श्रोताओ के प्रति पुण्यफल की मगल कामना अवश्य करता है।

२ उपर्युक्त अपभ्रंश आख्यानो का विभाजन सधियो मे हुआ है। प्रत्येक सधि कई कडवको मे विभक्त है और कडवको के छन्दो मे पज्झटिका अडिल्ल, पादाकुलक आदि मुख्य है। छन्द के अन्त मे घत्ता प्राय एक सधि पर्यन्त एक जैसा रहता है। रस वर्णना मे शृगार, वीर की प्रधानता है जिनका पर्यवसान शान्त रस मे होता है। अद्भुत, हास्य, रौद्र के उदाहरण प्रसगानुकूल मिलेगा। भाव, अनुभवो का विशद चित्रण है और स्त्री पुरुषो के स्वाभाविक उद्गार दर्शनीय हैं। यथा स्थान नख-शिख वर्णन, विरह वर्णन, षट्रितु वर्णन भी मिलेंगे जो सस्कृत काव्य की शास्त्रीय शैली की ओर अधिक झुके हुए हैं।

३. अलकार प्रायः सादृश्य मूलक हैं। उत्प्रेक्षा, रूपक और उपमा अलकार अधिक हैं। इनका विधान भी शास्त्रीय शैली का है। अप्रस्तुत विधान आकर्षक है किन्तु उसमे कोई नवीनता नही। अन्य अलकारो मे अतिशयोक्ति, विरोधाभास, श्लेष और यमक प्रधान हैं जो रचयिताओ की चमत्कार प्रवृत्ति के परिचायक हैं।

४ अपभ्रंश आख्यानो की भाषा मुक्तक रचनाओ की भाषा से भिन्न पडती है। वाक्य-विन्यास, पदरचना, क्रियारूप परिनिष्ठित स्वरूप का परिचय देते हैं यद्यपि शब्द भण्डार तद्भव अधिक है। कवियो के सम्मुख प्राकृत-अपभ्रंश रचनाओ का आदर्श रहा है। भाषा मे प्रवाह एवं सहजता अवश्य है किन्तु वह एक साचे मे ढली है। ध्वन्यात्मक शब्द युग्मो की जिस आवृत्ति के लिए अपभ्रंश प्रसिद्ध है, वह इनमे स्थान स्थान पर लक्षित होगी। सूक्तियो और लोकोक्तियो के प्रयोग ने इसे समृद्ध किया है और फिर भी इन प्रयोगो ने उसे बोलचाल का स्वरूप प्रदान नही किया।

५. सास्कृतिक चित्रण की दृष्टि से ये काव्य महत्वपूर्ण हैं। लगभग पाच सौ वर्षों के दीर्घकाल मे फैले हुए ये आख्यान तत्कालीन सामाजिक जीवन, नगरवासियो के रहन सहन, रीतियो, प्रथाओ, लोकाचारो, अनुष्ठानो और लोक विश्वासो की विशाल सामग्री जुटा देते हैं। यह सामग्री इतिहास ग्रन्थो मे कही उल्लिखित नही। बडे-बडे नगरो, उद्यानो, जलाशयो तथा रनिवासो के वर्णन यदि समाज के उच्च स्तरो का परिचय कराते हैं तो खानपान, मनोरजन, उत्सव विलास, विवाह, वर्णव्यवस्था, पारिवारिक सम्बन्धो आदि के चित्रणों से मध्यम वर्ग का भी परिचय मिलता है। जन साधारण का जीवन सरल था, फिर भी राजाओ, सामन्तो तथा सेठो का अधिक वर्णन हुआ है। व्यापारी जिस प्रकार की यात्राए करते थे और जिस प्रकार की सामग्रिया खोज कर लाया करते थे, वह वैभव विलास का विशेष रूप से द्योतक है। नायको के देशान्तर वर्णन अन्य द्वीपवासियो पर प्रकाश डालते है। सिंहल द्वीप की यात्राए इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

६ इन आख्यानो की विषयवस्तु लोक कथाओं का अनुसरण करती है। यह इन्हे देखने से ही ज्ञात है। प्रायः सभी कथानक उन महत्वपूर्ण व्यक्तियो पर केन्द्रित है जो धर्म साधना मे विश्रुत हो चुके थे। ऐतिहासिक यात्रा या घटनाओ का उल्लेख केवल चरित्र को व्यापकता प्रदान करने के लिए किया गया है अन्यथा काल्पनिक वृत्तो की अधिकता उन्हे सामान्य जन जीवन से ऊपर उठा देती है। जैन पुराणो के महापुरुष इन आख्यानो की आधार भूमि बने हैं। जिनकी अलौकिक या आश्चर्यकारी घटनाओ के अकन मे जैन कवियो ने काल्पनिक तत्त्वो का ही उपयोग किया है। अत ये आख्यान अवदानो की कोटि के हैं।

७. इनमे लोक तत्त्वो का भी व्यापक प्रयोग हुआ है। काल्पनिक कथानक स्वय अपने मे लोक तत्त्व है। इसके अतिरिक्त तीन और विशेषताए मिलेगी जो लोक तत्त्वो की है। ये है—रोमाचक वातावरण की सृष्टि, लोक विश्वासो की प्रचुरता और प्रेम मार्ग मे विघ्न बाधाओ व उनके निराकरण का विधान, रोमाचक वातावरण के लिए अलौकिक प्राणियो मे गधर्व, विद्याधर, व्यतर, राक्षस आदि उपस्थित होकर भूमिका तैयार करते हैं। जादुई शक्तियां पात्रो को ही नही, अपने पाठको को भी रहस्यपूर्ण प्रदेशो मे खीच ले जाती है, श्मशान भूमि, पाताल लोक, किन्नर लोक, भयकर वनस्थली आदि अद्भुत वातावरण की सृष्टि करते हैं,। स्वप्न विचार, शकुन विचार, कर्मफल, भाग्य-

वादिता भविष्य फल के प्रति सर्वत्र आस्था प्रकट की गई है। मुनि गरण पूर्व जन्म की घटनाओ का स्मरण कराते हुए कर्म विपाक की चर्चा करते हैं। निस्सतान राजाओ के यहा भावी शासक का चुनाव विशेष पद्धति से हुआ है।

८. आख्यानो मे वर्णित ये लोक विश्वास कुछ कथाभिप्रायो को जन्म देते हैं जो फिर अपनी लोकप्रियता के कारण परवर्ती भारतीय साहित्य मे बहुत प्रयुक्त होते रहे, प्रेम मार्ग मे असाधारण बाधाए आना और असाधारण रूप से ही उनका निराकरण इसी प्रकार का एक प्रसिद्ध कथाभिप्राय है जिसका उद्देश्य नायक नायिका की परीक्षा लेना है। इसमे नायक को कोई रोमाञ्चकारी कार्य सम्पन्न करके अपनी वीरता व श्रेष्ठना का परिचय देना पडता है। प्राय दैवी शक्तिया उन्हे लक्ष्य सिद्धि मे सफल बनाती हैं।

९ जहा तक प्रेम निरूपरण की स्थिति है, हम देखते हैं कि रूपाकर्षण नामक नायिकाओ को परस्पर मिलाने मे विशेष 'सहायक हुआ है, नायक नायिकाएं दोनो ही अतीव सुन्दर, विद्या सम्पन्न हैं, नायिका का सौंदर्य चित्रण निखशिख के आधार पर है। मन्त्री पुत्र या कोई अन्तरग सखा, या कोई पक्षी नायक का पथ प्रदर्शन करते है और प्रेम सन्देशो का गुप्त आदान प्रदान होता है। अनुराग का आकर्षण प्रबल है क्योकि उसके शमन द्वारा ही प्रेम का वास्तविक रूप निखरता 'हैं। किन्तु जैन कवियो का प्रेम निरूपरण केवल निरूपरण के लिए नही है, उनका उद्देश्य तो किसी व्रत, अनुष्ठान या मन्त्र का परिणाम दिखाना है। वे चाहते थे कि समाज मे कथाओ के माध्यम से नैतिकता बनी रहे और विशृंखलता उत्पन्न न हो, अभी तक यह समझा जाता रहा कि जन कवि कोरे उपदेशक थे। उन्होने कबीर जायसी की भाति ही लोक कथाओ को काव्य का माध्यम बनाया और सामाजिक . पराओ की आधारण बनाये रखने मे लौकिक थ। के सहारे पर्याप्त योग दिया। अत. प्रेमाख्यान श। को व्यापक रूप मे ग्रहण करना चाहिए।

उपर्युक्त विशेषताए सभी अपभ्रंश के . मे मिलती हैं। यहा 'करकण्डुचरिउ' के आधार इन्हे पृथक पृथक निर्दिष्ट किया जा सकता हैं। प्रेमाख्यान की कथा सक्षेप मे इस प्रकार है.—

चम्पापुरी के घोडीवाहन राजा एक बार कुसुम पुर जाकर वहा पद्मावती नामक युवती पर . थ हो गए जो एक माली के सरक्षकत्व मे रहती हुइ वस्तुत. कौशावी नरेश वस्तुपाल की पुत्री थी, ज के समय अनिष्ट कार्य होने के फलस्वरूप वह ज. मे प्रवाहित कर दी गई थी। घोडी वाहन ने उसे रानी बना लिया। पदमावती को एक बार वर्षा काल मे नररूप धारण करके पति के साथ हाथी पर सवार होकर नगर परिभ्रमण करने का दोहद हुआ। यह प्रबन्ध कर दिया गया किन्तु दुष्ट हाथी राजा रानी को लेकर बीहड वन की ओर भाग निकला। राजा तो एक वृक्ष की डाल पकड कर बच गया किन्तु रानी को लेकर वह हाथी एक जलाशय मे घुस पडा। वह वहा से कूद कर रानी बीहड बन मे चली गई। उसके आगमन से बनस्थली हरी भरी हो गई। यह देख कर बनमाली ने उसे धर्म की बहिन मान लिया किन्तु ईर्ष्यालु मालिन के कारण उसे श्मशान भूमि शरण लेनी पडी। वहा उसके पुत्र ने जन्म लिया। उस पुत्र को एक मातग, पूर्व जन्म का विद्याधर उडा ले गया। बालक को पढाया लिखाया और हाथ मे खुजली होने से वह बालक करकण्डु कहलाया। कालोपरान्त जब एक दिन दन्तीपुर का राजा मरा तो हाथी के मंगल कलश द्वारा करकडु ही वहा का राजा चुना गया, गिरिनगर की राजकन्या मदनावली के साथ उसका विवाह हो गया।

एक बार करकुंड की सभा मे आकर चम्पा के राजदूत ने अपने राजा का प्रभुत्व स्वीकार करने को कहा जिस पर क्रुद्ध होकर उसने चम्पा नरेश पर चढाई कर दी। घोर युद्ध के बाद माता पदमावती ने पिता पुत्र का सम्मिलन कराया। घोडीवाहन उसी को राजपाट सौंप कर स्वय विरक्त हो गया। मन्त्री के कहने पर करकुड ने दक्षिणपवर्ती राजाओ पर चढाई की। मार्ग मे तेरापुर नामक स्थान पर उसने पार्श्वनाथ भगवान का दर्शन किया, उसने वहा दो गुफाए और बनाई। इसी बीच एक विद्याधर उसकी प्रेमिका मदनावली को ले भागा। करकुंड उसके वियोग मे विह्वल हो गया किन्तु पूर्व जन्मा एक बन्धु के समझाने पर कि पुन उनका मिलन होगा, वह आगे बढा। यह आश्वासन देने के लिये उसे नरवाहनदत्त का आख्यान सुनाया गया। सिहलद्वीप जाकर उसने राजकन्या रतिवेगा का पाणिग्रहण किया। जल मार्ग से लौटते समय एक भीमकाय मत्स्य ने नौका उलट दी। जल मे कूद कर उसने मत्स्य को मार डाला पर अपनी नौका पर नही लौट सका। मन्त्री किसी प्रकार उस बेडे को किनारे पर ले आया। शोक पूर्ण रतिवेगा दूसरे किनारे जा लगी और देवी-पूजन करने लगी। देवी ने उसे अरिदमन का आख्यान सुनाया।

करकुंड का अपहरण कोई विद्याधरी कर ले गई। उससे विवाह करके करकुंड पुन रतिवेगा के पास आया और चोल, चेर, पाड्य के नरेशो को उसने पराजित किया। उन राजाओ के मुकटो पर जिन प्रतिमा के दर्शन करने के कारण, जिन्हे वह रौंद चुका था, उसे पश्चाताप हुआ। तेरापुर स्थान मे पुन लौट आने पर उसे मदनावली मिल गई। चम्पापुरी मे आकर वह सुख से रहने लगा। एक दिन वह उपवन मे शीलगुप्त मुनिराज का दर्शन करते गया। उनके धर्मोपदेश से उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ। उसने मुनिराज से तीन प्रश्न किए–उसे कुंडु क्यो हुई? उसके माता पिता का वियोग क्यो हुआ? उसकी प्रिय मदनावली का अपहरण क्यो किया गया? मुनिजी ने इन प्रश्नो का समाधान करने के लिए उसके तीन पूर्वभवो के वर्णन सुनाए। इन्हे सुनकर करकडु अपने पुत्र वसुपाल को राजपाट सौप कर विरक्त हो गया।

'करकुड चरिउ' के लेखक मुनि कनकामर ने ग्रन्थ के आरम्भ मे जिनेंद्रदेव का स्मरण किया है जो परमात्मा पद मे लीन है और मृत्यु भय से रहित हैं। वे संयमरूपी सरोवर के राजहंस हैं, उत्तम गुणो से सम्पन्न हैं तथा आतमरस के अगाध समुद्र हैं। कवि अपनी विनय प्रदर्शित करते हुए कहता है—

"वायरणु ण जाणामि जई विछद्दू।
सुअ जलहि तरेव्वइ जइवि मदु॥

जइ कहवण परसइ ललिय वाणि।
जइ बुहयण लोयहो तणिय काणी॥

जइ कविगण सेव हु मइं ण कीय,
जइ जडमण सगइ मलिण कीय॥

अर्थात् न तो मैं व्याकरण जानता हूं और न छद शास्त्र। शास्त्र रूपी समुद्र के पार पहुंचने मे मन्दबुद्धि हू। मेरी वाणी मे लालित्य का प्रसार नही होता। बुद्धिमानो के सम्मुख लज्जा उत्पन्न होती है। मैंने कविजनो की सेवा भी नहीं की, मूर्खों की सगति से ही मेरी मति मलिन हुई है। तदुपरान्त कवि अपने पूर्ववर्ती कवियो स्वयभू आदि का उल्लेख करते हुए कथानायक करकुडु के चरित्र वर्णन मे प्रवृत्त होता है। फिर उसने जम्बूद्वीप स्थित विशाल नगरी चम्पा का भव्य वर्णन किया है जहा रेशमी पताकाए उड़ती हैं, स्थान स्थान पर रक्त कमल बिखरे हुए हैं।

कथानक दस संधियों मे विभक्त है। सन्धि के अन्त मे कथा के उपशीर्षक दिए गए है, पज्झटिका मुख्य छद है। प्रत्येक संधि मे छद बदलते है। तीसरी सधि मे मदनावली का चित्रपट देखने से करकुडु के मन मे जहा प्रेम का जागरण होता है वह रूपाकर्षण है। इसकी परिणिति विवाह मे होती है। सातवी सधि मे रतिवेगा का पाणिग्रहण करते समय रतिभाव दर्शनीय है। वीर रस के प्रकाशक मुख्यस्थल दो हैं, तीसरी सधि मे चम्पा नरेश की सेना के साथ युद्ध तथा आठवी संधि मे द्रविड राजाओ के साथ करकडु का युद्ध, भयानक वीभत्स रसो की दृष्टि से श्मशानभूमि का चित्रण दर्शनीय है जहा चोर व्यापारी शूलो से भिदे हुए थे। मास लोभी राक्षस फें-फें करते थे और अग्नि ज्वाला मे जलते हुए जीवो मे रणभूमि व्याप्त थी। अन्य भावो की अभिव्यक्ति भी हुई है। पद्मावती और मालिन की ईर्ष्या, पदमावती का पुत्र करकडु को आशीर्वाद इसके अच्छे उदाहरण हैं। जैसे वनमाली की पत्नी कुसुमदत्ता पदमावती को देख कर अपने मन मे विचार करती है -

एह णारि विसिट्ठी तेँ नहि दिट्ठी किं णारि किं विज्जाहरीय। णाम णाय पियारी महि लह सारी चम्पय गोरी गुण भरिम।। तसु रूव रिद्धि एह अइ विहाइ, णह रूवइ रवि ससि णाइ। सारउ सरिस इच्छतियाए, इह सारिउ जधउ कमलियाए।।

अर्थात् यह असाधारण सुन्दरी कोई किन्नरी है या विद्याधरी, जो नेत्र दर्शना है, और गुणवान कदली इसकी जंघाओ का अनुकरण करती है, ऐरावत हाथी जिसके समक्ष नत मस्तक होकर मेरूशिखर को को चला गया-है। फिर वह सोचती है यदि इसके सौन्दर्य ने मेरे पति को विचलित कर दिया तो वह मुझे निकाल देगा। इसलिए वह दोष लगा कर रानी को ही घर से बाहर निकाल देती है।

अलकारो मे रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि के जो उदाहरण है, वे शास्त्रीयता के साँचे मे ढले है। भाषा परिनिष्ठन अपभ्रंश की विशेषताओ से मुक्त है। करकंडु को देखने के लिए नगर नारियो का जो समूह उमडता है, उस समय भाषा का प्रवाह दर्शनीय है-कोई रमणी उत्कठित होकर चली, तो कोई विह्वल द्वार पर ही खडी रह गई। कोई दौड पडी, किसी को अपने वस्त्राभूषणो की सुधि ही नही रही। कोई अधरो मे काजल देने लगी, कोई करतल मे नूपुर धारण करने लगी। कोई बिल्ली को ही सन्तान समझ कर गोद मे उठाने लगी (सधि-३)। ऐसे वर्णनो द्वारा वस्तुस्थिति का बिंव ग्रहण कराया जाता है।

सास्कृतिक दृष्टि से न केवल 'करकड चरिउ" महत्वपूर्ण है वल्कि सभी अपभ्रंश आख्यानो का इस दृष्टि से विशेष स्थान है। यदि सभी आख्यानो का सास्कृतिक विवेचन किया जाए तो दसवी शताब्दी से लेकर सोलहवी शताब्दी तक उत्तर भारत का एक जीता जागता चित्र सामने आ जाएगा। चम्पानगरी की समृद्धि उसके उच्च प्रसाद शिखरो से जानी जा सकती है जो मानो अपनी सैंकडो भुजाओ से स्वर्ग छूते थे। वह पत्तराग मणियो की किरणो से दैदीप्य मान थी। राजा धाडी वाहन दीन दुखियो का परम आश्रय था। उसके मुख कमल मे सरस्वती शोभायमान थी और हृदय मे लक्ष्मी। जैन धर्म का प्रसार दक्षिण भारत तक हो चुका था। चोल, चेर, पाण्डय राजाओ ने ने करकडु ने उनके मुकुटो पर पैर रखा तो उन पर जिन प्रतिमा बनी थी, उसे पश्चाताप हुआ। लोक प्रथाओ, पूजा-अनुष्ठानो, व्रत कथाओ, खानपान मनोरंजन के विविध उपायो का उल्लेख पर्याप्त हुआ है। मंगल हाथी के द्वारा करकडु को राजा चुना जाना, अपशकुन होने के कारण जन्मते ही पदमावती को नदी मे प्रवाहित कर देना, रतिवेगा से

विवाह करते समय मोतियो से तोरण सजाया जाना स्वर्ण निर्मित चौरिया लटकाना, मनोहारी निर्मल वेदिया बनाना, ये सभी प्रसग आचारो व अनुष्ठानो के निर्देशक हैं। रतिवेगा देवी की उपासना लाल वस्त्रो से करती है। आज भी लोकपरम्परा मे देवी पूजा के लिए लालवस्त्रो का ही विधान मिलता है।

कही रणनीति का परिचय होता है। रथ रथो से, हाथी हाथियो से घोडे घोडो से पुरुष पुरुषो से लडते थे जैसे करकडु के द्रविड राजाओ के साथ युद्ध मे वर्णित है। पद स्मरण करते हुए सात पग आगे बढता है, फिर आनन्द भेरी बजवा कर दक्षिण काक्षी लोगों को एकत्र करता है। मुनिवर के उपदेश जैन धर्म के विशिष्ट सिद्धान्तो की व्याख्या करते है। आदर सत्कार की यह प्रणाली अन्य काव्यो मे भी मिलेगी।

इस आख्यान की वस्तु उत्पाहत नही है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' के अनुसार जैन पुराणो मे और बौद्धो के 'कुम्भकार जातक' मे यह वृतात मिलता है। जैन परम्परा मे करकण्डु को कलिग देश का राजा कहा गया है। इसकी अवातर कथाये भी भिन्न स्रोतो से ली गई है। कुछ तत्त्व, जैसे अशुभ शिशु का जल प्रवाह कराना, महाभारत मे मिलते है। यदुवशी पृष्या कन्यावस्था मे सूर्य का आवाहन करने से गर्भवती हो गई और प्रसव के उपरान्त उसने पुत्र को जल मे छोड़ दिया जो महा प्रतापी कर्ण हुआ। कुछ कथाएं प्राचीन साहित्य मे परिचित है जैसे रानी पदमावती के दोहद का वर्णन अपने पूर्व रूप में 'णायाधम्मकहाओ' में दिखाई देता है। महाराजा श्रेणिक की देवी धारिणी की वैसा ही दोहद होता है। रानी, राजा को साथ लें कर मन्द मन्द जल वृष्टि के बीच नगर का भ्रमण करती है। नर वाहनदत्त की कथा 'कथा सरित्सागर' से ली गई हैं। शुक की कथा, जो अरिदमन के कथानक मे आई है, 'कथासरित्सागर' मे सुमना राजा की कथा से तुलनीय है। 'कादम्बरी' मे जिस प्रकार पण्डित तोता राजा को उपदेश देता है, यहा भी वह पैर उठा कर राजा का अभिनन्दन करता है। ये सभी कथासूत्र लोक जीवन से ग्रहण किए गए हैं जिन्हें कवि आकर्षक बना देता है। करकण्डु का कथानक अवदान की श्रेणी मे आएगा।

लोकतत्त्व की दृष्टि से दूसरी सधि मे मातंग विद्याधर द्वारा करकण्डु की शिक्षा के लिए कही गई कथा पठनीय है जिसमे मन्त्रशक्ति का प्रभाव बताया गया है। मदनावली के हरण से दुखी हो जाने वाले करकण्डु को तेरापुर मे एक विद्याधर जो कथा सुनाता है, उसमे अलौकिक शक्ति के द्वारा न केवल मदन मञ्जूषा के हरण का उल्लेख है बल्कि ऋषिकन्या के श्राप से प्रेमी विद्याधर का शुक बन जाना भी वर्णित है। शाप द्वारा रूप परिवर्तन लोक कथाओ की प्रसिद्ध रूढि है जो यहा प्रयुक्त हुई है। छठी सधि मे मदनामर एक ऋषि कन्या का स्पर्श कर लेता है जिसके श्राप से वह शुक हो जाता है। प्रार्थना करने पर ऋषि कन्या श्राप की अवधि घटा कर कहती है— नरवाहन दत्त का रति विभ्रमा से परिणय हो जाने पर वह पुन मनुष्य हो जाएगा।

शुभ शकुन की एक कथा सातवी संधि मे है जहा कोई क्षत्रिय कुमार ब्राह्मण से कह सुन कर उसके शकुन का फल स्वय ले लेता है। वह लडते हुए साप और मेढक को अपने शरीर का मास देता है और वे दोनो मनुष्य रूप धारण कर उसके साथ हो लेते हैं। दसवी सधि मे ऐसी ही एक अलौकिक कथा मुनिराज शील गुप्त पदमावती को सुनाते हैं जिसमे उज्जैन नरेश की पुत्री किसी ब्राह्मण पुत्र का जन्म लेती है जो राक्षसी को वश मे कर लेने के उपरान्त कभी शेरनी का दूध लाता है तो कभी बोलता हुआ पानी। मुनिवर ने जहा पूर्व भवो का वर्णन करके करकण्डु के प्रश्नो का समाधान किया

हैं उसमें भी अनेक अभिप्राय हैं। प्रेम मार्ग की कठिनाइया, कठिन परीक्षाए, नायक की सफलता आदि तत्त्व इसमे यथा स्थान मिलेंगे।

जहा तक प्रेम व्यजना का प्रश्न है, हम देखते हैं रूपाकर्षण ही करकण्डु को मदनावली तथा रतिवेगा की ओर आर्कषित करता है। फिर भी कवि का उद्देश्य उसके चारित्रिक गौरव का चित्रण करना रहा है। नायक स्वय तो अद्वितीय सुन्दर है ही उसे देखने के लिए दन्तीपुर की नगर वधुए व्याकुल हो उठती है। मदनावली अद्भुत सुन्दरी है। सिंहल की राजकन्या रतिवेगा भी अलौकिक सुन्दरी है। मन्त्री सर्वत्र राजा की उद्देश्य पूर्ति मे सहायक होते हैं। पूजा पाठ का विशेष माहात्म्य रतिवेगा के प्रसग मे ज्ञात होता है। ध्यान लगाने पर देवी प्रकट होकर उसे पति-प्राप्ति का वरदान देती है और स्वय करकण्डु के पराक्रम का उल्लेख करती है। यह सूचना देती है कि उसने अन्य सात सौ कन्याए विवाही हैं।

इस प्रकार 'करकण्ड चरिउ' की उपर्युक्त विशेषताए न्यूनाधिक रूप से सभी जैन प्रेमाख्यानो मे दिखाई देगी। ये प्रेमाख्यान भाव चित्रण, वातावरण निर्माण, पात्र एव रूढि सयोजन आदि की दृष्टि से सस्कृत प्राकृत आख्यानो की ही परम्परा मे हैं और उसी प्रकार कान्ता सम्मत उपदेश देने के लिए लिखे गये हैं। विशुद्ध मनोरजन इनका लक्ष्य कभी नही रहा। एक तथ्य और प्रकाशित होता है कि इन कथाओ के रचना विधान मे शास्त्रीय परम्परा तथा लोक परम्परा दोनो का पालन किया गया है।

हिन्दी साहित्य को ध्यान मे रखते हुए अपभ्रंश के इन जैन—प्रेमाख्यानो का महत्त्व दो दृष्टियो से सर्वाधिक है। एक ओर इन्होने कथा शैली, उपमान योजना, छन्द विधान वातावरण आदि दृष्टियों से हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानो का मार्ग प्रशस्त किया है तो दूसरी ओर एकाधिक जैन कवियो को मिलते-जुलते जैन कथानको के आधार पर हिन्दी मे रचना करने की प्रेरणा दी है।

सूफी काव्यो की जो मसनवी पद्धति कही जाती है अर्थात् कथारम्भ मे अल्लाह की वन्दना, पैगम्बर व खलीफाओ का स्मरण, गुरू परम्परा, शाहे वक्त की चर्चा आदि, ये सब प्रवृत्तिया अपभ्रंश के उपर्युक्त आख्यानो में पूरी मिल जाती हैं। नायिकाओ के नाम पर ग्रन्थ का जैसा नामकरण सूफियो ने किया 'पदमावत', 'मिरगावती', 'मधुमालती' आदि वह अपभ्रंश रचनाओ 'विलासवती', 'शशिलेखा', 'मदन लेखा' की ही परम्परा मे स्वीकृत होनी चाहिए। राजाओ का सिंहल कुमारी से विवाह, समुद्र यात्रा और जहाज टूटना भारतीय आख्यान साहित्य की चिर परिचित काव्य रूढिया हैं जो इन्ही अपभ्रंश आख्यानो से होकर कुतबन, जायसी, मझन जैसे कवियों द्वारा अपनाई गई हैं। शुक का विलक्षण और पण्डित होना भी भारतीय तत्त्व है। वह सर्वत्र मार्गदर्शक है और प्रेम सदेशो का प्रिय वाहक है। चित्रदर्शन से प्रेम की उत्पत्ति इन सभी प्रेमाख्यानो मे एक सी है। नायक नायिकाओ के जीवन मे अलौकिक शक्तिया सहायक होती है वे चाहे व्यन्तर या विद्याधर हो अथवा कोई देवी देवता हो। देवी शक्तियो का रूपान्तरण लोक कथाओ मे साधारण सी बात है। शिवजी प्रसन्न होकर सर्वत्र वरदान देते हैं और गौरापार्वती उनसे भी अधिक दयालु हैं।

इन वस्तुगत विशेषताओ के अतिरिक्त बारह महिनो का वर्णन, वृक्षो-फल फूलो का नाम परिगणन जो अपभ्रंश आख्यानो मे हैं, उसे सूफी कवियो ने भी अपनाया है, सरोवर मे स्नान करना, मन्दिर मे शिव पार्वती का पूजन करना ऐसे काव्यो की अनिवार्य रूढिया थी जिन्हे सूफी कवियो ने प्रचुरता से

अपनाया। छन्दो की दृष्टि से सूफियो द्वारा प्रयुक्त दोहा चौपाई छन्द अपभ्र श की ही देन है। नाथ पथियो का प्रभाव भी दोनो काव्य परम्पराओ पर एक जैसा है। अत अपभ्र श के इन प्रेमाख्यानो का अधिकाधिक अध्ययन सूफी प्रेमाख्यानो की विचार धारा तथा शैली विधान को समझने मे विशेष सहायक होगा।

दूसरी ओर हिन्दी साहित्य मे आदि काल से लेकर रीतिकाल के अन्त तक जैन कवियो द्वारा अनेक प्रेमाख्यान लिखे गए जिनका थोडा सकेत आरम्भ मे किया गया है। 'नेमिनाथ फागु', 'ढोला मारु रा दूहा', 'मलय सुन्दरी कथा', हसराज वच्छराज चउपई, 'विद्याविलास चउपई' 'थूलिभद्द कोसा प्रेम विलास' 'मिरगावती रास' 'प्रेम विलास, प्रेमलता' आदि कई ऐसे प्रेमाख्यान हैं जो हिन्दुओ द्वारा रचित कहे जाते हैं। इन हिन्दुओ मे अधिक तर जैन कवि थे। सूफी काव्यो से ये जैन काव्य जिन विशेषताओ मे दूर पडते हैं, वे विशेषताऐं हमे अपभ्र श के जैन प्रेमाख्यानो मे उपलब्ध होती है।

इस प्रकार अपभ्र श के जैन प्रेमाख्यानो के साथ हिन्दी की तीन प्रेमाख्यान परम्पराओ का सम्बन्ध जुडता हैं—सूफी काव्य परम्परा, जैन काव्य परम्परा और अन्य कवियो द्वारा रचित प्रेमाख्यान काव्य परम्परा। आश्चर्य की बात है कि ऐसे महत्त्व पूर्ण विषय की ओर अभी लोगो का बहुत कम ध्यान गया है और अपभ्रंश के ये आख्यान काव्य राजस्थान के विविध ग्रन्थ भण्डारो मे अज्ञात या अल्पज्ञात ही पडे हुए है। इनके समुचित सम्पादन एव प्रकाशन के उपरान्त ही सस्कृत से लेकर आधुनिक भाषाओ तक के भारतीय प्रेमाख्यानो को ठीक ठीक समझा जा सकेगा।



सुख–दुख

नही चाहता है कोई भी हत हो जाना
हर प्राणी को प्रिय है जीवन।
सभी चाहते जीवन मे सुख
दुख कोई भी नही चाहता॥

—अर्हत्

जैन गूर्जर कवियों की हिन्दी सेवा

□ डा. हरीश गजानन शुक्ल

गुजरात जैन धर्म, सस्कृति एव साहित्य का प्रमुख केन्द्र रहा है। इस प्रदेश में जैन धर्म का अस्तित्व तो इतिहासातीत काल से मिलता है। प्रथम तीर्थंकर ऋपभदेव के प्रधान गणधर पु डरीक ने शत्रुजयपर्वत से (गुजरात) निर्वाण से लाभ किया था।[1] २२ वे तीर्थंकर नेमिनाथ (कृष्ण के पैतृक भाई) का तो यह प्रधान विहार क्षेत्र था। जूनागढ के महाराजा उग्रसेन की राजकुमारी राजुल से नेमिनाथ के विवाह की तैयारी करने, भौतिक देह और ससारी भोगो से विरक्त हो गिरनार पर्वत पर समाधि लेने तथा तीर्थंकर मुनिसुव्रत के आश्रम का भृगुकुच्छ मे होने के उल्लेख मिलते हैं[2] १३ वी शती मे वनराज चावडा, सौलकी राजा, शिलादित्य और वस्तुपाल तथा तेजपाल जैसे मन्त्रियो ने जैन धर्म और साहित्य को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। जैन धर्म का यह उत्कृष्ट काल था। मुसलमान बादशाह भी इस धर्म के प्रति काफी सहिष्णु रहे। सम्राट अकबर को प्रतिवोध देने गये जैनाचार्य हीरविजयसूरि, जिनचन्द्र तथा उपाध्याय भानुचन्द्र, गुजरात से ही आगरा गए थे।

दिगम्बर और श्वेताम्वर दोनो ही सम्प्रदायो को साथ-साथ फलने-फूलने का सुअवसर देने का श्रेय गुजरात को ही है। गुजरात श्वेताम्वरो का तो प्रधान केन्द्र रहा ही है, किन्तु ईडर, नागौर, सूरत, वारडोली, घोघा आदि कई स्थानो मे दिगम्वर भट्टारको की भी गादिया प्रस्थापित हुई थी। और उनका जवरदस्त प्रभाव रहा।

इस प्रान्त मे जैन धर्म के चिरस्थायी प्रभाव के फलस्वरूप ही जैन–साधुओ, विद्वानो एव गृहस्थ कवियो ने इसे सास्कृति एव साहित्यिक अमूल्य भेटो से अलकृत किया। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे गुजराती और हिन्दी भाषा और साहित्य की इन कवियो के हाथो महत्ती सेवा हुई है। इन भाषाओ के विकासक्रम के अध्ययन के लिए यही जैन–ग्रंथ आज आधारभूत हैं। इस भाषा अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी और गुजराती का उद्भव एक ही स्रोत से हुआ है। प० नाथूराम प्रेमजी के इस अभिप्राय से भी यह बात स्पष्ट है—'ऐसा जान पडता है कि

१, जैन सिद्धात भास्कर, प्रो० ज्योतिप्रसाद जैन का लेख, पृ० ४८ भाग २० किरण-१ जून, १९५३.

२, मध्यकालीन गुजराती साहित्य, मुशी, पृ० ७२.

प्राकृत का जब अपभ्रंश होना प्रारम्भ हुआ, और फिर उसमे भी विशेष परिवर्तन होने लगा, तब उसका एक रूप गुजराती के साचे मे ढलने लगा और एक हिन्दी के साचे मे। यही कारण है जो हम ई० १६ वी शताब्दी से जितने ही पहले की हिन्दी और गुजराती देखते हैं, दोनों मे उतना ही सादृश्य दिखलाई पडता है। यहा तक कि १३ वी और १४ वी शताब्दी की हिन्दी और गुजराती मे एकता का भ्रम होने लगता है।[3] इसी भाषा साम्य के कारण वि० १७ वी शताब्दी के कवि मालदेव के 'भोजप्रबन्ध' और 'पुरन्दर कुमार चउपई', जो वास्तव मे हिन्दी ग्रन्थ है, गुजराती ग्रन्थ माने जाते रहे।[4]

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि १६ वी-१७ वी शती तक भारत के पश्चिमी भू-भाग मे बसने वाले जैन कवि अपभ्रंश मिश्रित प्राय एक सी भाषा का प्रयोग करते रहे। हा, प्रदेश विशेष की भाषा का इन पर प्रभाव अवश्य था। हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी का विकास शौरसैनी के नागर अपभ्रंश से हुआ।[5] यही धारणा है कि १३ वी-१७ वी शती तक इन तीनो भाषाओ मे साधारण प्रान्तीय भेद को छोडकर विशेष अन्तर नही दिखता। श्री मो० द० देसाई ने इस भाषा को प्राचीन हिन्दी और प्राचीन गुजराती कहा है...." विक्रम की सातवी से ग्यारहवी शती तक अपभ्रंश की प्रधानता रही, फिर वह जूनी हिन्दी और जूनी गुजराती मे परिणत हो गई।[6] गुजराती के प्रसिद्ध वैयाकरणी श्री कमलाशकर प्राणशकर त्रिवेदी ने गुजराती को हिन्दी का पुराना प्रान्तिक रूप मानते हुए कहा है—" स्वरूप मे गुजराती हिन्दी की अपेक्षा प्राचीन है। वह उस भाषा का प्रान्तिक रूप है। चालुक्य राजपूत इसे काठियावाड के प्रायद्वीप मे ले गये और वहा दूसरी हिन्दी बोलियो से अलग पड जाने से यह धीरे-धीरे स्वतत्र भाषा बनी। इस प्रकार हिन्दी मे जो पुराने रूप लुप्त हो गये है वे भी इसमे कायम है।[7]

श्री मोतीलाल मेनारिया ने शार्गंधर, असाइत, श्रीधर, शालिभद्रसूरि, विजय सेनसूरि विनयचन्द्रसूरि आदि गुजराती कवियो की भी गणना राजस्थानी कवियो मे की है।[8] इन्ही कवियो और उनकी कृतियो की गणना हिन्दी साहित्य के इतिहासकारो ने हिन्दी मे की है और उनकी भाषा को प्राचीन हिन्दी अथवा अपभ्रंश कहा है। मिश्र बन्धुओ ने अपने ग्रंथ 'मिश्रबन्धु विनोद' भाग १ मे धर्मसूरि, विजयसेन-सूरी विजयचन्द्रसूरि, जिनपद्मसूरि और सोम-सुन्दरसूरि आदि जैन-गूर्जर कवियो का उल्लेख किया है।

---

३. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, सप्तम् हि० सा०स० कार्य विवरण भाग-२, पृ० ३
४. वही पृ० ४४-४५.
५ हिन्दी भाषा का इतिहास, धीरेन्द्र वर्मा.
६ जैन-गूर्जर कविओ, भाग-१, पृ० १०
७. गुजराती भाषानु बृहद् व्याकरण, प्रथम सस्करण, पृ २१.
८. राजस्थानी भाषा और साहित्य, मोतीलाल मेनारिया.

इस प्रकार एक ही सामान्य साहित्य को हिन्दी, राजस्थानी अथवा गुजराती सिद्ध करने के प्रयत्न बराबर होते रहे हैं। राजनैतिक कारणो से हिन्दी तथा राजस्थानी से गुजराती के अलग हो जाने और उसके स्वतन्त्र रूप से विकसित हो जाने के पश्चात् गुजराती कवियो का हिन्दी के प्रति परम्परागत प्रेम बना रहा। यही कारण है कि वे स्वभाषा के साथ-साथ हिन्दी मे भी रचनाए करते रहे। हिन्दी की यह दीर्घकालीन परम्परा उसकी सर्वप्रियता और सर्वदेशिकता सूचित करती है।

यहा तक कि इस परम्परा के निर्वाह हेतु अथवा अपने हिन्दी प्रेम को अभिव्यक्त करने के लिए, गुजराती कवियो ने अपने गुजराती ग्रन्थो मे भी हिन्दी अवतरण उद्धृत किये हैं। उदाहरणार्थं नयसुन्दर ने 'रूपचन्द कुवरदास', 'नलदमयन्तीरास', 'गिरनार उद्धाररास', 'सुरसुन्दरीरासे', ऋषभदास के 'कुमारपालरास', हीरविजयसूरिरास, 'हितशिक्षा-रास' तथा समयसुन्दर के 'नलदमयतीरास' आदि द्रष्टव्य है। ऋषभदास की कृतियो से पता चलता है कि उस समय व्यापार के लिए भारत मे आने वाले विदेशी-अग्रेज आदि मुगलसम्राटो से उर्दू या हिन्दी मे व्यवहार करते थे।

जनभाषा मे धर्मप्रचार तथा साहित्य सृजन जैन कवियो का उल्लेखनीय कार्य रहा है। इन कवियो का विहार राजस्थान एव गुजरात मे अधिक रहा। गुजरात मे हिन्दी भाषा के प्रभाव और प्रचार ने इन्हे आकर्षित किया। फलत हिन्दी भाषा मे इनके रचित छोटे-बडे ग्रन्थ १५ वी शती से आज तक अच्छे परिमाण मे प्राप्त होते रहे है। इन्होने अपनी कृतियो मे भारतीय साहित्य की अजस्त्र धारा बहायी तथा आध्यात्मिक प्रवचनो, गीतकाव्यो तथा मुक्तक द्वारा जन-जीवन के नैतिक धरातल को सदैव ऊचा उठाने का प्रयत्न किया है। ये जैन सन्त विविध भाषाओ के ज्ञाता होते हुए भी इन्हे भाषा विशेष से कभी मोह नही रहा। सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती आदि सभी भाषाए इनकी अपनी थी, प्रान्तवाद के झगडो मे ये कभी नही उतरे। साहित्य रचना का वृहद् उद्देश्य-आत्मोन्नति और जनकल्याण केन्द्र मे रखकर अपनी आत्मानुरति से जन-मन को ये परिप्लावित करते रहे।

ज्ञानानद, यशोविजय, आनदधन, विनयविजय, जिनराजसूरि, समयसुन्दर, लक्ष्मीवल्लभ, जिनहर्ष, श्रीमद्देवचन्द्र, किसनदास आदि ऐसे ही श्रेष्ठ कवि हैं जिनके अन्तर के अनेको की वेगवती धारा धर्म सम्प्रदाय आदि बाह्य मर्यादाओ की अवहेलना कर अपने प्रकृत सास्कृतिक रूप का परिचय देती हुई बह निकली हैं। इसी वृहद् उद्देश्य को लेकर गुजरात के दिगम्बर जैन कवि भी अवतरित हुए। राजस्थान का बागड प्रदेश (विशेषत डूगरपुर, सागवाड) गुजरात प्रान्त से लगा हुआ है)। अत गुजरात मे होने वाले भट्टारको का राजस्थान से भी निकट का सम्पर्क रहा। गुजरात के इन भट्टारको के मुख्य केन्द्र नवसारी, सूरत, भडौच, जाबूसर, घोघा तथा उत्तर गुजरात मे ईडर आदि थे। सौराष्ट्र मे गिरनार और शत्रुजय की यात्रा के लिए भी इनका आगमन बराबर होता था।[६] इन भट्टारको का भी साहित्य विशेषत राजस्थान के विभिन्न जैन भण्डारो मे (रिखबदेव, डगरपुर, सागवाडा एवं उदयपुर) विपुल परिमाण मे उपलब्ध है। इन भट्टारक सतो ने तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का स्वप्न ८ वी

६ भट्टारक सम्प्रदाय, विद्याधर जोरहापुरकर, पृ० ६,७.

शताब्दी से पूर्व ही देखना प्रारम्भ कर दिया था। मुनि रामसिंह का 'दोहा पाहुड' हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य कृति है जिसकी तुलना मे भाषा साहित्य की बहुत कम कृतिया आ सकेंगी। महाकवि तुलसीदास को तो १७ वी शताब्दी मे भी हिन्दी भाषा मे 'राम चरित मानस' लिखने मे झिझक हो रही थी किन्तु इन जैन सतो ने उनके ८०० वर्ष पहले ही साहस के साथ प्राचीन हिन्दी रचनाए लिखना प्रारम्भ कर दिया था।[१०] गूर्जर भट्टारक कवियो की भी हिन्दी रचनाएं १५ वी शती से प्राप्त होती है। १५ वी शती के ऐसे गूर्जर भट्टारको मे भट्टारक सकलकीर्ति और ब्रह्मजिनदास उल्लेखनीय हैं। ये सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। फिर भी इन्होने लोकभाषा के माध्यम से राजस्थान और गुजरात मे जैन साहित्य और सस्कृत के निर्माण मे अपूर्व योग दिया। ये अणहिलपुर पट्टण के निवासी थे।[११] इनके शिष्य ब्रह्मजिनदास भी पाटण निवासी हूंबड जाति के श्रावक थे।[१२] इन्होने ६० से भी अधिक रचनाए लिखकर हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि की। इन रचनाओ मे रामसीतारास, श्रीपालरास, यशोधररास, भविष्यदत्तरास, परमहसरास, हरिवशपुराण, आदिनाथपुराण आदि विशेष उल्लेखनीय है। इनकी भाषा शैली की दृष्टि से इनके 'परमहसरास' से एक उदाहरण दृष्टव्य है—

पाषाण भाट्टि जिम होई,
गोरस भाट्टि जिमि घृत होई।
तिल सारे तैल बसे जिमिभंग,
तिम शरीर आत्मा अभग॥
काष्ठ भाटिट् आगिनि जिमि होई,
कुसुम परिमल भाट्टि नेटट।
नीर जलद सीत जिमि नीर,
तेम आत्मा बसै जगत सरीर॥

१६ वी शती के भट्टारक कवियो मे आचार्य सोमकीर्ति, भट्टारक, ज्ञानभूषण तथा भट्टारक विजयकीर्ति विशेष उल्लेखनीय हैं। आचार्य सोमकीर्ति का सम्बन्ध काष्ठासघ की नन्दीतट शाखा से था। इनका विहार विशेषत राजस्थान और गुजरात मे रहा। इनकी रचनाओ मे 'यशोधर रास' विशेष महत्व की रचना है, जिस पर गुजराती प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। भट्टारक ज्ञानभूषण मूल गुजरात के निवासी थे और सागवाडा की भट्टारक गादी पर आसीन हुए थे।[१३] इनकी हिन्दी कृतिया आदिश्वरफाग, 'जलागणरास' 'पोसद्दरास' षटकर्मरस तथा नागद्रारास है। आदिश्वररास इनकी एक चरित्र प्रधान सुन्दर रचना है। भट्टारक विजयकीर्ति इन्ही के शिष्य और उत्तराधिकारी थे जो अपनी सास्कृतिक सेवाओ द्वारा गुजरात और राजस्थान की जनता की गहरी आस्था प्राप्त कर सके थे।

सत्रहवी और अठारहवी शती के भट्टारको मे शुभचन्द्र, ब्रह्मजयसागर, रतनकीर्ति, कुमुदचन्द्र, चन्द्रकीर्ति, वीरचन्द, सकलभूषण, रत्नचन्द्र आदि अच्छे कवि हो गये हैं। गुजरात के इन भट्टारको और उनके शिष्यो ने हिन्दी कविता की महत्ती

---

१०. राजस्थान के जैन सत-व्यक्तित्व एव कृत्तित्व, डा. कस्तूरचद कासलीवाल, प्रस्तावना
११. वही, पृ० १
१२. वही, पृ २३
१३. राजस्थान के जैन सत-व्यक्तितत्व एव कृत्तित्व, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ ५०.

सेवा की है। ये भट्टारक सम्प्रदाय-शिक्षा और साहित्य के जीवन्त केन्द्र थे।

कच्छ (गुजरात) के महाराव लखपतसिंहजी ने अपनी राजधानी भुज मे अठारहवी शताब्दी मे ब्रज-भाषा के प्रचार एव साहित्य सृजन हेतु एक पाठ-शाला की स्थापना की थी। दूलेराय कारणीजी ने अपने ग्रन्थ 'कच्छनासंतो अनेकविग्रो' मे लिखा है—कवि श्री लखपतसिंहजी ने इस सस्था की स्थापना करके समस्त देश पर एक महान उपकार किया है। जहा कवि होने का प्रमाण-पत्र प्राप्त किया जा सके, ऐसी एक भी सस्था भारतवर्ष मे कही नही थी। इस सस्था की स्थापना करके महा-राव ने समस्त देश की एक बडी कमी दूर करदी। इस सस्था से निकलने वाले कवियो ने सौराष्ट्र और राजस्थान के अनेक प्रदेशो मे अपना नाम प्रख्यात कर इस सस्था को यशस्वी बनाया है।

इस विद्यालय मे भारत भर के विद्यार्थी आते थे और उन्हें राज्य की ओर से खाने-पीने तथा आवास की पूर्ण व्यवस्था मिलती थी। यहाँ के प्रथम अध्यापक के रूप मे जैन यति एव कवि कनक-कुशल और उनके शिष्य कुवरकुशल तथा लक्ष्मी कुशल, ज्ञानकुशल, कीर्तिकुशल गगकुशल आदि की हिन्दी सेवाओ को भुलाया नही जा सकता। हिन्दी के शिक्षण और सर्जन दोनो ही क्षेत्रो मे इनका असाधारण कृतित्व राष्ट्रभाषा के के इतिहास मे अमर रहेगा। महाराव लखपतसिंह स्वय भी एक अच्छे कवि थे।

नाहटा जी के उल्लेख के अनुसार—'करीब डेढ सौ वर्षों तक ब्रजभाषा के प्रचार व शिक्षण का जो कार्य इस विद्यालय द्वारा हुआ वह हिन्दी साहित्य के इतिहास मे विशेष रूप से उल्लेखनीय है।'[14] यह विद्यालय छन्द और काव्यो के अध्ययन-अध्यापन का एक अच्छा केन्द्र था। यदि कनककुशल की परम्परा मे यह करीब २०० वर्ष तक चलता रहा। अहिन्दी भाषी विद्वानो द्वारा ब्रजभाषा मे काव्यरचना की परम्परा महत्त्वपूर्ण है ही परन्तु ब्रजभाषा पाठ-शाला की प्रस्थापना और निःशुल्क शिक्षा देने की यह बात विशेष महत्त्व की है। इस दृष्टि से गूर्जर विद्वानो का यह ब्रजभाषा प्रचार का कार्य निःसदेह अनूठा है।

जिनकी मातृभाषा हिन्दी नही, उन लोगो ने भी कितनी शताब्दियो तक हिन्दी मे रचना करने की परम्परा सजीव रखी है। इससे स्पष्ट है, प्रारम्भ से ही हिन्दी एक व्यापक भाषा के रूप मे विकसित होती रही है। यह अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की और संस्कृति की वाहक भाषा रही है। हिन्दी भाषी प्रदेश का निकटवर्ती प्रदेश होने के कारण भी गुजरात मे हिन्दी भाषा का प्रचार अधिक रहा है।

गूर्जर जैन कवियो का हिन्दी मे साहित्य रचना के प्रति परम्परागत मोह रहा है। प्रान्तीयता को लेकर भाषा के झगडे इनमे कभी नही उठे, उठे भी तो लोकभाषा को लेकर ही। हिन्दी मे लोकभाषा और लोकजीवन के सभी गुण विद्यमान थे। अत गूर्जर जैन कवियो ने भी इसे सहर्ष अपनाया। इनकी हिन्दी भाषा मे, शिक्षा और प्रान्तीय प्रभाओ के कारण थोडा अन्तर अवश्य आया किन्तु भाषा के एक सामान्य रूप अथवा उसकी एकरूपता में कोई विकृति नही आने पाई। गाधीजी ने हिन्दी के जिस रूप की कल्पना की थी, जैन गूर्जर कवियो की रचनाओ मे वह उपलब्ध है। हा, साधु सम्प्रदायो मे पले कवियो की भाषा सस्कृतनिष्ठ रही है।

---

१४. आचार्य विजय वल्लभसूरि स्मारक ग्रन्थ, श्री अगरचन्द नाहटा का लेख, पृ० ६७।

इस प्रकार जैन-गूर्जर कवियो ने १५ वी शती से आज तक प्राचीन हिन्दी या प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी, डिंगल, ब्रज, अवधी, खडी बोली, उर्दू आदि भाषाओ मे अनेक गौरवग्रन्थो की रचना की है। इसमे स्पष्ट है कि हिन्दी, इन अहिन्दीभाषी जैन कवियो पर बलात् थोपी या लादी नही गई थी, उन्होने उसे स्वय ही श्रद्धा और प्रेम से अपनाया था और अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था।

जैसा कि इन कवियो की रचनाओ पर आरोप लगाया जाता रहा है कि इनकी रचनायें धार्मिक सकीर्णता से ग्रस्त हैं अत साहित्यिक मूल्य कम है। वस्तुतः धर्म और आध्यात्मिकता तो इनकी मूल प्रेरणा रही है, इनमे मात्र नीरसता और शुष्कता का पिष्टपेशन नही, काव्यरस का चरम परिपाक भी है। श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानो ने इस कृतियों के माध्यम से अनेक विषयो पर अनेक रूपो मे प्रकाश डाला है। ये सब विषय मात्र धार्मिक ही नही, लोकोपकारक भी हैं। इन कवियो ने उपदेश को हृदयगम कराने की नवीन पद्धति का अनुसरण किया है। इन्होने काव्यरस और अध्यात्मरस का कबीर, सूर, तुलसी की तरह ही समन्वय किया है।

हिन्दी को अपनी वाणी का माध्यम बनाकर इन जैन-गूर्जर संत कवियो ने भक्ति, वैराग्य एव ज्ञान का उपदेश देकर काव्य, इतिहास और धर्म साधना की जो त्रिवेणी बहाई है—उनमे आज भी हम उनकी शतशत भावोर्मियो का स्पदन अनुभव कर सकते हैं। इनकी भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। इन्होने कई छन्द विविधराग–रागिनियो मे प्रयुक्त किये। ये अलंकारो मे मर्यादाशील बने रहे। अलकारो के कारण कही स्वाभाविकता समाप्त नही हुई। इनके काव्य मे काव्यरूपो की विविधता और मौलिकता के भी दर्शन होते हैं। विभिन्न राग-रागिनियो मे निबद्ध इन कवियो की कविता काव्य सगीत एव भक्ति का मधुर संयोग बनकर आती है।

उपसहारत. गुजरात के इन जैन सतो की वाणी भी भारत व्यापी संत परम्परा की एक अविच्छेद कडी प्रतीत होती है। साथ ही इन कवियो की देन मात्र भाषा के क्षेत्र मे ही महत्त्वपूर्ण नही, बल्कि विचारो मे समन्वयवादी, धर्म मे उदार, सस्कृति के क्षेत्र मे व्यापक तथा साहित्य के क्षेत्र मे विविध काव्यरूपो, उदात्त भावनाओ एव कल्पनाओ से परिपूर्ण है।



जैन गज़ल साहित्य : एक परिचयात्मक आलेख

□डा० भगवतीलाल शर्मा

नूतन काव्य-विधाओ का प्रवर्तन और प्रचलित काव्य-रूपो का परिवर्तन-प्रयोग जैन कवि-सन्तो की अपनी अन्यतम विशिष्टता रही है। ऐसी ही उनकी प्रतिभा की उद्भासक देन है उनके द्वारा रचित यात्रा-परक गज़ल साहित्य। जैन-सतो की यात्रा-गंगा सदैव प्रवहमान रही है। इस यात्रा गंगा मे जो भी उनका पडाव रहा, वह इस गजल साहित्य मे प्रयाग बन गया है।

गजल अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है स्त्री से बात करना।[1] अत. अच्छी गज़ल वही समझी जाती है जिसमे इश्को-मुहब्बत की बातें सच्चाई और असर के साथ लिखी जाय।[2] गजल के अन्य शाब्दिक अर्थ हैं घटा, घटे की आवाज, प्रेम की कविता, फारसी या उर्दू का एक छद।[3] जैन-कवियो द्वारा रचित गजल साहित्य परिवर्तित वर्ण्यविषय और इस छद की गेयता दोनो लिए हुए हैं। "लोक-प्रचलित इस गजल साहित्य का उर्दू काव्य की गजल से न तो बाह्य रूप मे कोई साम्य है और न वर्ण्य विषय मे ही।[4]

छंद और सगीत के निर्माण-तत्त्व समान हैं। सगीत की शैली पर निर्मित गजल भी ऐसा ही छद है। अपने अभिष्ट की अभिव्यक्ति हेतु इस परिवर्तित छन्द-स्वरूप को अपनाकर जैन-कवियो ने अन्य भाषा के छन्दो के प्रति अपनी हृदय-विशालता और संगीत प्रेम का परिचय दिया तथा काव्य की एक विशेष विधा का वह वट-वृक्ष लगाया जो अनुभूति और अभिव्यक्ति की हर दृष्टि से अनूठा है।

इस गजल साहित्य मे हमे पजाब, बगाल, राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश आदि के विस्तृत भू-खण्ड के लाहोर, बीकानेर, जोधपुर, गिरनार, भावनगर, उदयपुर, कापरडा, सूरत, खभात, बडोदा, पाटण, डीसा, पोरबन्दर, मुर्शिदावाद,

---

१ उर्दू साहित्य का इतिहास एहतिशाम हुसैन पृ० ३५५,

२ हिन्दी साहित्य कोश प्रथम भाग सपा डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि, पृ० २२५.

३ अवधी कोश रामाज्ञा द्विवेदी "समीर". पृ० ६४.

४ हिन्दी साहित्य के शृंगार-युग मे सगीत काव्य डा० हेम भटनागर पृ० २५६

इन्दौर, म गलोर आदि नगर विशेषो का चित्रात्मक वर्णन प्राप्त होता है ।[५]

इस काव्य-विद्या को विशेष छन्द के ढग पर गाये जाने के कारण ही गजल नाम दिया गया है । चार-चार वर्णो पर यति लिये हुए इसमे आठ वर्णों की एक पक्ति होती है । अधिक वर्ण हुए तो ताल की चार मात्राओ मे उन्हे समाहित कर दिया जाता है । प्रत्येक पक्ति के बीच मे कि, क, के शब्दो को रखकर दूसरी पक्ति को उसी लय और ताल मे पकड लेना इसका विशेष ढग है ।

विशेष काव्य-विद्या की दृष्टि से ही नही, इस यात्रा-प्रधान साहित्य की सास्कृतिक महत्ता भी है । तत्कालीन नगर-व्यवस्था, रचना, उसकी प्राकृतिक छवि, खान-पान, वेश-भूषा, रीति-रिवाज, व्यापारिक–समृद्धि, उद्योग-धन्धे, विदेशो से व्यापारिक सम्पर्क आदि का सकेत हमे इनमे मिलता है । सास्कृतिक दृष्टि से समृद्ध इन काव्यो मे तद्युगीन शासक और शासन–व्यवस्था इत्यादि का इतिवृत्त प्रस्तुत कर इन गज़लो को ऐतिहासिक दृष्टि से भी समृद्ध और सम्पन्न बनाने का प्रयास किया गया है । काव्य, इतिहास और सस्कृति–तीनो ही दृष्टियो से यह गजल साहित्य अनूठा है । अनिशयोक्ति नही होगी यदि इन्हे इनमे वर्णित नगरो का तत्कालीन 'गाइड' कहा जाय ।

अभिव्यक्ति पक्ष भी इन गजलो का समृद्ध है । गजलो मे उस समय साधारण भाषा का ही प्रयोग किया गया है जिससे इनमे अनूठी स्वाभाविकता और सरलता–सरसता का सचार हो गया है । काव्यो मे प्रचलित जन–भाषा के प्रयोग यो ही बहुत कम मिलते हैं । इन गज़लो मे १८ वी, १९ वी, २० वी विक्रम शती की जन–जिह्वा भी मिलेगी जिसका अपना भाषा वैज्ञानिक मूल्य है । इन गजलो मे ग़जल, रेखता के अतिरिक्त दोहा, सोरठा, पद्धरी, हाटकी, हणूफाल, कवित्त, छप्पय, लावणी, मोतीदाम आदि छदो के प्रयोग से पर्याप्त छंद–वैविध्य भी विद्यमान है । भाषा प्रसाद और माधुर्य गुणोपेत है जिसमे वयण–सगाई, अनुप्रास, रूपक, उपमा, स्वभावोक्ति, उत्प्रेक्षा आदि अलकारो को भी यत्र-तत्र प्रयुक्त किया गया है । इनसे वर्णन और भी आकर्षक बन गये हैं । इनमे मंगलाचरण भरत वाक्य, कलश कवित्त रखने आदि की काव्य-रूढ़िया भी मिलेगी ।

यह गजल साहित्य मात्रा मे भी अल्प नही है । २०-२५ छन्दो की लघु रचनाओ लेकर २००-२५० छन्दो तक की रचनायें बहुतायत से उपलब्ध होती है जो भिन्न-भिन्न कवियो की वर्णन क्षमता की द्योतक हैं । इसका अल्पाश पद्म श्री मुनि जिन-विजय, श्री अगरचन्द नाहटा, श्री मुनि कान्तिसागर आदि द्वारा प्रकाश मे भी लाया गया है ।

आगे कतिपय प्रमुख गजलो का परिचयात्मक आलेख प्रस्तुत किया जाता है—

---

५. जैनेतर कवियो का आबू (चेलो) दुगोली गाव (अर्जुन), उदयपुर (भोज) आदि पर लिखा गया गजल साहित्य भी उपलब्ध होता है । ब्रज भाषा मे कवि नन्ददास की रचना 'वियोग बोली गज़ल' भी मिली है ।

१. आगरा गजल.

इसके रचयिता लक्ष्मीचन्द है और इसकी रचना स० १७८० आषाढ शुक्ला त्रयोदशी को हुई।[६] गज़ल मे ९४ पद्य हैं जिनमे आगरा की उत्पत्ति और इतिहास-कथन कवि का उद्देश्य रहा है –

सरसती माता सुभावनी क, देहो दास कु जानी क।
अकबराबाद की टुक आज, उतपति कहत है कविराज ॥१॥

कवि ने नगर के सौन्दर्य से अभिभूत हो गज़लान्त मे अपनी मनोकामना इस तरह अभिव्यक्त की है—

अकबराबाद है ऐसा क, लाखयँ इन्द्रपुर तैसा क।
सब गुन सहर है भरपूर, देखत जात है दुख दूर ॥९१॥

जब लग गगन अरू इ दाक, पृथवी सूरगनचदाक।
सुवसो तब लगँ पुर एह, सहर आगरा गुन गेह ॥९२॥

२. इ दौर वर्णन

इसका रचयिता अज्ञात है। दोहा, पद्धरी आदि विभिन्न छन्दो मे इसके अज्ञात रचियता ने इन्दौर वर्णन प्रस्तुत किया है —

दोहा सकल गुणँ करि सोहतो, सकल देश सिरदार।
अति इन्दौर उद्योत है। सब जाणत ससार ॥१॥

छद पद्धडी सब सिरै सहर इन्दौर साच, वर्णवु गुनह तिनके जु वाच।
जिण नगर माहि घनवाण जाण, वँलि बुद्धि सुद्धि बलवत वखाण ॥

छन्दो की भाषा अत्यन्त सरल है और इनमे 'वयण-सगाई' 'शब्दालकार' का सफल निर्वाह हुआ है।

३ उदयपुर गजल.

यह खरतरगच्छीय जैन कवि खेतल की ८० पद्यो की रचना है जो उन्होने राणा अमर-सिंह के राज्यकाल मे स० १७५७ के मार्गशीर्ष मे रची—

खरतर जती कवि खेताक, आखँ मौज सु एताक।
राणा अमर कायम राज, लायक सुन जस मुख लाज ॥७८॥

सवत सतरै सतावना, मिगसर मास धुर पख धन्न।
कीन्ही गजल कौतुक काज, लायक सुणतसु मुखलाज ॥८०॥

इसमे सर्वप्रथम मेवाड के राज्यवश के इष्टदेव श्री एकलिंगजी का स्मरण किया गया है और तत्पश्चात् वहा के प्राकृतिक-सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। गज़ल मे राणा अमरसिंहजी का यश वर्णन भी कवि ने किया है—

जपू आदि इकलिंगजी, नाथ दुवारै नाथ
गुण उदयापुर गावता, स ता करा सनाथ ॥१॥
सघन अब गिरिवर सघन, सिखर रमै सुर राय।
राठ सेन सुप्रसन रही, प्रथम नम ता पाय ॥२॥
वाडी, तलाव, गिर, बाग, बन, चक्रवर्ति ढलते चमर।
अन भग जग कीरत अमर, अमरसिंह जुग-जुग अमर ॥७९॥

---

६. सवत सतरै सँ असी वया क, आषाढ मास चित वसियाक। सुदि पख तेरमी तारीख, कीनी गजल धुए बारीक ॥९३॥
अपनी बुद्धि के सारू क, कीनी गजल ए वारू क।
लखमी करत है अरदास, नित प्रति कीजिए सुविलास ॥ ॥९४॥

२. कापड़रा गजल

जोधपुर-बिलाडा मार्ग पर स्थित कापरडा जैन-समाज का प्रसिद्ध तीर्थ है। इसी श्रद्धा-स्थल को वर्ण्य बनाकर तपागच्छीय यति गुलाब विजय ने ३१ पद्यो की यह लघु-रचना संवत् १८७२ की चैत्र कृष्णा तृतीया को रची।[७] उस समय कापरडा मे राठौड खुशालसिंह का राज्य था और नगर की धन-धान्य सम्पन्नता देखते ही बनती थी--

माम नृपति महाराज आज अधिक यश गाजै।
कापरडे कमधज खुशालसिंह नित राजै ।।३१।।

ज्ञानी ध्यानी बहुगुणी, पाखंड रहे न कोय ।
इण खडे जनपुर अधिक, रग रली घर होय ।।४।।

गिरनार गजल:

यह खतरगच्छीय यति कल्याण की रचना है—

खरतर जती है सुप्रमाण, कवि यु कहत है कल्याण ।।५४।।

कवि ने सर्व प्रथम मगलाचरण प्रस्तुत करते हुए तत्कालीन नरेश का परिचय भी दिया है—

वर दे माता वागेसरी, गजल कहु गुण खाण।
जबर जग है जीर्ण गढ, वाचा ताम वखाण ।।१।।
महबत खान महीपति, रघु विराजै राज।
गय थट्ट हय थट्ट गाजता, सब ही सारै साज ।।२।।

तत्पश्चात् कवि ने वहा के देवालयो आदि का अनुपम चित्र खीचा है—

दिन दिन होत है दैकार,
गिरवर गाजते गिरनार।
दामोदर कुण्ड है सुखदाय
करता स्नान पातक जाय ।।१।।
देवल ऊच है धज दण्ड,
नीचे खूब खेती कुन्ड।
भवेसर नाथ सनू देव,
सारत लोक जाकी सेव ।।२।।

कवि ने वहां के अनुपम नारी समाज का सकेत देते हुए स० १८३८ माह वदि-२ को अपनी रचना समाप्त की—

असी नारियां अलेख,
उपमा कही ऐमी देख।
संवत अढार अडतीसैक,
महा वदि बीज कै दिवसैक ।।५१।।

गिरनार जूनागढ़ वर्णन

यह तपागच्छीय कवि मनरूप विजय की कृत्ति है। कृत्ति से इमका रचनाकाल तो ज्ञात नही होता, परन्तु कवि की अन्य कृत्तियों को दृष्टि मे रखते हुए यह रचना स. १८६० के आसपास की होनी चाहिये। कवि ने सौराष्ट्र स्थित इस तीर्थ स्थल को देखने का निमन्त्रण देते हुए अपना यह अपना यह वर्णन समाप्त किया है—

जूनोगढ जग येष्ट, श्रेष्ट वानी तिहा सो है।
दल सब्बल दईवान, मन्त्र जन देखत मोहै ।।
श्रावक जिहा सुखकार, पार जिनका कुन पावै।
धरम करत धनवन्त, गुणह बढ़ बडे जु गावै ।।

---

७ सवत अठारह जाणु क, बरस बहुत्तर आणुक। चैत्र मास है चगा, वद पख तीज दिन रगा ।।२९।। तपागच्छ यति है गुलाब, किया इस गजल का जाब। जिसने कहिमै कैसीक, आंखिया देखी ऐसी क ।।३०।।

तिरए देश तीर्थ शत्रुञ्ज शिखर,
बले गिरनार बखाणियें।
मनरूप विजय कवि कहै मरद,
अवस सोरठ चित ग्राणिये ।।१।।

(७) चित्तौड़ गजल

यह कवि खेतल का कृतित्व है और इसकी छद स० ५६ है। इसका रचना काल स० १७४८ श्रावरण वदि १२ है।[८] वर्णन मे कवि की दृष्टि धर्म-निरपेक्ष एव व्यापक रही है—

गढ चित्तौड है वका कि, मानु समद मे लका कि।
विडइ पूरत लहलवती, अरुगभीर तीर रहति कि।।२।
अला दैति अल्लावदिन, बधी पुल बडी पदवीन।
गैवी पीर है गाजी कि, अकबर अवलियौ राजी कि।।३।।

(८) जैसलमेर गज़ल

यह गजल कल्याण कवि की है जो उन्होने स० १८२२ के बैसाख के शुक्ल पक्ष मे बनाई—

वरणे चोतरफ वाखाण,
पाचु कोश की परिमाण।
सवत अठारसै बावीस,
सुद बैसाख सुभ दीसे क ।।१२८।।
भाषा गजल की भाखी क,
अपणी उकत परि आखी क।
वाचत पढत जण वाखाण,
कीजै प्रभु नित कल्याण ।।१२९।।

उस समय महारावल वैरीसाल का शासन-काल था—

वैरीमाल तिहा वका क,
शाहि को करे अर शका क ।।५।।

गजल काफी लम्वी है और उसमे १२९ पद्य है।

(९) जोधपुर वर्णन गज़ल

इस गजल के रचनाकार तपागच्छीय यति गुलाब विजय थे। गजल का रचना समय स १९०१ पौष कृष्ण १० है—

पोसइ मास वलि वदि पक्ष,
दसमी तिथह भृगु परतक्ष।
खमजो सुकवि चित्तहि लाय,
वालक रीत कीनी धाय ।।१०२।।

गजल की भाषा सरल होने से सुग्राह्य है—

जोधहि नगर है कैसाक,
भानु इन्द्रपुर जैसाक।
कहियै सोभ तिन केतीक,
अपनी बुध है जेतीक ।।१।।

(१०) जोधपुर नगर वर्णन गज़ल

इस गजल के रचयिता हेम कवि हैं। ये तपा-गच्छीय नेम विजय के शिष्य थे। यह गजल इन्होने स० १८६६ कार्तिक सुदि १५ को रची—

---

८. खरतर जती कवि खेताक, आखै मौज सु एताक ।।५४।।
सवत सतरैसै अडताल, सावण मास ऋतु वरमाल। वदि पख वाखी तेरी कि, कीनी गजल पढ़ियो ठीकि ।।५५।।

वली अठार छासठ वर्ष,
हिकमत करी काती हर्ष ।
निपट ही पूर्णिमा तिथ नीक,
ठावी गजल कीनी ठीक ॥४६॥

छन्दो मे दोहा, गजल कवित्त इत्यादि प्रयुक्त हुए हैं और कुल छद संख्या ४६ है। वर्णन का एक कवित्त द्रष्टव्य है—

योधनयर जग जाण, इन्द्रपुर ही सम ओपत ।
वाजत वज्ज छत्तीस, नित्य उच्छव कर नरपति ।
राज ऋद्ध बड रीत, प्रीत नर नार रू पेखो ।
अही सूर चद अडिग, दुनी वाड़ नर थे देखो ।
वाह जी वाह ओपम वडिम,
मनुष्य घणा सुख माण री ।
कवि दिट्ठ जिसड़ी कही,
जग शोभा जोधाण री ॥४७॥

(११) जोधपुर वर्णन गज़ल

त्रुटित प्रति होने के कारण इसके रचयिता अज्ञात है और इसका रचना काल भी।[६] वैसे महाराज मानसिंह के समय मे इसकी रचना हुई थी—

राज करै राठौड़ वर, श्री मानसिंह महाराज ।
अटल आण वरतै अखड, इसडो अवर न आज ॥४॥

महाराज मानसिंह का समय स० १८३६ से सं० १६०० है।[१०] कवि ने मगलाचरण प्रस्तुत कर वर्णन किया है—

सारद गणपति शिरनवु, निश्चै इक चित्त होय ।
गढ जोधाणो वर्णवु, मोटी बुद्धि द्यो मोय॥२॥

सब ही गढा शिरोमणि, अति ही ऊंचो जाण ।
अनड पहाड़ा ऊपरै, जालम गढ जोधाण ॥२॥

(१२) झींगोर गज़ल

इसके कवि जटमल है। आप नाहर गोत्रीय जैन श्रावक थे। इस गजल मे कवि का वर्ण्य झीगोर नगर की एक नारी रही है—

झीगोर कोटा खूब देखी नारी एक सुनार की ।
मन लाइ साहिब आप सिरजी पत सिरजणहार की ।
मुख चद मुंह निसाण चाढे नैन घासी सार की ।
अलि मस्ति आछी नाजि नखरा कली जान अनार की।

(१३) डीसा गज़ल :

यह खतरगच्छीय जैन यति देव हर्ष की[११] १२१ पद्यो की रचना है जिसमे डीसा का बडा सुन्दर वर्णन प्रस्तुत हुआ है—

बीन उपदेश कथीर जुं, पहिर खुशी नही होय ।
हीरा मणि माणक सही, लीला कवि जन लोय ॥२॥
धर नीली धाण धार मे, गुणीयल नर शुभ गाम ।
नग फण रस कस नीपजै, धवल नवल सुख धाम ॥३॥

(१४) नागौर वर्णन गजल :

यह गज़ल कवि मनरूप ने महाराज मानसिंह के समय मे सं० १८६२ मे रची जिसका कवि ने इस तरह उल्लेख किया—

महीपति मानसिंह महाराज, सबही भूप का सिरताज ।
उग बल प्रबल अरियण खेस, डडही भरै दस ही देस ॥२॥

---

६. राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज : द्वितीय भाग : सपा. श्री अगरचन्द नाहटा : पृ० १०५ ।

१०. परम्परा : भाग १५–१६ . पृ० ३४१–३४६.

११. पुण्य सुजस कोधी प्रगट, जिहा सिद्ध अंबा माता घणी ।
कवि देवहर्ष मुख थी कहै, दीयै सुजस लीला घणी ॥१२१॥

गजल के अन्त का कवित्त इस प्रकार है—

गजल सुणी जे गुणी भली तिनके मन भावैं ।
सुणैं राव गजान, उमंग तिनके चित आवैं ।
पंडित गुणैं प्रबीण, हरख उपजैं हिय उल्ह सैं ।
अवर सुणैं नर नार, बढे चित्त माया विल सैं ।
नग रतन सहर नागौर हैं, कहो कीरत केती करां ।
कूड नही जाण तिलमात कथ, निरख दाद देज्यो नरा ।।८३।।

(१५) पाटण गजल

इसके कर्त्ता खतरगच्छीय देव हर्ष है।[१२] इस कृति की पद्य सख्या १४५ है। इसे कवि ने स० १८५६ के फागुन मास मे बनाया।[१३] रचना की बानगी इस प्रकार हैं—

घर नीली मदिर धवल, अक्षय लाछि अलक्ष्य ।
सर्व लोक सुखिया वसैं, खूबी कहै खलख्य ।।४।।
रथ पायक हय गय घणा, दिन दिन चढते दाव ।
गायक वाल गाजैं गुहिर, राज करैं हिन्दू राव ।।५।।

(१६) पाली नगर वर्णन

कवित, ढालादि मे यह किसी अज्ञात जैन कवि की रचना है। इसमे कृति का रचना-काल भी नही दिया गया है। नगर वर्णन का आदि-अन्त इस प्रकार है—

आदि—

पाली नगर सुहामणौं, देख्यां आवै दाय ।
वर्णन ताको अब वदूं, सामण करत सहाय ।।१।।

अन्त—

आण वहैं जिननी सदा रे, प्रमुदित मन ससनेह ।
नाम जपैं श्री पूज्य नो रे, ज्यूं बावैंया मेह ।।

(१७) पूरब देश वर्णन

इसके रचयिता ज्ञानसार हैं। आप खरतर गच्छीय रत्नराज गणि के शिष्य एव मस्त योगी एवं राज्य मान्य विद्वान थे। इस वर्णन मे १३३ पद्य हैं और कवि की अन्य रचनाओं को दृष्टि मे रख कर इसका रचनाकाल स० १८५६ और स० १८८१ के बीच माना जा सकता हैं। रचना का आदि-अन्त अधोलिखित है—

आदि—

केई मैं देख्या देश विशेषा
नतिरे अब का सब ही मे ।
जिह रूप न रेखा नारी पुरुषा,
फिर फिर देख्या नगरी मे ।।

जिहां काणी चुचरी अधरी वधरी,
लगुरी पगुरी हवैं काई ।
पूरव मति जाज्यो, पच्छि जाज्यो,
दक्षिण उत्तर है भाई ।।१।।

अन्त—

घणु घणु क्या कहुं, कह्यौ मैं कचित कोई ।
सब दीठौ सब लहै, देश द ठो नही जाई ।।

---

१२. पाटण जस कीधो प्रगट, जिहा पचासर त्रिभुवन धणी ।
कवि देवहर्ष मुख थी रटैं, कुशल रग लीछा घणी ।।१।।

१३. सवत अठार उगणसठ वरस, फागण वाणी सु दिखी सरस ।।१४४।।

जाणी जेती बात, तिती मे प्रगट कहाणी ।
झूठी कथ नहीं कथी, कही है साच कहाणी ।।
पिण रहिस हू इक बात री,
तन सुख चाहै देह धर ।
नारण धरी अरू क्या पहर,
रहे नही सो सुघड नर ।।१।।

(१८) पोरबन्दर (सोरठ देश) वर्णन :

यह 'गिरनार जूनागढ वर्णन'-कार मनरूप कवि की रचना है । इस वर्णन के २६ पद्यो मे कवि ने पोरबन्दर का वर्णन इस प्रकार रखा है—

तिण देश पुरहविंदर प्रसिद्ध,
वर्णवू ताहि गुन सुन विवुद्ध ।
कीरति ताहि की सुनहु कान,
अलकापुरी जू ओपम जु आन ।।१।।

(१९) बड़ोदरा गज़ल :

इसके रचयिता कविराज बहादुर तपागच्छीय रत्न विजय के शिष्य दीप विजय हैं । इसकी रचना तिथि स० १८५२ मार्ग शीर्ष शुक्ला १ शनिवार है जो रचना के अन्तिम कलश सवैया मे इस प्रकार है—

पूरण किद्ध गजल अवल्ल
अढार सै बावन चित्त उल्लासें ।
थावर वार मृगशिर तिथि
प्रतिपद पक्ष उजव सें ।।
उदयो तले थाट उदय सूरि पादह लक्ष्मी
सूरि जिम भान आकाशे ।
प्रमेय रत्न समान वरनन सेवक
दीप विजय इम भासें ।।

(२०) बीकानेर गज़ल :

यति उदयचन्द्र विरचित इस गजल की रचना महाराज सुजाण के समय स० १७६५ के चैत्र मास मे हुई । कृति का अन्तिम झूलणा छद इस प्रकार है—

सवत सतर पैंसठ रे मास,
चैत्र मे गज़ल पूरी कीनी ।
माता शारदा के सुपसाइ सु रे,
मुझे खूब करण की मति दीनी ।।
बीकानेर सहिर अजब है च्यारू,
चक मे ताकी प्रसिद्धि दीनी ।
उदैचन्द आनन्द सु यु कहै रे,
चतुर माणस के चितमाहि लीनी ।।
चावो च्यारे चक्क मे नवखण्ड मेरे,
प्रसिद्ध बधो बीकानेर बाइ ।
छत्रपति सुजाण सा जुग जुग जीवो,
ताके राज्य मे बाजते नौबत थाइ ।।
मनसु खूब वणाई कै रे सू सुणाइ
के लोक सुवास पाई ।
कवि चन्द आणद सु यु कहै रे
गु धू घू घू घू खूब गज़ल गाई ।।

(२१) बीकानेर गज़ल :

इसके कवि लालचन्द हैं । गज़ल मे १६१ पद्य है । कवि ने नगर मे होने वाले व्यापारादि का वर्णन इन शब्दो मे किया है—

मोती किलंगी मालाक, वागे जरकसी वाल्हाक ।
लाखू हु डिया ल्यावे क,
जनसा माल ले जावे क ।।६२।।

गजल की रचना समय स० १८३८ ज्येष्ठ सुदि७ रविवार है—

समत अढार अडतीस मे, बीकानेर मझार ।
जेठ-सुकल सप्तम दिने, साचो सूरजवार ।।१६०।।
लालचन्द की लील सू, कही खेत घर हेत ।
पढै गुणे जे प्रेम धर, जे पामैं लछ जैत ।।१६१।।

(२२) बंगाला (मुर्शिदाबाद) की गजल

दोहा, गजल, रेखता आदि मे यति निहाल ने इस गजल का निर्माण किया है—

गजल बगाला देश की भाषित जती निहाल ।
मूरख के मन ना वसै। पडित होत खुश्याल ।।

इसका रचना-समय सं० १७८२-१७९५ के मध्य है।[१४] दो एक छन्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

गजल अवल देश बगाला कि,
नदिया वहुत है नाला कि ।
संकडी गली है वहा जोर,
जगल खूब घिरे चहु ओर ।।
नवलख कामरू इक द्वार,
दस्तक बिना नही पैसार ।
बाए हाथ वहती गग,
दक्षिण ओर परवत तु ग ।।

रेखता

यारो देश बगाला खूब है रे जिहा
वहत भागीरथी आप गगा ।
जिहा सिखरसमेत पर नाथ पारस
प्रभु झाडखंडी महादेव चंगा ।।
नगर पचेट मे रघुनाथ का वडा
न्हाण है गगा सागर सुसंगा ।
देश उडीसा जगन्नाथ अरू वा कु ड
के न्हात सुध होत अ गा ।।

(२३) भावनगर वर्णन गजल

यह ३२ पद्यो की लघु रचना है जिसके रचयिता भक्ति विजय हैं और इसे उन्होंने स० १८६६ कार्तिक पूर्णिमा को वनाया—

सवन अठार छासठ् साच वलि
तिहा मास कार्तिक वाच ।
पूनम सकल को दिन देख,
वदी है गजल भाव विशेष ।।३१।।
तप गच्छ धणी तालावत,
विजैजिनेन्द्र सूरि शोभत ।
सेवक भक्ति विजय कर सेव,
पढी है गजल पूज पच देव ।।३२

(२४) भावनगर वर्णन

यह तपागच्छीय नेमविजय के शिष्य हेम की रचना है। इसकी रचना भी स० १८६६ की कार्तिक पूर्णिमा को हुई।[१५] इसमे २५ छद हैं जिनमे दोहा, त्रोटक इत्यादि व्यव्हृत हुए हैं। वर्णन का एक त्रोटक छन्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जाता है—

गहिरो अत देश गुज्जरय,
निज भ्रम अह्याजु नारी नरय ।
धणी ऋद्धि वृद्धि जिये घर मे,
घरे चित्त सुवत्त दया धरमे ।।
पडित नेम गुरू के पसाव,
मन शिष्य हेम उज्जल सुभाव ।
सुनकै जु रीझ है नर सयान,
वाह जू वाह वदइ महीवान ।।२४।।

(२५) मंगलोर (सोरठ) वर्णन

इसके कवि जोद्धण हैं। यह १४ छन्दो की लघु रचना है जिसमे कवि ने दोहा, पद्धरी, छप्पय आदि छदो मे सौराष्ट्र के मागलोर नगर का वर्णन किया

---

१४ राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज द्वितीय भाग संपा. श्री अगरचन्द नाहटा. पृ० १५२।

१५ संवत अठारह छासठै, पूनम कार्तिक पेख।
भावनगर का गुण भला, बरण्या कवि विशेष ।।

है । वर्णन का एक पद्धरी छद उदाहरणार्थ रखा जाता है—

मगलोर सहर मोटे मंडाण,
ज्योत जगत माहि कैलास जाण ।

पहलो जु कोट अत ही प्रचंड,
नही इसौ अवरन वही जु खण्ड ।।

कवि ने वर्णन के अन्तिम छप्पय मे अपने गुरू एव गच्छ इत्यादि की सूचना इस प्रकार दी है—

तरूण तेज गच्छ तपै, विजय जिनेन्द्र सूरीश्वर ।
ज्ञानवत गम्भीर, नमै सहू को नारी नर ।।

योग अष्ठ विध जाण वाण अमृत सत वदियत ।
संग सकल मिल सदा, निज उच्छव करते नित ।।

देश परदेश माहे दीपत,
जीपत अष्ट कर्मह अरी ।

कीरत सत गच्छ पति तणी,
कव जोद्धण सैरह करी ।।१४।।

(२६) मरोट गजल

इसके रचयिता यति दुर्गादास हैं। इस गजल को उन्होने दीपचन्द के आग्रह पर स० १७६५ पौष कृष्णा ५ को बनाया—

सम्मत सतरै पैसठै, पोह वदी पाचम्म ।
श्री गुर सरसती सानिधै गजल
करी गुण रम्य ।।१।।

आग्रह दीपचन्द उल्हास,
कहता जती यूं दुरगादास ।

सुण है दीजियो स्यावास,
गजल खूब कीनी रास ।।

२७ मेड़ता वर्णन गजल :

यह मेडता वर्णन कवि मनरूप ने किया है। आप तपागच्छीय भक्तिविजय के शिष्य थे—

सब ही गच्छ मे सिरताज,
राजत अटल तप गच्छ राज ।
भक्ति ही विजय गुण भारीक,
जाकु खबर घर सारीक ।।४७।।

इस गजल मे ४८ पद्य हैं और इसकी रचना स० १८६५ कार्त्तिक शुक्ला १५ को हुई ।

सम्वत् अठारह पैसट साच,
वलि सुद मास कार्तिक वाच ।
पखही सुकल पुनम पैरव,
दाखी गज़ल कवि जन देख ।।४६।।

वर्णन बडा ही सरस बन पडा है—

सबही मे सहर जु, सिरह पुरह मेदनी पिछानौ ।
इनका गुन अनपार, जाहि म रहस म जानौ ।।

भाव भक्ति जिन भेद, जठै श्रावक सुखकारी ।
दयावंत दातार निपुण, धम्र मे नर नारी ।।

जिन धर्म मरम जाणण जिके,
हित कर मानव हेर तो ।
सुरपुरी माहि इन्द्रपुर सरस,
पिण मरूधर माहि मेडतो ।।१।।

(२८) मेदनीपुर महिमा छन्द

मेदनीपुर मेडता का ही अन्य नाम है। इस रचना के रचयिता तपागच्छीय विजयजिनेन्द्र सूरि के शिष्य भक्ति विजय है। यह महिमा छन्द उन्होने स० १८६६ कार्त्तिक शुक्ला १५ को रचा—

सवत् अठार छासट्ट वर्ष,
हद मास कार्तिक आन हर्ष ।
पूनम जु प्रथम कुजवार पेख,
बड तप गच्छ दिपत विशेष ।।३७।।
बिजैजिनेन्द्र सूरि भरपुरि राजं,
कर तेज धर्म के केई काज ।
कवि कहत भक्त कर विन्हु जोड,
मेडतो सदा मुरधरा मौड़ ।।३८।।

इसमे ३६ पद्य हैं जिनमे से निम्नाकित पद्धरि छद अवलोकनार्थ दिया जाता है—

द्रिग दिट्ठ मिट्ठ मरूधरा देश,
वलि शहर मेडता है विशेष ।
बड कवि करत तिनके बखान,
मानव जू सत यह सतमान ॥१॥

इसके छन्दो मे राजस्थानी के शब्दालकार 'वयरण-सगाई' का भी सुन्दर निर्वाह किया गया है। दृष्टान्त स्वरूप अधोलिखित छन्द के चारो चरणो मे इसका निर्वाह द्रष्टव्य है—

नाभि नन्द जिन नित नमु, शान्त नेम सुख कार ।
पारस श्री वर्द्धमान प्रति, धरू ध्यान चित्त धार ॥

(२६) लाहोर गजल

इसके रचयिता नाहर गोत्रीय जैन श्रावक जटमल हैं जो मूलतः लाहोर निवासी थे।[१६] कवि ने गजल के ५६ पद्यो मे शहर की बनावट, रावि नदी की शोभा, फलो की बहार आदि का सुन्दर वर्णन किया है।

देख्या सहिर जब लाहौर,
विसरे सहिर सगले और ।
रावी नदी नीचे वहै,
नावा खूब ढाली रहै ॥१॥
बोले बत्तका, बग तीर,
निरमल वहै आछा नीर ।
बसती सहिर है चौरास,
बारह कोश गिरदी वास ॥२॥
है जिहा जाइ गुल रग,
लाल गुलाब बहुत सुरग ।
चिपल, राइवेल, चवेल, मरूआ,
मोगरा, गुल, केल ॥५४॥
कितेइक नागणी के फूल,
कणेयर, कवल, मालति मूल ।
शोभा नगर की अनेक,
जटमल कहै केती एक ॥५५॥

(३०) सांडेरा छन्द

पूर्ण प्रति उपलब्ध न होने के कारण इसके रचयिता और रचना-काल अज्ञात हैं। 'छन्द' मे दोहा और हाटकी इत्यादि प्रयुक्त हुए है। छन्द हाटकी उदाहरण-स्वरूप दिया जाता है—

सकल देश मा सिर देश,
अनोपम गुणवन्त गोढाण ।
वसहै भल्ला सहिर अवल्ला,
साडेरा शुभ ठाम ॥
प्रबल प्रतापी दिनकर सरिखो,
पाले राज प्रमाण ।
एसो साडेरा नगर सवाई,
परगट पुण्य प्रमाण ॥१॥

(३१) सिद्धाचल गजल :

यह खरतरगच्छीय यति कल्याण की रचना है जो उन्होने स० १८६४ की भाद्र-शुक्ला १४ को किसी दौलत के हितार्थ बनायी।[१७] गजल मे दोहा, हिरणफाल आदि ६६ छन्द हैं। छन्द हिरणफ़ाल का उद्धारण दिया जा रहा है—

---

१६ लहानूर सुहावना देख्या होत अनन्द । कवि जटमल वर्णन करि होत सुखकन्द ॥५६॥

१७ सवत अठार चौसहैक, भाद सुद चउदसी ठेक । कीनी गजल दौलत हेत, चित मे धार अखर समेत ॥६८॥

गुणवत पाहु के गहगीर,
पूरत हरत तन की पीर ।
भूषण वाव है भल्लीक,
वड घन घटा है वल्लीक ॥१॥

(३२) सूरत गजल :

इसके रचयिता तपागच्छीय यति दीप विजय है। गजल मे ८३ छन्द हैं। इसकी रचना स० १८७७ मार्ग शीर्ष-२ को हुई—

सतोतर सतवा अठार,
मिगसर मास द्वितीयासार ।
वरण्या दीप श्री कविराज,
सुरत सेहर को साम्राज ॥८२॥

'सब सेहारा सिरताज, सूरत सेहर नगीनो' का वर्णन कवि ने यह लिख कर किया है—

सूरत शहर है सुथानाक, बिंदर दीपता दानाक ।
अलका भूमि पै आईक, कोट कोट सै पड खाईक ॥१॥

पूरे लोक से पूरेक, अमर वास कुं धुरेक ।
शोभा देत है कमठाण, अट्टा पहुंचती असमान ॥२॥

(३३) सोजत वर्णन गजल

इसके कवि तपागच्छीय पं० भक्ति विजय के शिष्य मनरूप हैं। यह गजल उन्होने मरूधर नरेश महाराजा मानसिंह के समय स० १८६३ कार्त्तिक शुक्ला १५ को बनायी—

भनु जिहा मानसिंह भूपत्ति,
राग छत्तीस सुण है रत्त ।
वाका तेज का वाखान,
रटते सदा राव ही रान ॥२॥
सवत अठार तेसठह याच,
वलि सुद मास कार्त्तिक वाच ।
पूनम तिथ के दिन पेख,
दरस ही वजल कीनी देख ॥६१॥

(छप्पय)

गज़ल में ६३ पद्य है। इसका अन्तिम कलश कवित्त इस तरह है—

गजल कही गुणवत भला, कवि तिण मन भावे ।
रीझै राव ही राण सुणै, नर अवर सरावै ॥
भवन वल अवहु बेद भेद, वाचे सु वखाणै ।
चारण भाट ही चतुर जिके, गुण बोहोला जाणै ॥
सोभाली नयर करनी सुकव, जे जे ठौड हुंती जीती ।
कवि मनरूप अरजह करै, गुन सब रीझौ गहा पती ॥६३॥

इन गजलो का वर्ण्य-विषय कोई प्रान्त नगर आदि ही नही रहा है, नगर की नारियो की छवि भी आध्यात्मिक रूपक के बहाने इनमे उतारी गई है। ऐसी एक दो उपलब्ध गजलो का परिचय दिया जाता है—

(३४) नारी गजल :

इसके रचयिता महिमा समुद्र है।[१८] इस कथन से सिद्ध होता है कि इसकी रचना मुल्तान मे शाहजहा के समय मे हुई—

पतिसाही सहर मुलतान,
दिसे जरका का थान ।
कायम राजा साहजहान,
उग्या जाणे सम्मो भाण ॥३४॥

---

१८. महिमा समुद्र मनि इल्लोल,
कीधा कछु कवि कल्लोल ।
सुणकर सुख पावइ छयल,
ही ही हसइ मूरिख बयल ॥४०॥

इसमे सुनार जाति की किसी सुन्दरी का वर्णन है।[१६] कवि लिखता है—

देखि कामिनी इक खूब,
उनके अधिक इहे असलूब।
कहीयई कहसी तसु तारीफ,
देखइ मगन हो यह रीफ ॥१॥
जाणे अपछरा मसहूर,
चमकइ सूर नवसो नूर।
महके स्वास वास कपूर,
पइदावार सम्मी हूर ॥२॥

कवि ने कथन के भेद को समझने का इन शब्दो मे आग्रह किया है—

सुरता लहइ अइशो भेद,
विप्र कि जाणइ वेद।
मोती लाल विणसा,
जाणइ कोण किम तिसा ॥४१॥
इणकी यह है तारीफ,
जडिसइ नेह हरीफ हरीफ।
महिमा समुद्र कह विचार,
सुणता सदा सुख प्यार ॥४२॥

(३५) सुन्दरी गजल

इसके रचयिता जटमल नाहर हैं। इनकी झीगोर गजल मे भी नारी वर्णन ही प्रधान रहा है—यह हम पहिले लिख चुके हैं। प्रस्तुत गजल का भी यही वर्ण्य है जिसमे नारी–सौन्दर्य के साथ साथ उसके शील का भी वर्णन किया गया है—

सु दर रूप गुण गाढीक,
देखी बाग मू ठाढी कि।

सखिया वीस दस है साथ,
जाके रग राते हाथ ॥१॥

निरमल नीर सू नाही क.
डंडीया लाल है लाही क।

ओढण सवे सालू लाल,
चल है मराल कैसी चाल ॥२॥

सुन्दरी तुझ है शावास,
पुजउ सकल तेरी आश।

अपने कंत सू रस रग,
कर तू वरस सहस अभंग ॥

राजस्थानी मे लिखित जैन गजल साहित्य का यह परिचयात्मक आलेख है। काव्य-रूप, वर्ण्य-विषय और भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से इसका अध्ययन अन्वेषण महत्वपूर्ण है। हिन्दी मे यात्रात्मक साहित्य यो ही अल्प है। यह पद्यात्मक यात्रा साहित्य हिन्दी की श्री वृद्धि मे सहायक होगा। ●●●

---

१६. कामिण जात की सौन्नार, अइसी का न देखी नार।
ताकी सयल सोभा सार, कहताम को न पावइ पार ॥३६॥

२१

जीवन्धर चम्पू : एक परिशीलन

डा० भागचन्द्र जैन

१ भूमिका

जैनाचार्यों का सस्कृत साहित्य विषयक अनुराग नितान्त अभिनन्दनीय है। उनकी अमूल्य कृतिया साहित्य की प्रत्येक विधा मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान वनाये हुये हैं। हर कवि अथवा लेखक का सम्प्रदाय विशेष से स्वभावत. सम्बद्ध रहा करता है। अत. समालोचक की दृष्टि पक्षपात की दूषित व्याधि से ग्रसित नही होनी चाहिये। जैन साहित्य के साथ दुर्भाग्य यही है कि पाश्चात्य विद्वानो और उनका अन्धानुकरण करने वाले प्रो० बलदेव उपाध्याय जैसे समीक्षक विद्वान् भी उसे मात्र साम्प्रदायिक साहित्य कहकर एक किनारे कर देते है। ऐसे विद्वान् यह भूल जाते हैं कि कालिदास, भारवि आदि महाकवि भी साम्प्रदायिक ही रहे हैं। फिर यह साम्प्रदायिकता की मुहर जैन महाकवियो के सिर पर ही क्यो थोपी गई ? वास्तविक तथ्य यह है कि जैन साहित्य का प्रचार प्रसार अपेक्षाकृत बहुत कम हो सका और जो भी हुआ, उसका अद्यावधि सही मूल्याकन नही किया जा सका।

२. जीवन्धर चम्पू और उसका लेखक

संस्कृत साहित्य मे चम्पू साहित्य का विशेष योगदान है। इसमे पाठक को गद्य और पद्य दोनो की संमिश्रित सरसता उपलब्ध हो जाती है। महाकवि हरिचन्द्र ने स्वय लिखा है—

गद्यावलिः पद्यपरम्परा च
प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम्।
हर्षं प्रकर्षं तुनुते मिलित्वा
द्राग्बाल्यतारुण्यवतीव कान्ता ॥

अर्थात् गद्य और पद्य दोनो पृथक्-पृथक् रूप से पाठक को आनन्द विभोर कर देते है फिर हमारा काव्य तो दोनो का समिश्रण है। वह नि.संदेह बाल्य और तारूण्य से युक्त कान्ता के समान आह्लाद उत्पन्न करेगा।

चम्पू परम्परा का अवलोकन करने से यह स्पष्ट है कि सर्व प्रथम त्रिविक्रम भट्ट (ई० ९१५) ने नल चम्पू और मदालसा चम्पू लिखे। इसके वाद

सोमदेव (ई० ९५९) ने *यशस्तिलक* चम्पू और हरिचन्द्र (लगभग १२ वी शती) ने जीवन्धर चम्पू[1] का निर्माण किया। तदनन्तर चम्पू परम्परा और अधिक विकसित हुई।

महाकवि हरिचन्द्र का काल निर्णय अभी तक एक समस्या ही बना हुआ है। उनके विषय मे कोई विशेष ज्ञातव्य सामग्री उपलब्ध नही। मात्र धर्मशर्माभ्युदय के अन्त मे दी गई प्रशस्ति इसके लिए सहायक बनी हुई है। इसके अनुसार कवि मोमकवश के थे। उनके पिता कायस्थ जातीय अर्द्रदेव तथा माता रथ्या थी। भाई का नाम लक्ष्मण था। गुरू के प्रसाद से महाकवि को विद्या लाभ हुआ था—गुरू, प्रसादादमला वभूवु सारस्वते स्रोतसि यस्य वाच—परन्तु गुरू का नाग यहा उल्लिखित नही। अत हरिचन्द्र का समय निश्चित नही किया जा सका। परन्तु उनकी रचनाओ का अन्त स्वरूप देखकर यह सीमा लगभग १२ वी शती निर्धारित की जा सकती है। कवि की रचनाये अभी तक दो ही उपलब्ध हुई हैं—जीवन्धर चम्पू और धर्मशर्माभ्युदय।

जीवन्धर चम्पू की कथा का आधार—

जीवन्धर स्वामी को जैन ग्रन्थो मे क्षुतकेवली कहा गया है। उनका चरित लगभग नवी शताब्दी से कवियो का आकर्पण केन्द्र वन चुका था। प्रस्तुत कथा के प्रमाण का भार यद्यपि कवि ने सुधर्म गणधर पर छोड दिया है (१ १०) परन्तु उसका आधार गुणभद्र का उत्तरपुराण (७५ १८८ ६९१), तथा वादीभसिंह सूरि के क्षत्रचूडामणि एव गद्यचिन्तामणि ग्रन्थ है। उत्तर पुराण की पौराणात्मक कथा को जहा कवि ने चम्पू शैली मे गू था है वही वे कौतुकावह स्थलो के शिल्प निर्माण मे उत्तर पुराण व क्षत्रचूडामणि का अधिक अनुकरण नही कर सके।

जीवन्धर की कथा के आधार पर अनेक आचार्यों ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। सर्व प्रथम यह कथा गुणभद्र के उत्तर पुराण (७५.१८८ ६९१) मे उल्लिखित पायी जाती है। इसी प्रकार महाकवि पुष्पदन्त ने भी अपभ्र श भाषा के अपने महापुराण (सन्धि ९९) मे इसे अन्तर्गभित किया है। इसके बाद कवियो ने स्वतन्त्र ग्रन्थो का प्रणयन करने मे इसका उपयोग किया है। वादीय सिंह सूरि की गद्यचिन्तामणि व क्षत्रचूडामणि, हरिचन्द्र का जीवन्धर चम्पू, शुभचन्द्र का जीवन्धर चरित, तिरूत्तक्कदेवा का जीवकचिन्तामणि (तमिल) रइधू का जीवन्धर चरित (अपभ्र श), भास्कर का जीवन्धरचरित (कन्नड), तेरकनाम्बि वोम्मरम का जीवन्धर सागत्य (कन्नड), कोटीश्वर का जीवन्धर षट्पदी (कन्नड) और ब्रह्मकवि का जीवन्धरचरित (कन्नड) अभी तक प्रकाश मे आ चुके हैं। सम्भव है, और भी ऐसे ग्रन्थ शास्त्र भण्डारो मे सुरक्षित असुरक्षित स्थिति मे पडे हुए किसी शोधक का मार्ग देख रहे हो।

३ कथानक

जैन कथा ग्रन्थो की रचना का मूल आधार कर्म सिद्धान्त का विवेचन रहा है। जीवन्धर का समूचा चरित इसी का दिग्दर्शक है जिमे कवि ने "नियतिनियत रूपा प्राणिना हि प्रवृत्ति" (७ ३)

---

१ सम्पादक व अनुवादक—श्री प० पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। प्रस्तुत निबन्ध मे इसी प्रकाशन का उपयोग किया गया है। गद्य भाग का सकेत पृष्ठ क्रमाक देकर पद्य भाग का सकेत लम्ब और पद्य क्रम लिखकर दिया गया है।

कहकर अभिव्यक्त किया है। कथानक काफी बडा है। फिर भी महाकवि ने उसे एकादश लम्बो मे पूरा कर दिया। यही कारण है कि कथानक के प्रवाह मे विरसता नही आ सकी।

प्रथम लम्ब—हेमाङ्गद देश मे राजपुरी नगरी थी। उसका राजा सत्यन्धर और महामन्त्री काष्ठाङ्गार था। विषयासक्त राजा द्वारा काष्ठाङ्गार को राज्य समर्पित किये जाने के बावजूद युद्ध मे कूदने को वह विवश हुआ और वहा मारा गया। गर्भिणी विजया के गर्भ की दैवयोग से रक्षा हुई। गन्धोत्कट वैश्य द्वारा जीवन्धर का स्वपुत्रवत परिपालन हुआ।

द्वितीय लम्ब-जीवन्धर का विद्याध्ययन प्रारम्भ हुआ। काष्ठाङ्गार की क्रूरता ज्ञात होने पर उसके प्रति जीवन्धर अत्यन्त कुपित हो गया परन्तु गुरू ने दक्षिणा के रूप मे उसमे शात रहने की भिक्षा ली। कालकूट वनचर द्वारा गोपालो का गोवन हरा गया। काष्ठाङ्गार की सेना भी वनचर सेना से पराजित हुई। जीवन्धर ने उस वनचर सेना को हराकर गोधन वापिस लिया। इस वीरतापूर्ण कृत्य के परिणामस्वरूप नन्दाढ्य की पुत्री गोविन्दा के साथ स्वयं विवाह न कर अपने अभिन्न मित्र पद्मास्य का विवाह करा दिया।

तृतीय लम्ब-राजपुरी के श्रीदत्त वेश्य का धनार्जन निमित्त रत्नदीप (सिंहल) जाना। लौटते समय समुद्र मे जहाज का डूबना। काष्ठखण्ड के सहारे किसी प्रकार मृत्य मुख से बच निकलना। धर-विद्याधर द्वारा उनका विजयार्द्ध पर्वत ले जाया जाना। गुरुडवेग की पुत्री गन्धर्वदत्ता का राजपुरी मे स्वयंवर किया जाना। वीणावादन मे जीवन्धर द्वारा गन्धर्वदत्ता की पराजय। जीवन्धर-गन्धर्वदत्ता का विवाह होना। काष्ठाङ्गार आदि राजाओ से जीवन्धर का युद्ध और उस युद्ध मे जीवन्धर की विजय होना।

चुर्तथ लम्ब-जीवन्धर द्वारा कुत्ते को णमोकार मन्त्र दिया जाना। फलस्वरूप उसका सुदर्शन यक्ष होना और जीवन्धर की यथा समय सहायता करना। गुणमाला और सुरमंजरी के चूर्णो की परीक्षा मे गुणमाला का विजयी घोपित किया जाना। मद्दोन्मत्त हाथी से उसका बचाया जाना। परिणामत जीवन्धर के साथ उसका पाणिग्रहण हो जाना।

पञ्चम लम्ब-काष्ठागार की सेना के साथ जीवन्धर का युद्ध। गन्धोत्कट की सलाह से काष्ठागार के प्रति आत्मसमर्पण फलत जीवन्धर को मृत्युदण्ड दिया जाना। सुदर्शन यक्ष द्वारा बचाया जाना। दावानल से हाथियो का स्मरित यक्ष द्वारा उभारा जाना। तीर्थयात्रा के प्रसग मे जीवन्धर द्वारा पल्लवदेश की चन्द्राण नगरी मे धनपति की पुत्री पद्मा का विषयोचन। अन्त मे दोनो का विवाह बन्धन।

षष्ठ लम्ब-तीर्थ यात्रा के प्रसग मे ही किसी तपोवन सी मिथ्यान परिचयो को सदुपदेश। उसी वन मे निर्मित जिन मन्दिर के कपाट उद्घाटित होना। फलतः क्षेमनगरी के सुभद्र सेठ की पुत्री क्षेणकी के साथ जीवन्धर का विवाहा जाना।

सप्तम लम्ब-क्षेमपुरी से चलकर एक उपवन मे ठहरना जहा पर विद्याधरी के मोहित होने पर अनेक उपदेश देना। हेमामपुरी नगरी के उद्यान मे दृढ मित्र के राजकुमारो को धनुर्विद्या का प्रदर्शन तथा बाद मे उनका गुरु रूप मे धनुर्विद्या दान। कृतज्ञता के रूप मे कनकसला से विवाह रचना।

अष्टम लम्ब—नन्दालाल से यहा भेट होना। गोपो के लिए किये गए युद्ध के समय पद्मास्य आदि मित्रो से भेंट तथा साथ ही अर्ज मे विजया माता के दर्शन होना। यहा से राजपुरी वापिस होना और वहां सागरदत्त सेठ की पुत्री विमला के साथ विवाह करना।

नवम् लम्ब-मित्रो की व्यंग्यात्मक वाणी से प्रेषित होकर जीवन्धर द्वारा वृद्ध का रूप धारण किया जाना और सुरमञ्जरी के प्रासाद मे पहुच कर किसी तरह स्वयं को प्रगट कर देना। फलतः वैवाहिक सम्बन्ध हो जाना।

दशम लम्ब-राजपुरी मे ही गन्धोत्कट, सुनन्दा, गन्धर्वदत्ता गुणमाला आदि से मिलना। काष्ठांगार से राज्य प्राप्ति के निमित्त आया गोविन्द से विचार-विमर्श करना। गोविन्द द्वारा लक्ष्मण का स्वयम्वर किया जाना। वराह यन्त्र को भेजने मे जीवन्धर का विजयी होना। फलत' उनके साथ लक्ष्मण का विवाह हो जाना। काष्ठांगार के साथ जीवन्धर का भीषण युद्ध। काष्ठांगार की पराजय और मृत्यु। जीवन्धर द्वारा सारा राज्य स्वाधिकार मे लिया जाना।

एकादश लम्ब-जीवन्धर की राज कुशलता का परिचय। विजय माता की दीक्षा। जीवन्धर को उक्त आठो पत्नियो से आठ पुत्रो की प्राप्ति। तदनन्तर वन क्रीडा मे वानरी के हाथ से वनपाल द्वारा तालफल का छीना जाना देखकर विरक्ति पैदा हो जाना और महावीर स्वामी के समवशरण मे जाकर जिन दीक्षा लेकर मुक्ति प्राप्त करना।

४. आधिकारिक तथा प्रासगिक वृत्त

कथावस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारीक प्रमुख और प्रासगिक (गोण) कथा के फल भोक्ता के इतिवृत्त को आधिकारिक और उनके सहकारी वृत्तको प्रासंगिक कहा जाता है।[२] जीवन्धर चम्पू मे जीवन्धर की कथा तो आधिकारिक है और आर्यनन्दी की आत्मकथा श्रीदत्त कथा, चूर्णपरीक्षा, तीर्थयात्रा प्रसग, आदि सभी प्रासगिक कथायें हैं जिनसे कथा और कथा-नायक के चरित्र के विकास मे साहाय्य मिल सका। नाटको की तरह कथानको मे भी अर्थ प्रकृतिया, कार्यावस्थायें तथा सन्धियो का होना आवश्यक बताया है। बीज, बिन्दु पताका, प्रकरी व कार्य के पाच अर्थ प्रकृतिया हैं। आरम्भ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति और फलागम ये पाच कार्यावस्थायें हैं। मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा उपसहृत ये पाच सन्धिया है। ये प्राय सभी जीवन्धर चम्पू मे पाई जाती हैं।

५. कथानक का औचित्य

काव्य का कथानक अत्यन्त सजीव व स्वाभाविक होना चाहिए। उसमे ऐतिहासिक तथ्य के साथ व्यावहारिक दृष्टिकोण का भी सयोजन हो तो अच्छा है। काव्यो मे कल्पनाओ का बाहुल्य तो रहता ही है पर वह भी किसी एक सीमा तक। यदि सत्य और विश्वास का द्वार बन्द हो गया तो कथानक की सफलता सदिग्ध हो जावेगी।

जीवन्धर चम्पू का कथानक इस सदर्भ मे अत्यन्त स्वाभाविक बन पडा है। जीवन्धर के समूचे जीवन के माध्यम से कर्म सिद्धान्त का प्रदर्शन किया गया है। कवि ने व्यावहारिकता का भी पर्याप्त ध्यान रखा है। मत्री काष्ठांगार पर राजा सत्यन्धर विश्वास कर लेते हैं और विषय भोगो मे आपाद-

---

२. वस्तु च द्विधा। तत्राधि॰ारिक मुख्यमंङ्ग प्रासंगिकः विदु। अधिकार फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभु'। ननिवर्त्य मभिव्यापि वृत स्यादाधिकारिकम्।। दशरूपक, १।११-२,

मग्न रहने के कारण सारा राज्यभार भी उसी को समर्पित कर देते हैं। फलत सत्यन्धर को अपने प्राणो से हाथ धोना पडता है। इधर जीवन्धर और उनकी माता विजया बच जाती है। पुण्योदय से जीवन्धर का परिपालन गन्धोत्कट वैश्य करता है और विजया को दण्डक वन के आश्रम मे शरण मिल जाती है। आगे के जीवन मे एक ओर जीवन्धर और उनका परिवार सफलता पाता है जबकि दूसरी ओर सत्यन्धर और उनका परिजन सदैव विफलता तथा अनादर का शिकार होता है। सुकृत और दुष्कृत कार्यों का यही परिणाम है।

कथानक राजपुरी नगरी से प्रारम्भ होता है। पचम लम्ब मे तीर्थयात्रा क उद्देश्य से जीवन्वर देश भ्रमण करते है और "अष्टम लम्ब मे पुन वे राजपुरी वापिस आ जाते है। इसके वाद के सभी कार्य राजपुरी मे ही सम्पन्न होते है।

सम्पूर्ण कथानक को महाकवि हरिचन्द्र ने एक कुशल शिल्पकार जैसा निबद्ध किया है। रस, गुण और अलकार की त्रिपथगा सहृदय पाठक के हृदय को आकर्पित कर लेती है। प्राकृतिक दृश्यो की मनोहारी सुपमा, षड ऋतुओ की यथा समय प्रस्तुति, सयोग और वियोग श्रगार का भावुक अभिलेखन, युद्ध स्थलो मे रोमाचकारी स्थल, आदि ऐसे प्रसग हैं जो पाठको के मन को आकर्पित कर लेते हैं।

कथानक को अनुकूल बनाने के लिए भी कवि ने भरपूर प्रयत्न किया है। जहा कही हास्य और सौन्दर्य के चित्रण, कष्ठागार की अवमानना दिखाने के लिए गोविन्द से स्वयम्बर कराना, काष्ठागार की उसमे उपस्थिति प्रदर्शन कर जीवन्धर द्वारा चन्द्रकयन्त्र का भेदन के माध्यम से उसका उपहास कराना, चन्द्रकयन्त्र भेदने के उपरोक्त अनेक लोगो की शकाओ का काव्यात्मक ढग से विविध निराकरण कर जीवन्धर के पक्ष मे विविध का सकेत करना आदि ऐसे स्थल हैं जिनमें कथानक का औचित्य सिद्ध होता है और पाठक का चित्त आगे बढती हुई कथा की पूर्ण जानकारी के लिए दौडता रहता है।

६ पूर्व कवियों का प्रभाव

जीवन्धर चम्पू का महाकवि पूर्व कवियो से निश्चित ही प्रभावित जान पडता है। अपूर्व माला मन्येऽहं पूर्वाचार्य परम्पराम् (१ ८) लिखकर उन्होने स्वय इस बात को स्वीकारा है। प्राकृतिक चित्रण, रणस्थल वर्णन, स्वयम्बर की शोभा, नगर प्रवेश करने पर जीवन्धर का नगरवधुओ पर हुआ प्रभाव, आदि ऐसे स्थल हैं जहा पर कालिदास, भवभूति भाध जैसे कवियो का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। वादीभसिंह सूरि द्वारा विरचित गद्य चिन्तामणि एव क्षत्रचूडामणि के तो अनेक गद्य-पद्य भाव और भाषा दोनो मे समानता लिए हुए हैं। इस समानता के बावजूद कवि की उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक इतने हृदयहारी है कि पाठक के मन मे कभी खीझ पैदा नही होती।

रस और भाव की अभिव्यक्ति

रसानुभूति अथवा भावानुभूति काव्य ही का वर्णन है। स्थायी भाव, विभाव, अनुभावए व सञ्चारी भावो से यह चर्वण मिलता रहता है। रस संख्या के विषय मे आचार्यो मे मत वैभिन्नय है। कुछ आचार्य शृगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, और अद्‌भुत इन आठ रसो को मानते हैं। इसलिए उनके अनुसार कुल रस दस हो जाते हैं।

महाकवि हरिचन्द्र ने रस सख्या के विषय मे अपना मत व्यक्त तो नही किया है पर इतना अवश्य कहा है कि उनका "जीवन्धर-चम्पू विलसित रसा सालकारा" (११ ६०) है। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाकवि ने उक्त कृति

मे प्राय सभी मान्य रसो का समावेश किया है। जीवन्धर चम्पू के देखने से यह कथन और भी स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि वहा श्रृंगार और वीर रस अग और अगीभाव से उपस्थित हुए प्रतीत होते हैं परन्तु अन्य रसो की भी न्यूनता नही।

जीवन्धर चम्पू मे श्रृंगार रस के संयोग और वियोग दोनो पक्षो का सुन्दर वर्णन हुआ है। जीवन्धर स्वामि के आठ विवाह हुए जिनमे कुछ स्वयम्वरजन्य हैं, कुछ पराक्रम्जन्य हैं, कुछ गुणाकर्षणजन्य हैं और कुछ माता पिता द्वारा पूर्व नियोजित हैं। पूरी कथा मे सयोग और वियोग दोनो के मार्मिक प्रसग उपस्थित किये गये है। प्रथम सयोग होता है और तुरन्त ही जीवन्धर आगे बढ जाते हैं तो विप्रलम्भ प्रारम्भ हो जाता है। विप्रलम्भ के प्रसग मे चित्र लेखन और शुक द्वारा पत्र प्रेषण का भी सयोजन हुआ है। भारतीय प्रेम पद्धति मे नायिका का नायक मे अनुराग प्राय पहले दिखाया जाता है। चम्पू मे भी इस परम्परा का पर्याप्त अश तक पालन किया गया है।

विजया का पुत्र के प्रति अनुराग आदि मे वात्सल्य रस, जीवन्धर आदि के वीरता प्रदर्शन मे वीर रस, सूरमजरी के प्रासाद मे वृद्ध वेषधारी जीवन्धर के पहुचने की अभिव्यक्ति मे अद्‌भुत रस, गुणमाला के पत्र मे और माता विजया के मिलन मे वियोग सिक्त करुण रस स्वयम्बरो मे जीवन्धर के विजयी होने पर काष्ठागार आदि अन्य राजाओ के उपहास मे हास्य रस, युद्ध क्षेत्र मे क्रोध भाव की व्यन्जाये रौद्र रस, वियोगावस्था मे अभिराम वस्तु मे जुगुप्सा का भाव व्यक्त करने मे वीभत्स रस और उन्मत्त हस्ती आदि के प्रसग मे भयानक रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। रस और भाव के रम्य सगम से कथानक मे एक नवीनता और उत्साह झलकता है।

वस्तु वर्णन

वस्तु वर्णन का कौशल इसी मे है कि पाठक नीरसता का अनुभव न करे। काव्य मे वर्णित प्राय सभी वर्णन किसी न किसी पात्र के आलम्वन वनाकर उपस्थित किये जाते हैं। प्रस्तुत मे अप्रस्तुत की और अप्रस्तुत मे प्रस्तुत की अभिव्यञ्जना तथा विविध उपमाओ, उत्प्रेक्षाओ, रूपको आदि अलकारो द्वारा विषय की प्रस्तुति वस्तु वर्णन की विशेपता है।

७ चरित्र चित्रण—

जीवन्धर चम्पू काव्य का धरातल जीवन्धर की यशोगाथाओ से ही मढा गया है। उनके गुण गौरव के वशीभूत होकर उत्तम कुलोत्पन्ना आठ कन्याओ ने उन्हे अपना जीवनाधार बनाया। इन्ही प्रसगो मे राजा सत्यन्धर उनका अमात्य काष्ठागार, गन्धोत्कट सेठ, नन्दगोप, पद्मास्य, गोविन्दा, श्रीदत्त, गुरुणवेग, श्रीधरिणी, मथन, धनपति, तिलोत्तमाः देवान्त, सुभद्र, अनगतिलका, दृढमित्र, नलिना, सुमित्रा, सुभद्रा, श्रीदत्त वुद्धिसेण, देवदत्त, नयुल, विपुल, सागरदत्त आदि पात्रो का भी यथावसर चरित्र चित्रण हुआ। ये सभी पात्र प्रधान पात्र जीवन्धर की चरित्रगत विशेपताओ को प्रकाशित करने मे भरपूर सहायक हुए हैं।

जीवन्धर के चरित्र का उत्कर्ष दिखाने के लिए कवि ने परम्परानुसार प्रत्येक घटनाओ मे उनकी

३. गन्धर्वदत्ता, गुणमाला, पद्मा, क्षेमकी, कनक माला, विमला, सुरमजरी, लक्ष्मणादि आदि

विजय प्रदर्शित की है । उनके रूप, गुण और चरित्र की भूरी-भूरी प्रशंसा की है। जीवन्धर का चरित्र धीरोदात्त कोटि का है । कवि ने उन्हे कृत्यविदामग्रणी ।[४] (पृ० १११) । कुरूकुलवर, पारीणपुण्यगुणाकर (१ ११५) कुवलायाह्लाद सहायक, सन्तोषाम्वोधिवर्धक (पृ० ११६), निखिलगुणपयोधि (पृ० ११८), वृषाबन्ध आदि विशेषताये का प्रयोग किया है । संगीत शास्त्र, आयुर्वेद शास्त्र, मन्त्र शास्त्र आदि सभी शास्त्रो मे भी पारंगत बताया। महत्व और सुलभतायें दोनो गुण कवि ने जीवन्धर के जीवन क्षेत्र मे स्पष्ट किये हैं ।[५] युद्ध कौशल के भी दृश्य एक नही अनेक मिलते है । जब जीवन्धर का अपनी माता से साक्षात्कार हुआ और माता ने राज्य प्राप्ति के विषय मे प्रश्न चिन्ह खडा किया तो जीवन्धर स्वय अपनी वीरता का आख्यान करते हैं और कहते हैं कि मेरे बाण सेना रूपी वनो से दावानल हैं और शत्रु राजाओं की स्त्रियो की मन्द हास्य रूपी सुगंधित दूधरी धारा के पान करने मे सर्व है ।[६] इसी प्रकार मेरी कृपाण भी शत्रु लक्ष्मी को लाने के लिए श्रेष्ठ इतीश का काम करती है । इसी प्रसंग मे जीवन्धर कहते हैं कि रणाङ्गण मे जब मैं अपने धनुष को शस्दायमात करता हू तब बलाधिपति रणछोड भाग खडा होता है, धरापति तिरस्कृत हो जाता है । गुजरात का राजा जर्जर हो जाता है, विद्याधर भयभीत हो जाता है और कोङ्कण देश का स्वामी घायल हो जाता है ।

८ सामाजिक संस्थान

जैन धर्म मे मूलत' जाति को स्थान नही परंतु जिनसेन के सामाजिक वर्गीकरण ने जैन धर्म मे जाति व्यवस्था कर दी जिसका समर्थन सोमदेव जैसे धुरन्धर आचार्य ने यशस्तिलक चम्पू मे और अधिक स्पष्ट शब्दो मे करने का प्रयत्न किया । प्राय सभी उत्तरकालीन आचार्यों ने इन आचार्यों का अनुकरण किया । हरिचन्द्र की कृत्तियो को देखने से लगता है कि इस वर्गीकरण को उन्होने भी स्वीकारा, भले ही उस पर पृथक रूप से कुछ नही लिखा हो । उन्होने समाजके चार वर्ग किये—ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शुद्र । ब्राह्मण सम्प्रदाय के विषय मे जीवन्धर चम्पू मे अधिक सदर्भ नही मिलते । उन्होने उसके ज्ञान हीन क्रियाकाण्ड तथा स्पृश्यास्पृश्य पर अवश्य आघात किया है । ये क्रियाकाण्ड प्राय ग्राम क्षेत्र के बाहर हुआ करते थे । उसमे स्पृश्य–अस्पृश्य का ध्यान अधिक रखा जाता था । किसी कुत्ते आदि के छू जाने पर तो ये क्रियाकाण्डी उसका द्यान किये बिना नही छोडते थे । ऐसी ही घटना का उल्लेख हरिचन्द्र ने किया है । कोई सारमेय (कुत्ता) यज्ञ करते हुए ब्राह्मणो का साकल्प छू गया । उसे उन्होने निर्दयी होकर इतना ताडित किया कि वह काल कवलित हो गया ।

तत क्षप्ततन्तुभारभमाणे. द्विजै र्हवि स्पर्शन जनितकोपनै–र्हन्यमानमन्तरूत्कूलत दु खाम्बुधि घोषमिव प्राणमहीपालस्य प्रमाण-सूचक भिवाक्रन्द-

---

४ महत्त्वमात्र कनकाचलेऽपि लोष्टेऽपि सोलम्यमिह प्रतीतम् । एतद्द्वयं कुमचिदप्रतीत कुरूप्रवीरे न्यवसत्प्रकाशम् ।।७.५।।

५ ८.५६

६ ८.५७

७ ८.५८

नारावमातन्वानमन्तरूज्वलित दु सागिन ज्वालामिव शोणितधारामुद्गिरन्त क्षारमेयम्–पृ० ७६–८०

क्षत्रियवर्ग को अधिक महत्व दिया गया है। जीवन्धर स्वय क्षत्रिय थे। काष्ठागारादि भी क्षत्रिय थे। प्राय क्षत्रिय वर्ण राज्य का अधिकारी हुआ करता था। युद्ध द्वारा जनता व देश का सरक्षण करना उसका प्रमुख कर्त्तव्य था। वैश्य वर्ग शुद्ध व्यापारी वर्ग था। इसलिए योद्धावर्ग मे सम्मिलित नही किया गया। जीवन्धर ने स्वयम्बर मे वीणा-वादन द्वारा पराजित कर गन्धर्वदत्ता कोविवाहा। काष्ठागार को यह असह्य हो गया और कहने लगा कि वस्त्र तथा वर्तनो के क्रय-विक्रय करने मे दक्ष वैश्यसुत स्त्रीरत्न के योग्य कैसे हो सकता है? (कुप्य क्रय विक्रय योग्यो वैश्यसुत कथं स्त्रीरत्न योग्य (पृ० ६६)। काष्ठागार के साथ हुए जीवन्धर के एक अन्य युद्ध के सन्दर्भ मे भी कवि ने वैश्यो के विषय मे क्षत्रिय वर्ग का विचार व्यक्त किया है। काष्ठागार कहता है कि अत्यन्त भीरू वैश्यपुत्र तुम कहाँ और धनुष शास्त्र के पारगामी हम लोग कहा। फिर भी तेरी युद्ध मे जो प्रवृत्ति हो रही है उसमे अपनी अनात्मज्ञता ही कारण समझो। हे वणिक् तुलादण्ड (तराजू) के पकडने मे तुम्हारा जो हस्तकौशल है उसे तू धनुष चलाने मे लगाना चाहता है।

क्व वैश्यपुत्रस्त्वमतीव भीरूर्वय क्व चत्पागमपार–
निष्ठा।
अथापि ते सयति सप्रवृत्ता वनात्मवेदित्व मवेहि
हेतुम् ॥१० १११.
तुलादण्डधृतो वैश्य तव यत्कर कौशलम्।
विस्तारयसि तच्चापे घिक्चापलम हो तव ॥१०
११२

इससे स्पष्ट है कि उस समय वैश्य वर्ग मूलतः व्यापारी वर्ग था। वह जैन धर्म का परिचालक होने से अहिंसक था। शायद इसीलिए उसे योद्धा के रूप मे स्वीकार न किया जाता हो। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि जैन धर्मावलम्वी नृपति युद्ध से पीछे हटते हो। जैन इतिहास व साहित्य ऐसे उदाहरणो से अपूर हो जहा जैन धर्मावलम्बियो ने आवश्यकता पडने पर यथाशक्ति युद्ध किया और आत्मसम्मान तथा देश की रक्षा की। जीवन्धर चम्पू ने भी यही किया।

शुद्र वर्ग के विषय मे जीवन्धर चम्पू मे कुछ भी नही लिखा गया। कृषक वर्ग को इसमे सम्मि-लित किया नही जा सकता। जीवन्धर चम्पू के सभी पत्र प्रथम तीन वर्गों से ही लिए गये हैं।

६ विवाह व्यवस्था

साहित्य मे विवाह के आठ प्रकार वताये गए हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाचन। इनमे जीवन्धर चम्पू मे बाह्म, प्राजापत्य और गान्धर्व विवाह प्रकार के प्रसग उप लब्ध हैं। स्वय प्रथा का भी उल्लेख है जिसमे पराजित पक्ष विजित पक्ष से कन्या हरण करने का प्रयत्न करता था।

ज्योतिषि साधारणत विशिष्ट कन्याओ के विषय मे भविष्यवाणी करते कि किस समय और किस स्थिति मे किस महापुरूष से कन्या का विवाह होगा। समुद्र सेठ की पुत्री क्षेमकी तथा सागदत्त की पुत्री विमला का सम्बन्ध जीवन्धर के साथ ऐसी ही भविष्यवाणी पूर्वक हुआ। इनमे प्राय कन्या का पिता वर अथवा वर के पिता अथवा वर के सम्बिन्धियो के समक्ष प्रस्ताव रखता और स्वीकृत हो जाने पर विधि पूवक विवाह कर देता।

जीवन्धर चम्पू के कवि के अनुसार वर-वधु की अवस्था तथा रूप समान होना चाहिए—वधु-वरमिदं तुल्यवयो रूप परिस्कृतम्, (३.४६)। विवाह मे कही–कही दूति पति प्राप्त कराने मे अधिक सहायक होती थी—कुलोचिता वधूवेयं कुमार प्राप्ति दूति का (३. ३५)।

विवाह घटना के अनेक कारण होते हैं। कुछ ऐसे कारण जीवन्धर के चरित मे भी देखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ—कभी कला विशेष मे कन्या पराजित होती और वह विजेता का स्वयंवरण करती। वीणावादन से पराजित होकर गन्धर्वदत्ता ने जीवन्धर का वरण किया। कभी भयानक आपत्ति से बचाने पर स्नेह सम्बन्ध हो जाता है। मदोन्मत हस्ती से बचाने पर गुणमाला के साथ और विष विमोचन करने पर पद्मा के साथ जीवन्धर का विवाह सम्बन्ध हुआ। जीवन्धर के प्रभाव से जिन मन्दिर के कपाट खुलने पर क्षेमकी के साथ, अस्त्र-शिक्षण की कृतज्ञतावश कनकमाला के साथ, कन्दुक के अघात से विमला के प्रति प्रेम और विवाह, वृद्ध का वेश धारण करने पर सुरमजरी का प्रभावित होना और पणिग्रहण करना आदि अनेक आकस्मिक कारण रहते जिनसे वर वधु प्रेम-सूत्र मे बध जाते।

इसके अतिरिक्त स्वयम्वर प्रथा प्रचलित थी ही। इनमे कन्या सभी के समक्ष अपने अनुकूल वर का चुनाव करती अथवा जिस कला मे कन्या स्वय दक्ष हो उसी मे पराजित करने वाले से विवाह करती अथवा किसी यन्त्रादि भेदक के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करती। जीवन्धर ने वीणावादन से गन्धर्वदत्ता को पराजित कर विवाह किया और चन्द्रक-यन्त्र भेदकर गोविन्दा का स्वयवरण किया।

किसी योद्धा विशेष को कन्या देने मे कन्या का पिता गौरव अधिक समझता था। भीलो को पराजित करने पर नन्दगोप ने जीवन्धर के साथ अपनी कन्या गोविन्दा का परिणय किया। साथ ही सप्त स्वर्णयुत्तलिकायें भी भेंट की (पृ० ५०)।

स्वयम्वर करने की अनुमति राजा से लेनी पड़ती और इस वृत्तान्त की घोषणा समस्त नगरो मे करनी पडती। स्वयंम्वर मण्डप को अधिकाधिक सुसज्जित किया जाता। उसमे मरकत, पद्मरा आदि मणि लगाये जाते। कुकुम रस का सिंचन होता। सुरभित पुष्प विकीर्ण किये जाते। विभिन्न रगो के मुक्ता मण्डित बैलबूट बनाये जाते (पृ. ६३)। प्रत्येक राजकुमार के लिए पृथक-पृथक मच बनाया जाता। यदि किसी कला विशेष मे निपुणता प्रदर्शन पूर्वक स्वयम्वर होना हो तो उसके लिए भी एक मच होता था। कन्या को शिविका मे बैठाकर स्वयम्वर मण्डप मे लाया जाता, जहा कला प्रदर्शन पूर्वक स्वयंवरण होता। कन्या के लिए दूती इस कार्य मे सर्वाधिक सहयोगिनी बनती थी। राजाओ के वश, पराक्रम, राज्यादि, विषयक परिचय वही दिया करती थी। स्वयम्वर मे समागत प्राय प्रत्येक राजा अथवा राजकुमार के साथ उसकी अपनी सेवा रहती थी। प्राय समूचे साहित्य मे स्वयम्वर के बाद सघर्ष होता हुआ दिखाई देता है। इसीलिए शायद पूरी सैनिक सज्जा के साथ राजा स्वयम्वर मे भाग लिया करते होगे।

युद्ध मे विजयी होने के बाद कन्या का पिता शुभ मुहूर्त मे वर–वधु का विवाह करना निश्चित करता। तदर्थ एक सुन्दर और विशाल पट मण्डप (शाला) बनाया जाता। इसी पटमण्डप के बीच मागलिक द्रव्यो से संगत वेदिका बनायी जाती जहा पर विवाह सम्बन्धी समूचा मागलिक कार्य सम्पन्न किया जाता। इसके पूर्व वर–वधु का मागलिक अभिषेक किया जाता। तदुनन्तर कन्या को प्रसाधन गृह मे ले जाते जहा पर उसकी सखिया उसे पूर्व दिशा की और मुंहकर बैठाती और अलकृत करती

(३ ३९) सुगन्धित शरीर में मृदु शुभ वसन पहनाती, पैरो मे नूपुर (५ ४२), कमर मे करधनी (पृ० १०४), हार (५ ४३), नासामणि (५.४४) पहनाती, पयोधरो पर मकरी का चिन्ह बनाती (५ ४५), माग (सीमन्त) भरती, पुष्पमाला पहनाती (३ ४२), ललाट पर वेंदी (ललाटिका) लगाती, आखो मे कज्जल भरती, तथा कपोल भाग पर मकरी चिन्ह एव कस्तूरी द्वारा पत्राकार रचना करती जिसे कवि ने कामदेव की पताका (मकर केतो पताकेयंम्) कहा है। केशपाश मे पुष्प कानो मे ताटङ्क (कर्णफूल) लगाकर भी वधु को अलंकृत किया जाता।

इसके बाद वेदी के समीप पूर्व दिशा की ओर मुंहकर दोनो को पीठ (चौकी) पर बिठाया जाता। वेदिका के चारो ओर मणिमय दीपक जलाते, वाद्य बजते, मन्त्रवेत्ता मन्त्र–पाठन करते (पृ० १०५,३ ४४-४५, ६.४८)। इसी बीच सिद्ध प्रतिमा की पूजन होती। प्रसन्नताव्यक्त करने की दृष्टि से वराङ्गनाओ के नृत्य-गान का भी प्रबन्ध किया जाता (मारसती पदनूपुरवानुका मधुर गान चतुरवाराङ्गना नर्तन-विलसिते-पृ० ६६,) वन्दीजन विरूदगान करते। इसके बाद शुभ मुहर्त मे कन्या का पिता स्वर्णकलश से वर के हाथ पर "दीर्घं भवन्तामिह जीविताम" कहकर जलधारा छोडता और बाद मे वर-वधु का पाणिग्रहण करता। (३.४८, पृ० १०५)।

मामा की लडकी के साथ विवाह करने की भी प्रथा थी। जीवन्धर की आठवी पत्नी गोविन्दा उसके मामा की ही लडकी थी। यह प्रथा दक्षिण मे तो थी ही, उत्तर मे भी दिखाई देती है। गोविन्द राजा विदेह का अधिपति था। यह विदेह विहार अथवा उसके आसपास का ही भाग होना चाहिए। बहु विवाह प्रथा भी थी। यह जीवन्धर के आठ विवाहो से स्पष्ट है। प्रत्येक पत्नी को पृथक्-पृथक् प्रासाद रहा करते थे। प्रवास काल से पति के वापिस आने पर पत्नी स्वय उसमे मिलने नही जाती बल्कि पति का कर्त्तव्य रहता कि वह पत्नी से मिलने जाय। गन्धर्वदत्ता और गुणमाला के पास जीवन्धर स्वय गये थे (१० २-३)।

१०. नारी की स्थिति—

प्राचीन भारतीय सस्कृति मे नारी की स्थिति जहा हीन बतायी है वहा उन्हे नीतिदशा और विदुषी भी बताया गया है। हीन बताये जाने का मुख्य कारण धार्मिक दृष्टि रही है। नारी को सदा से ससार का कारण बताया गया है। जैनाचार्यों ने भी प्राय इसी दृष्टिकोण से नारी की अवमानना की है। नारी की चोटी को सर्पिणी की उपमा शायद इसीलिए दी गई है (व्यालीनिभ वेलीना, पृ० ११८) इसी प्रकार स्त्री का स्वभाव सम्भ्रान्त माना गया है। गन्धोत्कट अपने मृतपुत्र को श्मशान मे जलाकर सत्यन्धर के पुत्र (जीवन्धर) को अपनी पत्नी के पास ले जाता है और कृत्रिमता से क्रोध पूर्वक कहता है कि अरी पगली। तूने परीक्षा किये बिना ही जीवित पुत्र को मरा हुआ क्यो कह दिया ?

> जीवन्तमंरयात्मजमद्य मत्तं बिना परीक्षा
> मृतक किमात्थ १,९३

अथवा ठीक ही है, जिनका चित्त स्वभावत सम्भ्रान्त रहता है ऐसी स्त्रिया यदि जीवित कुमार को मृत समझने लगें तो इसमे क्या आश्चर्य।

> यद्वा सम्भ्रातचित्ताना वनिताना स्वभावत ।
> युक्तं न किं कुमारस्य मारान्तस्त्वप्रकल्पनम् ॥१ ९४.

विद्याधरी पात्र का नियोजन कर कवि ने यह भी बताया कि साधारण स्त्री अन्य पुरुष के साथ

किस प्रकार अपने पति को वंचित कर सम्बन्ध स्थापित करती। जीवन्धर के मुख से कवि ने नारियो की इस प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया है। वे कहते हैं कि मृगनयनी स्त्रियो का चित्त वज्र से भी अधिक कठोर होता है, वचन का प्रचार पुष्प से भी अधिक मृदुल होता है, कृत्य अपने केश से भी अधिक वक्र (कुटिल) होते हैं। इसलिए विद्वान उनका विश्वास नही करते—

वज्रात्कठोरतर मेणदृशा हि चित्त
पुष्पादतीव मृदुलो वचन प्रचार।
कृत्यं निजालक कुलादपि वक्ररूपं,
तस्माद्बुधा सुनयना न हि विश्व सन्ति
॥७.३७॥

हरिचन्द्र और भी कहते है कि स्त्री का मुख कफ का भण्डार है परन्तु मूर्ख कवि उसे चन्द्रमा के समान बताते हैं। दोनो नेत्र मल से आपूर हैं, परन्तु मूर्ख कवि उन्हे विकसित नील कमल के समान सुशोभित कहते है. पयोधर मास के सघन पिण्ड है परन्तु मूर्ख कवि उन्हे हाथी का गण्ड स्थल मानते हैं, नितम्ब मण्डल रूधिर व अस्थियो का पुंज हैं परन्तु मूर्ख कवि उसे बालू का बडा भारी टीला बताते हैं। यह सब वस्तुतः राग का उद्रेक ही है। स्त्रियो मे यथार्थतः कोई सौन्दर्य नही परन्तु कवियो की प्रतिभा ने उनमे विविध सौन्दर्य देखा है—

वक्य श्लेस्म निकेतन मलमयं नेमद्वय तत्कुचो
मांसाकार घनो नितम्बफलक रक्तास्थिपुञ्जाततम्।
शीताशु विकचोत्पल करियते कुम्भो माह सैकत
भातीत्येव मुशन्ति मुग्ध कव्यस्तद्रागविस्फूर्जितम्
॥७.३८.

कवि ने एक ओर जहा विद्याधरी के चरित्र के माध्यम से ऐसी स्त्रियो के स्वभाव का दिग्दर्शन किया है जो अपने पति को वचित कर अन्य पुरुष पर मुग्ध हो जाती है वही उसने ऐसी वानरी का भी चित्रण किया है जो अपने पति का सम्पर्क अन्य वानरी के साथ देखकर रुष्ट हो जाती है और तरूण वानर बडी दीनता के साथ उस वानरी को शान्त करने का प्रयत्न करता है, परन्तु उसमे सफल नहीं होता। मृतक की तरह जब वह अपने आपको दीनतापूर्वक जमीन मे लिटा देता है तो वानरी वानर को मृतक समझकर भय से काप उठती है और पास जाकर उसकी यह दशा दूर कर देती है। पतिव्रता स्त्रियो के स्वभाव की यह उद्भावना है। (११ १६-२०)।

विधवा स्त्री की स्थिति का भी भी कवि ने प्रसगवशात् चित्रण किया है। उसने बताया कि विधवा महिला केशो मे नवमालिका और शरीर मे हल्दी नही लगाती। वस्तुत पति विरहित स्त्री का भोगोपभोग सामग्री मे लीन रहना निन्दास्पद है

प्रजावति विजानती सकलपद्धति स्वंकथ,
विभर्षि नवमालिका कचकुले हरिद्रा तनौ।
न युक्तमिदमास्थित विगतभर्तृवामयुवा,
वृथा खलु सुखासिका सकल लोक गर्हास्पदम्
॥८.१५.

११ शिक्षा और शिक्षालय—

शिक्षालय नगर के बाहर रमणीय स्थल मे बनाया जाता था। बच्चे की शिक्षा-दीक्षा पाचवे वर्ष मे प्रारम्भ होती थी। इसके लिए बच्चे को किसी आचार्यप्रवर के पास भेज दिया जाता था। सबसे प्रथम वर्णमाला को सिद्ध मातृ का (पृ० ३८) कहा गया है। एक गुरू के पास अनेक छात्र पढते थे। गुरू शिष्य का सम्बन्ध भी बडा ही मधुर रहता। उनका व्यवहार परस्पर मे पिता-पुत्रवत् था। शिष्य अत्यन्त विनम्र और शिष्ट रहता था।

जीवन्धर चम्पू मे गुरू की विशुद्धता पर भी बल दिया है (पृ० १४५)। शिक्षार्थी को आज जैसी कोई फीस नही देनी पडती थी। हा यदि आवश्यक हुआ तो शिक्षक गुरू दक्षिणा अवश्य स्वीकार कर लेता था। शिक्षक शिक्षार्थी को अधिकाधिक कलाओ का अभ्यास कराता और नैतिक शिक्षा भी साथ ही देता था। गुरू आर्यनन्दी ने जीवन्धर को क्रोध न कर शाति धारण करने की नैतिक शिक्षा दी।

न कार्यं क्रोधोऽय श्रुतजलधिमग्नैक हृदयैं,
न चैद्धयर्था शास्त्रे परिचय कलाचार विधुश।
निजे पाणो दीपे लसति भुवि कूपे निपतिना,
फल-कि तेन स्पार्दित गुरूरथोऽशिक्षयदुमुम्
॥२ १६.

१२ मन्दिर और धर्म साधना केन्द्र—

मन्दिर व धर्म साधना केन्द्र प्राय शहर के बाहर पर्वत पर बनाया जाता। उसके प्रवेश द्वार पर वन्दनमाला लगी रहती। मन्दिर तक पहुचने का मार्ग पुष्पो से सुसज्जित रहता। मन्दिर के अग्रभाग मे चम्पा तथा बाद मे अशोक मालती आदि पुष्पो के वृक्ष लगे रहते। मन्दिर के चारो ओर सुन्दर परिक्रमण रहता उसके बाद नयनाभिराम उद्यान बना रहता। उद्यान के एक ओर सरोवर रहता जिसमे से अनेक गुब्बारे निकाले जाते। मन्दिर के गृह भाग मे मूर्ति के पीछे भामण्डल, ऊपर तीन छत्र और बाजू मे मवर ढोलती हुई देवी की मूर्तिया रहती। समूचा मन्दिर शिखर पर लगी पताका से शोभायमान रहता। जैन मन्दिर की बनावट अकृत्रिम चैत्यालय जैसी रहती। नित्योत्सवो तथा पक्षोत्सवो की परम्परा निर्विघ्न चालू रखने के लिए उत्तम क्षेत्रादि जैसा आय का साधन भेंट किया जाता। और मन्दिर का स्वामित्व तपस्वियो के लिए दे देते। यहा भट्टारक प्रथा की ओर सकेत स्पष्ट दिखाई देता है।

जैनेतर साधना स्थल का भी वर्णन उपलब्ध होता है। तपोवन मे साधु सपरिवार रहते, वृक्षछाल पहनते, कमण्डलु रखते और काषायवस्त्र पहनते। तपोवन मे बालक मु ज मेघालेयं बिखेरते, कुमारिया वृक्ष क्यारिया भरती, साधु व्याघ चर्म पर बैठकर ध्यान करते, यही तपस्वियो की स्त्रिया नीवार पकाती और पुत्र गीला इ धन काटकर ले आते। तपोवन मे डाभ की शय्या का उपयोग होता था (१.६८)। इसे कवि ने मिथ्या तपस्वी चर्या कहा है (पृ० १०८)।

१३. कृषि और कृषक—

सस्कृत साहित्य का अधिकाश भाग सामतवादी सस्कृति से ओत-प्रोत रहा है। (उसमे जन सस्कृति उपेक्षित सी नजर आती है, । महाकवि हरिचन्द्र का साहित्य इस कथन का अपवाद नहीं। जो कुछ भी जन-सस्कृति से सम्बन्धित उल्लेख वहा मिलते हैं— वे आनुमगिक ही कहे जा सकते हैं। कृषि और कृषक के सम्बन्ध मे थोडे से उल्लेख मिलते हैं। उस समय खेत प्राय नगर से बाहर हुआ करते थे। सारा खेत हल से ही जोता जाता था। कृषक साधारणत मेघ पर ही आश्रित रहता था, पर आवश्यकता पडने पर कुओ और नहरो का भी भरपूर उपयोग किया जाता था। जीवन्धर चम्पू मे इस तरह की सिंचाई का वर्णन मिलता है। सिंचाई के बाद खेत हरे भरे हो जाते थे। खेतो की रक्षा किसान स्वय करता था (१.१२१०)। इस काम मे उसकी लडकिया भी सहयोग करती थी। वे अल्हड गीतगाती हुई खेती की रक्षा किया करती थीं। धर्मशर्माभ्युदय, १.५०)। खेत छोडकर जाने पर कृषक उसमे मानवाकार वस्त्राच्छादन खडा कर देता। जिसे अज विजु अ(क्षेत्ररक्षक)कहा जा सकता है। इसका उद्देश्य

पक्षियों से कृषि की रक्षा करना है (पृ० ५)। हंसिये से पूरी फसल काटकर खलियानों मे रखी जाती थी। (पृ० ६) खलियानो मे रखे धान्य के ढेर इतने अधिक थे कि कवि को उन पर अनेक कल्पनायें करनी पडी (पृ० ५)। इन ऊंचे ढेरो को परेना (ऋतुतोभ) की सहायता से हाथियो और बैलो पर लाद कर घर लाते थे (१.३०)। बाद मे यही धान्य गाडियो से बाजार मे ले जाकर बेचा जाता था।

किसान साधारणत अशिक्षित रहते थे। निर्धनता से उनकी कमर टूट रही थी। महाकवि ने एक कृषक का बडा सुन्दर चित्रण किया है। क्षेमकी से परिणय होने के बाद जीवन्धर स्वामी एक दिन घर से निकल गये और रातो रात वन तय करते रहे। बाद मे एकायक एक पथिक से भेंट हो गई। उसके हाथ मे परेना था, शरीर पर कम्बल था, कमर मे हसिया और और कधे पर हल था। उसके सिर पर मैला कुचेला साफा था—

करघत ऋपु तोभ कम्बलछन्नदेह
कटितटगतदाभ स्कन्ध सम्बन्ध सीर।
वनभुवि पथि कश्चिन्नागमत्तस्त्र पार्श्वं,
नियति नियति रूपा प्राणिना हि प्रवृत्ति ॥७ ३

१४ उपवन

उपवन प्राय: नगर के बाहर होते थे। जीवन्धर चम्पू मे कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहा नगर के बीच भी उपवनो का होना बतलाया गया है। सभी उपवन प्राय समान होते थे। उपवन के अग्रभाग मे तिन्लक वृक्षो की पंक्ति, बाद मे अशोक, मैनर, अक्ष (बहेडे), अम्र आदि की वृक्ष पक्तिया थी। ये वृक्ष सुसज्जित ढग से उपवन के चारो ओर लगे रहते थे और उपवन की मध्यवर्ती भूमि विविध पुष्पो से सजायी जाती। इन पुष्पो मे लालकमस्त और लकुच के पुष्प प्रमुख थे। ये पुष्प प्राय क्यारियो मे लगाये जाते थे और साथ ही कुछ लताये भी उन पर आवेष्टित कर दी जाती थी (२.१३)। उपवन के एक ओर सरोवर या वाटिका रहती थी (पृ० १३०)। बीच मे कुछ मैदान होता था जहा बच्चे खेलते कूदते थे (२.६)। उपवन के चारो ओर वाडी लगायी जाती थी जिसे उपवन वृत्ति कहते थे। (पृ० १०४)।

१५. आमोद-प्रमोद के साधन

बच्चो के आमोद प्रमोद के साधनो मे खिलोने थे। इन खिलौनो मे राज हंस और मयूर मुख्य थे (पृ १२)। गेंद का प्रयोग प्रचुरता और रूचिकर था (४.३४)। कुवारिया और युवतिया भी अपने घर के प्रागण मे बडे चाव से कन्दुक क्रीडा करती थी।

शुक शावक का पालन भी एक आमोद-प्रमोद का साधन था। उसे दूध और केला खिलाया जाता (पृ० २५)। शुक शावक का उपयोग विरही युवतिया अपने प्रेमी के पास प्रेम पत्र भेजकर भी किया करती थी। ऐसे शुक को "क्रीडा शुक" की सज्ञा दी गई है (पृ० ८७.४.३३-३५)। चित्रकला का उपयोग भी प्रेम पत्र मे चित्र बना कर किया जाता था। क्रीडा शुक का वर्णन प्राचीन साहित्यकारो का एक मनोरंजन विषय था।

१६. जैन सिद्धान्त वर्णन

जीवन्धर चम्पू मे दर्शन की अपेक्षा काव्य अधिक मुखरित हुआ है। अनेक स्थल थे जहा पर कवि जैन सिद्धान्तो का वर्णन कर सकता था परन्तु उसने ऐसा नही किया। सम्भवत इसलिए कि कथा मे प्रवाह बना रहे। उपदेश की रूक्षता से कथा की गति प्रतिहत आ जाती है। फिर भी कवि ने इस ओर एक दम उपेक्षा नही की। अन्यत्र सक्षेप मे उन्होंने जैन सिद्धान्तो को समझाने का प्रयत्न किया है।

जैनाचार्यों ने ससार की असारता के विषय मे बहुत कुछ कहा है। युद्ध स्थल मे जाने के पूर्व सत्यघर ने विजया रानी को इसी आधार पर समझाने का प्रयत्न किया। उन्होने कहा कि यह सम्पत्ति बिजली के सामान है। शरीर चचल है, ऐश्वर्य जल के बबूले के समान है और जवानी पहाड़ी नदी के समान है। जहा सयोग है वहा वियोग अवश्य है यह दुख-सागर ज्ञान-पोत से पार किया जा सकता है। (१ ७८-८०)

वन क्रीडॉ करते हुए जीवन्धर ने एक वानर दम्पत्ति को देखा। वानर एक अन्य वानरी के साथ सम्पर्क देख कर वानरी रूष्ट हो गई। उसे प्रसन्न करने के लिए वानर ने एक पका कटहल वानरी को दिया। परन्तु शीघ्र ही वेमलता का भय दिखाकर वनपाल ने उस वानरी से वह फल छीन लिया। जीवन्धर के हृदय मे यह घटना चुभ गई। वे ससार की असारता और अपने कर्त्तव्य के विजय मे गभीर चिन्तन करने लगे। काम, राजभोग, परिवार आदि सभी मे उन्हे क्षण विनश्वरता दिखाई देने लगी। अन्त मे कहते हैं कि जो मनुष्य अविनाशी मोक्ष लक्ष्मी को छोडकर राज लक्ष्मी प्राप्त करते हैं वे ग्रीष्मकाल मे शीतल जल की धारा छोड कर मृग-मरीचिका का सेवन करते हैं। अत आत्महित मे प्रमाद करना उचित नही (७ २२-२६)।

इसी सप्तम लम्ब मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यग-चारित्र के लक्षण बता कर सम्यग्ज्ञान पूर्वक त्यागी-वृन्द के दो भेद किये-सागार और अनागार। एक देशव्रत धारण करना सागार व्यवस्था है। पाच अणुव्रतो का पालन करना तथा मद्य, मास, मधु का त्याग करना ये अष्ट मूलगढ। दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थदण्डव्रत ये तीन शिक्षाव्रत हैं। आचार्य उमा-स्वामी का प्रभाव यहा दिखाई देता है। चार शिक्षा-व्रतो मे सामयिक, प्रापेघोपवाष, अतिथि सविभाग और सल्लेखना सम्मिलित है। यहा महाकवि आचार्य कुन्दकुन्द से प्रभावित जान पडता है (७. ७.१६)।

उपसहार—

इस प्रकार जीवन्धर चम्पू के उक्त परिशीलन से स्पष्ट है कि महाकवि हरिचन्द्र की वह एक अप्रतिम कृत्ति है। इसे हम धर्म कथा काव्य की श्रेणी मे प्रतिष्ठित कर सकते हैं। महाकवि का अभी तक कोई समग्र अध्ययन सामने नही आया। कोई शोधक गभीरता से इस विषय पर कार्य करे तो कितना अच्छा होगा। श्रद्धेय स्वर्गीय पडित चैनसुखदासजी ने सन् १६६० मे मुझे यह विषय सुझाया था। पर अनेक व्यवधान आ जाने के कारण हम उसे कार्यरूप मे परिणीत नही कर सके। आज इस लेख के माध्यम से विनम्र श्रद्धाजलि पूर्वक उनकी इच्छा को किसी सीमा तक पूरा करने का प्रयत्न किया है।



२२

महापंडित टोडरमल

□डा० हुकमचन्द भारिल्ल

डा० गौतम के शब्दो मे "जैन हिन्दी गद्यकारो मे टोडरमलजी का स्थान बहुत ऊंचा है। उन्होने टीकाओ और स्वतन्त्र ग्रन्थो के रूप मे दोनों प्रकार से गद्य-निर्माण का विराट उद्योग किया है। टोडरमलजी की रचनाओ के सूक्ष्मानुशीलन से पता चलता है कि वे अध्यात्म और जैन धर्म के ही वेत्ता न थे, अपितु व्याकरण, दर्शन, साहित्य और सिद्धान्त के ज्ञाता थे। भाषा पर भी इनका अच्छा अधिकार था।"[1]

ईसवी की अठारहवी शदी के अन्तिम दिनो मे राजस्थान का गुलाबी नगर जयपुर जैनियो की काशी बन रहा था। आचार्यकल्प पडित टोडरमलजी की अगाध विद्वता और प्रतिभा से प्रभावित होकर सपूर्ण भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तो मे सचालित तत्वगोष्ठियो और आध्यात्मिक मण्डलियो मे चर्चित गूढतम शंकायें समाधानार्थ जयपुर भेजी जाती थी और जयपुर से पंडितजी द्वारा समाधान पाकर तत्त्व-जिज्ञासु समाज अपने को कृतार्थ मानता था। साधर्मी भाई ब्र० रायमल ने अपनी "जीवन-पत्रिका" मे तत्कालीन जयपुर की धार्मिक स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

"तहा निरन्तर हजारा पुरुष स्त्री देवलोक की सी नाई चैत्याले आय महापुण्य उपारजै, दीर्घकाल का सच्या पाप ताका क्षय करै। सौ पचास भाई पूजा करने वारे पाईए, सौ पचास भाषा शास्त्र बाचने वारे पाईए, दस बीस सस्कृत बाचने वारे पाईए, सौ पचास जनें चरचा करने वारे पाईए और नित्यान का सभा के शास्त्र बाचने का व्याख्यान विषै पाचसै सात सै पुरुष तीन सै च्यारि सै स्त्रीजन, सब मिली हजार बारा सै पुरुष स्त्री शास्त्र का श्रवण करै बीस तीस बाया शास्त्राभ्यास करै, देश देश का प्रश्न इहा आवै तिनका समाधान होय उहा पहुंचे, इत्यादि अद्भूत महिमा चतुर्थकालवत या नग्र विषै जिनधर्म की प्रवर्ति पाईए है।"[2]

यद्यपि सरस्वती माँ के वरद पुत्र का जीवन आध्यात्मिक साधनाओ से ओतप्रोत है, तथापि साहित्यिक व सामाजिक क्षेत्र मे भी उनका प्रदेय कम नही है। आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी उन दार्शनिक साहित्यकारो एव क्रान्तिकारियो मे से हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक क्षेत्र मे आई हुई विकृतियों का सार्थक व समर्थ खण्डन ही नही किया, वरन्

१. हिन्दी गद्य का विकास डा० प्रेमप्रकाश गौतम, अनुसधान प्रकाशन, आचार्यनगर, कानपुर, पृ० १८८
२. पंडित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तत्व, परिशिष्ट, १ प्रकाशक · पडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४ बापूनगर, जयपुर।

उन्हे जड से उखाड़ फैका। उन्होने तत्कालीन प्रचलित साहित्य भाषा ब्रज मे दार्शनिक विषयो का विवेचक ऐसा गद्य प्रस्तुत किया जो उनके पूर्व विरल है।

पंडितजी का समय ईसवी का अठारहवी शदी का मध्यकाल है। वह सक्रान्तिकालीन युग था। उस समय राजनीति मे अस्थिरता, सम्प्रदायो मे तनाव, साहित्य में शृगार, धर्म के क्षेत्र मे रूढिवाद, आर्थिक-जीवन मे विषमता एव सामाजिक जीवन मे आडम्बर—ये सब अपनी चरम सीमा पर थे। उन सब से पडितजी को सघर्ष करना था जो उन्होने डटकर किया और प्रणपो की बाजी लगाकर किया।

पडित टोडरमलजी गम्भीर प्रकृति के आध्यात्मिक महापुरुष थे। वे स्वभाव से सरल, ससार से उदास, धुन के धनी, निरभिमानी, विवेकी अध्ययनशील, प्रतिभावान, बाह्याडबर विरोधी, दृढ श्रद्धानी, क्रान्तिकारी, सिद्धान्तो की कीमत पर कभी न झुकने वाले, आत्मानुभवी, लोकप्रिय प्रवचनकार, सिद्धान्तग्रन्थो के सफल टीकाकार एव परोपकारी महामानव थे।

वे विनम्र पर दृढश्रद्धानी विद्वान एव सरल स्वभावी थे। वे प्रामाणिक महापुरुप थे। तत्कालीन आध्यात्मिक समाज मे तत्वज्ञान सवन्धी प्रकरणो मे उनके कथन प्रमाण के तौर पर प्रस्तुत किए जाते थे। वे लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता थे। धार्मिक उत्सवो मे जनता की अधिक से अधिक उपस्थिति के लिए उनके नाम का प्रयोग आकर्षण के रूप मे किया जाता था। गृहस्थ होने हर भी उनकी वृत्ति साधुता की प्रतीक थी।

पडितजी के पिता का नाम जोगीदासजी एवं माता का नाम रम्भादेवी था। वे जाति से खण्डेलवाल थे और गोत्र था गोदीका, जिसे भोसा व बडजात्या भी कहते हैं। उनके वशज ढोलाका भी कहलाते थे। वे विवाहित थे पर उनकी पत्नि व ससुराल पक्ष वालो का कही कोई उल्लेख नही मिलता। उसके दो पुत्र थे—हरिचन्द्र और गुमानीराम। गुमानीराम भी उनके समान उच्च कोटि के विद्वान और प्रभावक आध्यात्मिक प्रवक्ता थे। उनके पास बडे-बडे विद्वान भी तत्त्व का रहस्य समझने आते थे। पडित देवीदास गोधा ने "सिद्धान्तसार सग्रह टीका प्रशस्ति" मे इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। पडित टोडरमलजी की मृत्यु के उपरान्त वे पडितजी द्वारा सचालित धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार रहे। उनके नाम से एक पथ भी चला जो 'गुमान पथ' के नाम स जाना जाता है।

पडित टोडरमलजी की सामान्य शिक्षा जयपुर की एक आध्यात्मिक (तेरापथ) सैली मे हुई, जिसका बाद मे उन्होने सफल सचालन भी किया। उनके पूव बाबा वशीधरजी उक्त सैली के सचालक थे। पडित टोडरमलजी गूढतत्वो के तो स्वयबुद्ध ज्ञाता थे। 'लब्धिसार' व "क्षपणासार" की सदृष्टिया आरम्भ करते हुए वे लिखते हैं शास्त्रविषै लिख्या नाही और बतावने वाला मिल्या नाही"।

सस्कृत प्राकृत, और हिन्दी के अतिरिक्त उन्हे कन्नड भाषा का भी ज्ञान था। मूलग्र थो को वे कन्नड लिपि मे पढ-लिख सकते थे। कन्नड भाषा और लिपिका ज्ञान एव अभ्यास भी उन्होने स्वय किया। वे कन्नड भाषा के ग्र थो पर व्याख्यान करते थे एव उन्हे कन्नड लिपि मे लिख भी लेते थे। ब्र० रायमल ने लिखा है—

---

३. इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका,

"दक्षिण देश सूं पाच सात और ग्रन्थ ताडपत्रा विषै कर्णाटी लिपि मे लिख्या इहा पधारे है, ताकूं मलजी बाचे है। वाका यथार्थ व्याख्यान करै है वा कर्णाटी लिपि मे लिखते हैं।

परम्परागत मान्यतानुसार उनकी आयु कुल २७ वर्ष कही जाती रही, परन्तु उनकी साहित्यक साधना, ज्ञान व प्राप्त उल्लेखो को देखते हुए मेरा यह निश्चित मत है कि वे ४७ वर्ष तक अवश्य जीवित रहे। इस सबन्ध मे साधर्मी भाई ब्र० रायमल द्वारा लिखित 'चर्चा सग्रह ग्रन्थ की अलीगंज (एटा उ० प्र०) मे प्राप्त हस्तलिखित प्रति के पृष्ठ १७३ का निम्नलिखित उल्लेख विशेष दृष्टव्य है—

"बहुरि बारा हजार त्रिलोकसारजी की टीका का बारा हजार मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ उनके शास्त्रों के अनुस्वारि अर आत्मानुशासनजी की टीका हजार तीन या तीना ग्रन्था की टीका भी टोडरमलजी सैतालीस बरस की आयु पूर्ण करि परलोक विषै गमन की।"

उनकी मृत्यु तिथि विक्रम सवत् १८२३-२४ के लगभग निश्चित है, अतः उनका जन्म विक्रम सवत् १७७६-७७ मे होना चाहिए।

पंडित बखतराम शाह के अनुसार कुछ मताध लोगो द्वारा लगाये गए शिवपिण्डी के उखाड़ने के आरोप के सदर्भ मे राजा द्वारा सभी श्रावको को कैद कर लिया गया था और तेरापथियो के गुरू महान धर्मात्मा, महापुरुष पडित टोडरमलजी को मृत्यु दण्ड दिया गया था। दुष्टो के भडकोने मे आकर राजा ने उन्हे मात्र प्राणदण्ड हो नही दिया बल्कि गदगी मे गडवा दिया था।[४] यह भी कहा जाता है कि उन्हे हाथी के पैर के नीचे कुचलवा कर मारा गया था।[५]

पडित टोडरमलजी अध्यात्मिक साधक थे। उन्होने जैन दर्शन और सिद्धान्तो का गहन अध्ययन ही नही किया अपितु उसे तत्कालीन जनभाषा मे लिखा भी है। उसमे उनका मुख्य उद्देश्य अपने दार्शनिक चिन्तन को जन-साधारण तक पहुचाना था। पडितजी के प्राचीन जैन ग्रथो की विस्तृत, गहन परन्तु सुबोध भाषा-टीकाएं लिखी। इन भाषा-टीकाओ मे कई विषयो पर बहुत ही मौलिक विचार मिलते जो उनके स्वतंत्र चिन्तन के परिणाम थे। बाद मे इन्ही विचारो के आधार पर उन्होने कतिपय मौलिक ग्रंथो की रचना भी की। उनमे से सात तो टीकाग्रथ हैं और पाच मौलिक रचनाए। उनकी रचनाओ को दो भागो मे बाटा जा सकता है।

(१) मौलिक रचनाएं (२) व्याख्यात्मक रचनाएं।

मौलिक रचनाएं गद्य और पद्य दोनो रूपो मे है। गद्य रचनाएं चार शैलियो मे मिलती है—

(क) वर्णनात्मक शैली (२) पत्रात्मक शैली। (ग) यन्त्र रचनात्मक (चार्ट) शैली (घ) विवेचनात्मक शैली।

वर्णनात्मक शैली मे समोसरण आदि का सरल भाषा मे सीधा वर्णन है। पडितजी के पास जिज्ञासु लोग दूर-दूर से अपनी शकाऐं भेजते थे, उसके समाधान मे वह जो कुछ लिखते थे, वह

---

४. बुद्धि विलास बखतराम साह, छन्द १३०३, १३०४।

५. (क) वीरवाणी : टोडरमलाक पृ० २८५, २८६। (ख) हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड पृ० ५००।

लेखन पत्रात्मक शैली के अन्तर्गत आता है। इसमे तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। इन पत्रो मे एक पत्र बहुत महत्वपूर्ण है। सोलह पृष्ठीय यह पत्र 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' के नाम से प्रसिद्ध है। यंत्र रचनात्मक शैली मे चार्टो द्वारा विषय को स्पष्ट किया है। अर्थ संदृष्टि अधिकार इसी प्रकार की रचना है। विवेचनात्मक शैली मे सैद्धांतिक विषयो को प्रश्नोत्तर पद्धति मे विस्तृत विवेचन कर के युक्ति व उदाहरणो से स्पष्ट किया है। मोक्ष मार्ग प्रकाशक इसी श्रेणी मे आता है।

पद्यात्मक रचनाऐ दो रूपो मे उपलब्ध है

(१) भक्ति परक (२) प्रशस्ति परक।

भक्ति परक रचनाओ मे गोम्मटसार पूजा एव ग्रन्थो के आदि मध्य और अन्त मे मगलाचरण के रूप मे प्राप्त फुटकर पद्यात्मक रचनाऐ हैं। ग्रन्थो के अन्त मे लिखी गई परिचयात्मक प्रशस्तिया प्रशस्तिपरक श्रेणी मे आती है।

पडित टोडरमलजी की व्याख्यात्मक टीकाएँ दो रूपो मे पाई जाती है :—

१. सस्कृत ग्रन्थो की टीकाएँ

२. प्राकृत ग्रन्थो की टीकाएँ।

सस्कृत ग्रन्थो की टीकाएँ आत्मानुशासन भाषा टीका और पुरुषार्थ सिद्धियुपाय भाषा टीका है। प्राकृत ग्रन्थो मे गोम्मटसार, जीवकाड, गोम्मटसार, कर्म काड, लब्धिसार-क्षपणासार और त्रिलोकसार हैं, जिनकी भाषा-टीकाऐ उन्होने लिखी हैं।

गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकान्ड लब्धिसार और क्षपणासार की भाषा टीकाएँ पडित टोडरमलजी ने अलग-अलग बनाई थी परन्तु उक्त चारो टीकाओ को परस्पर एक दूसरे से सम्बन्वित एव परस्पर एक का अध्ययन दूसरे के अध्ययन मे सहायक जानकर उन्होने उक्त चारो टीकाओ को मिलाकर एक कर दिया तथा उसका नाम "सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका" रख दिया।

सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका विवेचनात्मक गद्यशैली मे लिखी गई है। प्रारम्भ मे इकहत्तर पृष्ठ की पीठिका है। आज नवीन शैली की सम्पादित ग्रन्थो मे की भूमिका का बडा महत्व माना जाता है। शैली के क्षेत्र मे दो सौ बीस वर्ष पूर्व लिखी गई सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका की पीठिका आधुनिक भूमिका का आरंभिक रूप है। किन्तु भूमिका का आधा रूप होने पर भी उसमे प्रौढता पाई जाती है, उसमे हलकापन कही भी देखने को नही मिलता है। इसमे पढने मे ग्रन्थ का पूरा हार्द खुल जाता है एव इस ग्र थ के पढने मे आने वाली पाठक की समस्त कठिनाइया दूर हो जाती है। हिन्दी आत्मकथा-साहित्य मे जो महत्व महाकवि बनारसीदास के अर्द्ध कथानक को प्राप्त है, वही महत्व हिन्दी भूमिका साहित्य मे सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका की पीठिका का है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक पडित टोडरमलजी का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का आधार कोई एक ग्रन्थ न होकर सम्पूर्ण जैन साहित्य है। यह सम्पूर्ण जैन साहित्य को अपने मे समेट लेने का एक सार्थक प्रयत्न पर था, खेद है कि यह ग्रन्थराज पूर्ण न हो सका, अन्यथा यह कहने मे संकोच न होता कि यदि सम्पूर्ण जैन वाड्मय कही एक जगह सरल, सुबोध और जनभाषा मे देखना हो तो मोक्षमार्ग प्रकाशक को देख लीजिए। अपूर्ण होने पर भी यह अपनी अपूर्णता के लिए प्रसिद्ध है। यह एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है जिसके कई सस्करण

निकल चुके है[६] एव खडी बोली मे इसके अनुवाद भी कई बार प्रकाशित हो चुके है।[७] यह उर्दू मे भी छप चुका है।[८] मराठी और गुजराती मे इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।[९] अभी तक सब कुल मिलाकर इसकी ५१२०० प्रतिया छप चुकी हैं। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष के दिगम्बर जैन मन्दिरो के शास्त्र भण्डारो मे इस ग्रन्थराज की हजारों हस्तलिखित प्रतिया पाई जाती हैं। समूचे समाज मे यह स्वाध्याय और प्रवचन का लोकप्रिय ग्रन्थ है। आज भी पंडित टोडरमलजी दिगम्बर जैन समाज मे सर्वाधिक पढे जाने वाले विद्वान हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक की मूलप्रति भी उपलब्ध हैं।[१०] एव उसके फोटोप्रिंट करा लिए गए है, जो जयपुर[११]– बम्बई[१२]– दिल्ली[१३]– और सोनगढ़[१४] मे सुरक्षित है। इस पर स्वतत्र प्रवचनात्मक व्याख्याएँ भी मिलती हैं–।[१५]

---

६. (क) बाबू ज्ञानचन्दजी जैन, लाहौर (वि०सं० १९५४)
(ख) जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई (सन् १९११ ई०)
(ग) बाबू पन्नालाल जी चौधरी, वाराणसी (वी०वि०सं० २४५१)
(घ) अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई (वी०नि०सं० २४६३)
(ङ) सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली —
(च) ,, ,, —
(छ) ,, ,, —
(ज) ,, ,, —

७. (क) अ०भा० दिगम्बर जैन संघ, मथुरा (वी०नि०सं० २००५)
(ख) श्री दिगम्बर स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (वि०सं० २०२३)
(ग) ,, ,, ,, (वि०सं० २०२६)
(घ) ,, ,, ,, (वि०सं० २०३०)

८. दाताराम चेरिटेबिल ट्रस्ट, दरीबाकला, दिल्ली (वि०सं० २०२७)

९. (क) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर, ट्रस्ट, सोनगढ़
(ख) महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा

१०. श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, दीवान भदीचन्दजी, घी वालो का रास्ता, जयपुर।

११. वही, जयपुर

१२. श्री दिगम्बर जैन सीमंधर जिनालय, जवेरी बाजार, बम्बई।

१३. श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, धर्मपुरा देहली।

१४. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

१५. आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी द्वारा किये गये प्रवचन, मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणे नाम से दो भागो मे श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ से हिन्दी व गुजराती भाषा मे कई बार प्रकाशित हो चुके है।

यह ग्रन्थ विवेचनात्मक गद्य शैली मे लिखा गया हैं । प्रश्नोत्तरो द्वारा विषय को बहुत गहराई से स्पष्ट किया गया है । इसका प्रतिपाद्य एक गम्भीर विषय है, पर जिस विपय को उठाया गया है उसके सम्बन्ध मे उठने वाली प्रत्येक शंका का समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है । प्रतिपादन शैली मे मनोवैज्ञानिकता एव मौलिकता पाई जाती है। प्रथम शका के समाधान मे द्वितीय शका की उत्थानिका निहित रहती है । ग्र थ को पढते समय पाठक के हृदय मे जो प्रश्न उपस्थित होता है उसे हम अगली पक्ति मे लिखा पाते हैं। ग्रन्थ पढ़ते समय पाठक को आगे पढने की उत्सुकता बरावर वनी रहती है।

वाक्य रचना सक्षिप्त और विषय प्रतिपादन शैली तार्किक एव गम्भीर है। व्यर्थ का विस्तार उसमे नही है पर विस्तार के सकोच मे कोई विपय अस्पष्ट नही रहा हैं। लेखक विषय का यथोचित विवेचन करता हुआ आगे वढने के लिए सर्वत्र ही आतुर रहा है। जहा कही भी विषय का विस्तार हुआ है वहां उत्तरोत्तर नवीनता आती गई है। वह विषय विस्तार सागोपाग विषय विवेचना की प्रेरणा से ही हुआ है । जिस विषय को उन्होंने छुआ उसमे "क्यो" का प्रश्नवाचक समाप्त हो गया है । शैली ऐसी अद्‌भुत है कि एक अपरिचित विपय भी सहज हृदयगम हो जाता है।

पंडितजी का सबसे बडा प्रदेय यह है कि उन्होंने सस्कृत, प्राकृत मे निबद्ध आध्यात्मिक तत्वज्ञान को भाषा-गद्य के माध्यम से व्यक्त किया और तत्व विवेचन मे एक नई दृष्टि दी । यह नवीनता उनकी क्रान्तिकारी दृष्टि मे है।

टीकाकार होते हुए भी पडितजी ने गद्य शैली का निर्माण किया हैं। डा० गोतम ने उन्हें गद्य निर्माता स्वीकार किया है।[१६] उनकी शैली दृष्टान्तयुक्त प्रश्नोत्तरमयी तथा सुगम है । वे ऐसी शैली अपनाते हैं जो न तो एकदम शास्त्रीय है और न आध्यात्मिक सिद्धियो और चमत्कारो मे बोझिल । उनकी इस शैली का सर्वोत्तम निर्वाह मोक्षमार्ग प्रकाशक मे है। तत्कालीन स्थिति मे गद्य को आध्यात्मिक चिन्तन का माध्यम वनाना वहुत सूझबूझ और श्रम का कार्य था । उनकी शैली मे उनके चितक का चरित्र और तर्क का स्वभाव स्पष्ट झलक है । एक आध्यात्मिक लेखक होते हुए भी उनकी गद्य शैली मे व्यक्तित्व का प्रक्षेप उनकी मौलिक विशेपता है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पप्ट है कि पंडित टोडरमल न केवल टीकाकार थे वल्कि अध्यात्म के मौलिक विचारक भी थे। उनका यह चिन्तन समाज की तत्कालीन परिस्थितियो और वढते हुए आध्यात्मिक शिथिलाचार के सन्दर्भ मे एक दम सटीक है।

लोकभापा काव्यशैली मे 'रामचरित मानस' लिखकर महाकवि तुलसीदास ने जो काम किया, वही काम उनके दो सौ वर्ष वाद गद्य मे जिन अध्यात्म को लेकर पंडित टोडरमलजी ने किया।

जगत के सभी भौतिक द्वन्द्वो से दूर रहने वाले एवं निरन्तर आत्मसाधना व साहित्य-साधनारत इस महामानव को जीवन की मध्यवय मे ही साम्प्रदायिक विद्वेष का शिकार होकर जीवन से हाथ धोना पडा।

---

१६. हिन्दी गद्य का विकास : डा० प्रेमप्रकाश गौतम, अनुसंधान प्रकाशन, आचार्यनगर कानपुर पृ० १८५ व १८८ ।

इसके व्यक्तित्व और कर्त्तव्य के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी के लिए लेखक के शोध प्रबन्ध पंडित टोडरमल व्यक्तित्व और और कतृत्व[17] का अध्ययन करना चाहिये । इनकी भाषा का नमूना इस प्रकार है :—

"तातैं बहुत कहा कहिए" जैसे रागादि मिटावने का श्रद्धान होय सो ही सम्यग्दर्शन है। बहुरि जैसे रागादि मिटवाने का जानना होय सो ही सम्यग्ज्ञान है। बहुरि जैसे रागादि मिटे सो ही सम्यक्चारित्र है। ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है।[18]



अपरिग्रह

धन पाकर तुम गर्व करो मत
नही मिले, तो शोक न भारी
अधिक मिले, तो सचय मत कर
परिग्रह वृत्ति नही सुखकारी ।।

अर्हत्

१७. प्रकाशक पडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए–४, बापूनगर, जयपुर-४।
१८. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-३१३।

महाकवि रइधू कृत एक नवीन उपलब्ध सचित्र रचना संतिणाह चरिउ

☐ डा० राजाराम जैन

अपभ्रंश साहित्य के इतिहास मे महाकवि रइधू अपना प्रमुख स्थान रखते है। अभी तक की शोध-खोज मे उपलब्ध समग्र-साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि परिमाण एव विषय-विविधता की दृष्टि से विशाल साहित्य का प्रणयन करने वाला रइधू जैसा अन्य दूसरा लेखक कवि नही हुआ। विविध प्रमाणो से विदित होता है कि रइधू ने ३० मे भी अधिक ग्रन्थो की रचना की है जिनमे से अभी तक २४ ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके हैं। वर्गीकरण की दृष्टि से उस साहित्य को (१) पौराणिक महाकाव्य (२) पौराणिक खण्डकाव्य (३) सिद्धान्त एव आचार मूलक गाथा-साहित्य एव (४) प्रबन्ध-पद्धति पर निर्मित आध्यात्मिक साहित्य रूप चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है। रइधू ने अपने जीवनकाल मे ही स्वनिर्मित साहित्य को झोपडो से लेकर राजमहलो एवं दरिद्रो से लेकर लक्ष्मीपुत्रो तक के हृदयो मे प्रतिष्ठित होते देख लिया था। विभिन्न आधारो पर रइधू का समय वि स १४४० से १५३६ तक निर्धारित किया गया है। उनकी रचनाओं एव अन्य जीवनतथ्यो पर अन्यत्र प्रकाश डाला जा चुका है अत यहा उनका उल्लेख मात्र एक पुनरावृत्ति ही होगी।

प्रतिपरिचय

महाकवि रइधू की एक अन्य रचना 'सतिणाह चरिउ' (शान्तिनाथ चरित) भी है जो अभी हाल ही मे ज्ञात एव उपलब्ध हुई है। उस पर अभी तक किसी भी प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत नही किया गया था। इस रचना के अज्ञात रहने का मूल कारण यह है कि रइधू ने इसका उल्लेख अपनी अन्य रचनाओ के समान ही अपनी परवर्ती स्वरचित ग्रन्थ-प्रशस्तियो मे नही किया। उत्तर-भारत के शास्त्र भण्डारो मे उसकी प्रति अनुपलब्ध है। सयोग से इस रचना की एक मात्र प्रति सूरत के एक शास्त्र भण्डार मे सुरक्षित है, जिसकी फोटो कापी मुझे उपलब्ध हुई है। यह प्रति अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण एव अपूर्ण है। दुर्भाग्य से उसकी केवल प्रथम आठ सन्धिया ही प्राप्त हैं उसमे भी बीच-बीच मे कई पृष्ठ अनुपलब्ध है। प्राप्त हुई अपूर्ण प्रति मे (१३-१७-२१-१४-१७-२१-६-१६-३) कुल १३४ कडवक हैं।

प्रस्तुत प्रति मे अपभ्रंश-शैली के ४८ चित्र हैं। चित्रकार ने ग्रन्थ के पृष्ठों में प्राप्त प्रसंगानुसार ही भगवान शान्तिनाथ के जीवन चरित का चित्रांकन किया है। रइधू-साहित्य के तीन ग्रन्थ सचित्र मिलते हैं—पासणाहचरिउ जसहरचरिउ एवं प्रस्तुत सतिणाह चरिउ। सामान्यतया तीनों ग्रन्थों की चित्रकला एक ही शैली की है किन्तु सतिणाह-चरिउ में त्रैलोक्यरचना, समवशरण रचना, वन-विहार के प्राकृतिक दृश्य वाले चित्र अत्यन्त भव्य हैं। नि:सन्देह ही वे जैन चित्रकला की विशेष सम्पत्ति माने जा सकते है।

प्रति की विशेषताएं

सतिणाहचरिउ की यह प्रति किस समय एवं कहा लिखी गई इसकी जानकारी प्रति की अपूर्णता के कारण अज्ञात है किन्तु उसकी लिपि को देखने से प्रतीत होता है कि वह रइधूकालीन रही होगी। इसकी लिपि मे दो विशेषताए विशेष रूप से परिलक्षित होती हैं। सर्वप्रथम यह कि इसमें शब्द की पुनरावृत्ति शब्द के माध्यम से नही अपितु अक के माध्यम से व्यक्त की गई है। जैसे विहसंत सत (७।१।१५) मे विहसत के बाद संत शब्द का उल्लेख न कर उसके स्थान पर तदर्थक दो का अंक अंकित किया गया है। ऐसे ही सैकड़ो उदाहरण इसमे उपलब्ध हैं।

दूसरी विशेषता यह है कि इसमें य के नीचे नियमत सर्वत्र एक बिन्दु (नुक्ता) अंकित है। इसका कारण समझ मे नही आता कि ऐसा क्यो किया गया है? बहुत सम्भव है कि थ एव य मे भेद करने के लिए ऐसा किया गया हो। रइधू के अन्य उपलब्ध ग्रन्थो मे ये दोनो लिपि–विशेषताए नही मिलती। प्रति की अन्य विशेषताओं मे रक–क्ख, ग्ग–ग्र, ख–ष (क्वचित कदाचित) मे प्रमुख हैं किन्तु ये विशेषताएं कवि की अन्य प्राचीन प्रतियो मे भी उपलब्ध हैं।

ग्रन्थ प्रेरक

रइधू ने सतिणाह चरिउ की यह रचना नन्दि सघ के भट्टारक जिनचन्द्र की प्रेरणा एव आदेश से की थी। रइधू ने स्वय लिखा है—मैं अपने गुरु भट्टारक जिनचन्द्र के चरणो मे रह कर उन्ही के आदेश से इस ग्रन्थ की रचना कर रहा हू। यथा—

णामें सिरि जिणचन्दु भडारउ।
णदउ सो चिरू दुण्णय हारउ॥
तस्स पाय पोमइ पणलोयह।
मणु रंजतउ ....॥
रइधूणामे बुहु जा णिवसइ।
एक्क दिवसि ता तहु गुरू मासइ॥
घत्ता

मो कइकुल मण्डण दुण्णय खण्डण सुहजस भायण विगयमलु।
हउ भणमि सुपेसणु सुक्ख पयासणु तुव जोगाउ तं सुणिय सयलु॥ (१।२।१२-१६)

भट्टारक जिनचन्द्र का परिचय देते हुए कवि ने उन्हे नन्दि सघ के परमतपस्वी पद्मनन्दिगणि के शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र का पट्टधर कहा है तथा धुरन्धर विद्वान कठोर तपस्वी, राजराजेश्वरो द्वारा वन्दित एवं सघ स्वामी के रूप मे उनका स्मरण किया है। यथा—

णदिसंघ कमलयरस सूरो।
पोमणंदिगणिसिक्खपयसूरो॥
भव्वलोय कइरववणइन्दो।
तस्स पट्टि मुणिवरू सुहयदो॥

तासु पट्टि उदयद्दि दिवायरू ।
गम्भीरतेण रयणायरू ।।
कुणय वायरण पसरग्र कायरू ।
दो विह सजम पविहिय आयरू ।।
बुहयण सवोहण णायरू ।
णिम्मलचरिय रयणगिरू आयरू ।।
राय–राय वदिय चरणुल्लउ ।
साघहु सामिउ सूरि ग्रतुल्लउ ।।
(१।२।६–११)

उक्त भट्टारक जिनचन्द्र वलात्कार गण की दिल्ली–जयपुर शाखा की परम्परा से सम्वद्ध थे । इनके प्रमुख कार्य मन्दिर निर्माण, मूर्ति प्रतिष्ठा, ग्रन्थ लेखन एव जीर्ण–शीर्ण ग्रन्थो के प्रतिलिपि कार्य आदि प्रमुख थे । पट्टावली के अनुसार उनकी कुल आयु ६१ वर्ष ८ मास एव २७ दिन की थी ।[1]

आश्रयदाता

महाकवि रइधू मे 'संतिणाह चरिउ' का प्रणयन संघाधिप जुगराज के आश्रय मे रहकर किया था । भट्टारक जिनचन्द्र ने कवि को सम्वोधित करते हुए उक्त जुगराज का परिचय देते हुए कहा है कि—हे कवि क्या तुम उस जुगराज को भूल गये जिसने नेमि जिनालय पर अखण्ड स्वर्ण–कलश की स्थापना करके वडे ही समारोह के साथ उस पर ध्वजारोहण कराई थी । तुमने ही उसकी जलयात्रा कराकर उसे तीर्थंकर गोत्र का बन्ध कराया था ।[2] जिस जुगराज ने चतुर्विध संघ का भार–वहन किया था, जिसने एक विशाल शुभ्र–वर्ण के देव–विमान की आकृति वाले जिन मन्दिर का निर्माण कराया था, जिसके कि उत्तुंग शिखराग्र पर लगी हुई ध्वजापताकाएं अपनी फर्रान से शाति का सन्देश प्रसारित करती रहती है जिसने चतुर्विध शाखाओ की रचना तथा चदोवा से अलंकृत एवं किंकिणियो से मुखरित सुन्दर वेदिकाओ का निर्माण कराया है, जिसने गिरनार पर्वत पर शिखर वनवाकर अगणित जिनमूर्तियो की प्रतिष्ठाएं कराई हैं, जिसने चारो दिशाओ मे चतुर्विध संघ की गोष्ठियो के आयोजन किए हैं तथा विद्वत्सम्मेलन कर जिसने विद्वानो को सम्मानित किया है जिसने अपने पचाग-मन्त्र से राजा का मनोरंजन किया है और अपने इन्ही सव कारणो से जिसका यश चारो दिशाओ मे विस्तृत हो चुका है । हे कवि रइधू, क्या तुम उस जुगराज को नही जानते ? वह राज्य कार्य मे जिस प्रकार अभिरुचि रखता है, उसी प्रकार शातिनाथ–चरित के श्रवण एव स्वाध्याय मे भी अभिरुचि रखता है । अत हे कविवर तु तुम उसी जुगराज के निमित्त शान्तिनाथ–चरित की रचना करो ।[3]

---

१. दे० भट्टारक सम्प्रदाय पृ० ६८

२. सिरिणेमिजिणालय सिहरग्र डि । सोवण्णकलस सोहा अखडि ।
हाडय धय मणिगण तुम हरति । बधिवि सतुट्ठ उ फरहरंति ।।
तुम्ह हजि कराविय जतणेण । तिच्छयर गोतु अज्जिव खणेण ।।
तहु जीगराज सघाहियस्स । करि कव्व णिमित्ति गुण जुयस्स ।।

३. जो संघाहिउ पुणु जोगराउ । जसु उवसमि लीण उ णिच्च भाउ ।।
णिम्मल गुणगण मणि रयण गेहु । णिव्वाहिउ चउहि संघणेहु ।।
जिणभवणु करादिउ जिससेउ । धयपति णिरुमिय तरणितेउ ।।
चउसाल सुवेइहि सिरिरमालु । चदोवय किंकिणि खमुहालु ।।

आश्रयदाता की वंश-परम्परा

कवि रइधू ने संघाधिप जुगराज की वंश-परम्परा का विस्तृत परिचय दिया है। वे कहते हैं कि जुगराज के पितामाह लक्ष्मण ने मूलसंघ के परम तपस्वी देवेन्द्र कीर्ति के उपदेश से वि० स० १४३७ मे एक प्रतिष्ठा कराई की। वे परवार जाति के श्रृंगार थे। उनके पुत्र का नाम अर्जुन था जिसकी पत्नी खेमा की कुक्षि से चार पुत्र उत्पन्न हुए—जुगराज, दिवापति, रामू एव मनसुख। जुगराज की पत्नी का नाम गुणश्री था। पति-पत्नि दोनो ही धर्म की साक्षात प्रतिमूर्ति थे।[४]

समकालीन राजा

कवि ने आश्रयदाता जुगराज को "पचागमत्र से राज का मनोरजन करने वाला[५] कहा है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि वह अवश्य ही कोई राज्यमन्त्री रहा होगा। किन्तु किसी राजा का मन्त्री रहा होगा यह स्पष्ट नही है। हो सकता है कि कवि ने अन्त्य प्रशस्ति मे इसका उल्लेख किया हो किन्तु वह अंश तो अनुपलब्ध है।

सोहम्म विमाणहं अणुहरंतु। भव्वयण चित्त तसु अवहरंतु ॥
किंवण्णमि संति जिणेसरस्सा। णं समवसरणु किउ भवहरस्स ॥
वरणयरि गिरिंदहु सिहरिमण्णि सुपइट्ठिय जिणपडिमउ अगण्णि
चाउद्दिसि चउविह संघ गोट्ठि। मेलिवि वि पउरमण जणिय तुट्ठी
दाणें संतोसिय वंदि विंदं। पंचगमतं रंजिय जरिंद ॥
जसु विच्छरियउ जिजयम्मिजासु। तुहु मोबुह किणउ मुणाहि तासु ॥
सो रज्ज कज्ज दीसइ समच्छ। विच्छारइ तुम्हहं विहिउ सच्छु ॥

४. पोमण वउदयमाणु। सिरिमूल संघ २ हं पहाणु ॥ वइयणकइत्त आयासणु।
छंदालकार विट्ठ सियगु। णिण्णासिउ जिं अंगहु अणगु ॥
दूरिज्झिउ जिं दोविहु जि संगु। सिस्साहं पयासिउ णिस सुयंगु ॥
आयरिउ अच्छि उवसमहुथत्ति। णामेण पयद्ध देविंदं कित्ति ॥
तस्सो व एस सजणिय बोह। पाखाड वंश संदिहिय सोह ॥
संघाहिउ लखमणु जाउ आसि। संचिय जे भावे पुण्ण रासि ॥
सइती सइ सवच्छरि पइट्ठ। काराविवि रजिय सयणइट्ठ ॥
घत्ता—तहु णदणु रोर णिकंदणु संघाहिउ अरगुणु सुजसु।
तासु जिपुणु भामिणि कुलगिहि समामिणि खेमा णामे कय हरिसा
तहु णदंणु दुहियण पयायबंधु। जिणवाणिय धम्मभर दिण्ण खंधु ॥
सिढिली कउ जिणिय यावबन्धु। आयण्णिउ णिरू सुत्तह पवंधु ॥
सुपयासिउ जिं णियजसु जयम्मि। अणुरत्तु णिच्च जो साहिय कम्मि ॥
णिय कुलकमलायर चन्दरोइ। संघहिउ जोगा पयडु लोइ ॥
तहुलहु बंध उ जिणदेव मत्तु। दिवपतिणा मे पोसिय सपत्तु ॥
तहु अच्छि सहोयरु लहुउ रामु। रामुव्व थयहु ण रूव कामु ॥
मण सुक्खयारि पुणु अच्छि अण्णु। मणसुखु णामे बहु लोय मण्णु
जुगराज हु भामिणि पणयलील। गुरुदेव भक्ति पयडण पवीण ॥
सीलाहरण हिं साहिय णियंग। जिह हरिहु लच्छि ईसरहुगग ॥
गुणसिरि णामेण गुणाण खाणि। सिसु पाउल गइ कलयन्ठि वाणि ॥ १।५।१-१०

५. संतिणाह०-१।५।१६

प्रयास करने पर इस समस्या का समाधान श्री घौपे नामक एक ग्राम के वि० स० १५०६ के मूर्ति लेख से हो जाता है, जिसमे भट्टारक जिनचन्द्र की गुरु-परम्रा अंकित है एवं उसके साथ ही महाराजाधिराज प्रतापचन्द्र देव का उल्लेख है।[६] इस उल्लेख से यह अनुमान किया जा सकता है कि सघाधिप जुगराज उक्त महाराजाधिराज प्रतापचन्द्र देव का राज्य मन्त्री रहा होगा। यह प्रतापचन्द्र चौहान वंशी नरेश था। उसने वि० सं० १४६६ से १५१२ तक चन्द्रवाड पट्टन पर शासन किया था। अणुत्रयरयणपईव[७] प्रभृति अपभ्रंश-ग्रन्थ प्रशस्तियो से यह विदित ही है कि वह जैन धर्म का परमश्रद्धालु नरेश था। एवं अपनी मन्त्री परिषद् मे वह जैनो को प्रमुख स्थान देता था।

रचना स्रोत

भगवान शान्तिनाथ आध्यात्मिक शान्ति के प्रतीक माने गये हैं अत उसी लक्ष्य को लेकर कवियो ने विविध समयो मे एवं विविध भाषाओ मे उनके चरित का वर्णन किया है। यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति मे सर्वप्रथम उनकी चर्चा की है किन्तु वह अति संक्षिप्त है और मात्र जन्म का स्थान, जन्म काल, शरीर की ऊंचाई एव आयु वर्णन तक ही सीमित है।[८] शान्तिनाथ के सागोपाग स्वतन्त्र चरित का वर्णन संस्कृत मे असग (१० वी सदी) अजित प्रभ (१३ वी सदी) माणिक्यचन्द्र (१३ वी सदी) सकलकीर्ति (१५ वी सदी) एव भूषण (वि० सं० १६५६) कृत उपलब्ध है। प्राकृत मे देवचन्द्र सूरि (वि० सं० ११६०) एवं मुनिभद्र (वि० सं० १३५३) द्वारा लिखे गये। किन्तु आश्चर्य है कि अपभ्रंश मे उक्त विषय पर रइधू के पूर्व कोई स्वतन्त्र रचना उपलब्ध नही है। रइधू ने यद्यपि अन्य पूर्व रचनाओ के साथ पुष्पदन्त एवं गुणभद्र के उत्तर पुराणो में वर्णित शान्तिनाथ चरित से प्रेरणा अवश्य ली है। किन्तु उसे अपनी भाव भूमि में एक नवीन अलंकृत रूप प्रदान करके अपभ्रंश-भाषा मे सर्व प्रथम एक बड़े भारी अभाव को पूरा किया है। इसके लिये अपभ्रंश साहित्य रइधू का चिर ऋणी रहेगा। वि० सं० १५८७ महिंदु नामक एक कवि ने भी रइधू के उक्त काव्य से प्रेरणा लेकर एक स्वतन्त्र 'संतिणाह पुराण' की रचना की है। जिसकी आद्य प्रशस्ति मे उसने रइधू का आदर के साथ स्मरण किया है।

वर्ण्य-विषय वर्गीकरण

रइधूकृत सतिणाह चरिउ के उपलब्ध अंश मे भगवान शातिनाथ के ज्ञान कल्याणक तक का वर्णन मिलता है जिससे विदित होता है कि इस ग्रंथ का परिणाम १०-११ सन्धियो तक का होना चाहिए। क्योकि ज्ञानकल्याणक के बाद समवशरण मे तत्त्व चर्चा मोक्षगमन एवं प्रशस्ति प्रभृति प्रकरणो का विस्तार २-३ सन्धियो तक होना सम्भव है। प्राप्त अंश का विषय-वर्गीकरण निम्न प्रकार है—

पहली सन्धि—राजा श्रेणिक का समवशरण मे जाना एव गणधर से शातिनाथ चरित सम्बन्धी प्रश्न करना।

दूसरी सन्धि—राजा श्री विजय का अभ्युदय वर्णन

तीसरी संधि—श्री विजय एवं अमिततेज के भवान्तर वर्णन

चौथी सधि—बलभद्र एव अनन्तवीर्य के अभ्युदयो का वर्णन

पाचवी संधि—राजा मेघरथ वर्णन

छठवी संधि—शातिनाथ के गर्भ एवं जन्म कल्याणको के वर्णन

६ दे० भट्टारक पृ० ९९

७ रइधू की रचनाओ का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ११२

८ तिलोयपण्णत्ति गाथा–७१०–९३३

सातवी संधि—शातिनाथ का राज्य भोग वर्णन

आठवी संधि—शातिनाथ के तप एवं ज्ञान कल्याणक वर्णन

कुछ मार्मिक वर्णन प्रसग

महाकवि रइधू ने प्रस्तुत काव्य मे कई मार्मिक स्थलो का संयोजन बडी ही कुशलता के साथ मर्मस्पशी शैली मे किया है। कवि ने एक स्थल पर राजा श्रीविजय के वन विहार के प्रसंग मे बताया है कि श्री विजय जब अपनी युवती-पत्नी तारा के साथ सुरम्य-वन मे केलिया कर रहा था तब अशनिवेग नामक एक विद्याधर तारा के मोहक-सौन्दर्य पर आकृष्ट हो गया और अपने विद्याबल से श्रीविजय को एक मायावी हिरण के पीछे भेजकर तथा अपने रूप को श्री विजय के समान बनाकर वह तारा का अपहरण कर उसे ले भागा। श्री विजय एव तारा को जब वास्तविकता का पता चला तब वे विरहावस्था मे घोर विलाप करने लगे। श्री विजय के विलाप का का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है कि वह तारा-तारा चिल्लाकर बार बार मूर्छित हो जाता है और उसके बिना अपना जीवन निस्सार समझने लगता है। जब वह चन्दन की चिता रचाकर एवं लकडियो के परस्पर घर्षण से चिता प्रज्वलित कर उसमे जल मरने की तैयारी करता है, तभी सयोग से दो विद्याधर वहा पहुचते है और तारा का पता बताकर उसकी रक्षा करते है।[8]

प्राचीन साहित्य मे नायक द्वारा नायिका के विरह के कारण चिता मे जल मरने की तैयारी के कईप्रसग प्राप्त होते हैं। अगडदत्त चरियं मे भी इसी प्रकार का एक प्रसग है कि नायिका मदनमंजरी को वन-विहार के समय जब सर्प काट लेता है और उसकी मृत्यु हो जाती है तब नायक अगडदत्त शोक विह्वल होकर उसी के साथ चिता मे जल मरने की जैसी ही तैयारी करता है वैसे ही वहा दो विद्याधर आते है और नायिका को मन्त्रबल से जीवित कर नायक की रक्षा करते है। वसुदेव हिन्डी मे भी इसी प्रकार का एक कथानक आता है। वस्तुत. नायिका की सर्पदंश द्वारा मृत्यु एव विरहीनायक की चिता मे जल मरने की तैयारी का प्रसंग लोक कथा का एक महत्वपूर्ण तत्त्व रहा है जिसका समावेश कथावस्तु को एक नया मोड देकर चमत्कृत करने के लिवे किया गया है। गुणभद्र ने भी उत्तर-पुराण मे इस प्रसंग को अंकित किया है। रइधू ने भी उसे आत्मसात कर लिया है।

रइधू का एक अन्य मनोरंजक प्रसंग वह है जिसमे उसने शातिकुमार को अप्रतिम सौन्दर्य से विह्वल नगर की युवतियो का मनोहारी स्वाभाविक चित्रण मदनावतार छन्द के माध्यम से किया है। युवक शान्तिकुमार अपने सखाओ के साथ नगर-परिभ्रमण-हेतु निकलते है। क्रीडा-विनोद एवं वार्तालाप करते हुए वे राजमार्ग मे जा रहे है। जब युवतिया उन्हे देखती हैं, तब उनकी विचित्र स्थिति हो जाती हैं। उन युवतिओ मे से कोई तो अपना कुंडल ग्रीवा मे धारण करने लगती है तो कोई अपनी करधनी चोटी मे गूंथने लगती हैं। कोई अपना नेत्राज्जन भालपट्ट पर लगाने लगती है तो कोई घी को ही पानी समझ कर उससे अपने पैर धोने लगती है। कोई दीर्घ नि.श्वास छोडने लगती है और कोई अपनी दूती से चिपट कर उससे शाति कुमार को अपने घर ले जाने का आग्रह करने लगती हैं तो अन्य कोई युवती अपने बच्चे के स्थान मे गाय के बछडे को ही गोद मे उठाने लगती है। युवक शान्तिकुमार के दर्शन हेतु युवतियो ने घर के सारे काम काज छोड कर दरवाजे को ही अपना एक मात्र बैठने का स्थान बना लिया था। कवि कहता है—

८. सति० ३।५

कवि जुवइ पहु रूविरत्तिय ।
जिगु जिगु भगाइ सदइय विरतिय ॥
उण्हमास कवि सुण्ह पमेल्लइ ।
ए ति जति घर दारूग मेल्लइ ॥
कवि दूई गीवहि लग्गति ।
मगाइ आगि जिगु सति तुरति ॥
कवि तियराय पिसाए भुत्ती ।
जायगहिल्ली वच्छहि चत्ती ॥
कवि कुंडलइसगीवहु सघइ ।
कवि कडि कडि मेहला वे गिहि ।
गायग सिंदूरू भालि कविज्जलु ।
करि घिए पयखालइ मण्णिवि जलुप ।
(७।२।१३-१८)

युवतियो की इस प्रकार की विह्वलता का वर्णन अपभ्रंश-साहित्य की अपनी ही विशेपता है । मुनि कनकामर [10] ने भी नगर परिभ्रमण के समय राजा करकड के मोहक-सौन्दर्य से आकृष्ट होकर विह्वल युवतियो का इसी प्रकार वर्णन किया है । वसुदेव हिण्डी एव उत्तराध्ययन सूत्र की सुख बोधा टीका मे भी वसुदेव भ्रमण के समय युवतियो की इसी प्रकार की विह्वलता जन्य विचित्र परिस्थितियो का वर्णन मिलता है । मेरा जहा तक अध्ययन है सस्कृत–साहित्य मे इस प्रकार की कल्पनाए उपलब्ध नही होती । अपभ्रंश–कवियो को इस प्रकार के चित्रणो की प्रेरणा निश्चय ही प्राकृत भाषा निबद्ध वसुदेव हिण्डी (६ वी सदी) से प्राप्त हुई प्रतीत होती है जो सर्वथा अद्‌भुत एव नवीनतम है ।

नीति एवं उपदेश परक तथ्य

कवि रइधू की यह विशेषता है कि वे वर्ण्य विषय के वर्णनो के बीच मे प्रसगवश उपदेश एव नीतिपरक तथ्यों को भी प्रस्तुत करते चलते हैं । इससे पावन-चरित की शिक्षाए मिलती है । वही दूसरी ओर वह व्यावहारिक ज्ञानार्जन भी कर लेता है । अशनिघोष विद्याधर जब तारा का अपहरण कर लेता है, तब श्री विजय आगन्तुक विद्याधर युगल से उसका पता जानकर अशनिघोष पर चढाई करने की तैयारी करता है किन्तु राज्य मन्त्री सर्वप्रथम एक दूत को अशनिघोष के पास भेजने की सलाह देता है । उसी प्रसग मे राज्य मन्त्री दूत से कहता है—

दूवि सारासारू मुणिज्जइ ।
वलहु पमागु तासु जाणिज्जइ ॥
सामु पढमु राया ममि उत्तउ ।
वीयउ मेउ कम्मु सुपउत्तउ ॥
तीयय अवसरि दागु विहिज्जइ ।
चउ थइ समइ दड्डु गिव किज्जर ॥
(३।६।११२-४)

कवि की दृष्टि मे आर्थिक दरिद्रता एवं ससुराल मे रह कर समय व्यतीत करना ये दोनो ही जीवन के सबसे बडे अभिशाप हैं । दरिद्रता के कारण व्यक्ति के सद्‌गुण भी दुर्गुण समझे जाते हैं तथा बुद्धिमत्ता एव चतुराई को मूर्खता के कोठे मे ढकेल दिया जाता है । सोमशर्मा नामक एक निमित्त ज्ञानी के प्रसग मे कवि ने उसका सुन्दर चित्रण किया है । सोमशर्मा की दरिद्रता से अत्यन्त रुष्ट एवं पीडित पत्नी उससे कहती है कि "जिस प्रकार जल के बिना मेघ मात्र गरजता ही है, बरसता नही उसी प्रकार दरिद्र के बचन भी सार्थक एव सुन्दर नही होते ।"

दरिद्रतावश सोमशर्मा जब अपनी ससुराल मे रहने लगता है और वहा वह निमित्त शास्त्र का

१० करकंड ३।२

अध्ययन करता है तब उसकी पत्नी पुन: उस पर तीखा व्यग्यं करती है और कहती है कि तेरी आखें क्यों धंसती जा रही है पोपियो के अक्षर बार बार क्या देख रहा है ? तू निश्चय ही अपने मामा (ससुराल) के यहा दरिद्रावस्था मे रहता हुआ और इसी प्रकार रट रट कर मर जायगा। कवि के शब्दो मे देखिये—

घसंतु काइं रे अच्छिवह। पोथक्खर किं पुणु पुणु पेच्छइ ॥
तुहुं पुणु एम रडंतु मरेसहि।
विणु दविणिए मामहु घरि णिवसहि ॥
२।६।१–२

इसी प्रसंग मे कवि द्रव्य के महत्व का वर्णन करता है। वह कहता है कि द्रव्य के होने से मूर्ख भी महापण्डित कहलाने लगता है। द्रव्यवान होने के कारण ही नंगा व्यक्ति भी मणि मण्डित समझा जाता है। द्रव्यवान कुरूप होने पर भी कामदेव के समान समझा जाता है। धनवान व्यक्ति कायर होने पर भी शूरवीर समझा जाता है। द्रव्य के कारण निर्गुणी भी गुणज्ञ माना जाता है तथा द्रव्य के अभाव मे व्यक्ति का कुल जाति, सौन्दर्य, कला विज्ञान एवं विद्याएं आदि सभी व्यर्थ हैं। द्रव्याभाव के कारण उन्हे अज्ञात वास भी करना पडता है। यथा—

दविणिए सहु का मुक्खु वि महपंडिउ।
दविणिहु णग्गु वि मणिमण्डिउ ॥
दविणिए सहु गयरूड वि सरणिहु।
दविणिए सहु गयकुलु पुणु कुलगिहु ॥
दविणिए सहु का उरिसु वि सूरिउ।
दविणिए सहु विगुणु वि गुण पूरिउ ॥
तिविणु रूउ कला विण्णाणइ।
वीरत्तणु कुल जाइ पट्टाणइ ॥
एदे सयलहु वलइ घल्ल हि।
विज्जागिरि विवरंतरि ठिल्लहिं ॥
जिह जल विणु घणु रित्तउ गज्जइ।
तिह विणु दविणिए वयगुण छज्जइ ॥
२।६।३–८

इसी प्रकार एक अन्य प्रसंग मे कवि सच्चे बन्धु की परिभाषा करता हुआ कहता है कि सच्चा बन्धु अर्थात मित्र वही है जो अपने बन्धु को कुमार्ग से हटा कर सुपथगामी बनाता है। जो सदा उसे दुर्गति से बचाता है तथा धर्मकार्यों की ओर प्रवृत कराता है। यथा—

सो बंधउ जो पायडइ धम्मु।
सो बंधउ जो दंसइ सकम्मु ॥
सो बधउ जो सामेइ मोहु।
सो बंधउ जो संजणइ बोहु ॥
सो बंधउ जो वसणावहारि।
सो बंधउ जो दुग्गइ णिवारि ॥
सो बंधउ जो जिणमग्गि णेइ।
सो बंधउ जो संजमु मणेइ ॥
४।११।१–४

भाषा

प्रस्तुत 'सतिणाह चरिउ' की भाषा अपभ्रंश है। इसमे कवि ने परिनिष्ठित अपभ्रंश का प्रयोग किया है किन्तु काल एव परिस्थिति विशेष से उसमे कई ऐसे शब्द भी प्रयुक्त हैं जिनका व्यवहार आज भी आधुनिक भारतीय भाषाओ विशेषतया रइधू के पाश्ववर्ती प्रदेशो-ब्रज, बुन्देली एवं बघेली मे होती है ऐसे शब्दो मे कुछ निम्न प्रकार है :— रित्तउ-रीता-खाली (२।६।८), जेठी-बडी ३।१६।१३), पठावहु-पठाना-भेजना (४।३।६) चक्की (४।४।१२), बीडा (७।५।१०) चमक्क (७।४।१२) फल-फूल (७।६।८) चप्पइ-चापना (८।१।१२)

छुट्टइ-छूटना (८।२।४) पलित्त-पलीता (मशाल, ३।१६।१३), धूलि (८।१८।१५) मलेवि-मलकर (६।१।६) घुन (६।१।१०), ठेल-ठेलना (२।६।७) थाल (२।६।१०) पखालि-पखारकर-धोकर (२।६।१०) आदि।

कवि रइधू ने प्रस्तुत रचना मे कही-कही ऐसी सरल भाषा का प्रयोग किया है कि उसका बडी सरलता के साथ हिन्दी पद्यानुवाद भी किया जा सकता है। जैसे कि एक नायिका अपने अकर्मण्य पति से रूठी हुई है और उस पर व्यग्यंवाण छोड रही है उन व्यग्य वाणो से विह्वल पति भोजन हेतु थाली धोधा कर रखता हुआ उसके मुख की ओर देखता है तब वह कहती है—

अज्जण घरि मोयणु छुह दुह मोयणु खाएसहि रे काइ मणु।

जं थालु पखालिवि ठिउ उमालिवि पेछहि खल कि मह वयणु ॥
२।६।६–१०

उसका हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार हो सकता है—

आज न घर मे भोजन क्षुह
दुख मोचन खायगा रे क्या बोल ?
जो थाल परवारा बैठा उन्मन,
देख रहा है खल क्यो मेरा वदन ?

लेकिन कही-कही कवि ने बडी ही अलकृत एवं समस्यात भाषा शैली का भी सयोजन किया है। उदाहरणार्थ कवि द्वारा वर्जित सिर पुर नगर का वर्णन देखिये—

इह पढमदीवम्मि जणजणिय हरिसम्मि।
सुरसिहरिदाहिणहिदिसि भरहवरि सम्मि ॥
णी सेससा सोह सपत्ति मुहयम्मि।
णिवसति पामरघणाणि उकण कण कम्मि ॥
जहि कुक्कुडु उड्डाणउद्दाम कय काम।
वइ चित्त मय चित्त सगामच्चु गाम ॥
कयसार घणसार साली हि तु होइ।
ण विहि विहाणेण गिरिराय संदोह ॥
जहि सुकइ कव्वुवसल क्खण महालोय।
सपियालस तिलयसहल दिसया मोहा ॥
जहि ससुय सासोय के लिह कुसुमाल।
रामामहाराम रइव सोमाल ॥
छिछी वस कुड्डिल मुणिरावस विसाल।
वहति जहिणइउ ससिद्ध बहुसास ॥
१।७।१–७

अलकार एव रस

सतिणाह चरिउ' काव्यकला की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि की रचना है। अलंकारो एव रसो का सयोजन उसमे बडी कुशलता के साथ किया गया है। अलकारो मे उपमा, उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति एवं विभावना प्रभृति अलकारो का बहुलता है। रसो मे प्राय. सभी रसो का समावेश है किन्तु शृगार, वीर, रौद्र एव शान्त रसो की प्रमुखता है। रौद्र रस का एक उदाहरण दृष्टव्य है। विद्याधर अशनिवेग के सम्मुख राजा श्रीविजय का दूत जाता है तथा वह उससे श्रीविजय की रानी तारा को वापिस कर देने का सन्देश देता है।[1] विद्याधर अशनिघोष दूत के वचन सुनकर तमतमा उठता है और आग-बबूला होकर अपने भटो को उसकी जीभ निकाल लेने का आदेश देता है। वह कहता है—"निकाल लो इस पापी की जीभ और चखादो इस अविवेकी को अविवेक का फल। यह दुष्ट मेरे दरबार मे जो भी मन मे आता है सो बोलता है—

एयहु पाविहु जीहा छेयहु।
देहु दुवयणह फलु अविवेयहु ॥
जं भावइ त चवइ सहतरि।...... ...... ॥
३।१०।८–६

अशनिघोष का मन्त्री भी अशनिघोष के कथन का समर्थन करता है कि राजन् ... "आपने ठीक ही कहा है, ऐसे दुष्ट दूत को अविवेक फल चखाने मे किसी भी प्रकार का राजनैतिक दोष नही लगता, क्योकि दूत वही है जो शंका उत्पन्न होने पर दोनो पक्षो का संयोजन करता हैं।" इस प्रकार मन्त्री ने श्रीविजय के दूत को अर्धचन्द्र देकर दरबार से निकलवा दिया यथा—

एयहु राय दोसु णउ लग्गइ।
दूवहु गुणु जोइ संकिउवग्गइ ।।
णिय सामियहु पक्खु थिरुथप्पइ।
अणहु असरिसवयण समप्पई ।।
अणु देव पइ विरूवउ जुंजिउ।
जंपरतिय राएं मणुरजिउ ।।
इय मणे विजिय पहु उपसामिउ।
दूवहु अद्धइंदु देवादिउ ।।
३।१०।१०–४

दरबार से दूत अथवा किसी अन्य व्यक्ति को निकालते समय गर्दन पर हाथ रखकर तथा धक्का देकर निकाल देने के लिए रइधू ने अर्धचन्द्र शब्द का सुन्दर प्रयोग किया है। प्रतीत होता है कि रइधू को यह शब्द महाकवि राजशेखर से उपलब्ध हुआ है। राजशेखर कृत कपूरमंजरी सट्टक मे विदूषक एवं विचक्षणा के वाक्कलह के प्रसंग मे विदूषक ने इसी शब्द का प्रयोग किया है। भोजपुरी मे इस प्रक्रिया अथवा भाव को व्यक्त करने के लिए गरदनिया शब्द का प्रयोग मिलता है। यह शब्द भी बडा सार्थक एवं भावपूर्ण है।

शान्तिकुमार का दिग्विजय हेतु प्रयाण

युवक शान्किुमार जब दिग्विजय हेतु सैन्य सज्जा के साथ प्रयाण करते हैं उस समय का कवि ने वडा ओजस्वी वर्णन किया है यथा —

ता णरयम्मि पवट्टिउ कलयलु।
सज्जहु सज्जहु अइरे महवुल ।।
वज्जिय तूरलक्ख अरि कंपिय।
किं किं किं अप्पूं पर जंपिय ।।
पल्लाणियइं तुरंगम कोडिउ।
अठारस तेवियलिय खोडिउ।
चउरासी लक्खइं गय सज्जियातेत्तिया
इं रह रणहिं अभज्जिय ।।
चउरासी कोडिउ पाइक्क।
जमदूवरण महिल्लक्कइ ।।
भड षण्णज्झिय मणि रह सुल्लिय।
मरण भरण कहवणो डोल्लिय ।।
इम मज्जि वि बलु जावहिणिमय।
तो कंपियइं असेसइं दिग्गय ।।
सासरुद्ध फणिवइ फणचूरिउ।
सेणपयमारें भुसु पूरिउ ।।
हणियणि साण चक्कि जा चल्लइ।
ता तियसेसहुं आसणु डोल्लइ ।।
७।४।३–१२

छन्द-योजना

प्रस्तुत रचना मे कवि ने विविध छन्द योजना की है। इन छन्दो को दो भागो मे बाटा जा सकता है। अपभ्रंश-छन्द एव संस्कृत-छन्द। कवि ने सस्कृत छन्दो का प्रयोग ग्रन्थ की कुछ सन्धियो के अन्त मे आश्रयदाता जुगराज को आशीर्वाद देने हेतु किया है इस प्रसग मे कवि ने मन्दाक्रान्ता, मलिनी एवं शिखरिणी छन्दो के प्रयोग किये है।

अपभ्रंश-छन्दो मे अलिल्लह, पादाकुलक, समानिका, मदनावतार, तुणक, भुंजप्रण्यात एवं घत्ता छन्दो के प्रयोग मिलते हैं।

सिद्धान्त एव आचार

सतिणाहचरिउ 'एक चरित काव्य है। अत सिद्धान्त एवं आचार वर्णन उसके प्रमुख विषय नही है, किन्तु प्रसगवश मुनिसमागम, समवशरण आगमन आदि प्रसगो पर कवि ने सिद्धान्त एव आचार वर्णन का पर्याप्त अवसर निकाल लिया है। कवि ने इन अवसरो पर सप्ततत्त्वो, नवपदार्थ, अष्टाग दर्शन द्वादशव्रत एवं द्वादशानु प्रेक्षाओ का सुन्दर एवं हृदयग्राहय विवेचन किया है। इस विवेचन मे कुन्दकुन्द स्वामिकार्त्तिकेय भी एवं पूज्यपाद का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

उक्त तथ्यो के आधार पर विचार करने से सतिणाहचरीउ एक महत्वपूर्ण रचना सिद्ध होती है। यह यथार्थ ही दुर्भाग्य की बात है कि वह अभी अपूर्ण रूप मे ही उपलब्ध हुई है। पूर्ण प्रति की उपलब्धि से मुझे ऐसा विश्वास है कि इसकी अन्त्य प्रशस्ति मे कई सामाजिक इतिहास की समस्याओ का हल निहित हैं। इसकी चित्रकला जैनचित्र कला का विशिष्ट अध्ययन तैयार करने में सक्षम सिद्ध होगा एव उससे नन्दिसघ की दिल्ली जयपुर शाखा की भट्टारक परम्परा पर भी नया आलोक पडेगा।



आत्मा

आत्मा ही सुख-दुखों की,
भोक्ता है और कर्त्ता।
पुण्य कर्मी आत्मा है मित्र जैसी,
और जो दुष्कर्म-रत, वह शत्रु॥

—अर्हत्

२४

दोहा छन्द और उसका महत्त्व

□ प्रेमचन्द रांवका, एम० ए०, शि० शास्त्री

दोहा जिसे राजस्थानी मे दूहा कहते हैं, सस्कृत 'के दोधक' शब्द से उत्पन्न माना जाता है। यह अपभ्रंश काल का सर्वाधिक लोकप्रिय छन्द है। यद्यपि यह छन्द गुजराती, ब्रज, राजस्थानी और हिन्दी आदि भाषाओ मे बहुतायत से मिलता है, तथापि अपभ्रंश की ज्येष्ठा पुत्री होने के कारण राजस्थानी मे इस दोहे छन्द का रुधिर शुद्ध रूप मे पाया जाता है। राजस्थानी मे इस दोहे को दूहो, दूहा और दोहरा आदि नामो से पुकारा जाता है।

दोहे शब्द की व्युत्पति के विषय मे विद्वानो मे एकमत नही है। कतिपय विद्वान इसे सस्कृत के दोधक या दोग्धक' से उत्पन्न मानते हैं। जबकि कुछ अन्य विद्वान् 'स्वयभू-छन्द' को इस का आधार वताते हैं। उनके अनुसार अपभ्रंश काव्य-शास्त्र मे इस छन्द को 'दुवहअ' कहा गया है जो द्विपदक' से द्विवथक-द्विवपथा-दुवहअ होता हुआ कालान्तर मे दोहा हो गया।

अपभ्रंश काल मे इस छन्द ने बहुत लोकप्रियता प्राप्त करली थी। जिस प्रकार प्राकृत-साहित्य मे गाहा या गाथा छन्द का अत्यधिक प्रयोग किया जाता था। ठीक उसी प्रकार अपभ्रंश काल मे दोहा प्रिय छन्द बन बैठा और कालान्तर मे भी इस छन्द ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार जैसे श्लोक सस्कृत का और गाथा प्राकृत की प्रतीक हो गयी, उसी प्रकार दोहा अपभ्रंश का'। डा० जेकोवी और आल्स डोर्फ का मत है कि दोहा अपभ्रंश गीति-काव्य का अति प्रचलित छन्द है और प्राकृत गाथा का अपभ्रंश प्रतिरूप है–इससे इसकी वास्तविक स्थिति समझी जा सकती है।

दोहे की प्राचीनता के सम्बन्ध मे भी विद्वानो मे मतभेद है। पुरातत्वविद् मुनि श्री जिन विजयजी दोहे की प्राचीनता तीसरी या चौथी शताब्दी तक मानते हैं परन्तु राजस्थानी भाषा और साहित्य के विद्वान प्रो० शम्भुसिह मनोहर का कहना है कि मुनिजी की मान्यता की पुष्टि मे कोई प्रमाण नही मिलता।[2] फिर भी इसमें कोई सन्देह नही कि 'दूहा या दोहा' अपभ्रंश साहित्य का लाडला छन्द है। इस आधार पर यह छन्द प्राचीनता की दृष्टि से ९–१० वी शताब्दी तक पहुंचता है। अपभ्रंश को 'दूहा-विद्या' कहा गया है। योगेन्द्र के परमात्म प्रकाश मे दोहो को ७वी शताब्दी का बताया गया है जबकि डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल . डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
२. ढोला मारू रा दूहा . प्रो० शम्भूसिह मनोहर

की मान्यता है कि दोहे नवीं दसवीं शताब्दी से पूर्व के नहीं हो सकते[3] वैसे प्रारम्भ मे दोहा अपभ्रंश का प्रतीक था। बौद्धो और जैनो के कई ग्रन्थ दोहा बद्ध अपभ्रंश काव्य रूप मे मिलते हैं जिस प्रकार गाथा को बहुत बाद साहित्यकारो का करावलम्ब मिला, उसी प्रकार दोहा को भी मिला होगा। गाथा प्राकृत भाषा की प्रकृति के अनुसार दीर्घान्त छन्द मे और दोहा अपभ्रंश भाषा की प्रकृति के अनुसार ह्रस्वान्त छन्द के रूप मे है। यह दोहा छन्द डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार ९-१० वी शताब्दी मे बहुत लोकप्रिय हो गया था। इस छन्द मे तुक मिलाये जाते थे। सस्कृत, प्राकृत मे तुक मिलाने की प्रथा नही थी। दोहा वह पहलाछन्द हैं जिसमे तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ और आगे चल कर एक भी ऐसी कविता नही लिखी गई जिसमे तुक मिलाने की प्रथा न हो। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा नवीन छन्द के साथ-साथ नवीन साहित्यिक कारीगरी होकर भी आविर्भूत हुई।

वस्तुतः भारतीय साहित्य मे दूहे या दोहे के दर्शन हमे ७वीं शताब्दी से होते है। सातवी आठवीं शताब्दी मे इसने शृंगार को, वीर को, धर्म को और नीति को लोकचित्त मे प्रवेश कराने का व्रत लिया। हेमचन्द्र के व्याकरण, प्रबन्ध चिन्तामणि, सन्देश रासक व ढोला-मारू के दोहो मे इस छन्द की भाव-वहन योग्यता अद्भुत रूप से प्रमाणित हो चुकी थी। ऐसे छन्द को तुलसी, कबीर, बिहारी व अन्य परवर्ती कवि कब छोडने वाले थे।

इस प्रसग मे राजस्थानी भाषा के प्रसिद्ध विद्वान नरोत्तमस्वामी का कथन भी उल्लेखनीय हैं—दूहा उत्तरकालीन अपभ्रंश का प्रभावशाली छन्द था। उस का प्रयोग समस्त देश के तत्कालीन साहित्य मे पाया जाता है। इस छन्द का सम्बन्ध आरम्भ मे लोक कविता से था—ऐसा जान पडता है, क्योकि पुराने अपभ्रंश साहित्य मे इसका प्रयोग नही मिलता। जनता मे प्रचार पाने के बाद इसमे साहित्य मे प्रवेश किया। लिखित साहित्य में इस छन्द का प्रयोग करने वाले सबसे प्रथम चौरासी सिद्धो के आदि सिद्ध सुरहया हुए। राजस्थान, गुजराती और हिन्दी मे अपभ्रंश को बपौती रूप से स्वीकार किया। इन तीनो भाषाओ में सबसे अधिक प्रयोग इसी छन्द का हुआ। इसके बाद १०वीं शताब्दी के अन्त में देवसेन सूरि ने सावय धम्म दोहा नामक छोटी सी पुस्तक इसी में लिखी। १२ वीं शताब्दी के अन्त मे हेमचन्द्र ने अपने सुप्रसिद्ध हेम 'शब्दानुशासन ग्रन्थ मे जो संस्कृत प्राकृत एव अपभ्रंश का व्याकरण ग्रन्थ है, अपभ्रंश के दूहो को उदाहरण के रूप मे उद्धृत किया। फिर कालान्तर मे तो इस छन्द का प्रयोग अधिकाधिक होने लगा।

जहा तक राजस्थानी दूहे की प्राचीनता का सम्बन्ध है—प्रो० शम्भूसिह मनोहर इनका आदिकाल ढोला मारूरा दूहा मे मानते हैं।[4] इससे पूर्व उपलब्ध दोहो को वे अपभ्रंश की छाया से पूर्णत आच्छन्न मानते हैं। वे राजस्थानी नहीं कहला सकते। अपनी मान्यता के प्रमाण-स्वरूप प्रो० मनोहर देवसेन कृत सावय धम्म दोहा का निम्न दोहा प्रस्तुत करते है

ढिल्लउ होहिं मं इंदियउ,
पचइ विण्णि णिवारि।
इक्क णिवारहि जीहडी, अण्ण पराई णारि॥

राजस्थानी दोहे चार प्रकार के मिलते है—

१। दूहो,
२। सोरठे,

---

३. हिन्दी साहित्य का आदिकाल डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
४. ढोलामारू रा दूहा, प्रो० शम्भूसिह मनो

३। बडो दूहो या अन्तभेमेल दूहो,

४। तूवेरी या मध्य मेल दूहो।

दूहा राजस्थानी साहित्य एव जनता का अत्यन्य प्रिय छन्द है। अब भी सैकडो दूहे राजस्थानी की जिह्वा पर मिलते है। मुक्तक काव्य धारा होते हुए भी ये दूहे प्रबन्ध कथा का सा आनन्द प्रदान करते हैं। मुक्तक दूहे नीति, उपदेश, भक्ति शृंगार व कहावतो के रूप मे प्रयुक्त हुए हैं। राजस्थानी के कहानीकार भावपूर्ण स्थलो पर दूहो का प्रयोग करते है।

राजस्थानी को दूहा छन्द अपभ्रंश से बपोती रूप मे मिला है। उत्तर अपभ्र श काल मे दूहा साधारण जनता एव विद्वत् समाज दोनो द्वारा समादृत था। राजस्थानी मे भी उसकी लोकप्रियता और उसका समादर ज्यो के त्यो कायम रहे। अपभ्रंश काल के बहुत से दूहे, जो लोगो मे सर्वप्रिय थे, निर्विघ्न रूप से आगे भी चलते रहे। समय के साथ उनकी भाषा का स्वरूप भी वदलता गया। ऐसे कुछ दोहे आज भी लोगो की जबान पर मिलेंगे। वहुत से विस्मृति के सागर में विलीन हो गये और कुछ थोडे से उत्साही व्यक्तियो द्वारा समय-समय पर लिपिबद्ध कर लिये जाने से सुरक्षित भी रह गये हैं। हेमचन्द्र की व्याकरण का निम्न दोहा और वर्तमान मे उसका परिवर्तित रूप यहा उल्लेनीय हैं—

वायसू उड्डावति अ म्में, पिउ दिठ्ढड
सहसन्ति।
अद्धा बलया महिहिगय, अद्धा फूट तडति
॥८।४।३५२।

पर आज यह दूहा निम्न रूप मे प्रचलित है :

काग उडावण घण खडी, आयो पीव सडक्क।
आधी चूडी काग गल, आधी गयी तडक्क ॥

ऐसे ही अन्य और दोहे जो हेमचन्द्र के है, प्रस्तुत किये जा सकते है। प्रबन्ध चिंतामणि मे अपभ्र श का निम्न दोहा :

जइ यहु रावणु जाइउ दह मुड्ड इक्क सरीरू।
जणणि वियमि चिंतवइ, कवणु पियावउ खीरू ॥

इसका राजस्थानी मे निम्न रूप हो गया—
राजा रावण जन मियो, दस मुख एक सरीरर
जननी नै सासो भयो, किण सम मुख घालूं
खीर ॥

व्यापकता की दृष्टि से दोहा छन्द अपनी सानी नही रखता। ऐसा कोई विषय नही, जिसमे इसकी गति न हो, सच तो यह है कि लोक-भाषा के काव्य रसिको ने ब्रह्मानन्द सरोदर को सर्व प्रथम दोहे मे ही सकलित किया। विविधता की दृष्टि से जैन साधुओ एवं जैन विद्वानो ने दोहे को बहुत अपनाया। जैन कवियो की रास-रचना मे भी दोहे को पर्याप्त बल प्रदान किया। प्राकृत की गाथा और अपभ्रंश दोहो पर जैन विद्वानो का अपना अधिकार हो गया था। दोहा साहित्य के उद्भव एवं विकास मे इन विद्वानो का योगदान अभिशसनीय एव स्मरणीय रहेगा। विषय की दृष्टि से भी दोहा छन्द साहित्य विजयी रहा। प्रतीको को अपनाने मे जितना समर्थ दोहा छन्द रहा है, उतना ही वह रूपक अलंकार के सौन्दर्य प्रदर्शन मे भी वली रहा है। १८वी शताब्दी के प्रसिद्ध जैन कवि दौलतराम का विवेक-विलास पूरा का पूरा दोहा छन्द बद्ध है। हिन्दी दोहा-साहित्य मे यह एक अनुपम कृत्ति हैं।

जो स्थान सस्कृत मे अनुष्टुप श्लोक तथा प्राकृत मे गाथा का है, वही स्थान वस्तुत उत्तर-कालीन अपभ्रंश (लोकभाषा), राजस्थानी, गुजराती तथा हिन्दी मे 'दूहे' का है। अल्पकाय होने से यह

सरलता से याद किया जा सकता है। यही इसकी लोकप्रियता होने का प्रमुख कारण है। किसी बात को सक्षेप मे एवं प्रभावी ढंग से कहने के खिए दूहा बहुत ही उपयुक्त छ द है। इसी कारण यह छंद अपभ्र श से लेकर अब तक के साहित्याकाश का भावाभिव्यक्ति एव कलात्मकता का उत्कृष्ट आदर्श है। मुक्तक एवं प्रबंध दोनो का वाहन स्वरूप यह दोहा छंद रहा है। अधिकाश लौकिक साहित्य की रचना इसी छद मे हुई। राजस्थानी जनता की सर्व प्रिय राग माड का माधुर्य और आकर्षण भी उसकें दूहो पर ही निर्भर है। एक विद्वान के शब्दो मे "इन छोटे से वृत्तो के बदौलत ही हमारी संस्कृति एव साहित्य कीर्ति का शेष प्रमाण है।



दर्शन-अध्याय

विश्व का हर तत्व प्रतिक्षण
जन्म लेता नष्ठ होता
नित्य भी रहता निरन्तर
शाश्वत है चिर सनातन
अणु-परमाणु बराबर भी इस निखिल
विश्व मे
देश-प्रदेश नहीं है कोई,
ऐसी कोई नही धरा है—
जहाँ न जन्मा जीत,
जहाँ पर नही मरा है।

—अर्हत

२५

अभयचंद्र नाम के गुरू

□ सत्यनारायण तिवारी

एक ही नाम के अनेक व्यक्ति सदा से होते आये है। इतिहास मे ऐसे व्यक्तियो का समीकरण या पहिचान एक कठिन काम होता है। इसके लिए कभी-कभी अत्यधिक सूक्ष्म और व्यापक अध्ययन की जरूरत पड़ती है। फिर भी यह काम इतना जरूरी है कि इसके विना इतिहास अधूरा रहेगा। इस लघु निबध मे मैंने ऐसा ही एक तुच्छ प्रयास किया है।[1] मैं अभयचन्द्र नाम के या उससे मिलते जुलते नाम वाले कुछ गुरुओ के तीस सदर्भ प्रस्तुत कर रहा हू । विश्वास है शोध जगत् के सदस्यो को यह कार्य उपयोगी सिद्ध होगा।

संदर्भ–

(१) प्रथम अभयचन्द्राचार्य प्रक्रिया-संग्रह के कर्त्ता हैं।[2] इनका समय ७३२ ई. (पूर्वावधि) है। प्रक्रिया-संग्रह पाणिनि की सिद्धात कौमुदी के ढग की प्रक्रिया-टीका है।[3]

(२) दूसरे अभयचन्द्र वे हैं जिनको नेमिचन्द्र जी ने द्विसधान काव्य की टीका मे अपना गुरु बतलाया है।[4] इन अभयचन्द्र का समय ईसा की ९ वी शताब्दी (पूर्वावधि) है।

(३) तोललु (मैसूर) लेख मे होयिसल राजा विनयादित्य द्वारा सन् १०६२ मे उत्तरायण सक्रमण के अवसर पर मूल संघ के पण्डित अभयचन्द्र को कुछ भूमिदान दिये जाने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय सन् १०६२ ई. है। अभयचन्द्र की पूर्व परम्परा मे गौतम स्वामी, भद्रबाहु स्वामी, पुष्पदत भट्टारक तथा मेघचन्द्र का उल्लेख किया गया है।[5]

---

१. इसके लिए मुझे प्रेरणा डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन के इसी तरह के निबधो से और निर्देश पं गोपीलाल 'अमर' से प्राप्त हुआ है। इन दोनो विद्वानो का हृदय से आभारी हू।

२. देखिए 'जैन साहित्य और इतिहास' लेखक पं नाथूराम 'प्रेमी', प्रकाशक–हेमचन्द्र मोदी हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगांव, बम्बई, पृ० १५५

३, प्रकाशित हो चुकी है।

४. देखिए 'प्रशस्ति सग्रह (आरा)', सपादक–के भुजवली शास्त्री, प्रकाशक–निर्मलकुमार जैन, मन्त्री जैन सिद्धान्त भवन आरा, पृ० १०१

५. देखिए 'जैन शिलालेख संग्रह (भाग ४), सं. डा. विद्याधर जोहरापुरकर; प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृ० ९६,

(४) अभयचन्द्र त्रैविद्यचक्रवर्ती को गोम्मट-सारवृत्ति के कर्त्ता के रूप मे उल्लिखित किया गया है।[६] इनका समय सन् १०७० के आसपास है।

(५) ये वे अभयचन्द्र हैं जिन्होने सिद्धात विषय मे सस्कृत भाषा की पचसग्रहवृत्ति की रचना की।[७] इनका समय सन् ११५१ के आसपास है।

(६) अभयचन्द्र सिद्धांतिदेव वे हैं जिन्हें मुरारिदेव के दान के प्रतिपालक वश मे उत्पन्न और चारु कीर्त्ति पण्डितदेव के गुरु के रूप मे उल्लिखित किया गया है। इनका समय १२०० ई. (उत्तरावधि) है।

(७) नित्तूर (गब्बि परगना) मे आदीश्वर बस्ती की उत्तरीय दीवाल मे एक पाषाण पर श्री मूलसघ, देशियगण, पुस्तकगच्छ और कोण्डकुन्दान्वय के अभयचन्द्रसिद्धातचक्रवर्ती को बालचन्द्र पडित देव के गुरु के रूप मे उल्लिखित किया गया है।[८] इनका समय लगभग १२०० ई (उत्तरावधि) है।

(८) अभयसूरि सैद्धातिक वे हैं जो श्रुतमुनि के शास्त्रगुरु थे और जिन्हें श्रुतमुनि के 'भावसग्रह' की प्रशस्ति मे शब्दागम, परमागम और तर्कागम के पूर्ण जानकार लिखा गया है।[१०] इनका समय सन् १२७३ ई है। इसी समय (१२७३ ई मे) श्रुतमुनि के अणुव्रत गुरु और गुरुभाई बालचन्द्र मुनि ने 'द्रव्यसग्रह' सूत्र एक टीका लिखी है।

(९) अभयचन्द्र सैद्धांतिक वे हैं जो श्रुतमुनि के दीक्षागुरु थे और जिन्हे श्रवण बेलगोल के शिलालेख न. ४१ और १०५ मे माघनन्दी का शिष्य लिखा गया है।[११] इनका समय ईसा की तेरहवी शताब्दी है।

---

६ देखिए 'प्रशस्ति सग्रह (आरा)', स के भुजबली शास्त्री, पृ० ६५

७. देखिए 'राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो की ग्रन्थ सूची (भाग ३)', स डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल एम ए, पं अनूपचन्द न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, प्रकाशक—केशरलाल बख्शी, मन्त्री—प्रबन्धकारिणी कमेटी श्री दि जैन अतिशय क्षेत्र महावीरजी जयपुर, पृ० ३६

८. (पश्चिम-मुख) स्वस्ति श्री मनु अभयचन्द्र-सिद्धाति देवरुगल शिष्यरु............ क्कन अदर मुरारिदेव दान प्रतिपालक वशोद्भवरु चारुकीर्त्ति पडित देवरू हिरिय महलिगेय पच बस्तिय-जीर्णोद्धार माडिदरू।
देखिए 'जैन शि स. (भाग ३), स पृ० ४३८ प स. विजयमूर्ति एम ए प्रकाशिक—श्री माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति।

९. देखिए 'जैन शि. स. (भाग ३), पृ० ४३९।

१०. सद्दागम परमागम तक्कागम-णिखसेसवेदी हू।
विजिद सयलण्ण वादी जयउ चिद अभयसूरि सिद्धन्ति ॥
देखिए 'प्रशस्ति सं (भाग १)', स. जुगलकिशोर मुख्तार, प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर दरियागज दिल्ली, प्रशस्ति १२८ अन्तिम भाग।

११ देखिए जैन शि स. (भाग ३)', पृ० ५१४, ५२४

(१०) सिद्धर वस्ती के उत्तर की ओर एक स्तभ पर सन् १३९८ का एक ६६ पद्यो का अभिलेख है जिसमे एक लंबी आचार्य परम्परा दी गई है। इस परम्परा मे वादिसिंह के शिष्य और श्रुतमुनि के गुरु के रूप मे अभयचन्द्रदेव का अनेक विशेषणो सहित २ श्लोको (३३-३४)[१२] मे उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय सन् १३९८ ई. है।

(११) शाकटायन व्याकरण के 'उपज्ञाते' सूत्र के टीकाकार श्री अभयचन्द्रसूरि हैं।[१३] ये वे ही अभयचन्द्र सिद्धात चक्रवर्ती मालूम होते हैं जो केशववर्णी के गुरु तथा गोम्मटसार की 'मंद-प्रबोधिका' टीका के कर्त्ता थे और 'लघीयस्त्रय' के टीकाकार भी ये ही जान पडते हैं। इन तीनो टीकाओ की मगलाचरण की शैली प्राय: एक है—प्रत्येक मे अपने गुरु के सिवाय मूलग्रथकर्त्ता तथा जिनेश्वर को भी नमस्कार किया गया है। इससे ये तीनों टीकाकार एक ही जान पडते हैं और मुनिचन्द्र के शिष्य मालूम होते है। ये अभवचन्द्र सूरि ईसा की १३वी–१४वीं शताब्दी के विद्वान मालूम होते हैं।

(१२) कत्ताले वस्ती के गर्भगृह के दक्षिण की ओर दो सुन्दर पूर्वमुख चतुस्तभ मण्डप बने हुए हैं। उनमे एक महानवमी मण्डप भी है जिसमे सन् १४१३ ई का १९ श्लोको मे अभिलेख है।[१४] इसमे माघनन्दी व्रती के शिष्य और वालचन्द्र के गुरु अभयचन्द्र (अभयशशी) का उल्लेख है। उपर्युक्त अभिलेख से इनका समय सन् १४१३ ई. (उत्तरावधि) प्रतीत होता है।

(१३) भारगी में कल्लेश्वर बस्ती के पाषाण पर सन् १४१५ ई मे अभयचन्द्र सिद्धात देवर का उल्लेख हुआ है।[१५] इनकी उत्तरावधि सन् १४१५ ई. है।

(१४) ये वे अभयचन्द्र सूरि हैं जो सस्कृत भाषा के 'पंचदडछभबन्ध' के रचयिता है।[१६] इसकी रचना सन् १४३३ ई. मे माघ सुदी १४ को की गई। अत इनका समय १४३३ है।

---

१२ तु गे तदीये घृत वादिसिंहे गुरुप्रवाहोन्नत वन्श गोत्रे।
अथोदितो मूल्लिजपादसेवा प्रमोदिलोको ऽ भयचन्द्रदेवः ।।३३।।
जयति जिततमोरिस्त्यक्त दोषानुषगः
पदमखिलकालाना पात्र मम्भोरुहायाः।
अनुगतजयपक्ष श्वत्तमिवानुकूल्य—
स्सतमभयचन्द्रस्सरस भारस्नदीप ।।३४।।
देखिए 'जैनशि सं. (भाग १)', स पं. हीरालाल जैन, प्रकाशिका श्री मणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला समिति, पृ० १०५

१३ देखिए 'जैन साहित्य और इतिहास', लेखक पं नाथूराम प्रेमी; प्रकाशक–हेमचन्द्र मोदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगाव बम्बई, पृ० २८०, २८१.

१४ देखिए जैन शि. स. (भाग १)', पृ० ३२

१५ देखिए 'जैन शि, स. (भाग ३), पृ० ४५१.

१६ देखिए 'राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो की ग्रन्थ सूची (भाग ३)', पृ० १२९१.

(१५) भारगी मे कल्लेश्वर बस्ती के दूसरे पाषाण पर देवचन्द्र मुनि के शिष्य के रूप मे अभयचन्द्र का उल्लेख है।[१७] इनका समय सन १४६६ ई० (उत्तरावधि) है।

(१६) ईस्वी सन १४६६ और १४६३ के मध्य लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य अभयचन्द्र (प्रथम) हुए जिन्होने एक स्वतन्त्र भट्टारक सस्था को जन्म दिया।[१८]

(१७) आचार्य ब्रह्मधर्मरूचि और ब्रह्मगुण-सागर के गुरू अभयचन्द्र भट्टारक थे।[१९] इनका समय सन १५०१ ई० है।

१८ श्री दि० जैन मन्दिर वडा तेरह पथियो [जयपुर] के शास्त्र-भण्डार के वेष्टन न० ३३७ मे जो प्रति न० १२ है उसके टीकाकार अभयचन्द्र सूरि है।[२०] इनका समय सन १५१६ ई० [उत्तरा-वधि है।

१६ जैन सिद्धान्त भवन आरा मे दशभक्त्यादि महाशास्त्र [२५३ ख) की एक पाण्डुलिपि हैं जिसके ५६ वें पत्र के पूर्व भाग मे किसी की कुछ कृत्तियो के उल्लेख के साथ अनेक आचार्यों के नाम दिये गये हैं। इनमे माघवचन्द्र और जयकीर्ति के मध्य (केशवार्य्य स्तुत्य) अभयचन्द्र का नाम भी है।[२१] इनका समय १५४१ ई० [उत्तरावधि) है।

२०. उपर्युक्त पाण्डुलिपि मे ही ११२ वें पत्र के पूर्व भाग से ११५ वें पत्र के पूर्व भाग तक किसी की कुछ कृत्तियो के उल्लेख के साथ अनेक आचार्यों के नाम दिये गये हैं। इनमे आशाधर और देवचन्द्र के मध्य अभयचन्द्र का नाम भी है जिन्हे सर्वोर्वि-वतिपूजिताघ्रियुगल लिखा गया है।[२२] इनका समय भी १५४१ ई० (उत्तरावधि] है।

२१ उपर्युक्त पाण्डुलिपि मे ही ११२ वे पत्र के पूर्व भाग से ११५वें पत्र के पूर्व भाग तक किसी की कुछ कृत्तियो के उल्लेख के साथ अनेक आचार्यों के नाम दिये गये हैं। इनमे धर्मशेखर और आदि नाथ के मध्य अभयचन्द्रसूरि [कल्याणनाथतनय, साल्वेन्द्र नृपास्थान प्रातिष्कृत महोदय] का नाम भी है।[२३] इनका समय भी १५४१ ई० (उत्तरा-वधि) है।

२२ लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य अभयचन्द्र की पर-म्परा मे कुमुन्दचन्द्र के शिष्य अभयचन्द्र हुए।[२४] इनका जन्म सम्वत १६४० मे 'हूवड' वश मे हुआ था। वचपन से ही बालक अभयचन्द्र साधु मण्डलियो मे बैठा करते थे। हेमजी कु वर जो सम्पन्न घराने के थे इनके भाई थे। युवावस्था के पहले ही इन्होंने पाचो महाव्रतो का पालन आरम्भ किया था। इसी के साथ इन्होंने सस्कृत, प्राकृत के ग्रन्थो का उच्चाध्ययन किया। न्यायशास्त्र मे पारगतता प्राप्त

---

१७ देखिए ,जैन शि सग्रह (भाग ३)', पृ० ४६२

१८ देखिए 'राजस्थान के जैन सन्त', ले डा कस्तूरचन्द कासलीवाल, प्रकाशक–गेंदीलाल शाह एडवोकेट, मन्त्री श्री दि. जैन अ क्षेत्र महावीर जी जयपुर, पृ० १४८

१६. देखिए 'जैन शिला सग्रह [भाग १]', पृ० १६१ मू

२०. देखिए 'राजस्थान के जैन शास्त्र भ. की ग्रन्थ सूची', पृ० ५०

२१. देखिए 'प्रशस्ति सग्रह [आरा]', पृ० १२४

२२ देखिए 'प्रशस्ति सग्रह [आरा]', पृ० १३४

२३ देखिए 'प्रशस्ति सग्रह [आरा]', पृ० १४८

२४ देखिए 'राजस्थान के जैन सात', पृ० १४८

की तथा अलकारशास्त्र एव नाटको का गहरा अध्ययन किया। अच्छे वक्ता तो ये प्रारम्भ से ही थे किन्तु विद्वत्ता होने से सोने–सुगन्ध का सा सुन्दर समन्वय हो गया।[२५]

२३. अभयचन्द्रगरिण ने प्राकृत भाषा की ऋणसम्बन्ध कथा की रचना की। इसकी प्रतिलिपि सन १६३५ मे की गई।[२६] अत इनका समय सन १६३५ ई० [उत्तरावधि) होना चाहिए।

२४. अभयचन्द्र सूरि वे हैं जिन्होंने कथा विषय की हिन्दी भाषा की विक्रम चौबोलीचौपाई की रचना की।[२७] इसकी रचना सन १६६७ ई० मे आषाढ बदी १० को की गई। अत इनका समय सन १६६७ ई० ज्ञात होता है।

२५. अभयचन्द्र हिन्दी भाषा की पार्श्वनाथ पूजा के रचियता हैं।[२८] इनका समय सन १७८० ई० [पूर्वावधि] है।

२६. अभयचन्द्र सस्कृत की क्षीरोदानी पूजा के रचियता हैं।[२९] इनका समय सन १७६१ ई० [उत्तरावधि] है।

२७ श्री दि० जैन मन्दिर बडा तेरहपंथियो (जयपुर) के शास्त्र भण्डार के वे० न० ३२७ मे जो प्रति नं ६ है। उसके टीकाकार अभयचन्द्रसूरि है।[३०]

२८. हिन्दी भाषा मे पूजाष्टक के रचियता श्री अभयचन्द्र है।[३१]

२९. कम्मनहल्लि [मैसूर] लेख मे मूलसघ देशीगरण के अभयचन्द्र आचार्य का उल्लेख है।[३२]

३०. तोललु (मैसूर] लेख मे उल्लिखित आचार्य अभयचन्द्र की शिष्या पद्मावती यक्का के द्वारा एक अधूरे जिनमन्दिर को पूर्ण करने का उल्लेख हुआ है।[३३]

उपसहार

मैं चाहता था कि इन सभी विद्वानों का यथा-सम्भव समीकरण भी करता किन्तु पर्याप्त साधनो के अभाव मे मुझे यह कार्य फिलहाल स्थगित करना पड रहा है। कोई विद्वान महोदय सम्पन्न करेंगे तो मुझे हार्दिक प्रसन्नता होगी।



---

२५. इनके विस्तृत परिचय के लिए देखिए डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल द्वारा लिखित 'राजस्थान के जैन सन्त मे 'मुनि अभयचन्द्र' नामक निबन्ध, पृ० १४८–१५२.
२६. देखिए 'राजस्थान के जैन शा. भ. की ग्रन्थ सूची [भाग ४]'; पृ० २१८.
२७. देखिए 'राजस्थान के जैन शा. भं की ग्र. सू. [भाग ४]', पृ० २४०.
२८. देखिए 'राजस्थान के जैन शा. भ. की ग्रन्थ सूची [भाग २]'; पृ० ६८.
२९. देखिए 'राजस्थान के जैन शास्त्र भं. की ग्रन्थ सूची [भाग २]'; पृ० ७९३.
३०. देखिए 'राजस्थान के जैस शा. भ की ग्रन्थ सूची [भाग २]', पृ० ४७
३१. देखिए 'राज. के जैन शा भं. की ग्रन्थ सूची (भाग ४]', पृ० ५१२
३२, देखिए जैन शि. संग्रह [भाग ४]'; पृ० ३५९
३३. देखिए 'जैन शि. सग्रह [भाग ४]'; पृ० ३६२

आयुर्वेद–जगत् को राजस्थान के जैन विद्वानों की देन

□ राजेन्द्रप्रकाश आ० भटनागर एम. ए., भिषगाचार्य आयुर्वेदाचार्य, एच पी. ए साहित्यरत्न

राजस्थान में जैन संस्कृति का प्रचार-प्रसार बहुत प्राचीनकाल मे ही हो चुका था। मौर्य-युग और उससे पूर्व यहा जैन सस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए है। अजमेर से सात मील दूरी पर स्थित वडली नामक ग्राम से एक स्तभ-खण्ड मिला है जिसे वहा के भैरोजी के मन्दिर का पुजारी तमाखू कूटने के काम मे लाया करता था। इस पर १३×१०½ इंच स्थान मे एक लेख खुदा हुआ है। इसकी लिपि अशोक से पूर्व कालीन मानी गई है। इस लेख से भगवान महावीर के ८४ वें वर्ष मे मध्यमिका मे कुछ निर्माण किये जाने का संकेत मिलता है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि महावीर निर्वाण से ८४ वर्ष पश्चात् (ई० पू० ४४३) मे दक्षिण-पूर्व राजस्थान की प्राचीन नगरी 'मध्यमिका' नगरी मे कोई मंडप या चैत्यालय बनवाया गया था।

जैन साधुओ और श्रमणो ने भारतीय ज्ञान, विज्ञान कला और शिक्षा को अपूर्व योगदान प्रदान किया है। इसमे कोई सदेह नही, कि राजस्थान की परम्परा मे शिक्षा और चिकित्सा के प्रधान केन्द्र जैन यतिमुनियो के 'उपाश्रय' ही थे। लगभग पच्चीस-पचास वर्ष पूर्व तक राजस्थान के सभी प्रमुख नगरो एव ग्रामो मे उपाश्रय विद्यमान थे, जहा जैन साधु न केवल धार्मिक उपदेश, अपितु ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओ पर शिक्षा और चिकित्सा कार्य द्वारा सामान्य जनसमाज को अनुप्राणित किया करते थे। नवीन शिक्षाप्रणाली और पाश्चात्य सस्कृति के प्रचार-प्रसार ने उस मौलिक और ठोस परम्परा पर कुठाराघात किया है। और आज अनेक 'उपासरे' बंद हो चुके हैं।

जैन आगम साहित्य के बारहवें अंग 'दृष्टि-वाद' के अंतर्गत 'प्राणावाय' संज्ञक 'पूर्व' मे आयुर्वेद और उसके आठ अंगो का समावेश होता है। अत जैन-आयुर्वेद को 'प्राणावाय' कहा जाता है। इसका मूल उपदेश भगवान् महावीर ने गौतम को दिया था। इसका एकमात्र प्रयोजन यही है कि शारीरिक क्षमता की वृद्धि और स्थिरता करते हुए आभ्यंतर साधना और सयम के तत्व की प्रकृष्टता के साथ मोक्ष पद प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय।

यही कारण रहा, कि जैन आचार्यो द्वारा अनेक वैद्यक ग्रंथो का प्रणयन होता रहा है। यहा उन सब कृतियो और उनके कर्त्ताओ का ऐतिहासिक मूल्याकन करने का अवकाश नही है, जो भारत के विभिन्न क्षेत्रों मे हुए, परन्तु यहा तो केवल राजस्थान के जैन आचार्यों की आयुर्वेद सेवा पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायेगा।

राजस्थान का उपलब्ध जैन–आयुर्वेद साहित्य अधिकाश मे मध्य युग मे रचा गया था। इसका प्रणयन मुख्यतया निम्न तीन स्तरो पर हुआ है–

प्रथम जैन यति–मुनियो द्वारा ऐच्छिक और परम्परा रूप से ग्रंथ–प्रणयन ।

द्वितीय, जैन-मुनियो द्वारा किसी राजा अथवा समाज के प्रतिष्ठित और धनी व्यक्ति की प्रेरणा से या आज्ञा से ग्रंथ-प्रणयन ।

तृतीय स्वतंत्र जैन विद्वानो और वैद्यो द्वारा ग्रंथ-प्रणयन ।

मै हस्तलिखित वैद्यक-ग्रंथो के अपने सर्वेक्षण मे इस निष्कर्ष पर पहुचा हूँ कि मध्ययुगीन अधिकाश वैद्यकसाहित्य राजस्थान और गुजरात मे निर्मित हुआ, उसमे भी सर्वाधिक योगदान जैनाचार्यो का रहा है। यह जैन–वैद्यक–साहित्य प्राय. देशीय भाषा–राजस्थानी, प्राचीन हिन्दी या गुजराती मे उपलब्ध है, परन्तु सस्कृत के ग्रथ भी अनेक हैं। इनमे उल्लेखित औषधिया और योग स्वानुभूत एवं प्रायोगिक प्रात्यक्षिक ज्ञान पर आधारित है। इनमे मद्य, मास और मधु का प्रयोग नहीवत् है। इनमे वानस्पतिक और खनिज द्रव्यो से निर्मित योग ही बताये गये हैं। वस्तुत जैन-सिद्धातानुसार इन आचार्यो ने वैद्यक-क्षेत्र मे भी अहिंसा-तत्व का दृढता से पालन किया है।

एक अन्य उल्लेखनीय तथ्य यह है कि जैन वैद्यक साहित्य मे प्राचीन चरक, सुश्रुत आदि से योगसग्रह, शार्ङ्गधर, भावप्रकाश, माधवनिदान आदि ग्रंथो का पद्य या गद्य मे भाषानुवाद, स्वतत्र रोग निदान व चिकित्सा के ग्रंथ और प्राचीन ग्रंथो पर टीका-व्याख्या-ग्रथ उपलब्ध होते हैं, परन्तु इनके अतिरिक्त 'आम्नाय ग्रथ' भी प्रचुर मात्रा मे मिलते है, जिनमे वैद्यो, गुरुओ और अन्य व्यक्तियो से प्राप्त तथा स्वय द्वारा अनुभव किये गये योग-प्रयोगो का आकलन किया गया है। ऐसे ग्रथ 'गुटको' के रूप मे जैन ग्रंथागारो मे भरे पड़े हैं। वास्तव मे ऐसे ग्रथो का प्रकाशन न केवल अनुभव-सिद्ध चिकित्सा प्रणाली को प्रस्तुत करने मे उपयोगी होगा, अपितु इससे राजस्थान के लोकायुर्वेद (लोक-जीवन मे व्याप्त घरेलू प्रयोगो व उनके उपयोग) के सबध मे सर्व–सुलभ जानकारी प्राप्त हो सकती है। ये प्रयोग ऐसे हैं, जिनके लिए औषधिया राजस्थान के हर ग्राम व नगर मे सुगमता से उपलब्ध हो जाती हैं। इस सदर्भ मे आयुर्वेद की यह सर्वमान्य सिद्धात व उक्ति चरितार्थ होती है–

"यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधिर्हितम्।" अर्थात् जो प्राणी जिस प्रदेश मे उत्पन्न हुआ है, उसके लिए उस प्रदेश-विशेष मे उत्पन्न औषधिया वनस्पतिया हितकर होती है। अस्तु।

सास्कृतिक दृष्टि से जैन विद्वानो व यति मुनियो ने चिकित्साकार्य और वैद्यक ग्रथ-प्रणयन द्वारा तथा अनेक उदारमना जैन श्रेष्ठियो ने धर्मार्थ चिकित्सालय, औषधालय, पुण्यशालाएं व आयुर्वेद महाविद्यालय स्थापित कर भारतीय समाज को सहयोग प्रदान किया है। निश्चित ही, यह देन महत्वपूर्ण कही जा सकती है।

अनेक जैन-आचार्य प्रसिद्ध चिकित्सक हुए है और अनेक जैन-आचार्यो द्वारा विरचित वैद्यकग्रथ भी उपलब्ध है। इनमे से कुछ काल-कवलित और कीट-ग्रास भी हो चुके हैं। जिन जैन आयुर्वेदज्ञो का परिचय और उनकी कृतिया प्राप्त हैं, उनका ऐतिहासिक मूल्याकन निम्न पक्तियो मे प्रस्तुत करेंगे।

आशाधर (१२४०ई.)—

जैन साहित्य मे यह अपने समय के दिगम्बर सम्प्रदाय के बहुश्रुत, प्रतिभासपन्न और महान् ग्रंथ-कर्त्ता के रूप मे प्रकट हुए हैं। धर्म और साहित्य के अतिरिक्त न्याय, व्याकरण, काव्य, अलकार,

योग, वैद्यक आदि अनेक विषयो पर इनका अधिकार था और इन विषयो पर इनका विशाल साहित्य भी मिलता है।

यह व्याघ्रेरवाल या बघेरवाल नामक वैश्य जाति के राजस्थान के निवासी थे। इनके पिता का नाम सल्लक्षण, माता का नाम रतनी, पत्नी का नाम सरस्वती और पुत्र का नाम छाहड था। आशाधर मूलत 'सपादलक्ष'[1] (नागौर जोधपुर के आसपास का प्रदेश, 'सवालख' के नाम से प्रसिद्ध) के राज्य के निवासी थे। यहा पहले चौहान राजाओ का राज्य था। जब साम्भर और अजमेर पर भी चौहानो का अधिकार हो गया तो उनके 'सपादलक्षीय' के उपनाम के कारण यह सारा प्रदेश 'सपादलक्ष' राज्य कहलाने लगा। इस प्रदेश मे 'मण्डलकर दुर्ग' (वर्तमान मे माडलगढ का किला) मे आशाधर रहते थे। माडलगढ पहले चौहानो के राज्य मे था। जब गजनी के शासक शाहबुद्दीन गौरी ने वि सं. १२४९ (ई. ११९२) मे पृथ्वीराज चौहान को परास्त कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया था, तो उसी वर्ष अजमेर के क्षेत्र पर उसने अपना सूबेदार नियुक्त किया इसलिए मुसलमानो के अत्याचार सपादलक्ष मे होने लगे। मुसलमानो के आक्रमणो से अपने चरित्र की रक्षा करने के लिए आशाधर अनेक परिवारो के साथ मालवा की राजधानी मे आकर बस गये। उस समय मालवा का शासक विंध्यवर्मा था। विंध्यवर्मा का पौत्र अर्जुनवर्मा हुआ। इसके राज्यकाल मे जैनधर्म के उदय के लिए धारानगरी को छोडकर नलकच्छपुर (नालछा) मे आकर रहने लगे। वहा विशाल जिनालय स्थापित कर आजीवन अध्ययन-अध्यापन करते रहे।[1A]

---

१. डॉ गौरीशकर हीराचंद ओझा, ओझानिबधसग्रह, १, पृ २०-२१

१A आशाधर ने अपने ग्र थो 'त्रिषष्टिस्मृति, जिनयज्ञकल्प आदि मे अपने स्थान व वंश के संबंध मे निम्न प्रशस्ति मे परिचय दिया है—

श्रीमानस्ति सपादलक्षविषय शाकम्भरीभूषण—
स्तत्र श्रीरतिधाम मण्डलकर नामास्ति दुर्गं महत।
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वया—
च्छ्रीसल्लक्षणतो जिनेन्द्र समय श्रद्धालुराशाधर ॥ १ ॥
सरस्वत्यामिवात्मान सरस्वत्यामजीजनद्।
य पुत्र छाहड गुण्यं रजिताजुंनभूपतिम् ॥ २ ॥
व्याघ्रेरवालवंश सरोज हस. काव्यामृत्तोघरसपानसुतृप्तगात्रः।
सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षुराशाधरो विजयता कवि कालिदास ॥ ३ ॥
'प्रज्ञापु जोऽसी' तिच योऽभिहितो मदनकीर्तियतिपतिना।
इत्युदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभिनदित. प्रीत्या ॥ ४ ॥
म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति—
त्रासाद विन्ध्यनरेन्द्र दो परिमलस्फूर्जत त्रिवर्गौजसि।
प्राप्तो मालवमडले वहु परीवार पुरीभावसन्
यो धारायपठाज्जिन प्रमितिवाक्शास्त्रे महावीरत ॥ ५ ॥
"म्लेच्छेशेन साहिबुद्दीनतुरुष्कराजेन" (कण्यकुमुदचद्रिका टीका)।

आशाधर के ग्रंथो मे लिखी हुई प्रशस्तियो के उनके सब ग्रंथ वि. स. १२६० से १३०० के बीच के लिखे हुए हैं। इनके २० से अधिक ग्रंथ मिलते हैं।

वैद्यकग्रन्थ—वाग्भट के प्रसिद्ध ग्रंथ 'अष्टाग-हृदय' पर आशाधर ने 'उद्योतिनी' या 'अष्टाग-हृदयोद्योतिनी' नामक टीका लिखी थी।[२] यह ग्रंथ अब अप्राप्य है। इसका उल्लेख हरिशास्त्री पराडकर[३] और पी. के. गौड[४] ने किया है। यह टीका बहुत विद्वत्ता पूर्ण थी। पीटर्सन ने इसकी किसी हस्तलिखित प्रति का उल्लेख नही किया है,[५] परन्तु यदि इसकी कही कोई प्रति मिल जाय तो अष्टागहृदय के व्याख्यासाहित्य मे उससे महत्वपूर्ण वृद्धि होगी।

हंसराज मनि (ई० १७ वी शताब्दी)—

यह खरतरगच्छ के वर्द्धमानसूरि के शिष्य थे। इनका काल सत्रहवी शती ज्ञात होता है।

इन्होंने नेमिचन्द्र कृत प्राकृत 'द्रव्यसग्रह' पर 'बालावबोध' लिखा था।

"द्रव्यसग्रह शास्त्रस्य बालबोधो यथामतिः।
हसराजेन मुनिना परोपकृतये कृत. ॥१॥"

इनकी अन्य रचना 'ज्ञानद्विपंचशिका-ज्ञान-बावनी' भी मिलती है। इसकी प्राप्त एक ह० लि० प्रति का लिपिकाल स० १७०९ है।

भिषक्चक्रचित्तोत्सव—

इसे 'हंसराजनिदानम्' भी कहते हैं। यह चिकित्सा विषयक ग्रन्थ है। ग्रन्थारम्भ मे "श्री पार्श्वनाथायनम' लिखकर सरस्वती प्रभृति और धन्वन्तरि की वन्दना है। लेखक ने लिखा है—

"भिषक्चक्रचित्तोत्सव जाड्यनाश करिष्याम्यह
बालबोधाय शास्त्रम्।
नमस्कृत्य धन्वन्तरिं वैद्यराज जगद्रोगविध्वसवं
स्वेन नाम्ना ॥५॥

तथा—

"देश बलं वय काल गुर्विणी गदमौषधम्।
वृद्धवैद्यमत ज्ञात्वा चिकित्सासारमेतत्ततः ॥१०॥'

ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है—

भिषक्चक्रचित्तोत्सव वैद्यशास्त्रे कृत हसराजेन
पद्यैर्मनोज्ञैः।
सुहृदै (हृद्यै) रदोषैरुरो ध्यान्तनाश हरेरंघ्रिसज्ञो-
विना नन्दमूर्तेः ॥१॥

यह ग्रन्थ हंसराजकृत भाषाटीका सहित वेंक-टेश्ववर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हो चुका है।

जिन समुद्रसूरि (१७-१८ वी शती)—

यह श्वेताम्बरी वेगड गच्छ शाखा के आचार्य थे। इनका जन्म श्रीमाल जातीय शाह हरराज की पत्नी लखमादेवी के गर्भ से हुआ था। इनका

---

२. आयुर्वेदविदामिष्ट व्यक्तु वाग्भटसहिताम्।
अष्टागहृदयोद्योत निबन्धमसृजच्च य. ॥" (आशाधर की ग्रंथप्रशस्ति में)
३. हरिशास्त्री पराडकर, अष्टागहृदय (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई), उपोद्घात, पृ. २९
४. पी. के. गोडे, अष्टांगहृदय, इंट्रोडक्शन, पृ. ६.
५. आफ्रेक्ट, केटेलॉगस केटेलोगोरम, भाग १, पृ. ३६.

जन्म स्थान और जन्म सम्वत अज्ञात है। सम्भवत, इनका जन्म बीकानेर, जोधपुर या जैसलमेर राज्य मे कही हुआ था और जन्मकाल सम्वत १६७० के आसपास अनुमान होता है। इनकी दीक्षा स० १६८२ मे हुई थी। इनके गुरु जिनचन्द्रसूरि थे और इनकी साधु-अवस्था का नाम महिमसमुद्र था जो इनकी अनेक रचनाओ मे पाया जाता है। इनको स० १७१३ मे जिनचन्द्रसूरि के स्वर्गवास के बाद वेगडगच्छ का आचार्य पद प्राप्त हुआ। स० १७४१ की कार्तिक सुदी १५ को वर्द्धमपुर मे इनका ७० वर्ष की आयु मे स्वर्गवास हुआ था।

जैसलमर के रावल अमरसिंह ने इनको मान-पटोली और उपाश्रय प्रदान किया था।

इनका विशाल साहित्य इनकी विद्वत्ता प्रतिभा और कवित्व शक्ति का अच्छा परिचायक है। इनका ग्रन्थनिर्माण काल सवत १६९७ से स० १७४० तक माना जाता है। इनके लगभग ३५ ग्रन्थो का पता चलता है जिनकी हस्तलिखित प्रतिलिपिया जैसलमेर के ग्रन्थभण्डारो मे मिलती हैं। जिनसमुद्र-सूरि के साधुसप्रदाय की मुख्य गद्दी जैसलमेर मे है और इनके शिष्य-प्रशिष्य इसी क्षेत्र मे विहार करते हैं। इनकी समस्त रचनाए राजस्थानी और अप-भ्र श भाषा मे मिलती हैं। इन्होने मरुभाषा मे लगभग १॥लाख पद्य लिखे थे। कुछ फारसी मे भी स्तवन मिलते है। वैद्यक पर इनका 'वैद्यचिन्ता-मणि' नामक ग्रन्थ मिलता है। इसका अन्य नाम 'वैद्यकसारोद्धार' और 'समुद्रसिद्धान्त' या 'समुद्र-प्रकाशसिद्धान्त' भी मिलते है। यह एक सग्रह ग्रन्थ है। इसमे रोगो के निदान और चिकित्सा का पद्य-बद्ध विवेचन किया गया है। इसमे सर्वप्रथम तीन प्रकार के देशो का वर्णन किया है।

ग्रन्थ परिचय देते हुए लेखक ने प्रारम्भ मे निम्न पद्य लिखे है—

"यति उपकार तणी रिदै, धरी आण चित चूप।
रची वैद्य के काज को, वैद्यक ग्रन्थ अनूप ॥६॥
वैद्य ग्रन्थ पहिला बहुत, हे पिण सस्कृत वाणि।
तातइ मुगध प्रवोधउ, भाषा ग्रन्थ वखाणि ॥७॥
वाग्भट सुश्रुत चरक, फुनि सारगधर आत्रेय।
योगशतक आदिक वली, वैद्यक ग्रन्थ अभेय ॥८॥
तिन सबिहु न को मथन करि, दधि तै ज्यु घृतसार
त्यो रचिहु सम शास्त्र तें, वैद्यकसारोद्धार ॥९॥
परिपाटी सबि वैद्य की, आमनाय सशुद्धि।
वैद्यचितामणि चौपई, रचहू शास्त्र की बुद्धि ॥१०॥
रोगनिदानचिकिच्छका, पद्य क्रियाविक त्तत।
नाम धारयो इन ग्रन्थ को, श्री समुद्रसिद्धात ॥११॥

ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है—

'इति श्री समुद्रप्रकाससिद्धान्ते विद्याविलास चतुष्पदिकाया वर्पा रि० समाप्तमिति।"

इसके बाद कण्ठरोग, तालुरोग आदि का वर्णन है।

महेन्द्र जैन—(स०१७०९)

इनके पिता का नाम कृष्ण वैद्य था। इनका "द्रव्यावली समुच्चय" नामक वैद्यक ग्रन्थ मिलता है। यह एक निघण्टु ग्रन्थ है।

जिसमे द्रव्यो का परिचय और गुणधर्म दिये हैं। यह धन्वन्तरि निघण्टु नामक ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है। इसकी रचना उदयपुर मे हुई थी।

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर मे इस ग्रन्थ की स० १७०९ की ह० प्र० वर्तमान है, अत ग्रन्थ का रचनाकाल इससे पूर्व का ही होना चाहिए।

जिनदासवैद्य (स० १७१५)

यह जयपुर के निवासी थे। जयपुर के पाटोदीजी के मन्दिर मे (गठरी न ६ न १ पत्र ५६ श्लोक ८४३) पर 'जिनदासवैद्य' का 'होलीरेणुकाचरित्र' नामक ग्रन्थ विद्यमान हैं। इसकी प्रशस्ति मे जिनदास वैद्य की विस्तृत कुल परम्परा दी हुई है। उसमे जिनदास के पूर्वज पं० हरपति, पद्म, ओह और बिभ की प्रशसा की गई है और बताया गया है कि उनको फिरोजशाह, गयासुद्दीन और नादिरशाह आदि द्वारा सम्मान प्राप्त हुआ था। बिभ के पुत्र धर्मदास भी अच्छे वैद्य थे।

मो० द० देसाई ने जिनदास का काल स० १७१६ के लगभग माना है। (द्र० जैन साहित्यनो इतिहास, पृ० ६६४)।

धर्मसी (धर्मवर्द्धन) (स० १७१७ से १७५०)

इनका वास्तविक नाम धर्मसिंह या धर्मवर्द्धन था। यह खरतर गच्छीय वाचक विजयहर्षजी के शिष्य थे। इन्हे राज्य सम्मान भी प्राप्त था। इनकी गुरु परम्परा इस प्रकार मिलती है—

खरतरगच्छीय जिनभद्रसूरि की शाखा मे—साधुकीर्ति—साधुसुन्दर— विमलकीर्ति—विजयहर्ष धर्मसी।

इनका भ्रमणक्षेत्र मारवाड और उत्तरी गुजरात रहा। यह मूलत. मारवाड के रहने वाले थे।

इनकी सस्कृत और राजस्थानी मे रचनाए मिलती हैं। इनका ग्रन्थ रचनाकाल स० १७१७ से १७५७ तक माना जाता है। (देखिये मो० द० देसाई, जैन साहित्यनो इतिहास, पृ० ६६४)।

धर्मसी का सस्कृत मे "श्रीभक्त्यामरस्रोत–समस्यारूप श्रीवीरजिनस्तवन" ग्रन्थ ४४ वसततिलकाओ मे मिलता है। यह ग्रन्थ स० १७३६ मे रचा गया था। राजस्थानी भाषा मे ये ग्रन्थ मिलते है—

अमरसेन वैरसेन चौपई, शनिश्चर विक्रम चौपई (राधनपुर मे),

सुर सुन्दरीनोरास (स० १७३६, श्रा० सु० १५ बेनातटपुर मे), दशार्णभद्र चौ० (१७५७ मेडता मे), २८ लब्धिस्तवन (स० १७२२ लूणकरणसर मे), १४ गुणस्थानस्तवन (स० १७२६ श्रा० वद ११ बाहठमेर मे), अढीद्वीपवीसविहरमानस्तवन (स० १७२६ जैसलमेर मे,) जैसमवरन विचार गर्भितस्त०, आलोपणस्त० (स० १७५४ फलोधी मे)। (इन ग्रन्थो के विवरण हेतु देखिए मो० द० देसाई, जैन-गुर्जर कविओ, भाग २, पृ० ३३९–३४६)।

वैद्यक पर इनकी एक ही रचना मिलती है—"डभक्रिया"। डभक्रिया का अर्थ है, अग्निदाहकर्म की प्रक्रिया। यह २१ पद्यो मे छोटी सी रचना है। इसका रचनाकाल संम्वत १७४० विजयादशमी दिया गया है।

"सतरसो चालीसे विजयदशमीदिने,
गच्छखरतरजगजीत सर्व विद्या जिनै।
विजयहर्ष विद्यमान शिष्य तिनके सही,
कवि धर्मसी उपगारे, डभक्रिया कही।२१।

लक्ष्मीवल्लभ (स० १७२०–१७५०)–

इनके जन्मस्थान, जन्मसम्वत, वश, माता-पिता और गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध मे विशेष परिचय नही मिलता और इनके ग्रन्थो मे भी कोई प्रशस्ति प्राप्त नही होती। इनका जन्म नाम हेमराज था। इनका जन्म सम्वत १६९० और १७०३ के बीच होना ज्ञात होता है। इन्होने स० १७०७ के लगभग दीक्षा ली थी। इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार

ज्ञात होती है—१४ वी शती मे खरतरगच्छ के अत्यन्त प्रभावशाली और प्रतिभा सम्पन्न जिनकुशल-सूरि आचार्य हुए। इनके शिष्य प्रशिष्य इस प्रकार हुए। जिनकुशलसूरि उपाध्याय विनयप्रभ–उपाध्याय विजयतिलक—वाचकक्षेमकीर्ति–उपाध्याय तपोरत्न वाचक भुवनकीर्ति —वाचक हर्षकु जर—वाचक लब्धिमण्डन—उपाध्याय लक्ष्मीकीर्ति — लक्ष्मी-वल्लभ। जिनराजसूरि या जिनरत्नसूरि आचार्य ने दीक्षित कर इनको लक्ष्मीकीर्ति का शिष्य बनाया था।

लक्ष्मीवल्लभ इनका दीक्षा नाम था। यह समवत बीकानेर क्षेत्र के निवासी थे। (देखिये—'रात्रिभोज चौपई' का अन्त)। यह अठारहवी शती के द्वितीय पाद मे मौजूद थे। इनकी अधिकाश रचनाएं वि० स० १७२० से १७५० के बीच मे लिखी गई थी।

इनकी वैद्यक पर दो कृतिया मिलती हैं काल-ज्ञान और मूत्रपरीक्षा।

कालज्ञान [कालग्यान]–यह शम्भुनाथकृत सस्कृत के 'कालज्ञानम्' का पद्यबद्ध भाषानुवाद है।

'भाषित शम्भुनाथ कौ, जानत कालग्यान।
जानै आउ छ मास थे, धुरतै वैद्यसुजान ।।२।।

इसका रचनाकाल भाद्रपद सु० १५ स० १७४१ है।

'चन्द्र[१] वेद[४] मुनि भू[१] प्रमित, सवत्सर नभ मास।
पूनिम दिन गुरवार युत, सिद्धयोग सविलास ।।७०।।

ग्रन्थमे कुल पाच समुद्देश [अध्ययन] और कुल १७८ पद्य है। लेखक ने वैद्यकविद्या की प्रशस्ति निम्न पद्य मे लिखी है—

'जग वैद्यक विद्या जिसी, नही न विद्या और।
फलदायक परतखि प्रगट, सब विद्या को मौर
।।१६६।।

अ तिम पुष्पिका को देखिए—

"इति कालग्याने भाषाप्रबन्धे उपाध्याय श्री लक्ष्मी वल्लभ विरचिते पचम समुद्देस ।।"

२ **मूत्रपरीक्षा**—यह लेखक की अतिसक्षिप्त कृति है। [पत्र १]। कुल पद्य ३७ मे बनायी गई है। प्राप्त हस्तलिखित प्रति का लेखनकाल स. १७५१ है। ('स. १७५१ वर्ष कार्तिक वदि ६ दिने बीकानेरमध्ये')। अत. इसका रचनाकाल इससे कुछ पूर्व का ही प्रमाणित होता है।

सम्भवत यह ग्रन्थ भी किसी सस्कृत का भाषा-नुवाद है। ग्रन्थ का अन्तिम पद्य देखिए—

"मूत्र परीक्षा यह कही, लच्छिवल्लभ कविराज।
भाषा बन्ध सु अति सुगम, बालबोध के काज
।।३७।।

विशेष—लक्ष्मीवल्लभ का काव्य कृत्तियो मे अन्य नाम 'राजकवि' भी मिलता है। यह १८ वी शताब्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार थे। इनका राज-स्थानी, हिन्दी और सस्कृत पर सामान्यरूप से अधिकार था। तीनो ही भाषाओ मे इनकी रच-

---

१. 'कालज्ञान' के प्रारम्भ मे लेखक ने गुरुपरम्परा का उल्लेख किया है—
"श्रीजिनकुशलसूरिस गुरू, भए खरतर प्रभु मुख्य। खेमकीर्ति वाचक भए, तासु परम्पर शिष्य ।।७१।।
ता साखा मे दीपते, भए अधिक परसिद्ध। श्रीलक्ष्मीकीर्ति तिहा, उपाध्याय बहु बुद्धि ।।७२।।
श्रीलक्ष्मीवल्लभ हुए, पाठक ताके शिष्य। कालज्ञान भाषा रच्यो, प्रगट अरथ परतक्ष ।।७३।।

नाए मिलती हैं। सीधी मे भी तीन सावन मिलते हैं। इनका साहित्य वहुत विशाल और विविध है, जो इनकी वहुमुखी प्रतिभा का परिचायक है। इनकी छोटी-वडी लगभग पचास से भी अधिक कृतिया मिलती है।

रामचन्द्र [वि. स. १७२०-१७५०]—

यह खरतगच्छीय यति थे। इनके गुरु का नाम पद्मरंगगणि था। पद्मण के गुरू पद्मकीर्ति हुए और पद्मकीर्ति के गुरू जिनसिंह सूरिराज हुए। जिनसिंह सूरि दिल्ली के वादशाह शाहसलेम (सलीमशाहसूर) के काल मे विद्यमान थे और अपने उपदेशो से वादशाह को उन्होने दयावान बना दिया था। उनको मुगल सम्राट अकवर और सलीम द्वारा भी सम्मान प्राप्त हुआ था। रामचन्द्रयति औरगजेव के शासनकाल मे मौजूद थे। अपनी गुरुशिष्य परम्परा को लेखक ने निम्न पक्तियो मे स्पष्ट किया है—

"युगवर श्री , जिनसिहजी खरतरगच्छ राजान।
शिष्य भए ताके भले, पदमकीर्ति परधान ॥
ताके शष्य वणारसी, पद्मरग गुणराज।
रामचन्द्र गुरूदेव को, नीकै प्रणयें आज ॥
[कवि विनोद, ग्रन्थारम्भ मे]।

वैद्यक और ज्योतिष पर इनका अच्छा अधिकार था। इनके पूर्व गुरू भी वैद्यक मे निष्णात थे। वैद्यक पर 'रामविनोद' और 'वैद्यविनोद 'नाडी-परीक्षा' 'मानपरिमाण' ग्रन्थ तथा ज्योतिष पर सामुद्रायिक भाषा नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इनके काव्य सम्वन्धी चार ग्रन्थ भी मिलते है— 'समेदशिखरस्तवन' [सं १७५०] 'वीकानेर आदिनाथस्तवन' [स १७३०], 'दश पच्चक्खाण स्तवच' [सं. १७२१], 'मूलदेव चौपाई [सं. १७११]। ये सव ग्रन्थ राजस्थानी हिन्दी मे और पद्यमय हैं। कुछ फुटकर भक्तिपरक पद्य भी मिलते है।

यद्यपि इनके ग्रन्थो मे इनके निवासस्थान का कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता, तथापि इनके ग्रन्थो की उपलब्धि विशेषरूप से राजस्थान मे होने से तथा भाषा राजस्थानी होने से इनका राजस्थानी होना स्पष्ट होता है। सम्भवत यह बीकानेर क्षेत्र के निवासी थे।

१. रामविनोद—[वि. स. १७२०]–यह चिकित्साविषयक ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल मिगसर सुदी १३, बुधवार स १७२० है। यह कृति सक्कीनगर [सिन्ध प्रात] मे बनायी गई थी।

२. वैद्य विनोद—इस ग्रन्थ की रचना-समाप्ति स १७२६ वसन्त ऋतु वैशाख पूर्णिमा को हुई थी। उस समय औरंगजेव का शासनकाल था।

'रस[६] दृग[२] सागर[७] शशि[१] भयौ,
रित वसन्त वैसाख।
पूर्णिमा शुभ तिथि भली,
ग्रन्थ समाप्ति इह भाख ॥
साहिन साहिपति राजतौ, औरगजेव नरिद।
तास राज मे ए रच्यौ, भलोग्रन्थ सुखकन्द ॥
[ग्रन्थात ६१-७०]

यह ग्रन्थ मरोटकोट [वीकानेर राज्य] मे रचा गया था।

'मरोटकोट शुभ थान है, वशै लोक सुखकार।
ए रचना तिहा किन रची, सवही कु हितकर ॥"
(७२)

'वैद्यविनोद' की रचना से पूर्व रामचन्द्र ने 'रामविनोद' नामक वैद्यक ग्रन्थ वनाया था।

'पहिली कीनौ रामविनोद,
व्याधिनिकदनकरण प्रमोद ।
वैद्यविनोद इह दूजा कीया,
सज्जन देखि खुसी होई रहीया ।।

यह ग्रन्थ शार्ङ्गधरसहिता का पद्यमय भाषानुवाद है। इसमे कुल २५२५ पद्य हैं। यह ग्रन्थ तीन खण्डो मे विभक्त है, उनकी पद्य सख्या क्रमश ४५६,१२९२,७७७ कुल २५२५ है। सामान्य जनता के सुखबोध के लिए लेखक ने इसकी रचना की थी-जैसा कि ग्रन्थारभ मे लिखा है—

"सारगधर अति कठिन है, बाल न पावै भेद ।
ता कारण भाषा कहू , उपजै ज्ञान उमेद ।।५।।
पहिली गुरुमुख साभली, भावभेद परिज्ञान ।
ता पाछै भाषा करी, मेटन सकल अज्ञान ।।६।।
+ + +
विविध चिकित्सा रोग की,
करी सुगम हित आणि ।
वैद्यविनोद इण नाम धरि,
या मैं कीयौ बखाण ।।१०।।

३ नाडीपरीक्षा और ४. मानपरिमाण—रामचन्द्रयति की ये दोनो लघुकृतिया पृथक् से भी मिलती है। किन्तु रामविनोद की किसी–किसी प्रति मे मानपरिमाण के पद्य उसी मे सम्मिलित मिलते हैं। अत ये दोनो रचनाए स्वतन्त्र न होकर 'रामविनोद' के ही अ श या पृथक्–पृथक् अध्याय हैं।

नाडीपरीक्षा मे कुल ४५ पद्य है। अ तिम पद्य इस प्रकार है—
"सौम्य दृष्टि स प्रसन्न सदाई भालीयै,
प्रकृति चित्त इहु दुख सहू ही टालीयै ।
शीघ्र शाति होइ रोग सदा सुख सदही,
नाडीपरीक्षा एह कही रामचन्द ही ।।"

मानपरिमाण मे केवल १३ पद्य है।

५ सामुद्रिकभाषा—यह स १७२२ माघ कृष्ण ६ की रचना है। इसमे कुल २११ पद्य हैं। इसमे राजस्थानी भाषा मे सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार स्त्री और पुरुष के लक्षणो का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ मे दो प्रकाश है–प्रथम प्रकाश मे ११७ पद्यो मे नर लक्षण और द्वितीय प्रकाश मे ९४ पद्यो मे नारी लक्षण बताये गये हैं। यह ग्रन्थ मेहरा नामक स्थान पर रचा गया था।

मुनिमान या मान मुनि (सं १७४५)—

यह खरतरगच्छीय भट्टारक जिनचन्द के शिष्य वाचक सुमतिसुमेर के शिष्य थे। यह बीकानेर के रहने वाले थे। निम्न पद्यो मे इन्होने अपना परिचय लिखा है—
"भट्टारक जिनचद गुरू, सब गच्छ के सिरदार ।
खरतरगच्छ महिमानिलो, सब जन कौ सुखकार ।।११।।
जाको गच्छवासी प्रगट, वाचक सुमतिसुमेर ।
ताको शिष्य मुनिमानजी, वासी बीकानेर ।।१२।।
(कविविनोद)

इसकी अन्य रचना 'कविप्रमोद' मे इन्होने अपने को सुमतिसुमेर के भ्राता विनयमेरू का शिष्य लिखा है—

"इति श्री खरतरगच्छीय वाचक श्री सुमतिसुमेरूगणित दाम्तृपाठक–श्री विनैमेरूगणिशिष्य मानजी विरचिते भाषा कवि प्रमोद रसग्रन्थे पचकर्मस्नेह वृन्तादि ज्वरचिकित्सा कवित्त बध चौपई दोधक वर्णनो नाम नवमोद्दे स ।।९।।"
[कविप्रमोद]।

राजस्थानी साहित्य मे 'मान' नाम के अनेक व्यक्तियो का परिचय मिलता है। किन्तु इनसे भिन्न

आयुर्वेदज्ञ मान मुनि थे। इनके नाम के साथ कवि और 'मुनि' विशेषणो का व्यवहार हुआ है।

श्री अगरचन्द नाहटा ने प्रसिद्ध शृंगारग्रंथ 'संयोगद्वात्रिंशका'[1] जिसे अमरचन्द मुनि के अनुरोध पर स. १७३१ मे लिखा था, के कर्त्ता को मानमुनि माना है किन्तु जो भाषाविषयक प्रौढत्व 'संयोगद्वात्रिंशका' मे है, वैसा आयुर्वेद विषयक रचनाओ मे देखने को नही मिलता।

वैद्यक पर इनकी दो रचनाएं प्रसिद्ध हैं—कविविनोद और कवि प्रमोद। इनकी अन्य रचना 'वैद्यकसारसग्रह' भी बतायी जाती है। नागरणी प्रचारिणी सभा के १४ वे खोजविवरण पृष्ठ ६१७ पर इस कृत्ति का उल्लेख है तथा १५ वे खोजविवरण के पृ. ४७ पर लिखा है—"इसी विषय का दूसरा ग्रन्थ 'वैद्यकसारसग्रह' और मिला है, जो इन्ही का रचा जान पडता है।

१. कवि विनोद—यह ग्रन्थ रोगो के निदान और औषधि के सम्बन्ध मे लिखा गया है। इसमे दो खंड हैं। प्रथम मे कल्पनाएं हैं तथा दूसरे मे चिकित्सा दी गई है—

"गुरू प्रसाद भाषा करू, समझ सकै सब कोई।
औषद रोग निदान कछु, कवि विनोद यह होई
॥५॥"

यह राजस्थानी भाषा मे पद्यमय रचना है। इसकी रचना लाहौर मे ("कीयो ग्रन्थ लाहोर मइ") स० १७४५ मे की गयी थी—

"सवत सतरहसइ समई, पैताले वैशाख।
शुक्ल पक्ष पंचम दिनइ, सोमवार यह भाख ॥६॥
और ग्रन्थ सब मथन करि, भाषा कहौ बखान।
काढा औषधि, चूर्ण, गुटी, करै प्रगट मतिमान ॥१०॥

२ कवि प्रमोद—यह मुनिमान का दूसरा वैद्यक ग्रन्थ है। यह बहुत बडी कृत्ति है। (कुल पद्य संख्या २६४४)। इसमे नौ उद्देश (अध्याय) हैं।

इस ग्रन्थ का रचनाकाल स० १७४६ है—
"सवत सतर छयालशुभ, कातिक सुदि तिथि दोज।
कविप्रमोद रस नाम यह, सर्व ग्रथनि कौ खोज
॥१२॥"

यह स्वय कवि द्वारा इसी नाम से सस्कृत मे प्रणीत ग्रन्थ का पद्यमय भाषानुवाद है—

"सस्कृत वानी कविनि की, मूढ न समझै कोई।
तातै भाषा सुगमकरि, रसना सुललित होइ ॥१३॥"

यह एक सग्रह ग्रन्थ है। वाग्भट, सुश्रुत, चरक, आत्रेय, खरनाद, भेड के ग्रन्थो का सार लेकर

१. इस ग्रंथ के अंत मे लिखा है—
"संवत चंद[1] समुद्र[7] सिवाक्ष[3] शशी[1] युन वर्ष विचारई तिसी।
चैत सिता तसु छट्टि गिरापति मांन रचियु संयोगवत्तीसी ॥ ३२ ॥
अमरचंद मुनि आग्रहै समर हुइ सरसति।
संयम बत्तीसी रची आछी आंनि उकति ॥ ४२ ॥
—इति श्रीमान् मानमुनिना विरचितायां चतुर्थोन्माद संवत् १७६३ वर्षे मति द्वितीय आसाढ सुदि २ दिने वारे शनिस्यरे (वि. ध.)।

इसका प्रणयन किया गया था। यह कवित और दोहो मे बनाया गया है।

जोगीदास (स० १६६२)—

यह बीकानेर के निवासी थे तथा बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह और सुजानसिंह द्वारा राज्याश्रित व सम्मानित श्वेतांबर जैन जोसीराय मथेन के पुत्र थे। जोसीराय को सुजानसिंह के शासनकाल मे वर्षासन, सामखादान और शिरोपाव देकर सम्मानित किया गया था। स्वय जोगीदास का अन्य नाम 'दासकवि' भी मिलता है।

"जिनकै नामै ग्रन्थ यहु, कर्‌यो दास कवि जान।
राजकुवर की रीझ को, अव कवि करै वखान ॥८०॥"

लेखक ने अपना परिचय इम प्रकार दिया है—

वीकानेरववासी विसद, धर्मकथा जिह धाम।
श्वेताम्बर लेखक सरस, जोसी जिनको नाम ॥७२॥
अधिपति भूप अनूप जिहि, तिनसौं करि सुभ भाय।
दीय दुसालौ कवि करै, कह्यौ जुजोसीराय ॥७३॥
जिनि वह जोसीराय सुत, जानहु जोगीदास।
संस्कृत भाषा भनि सुनत, भौ भारती प्रकाश ॥७४॥"

(वैद्यकसा, ग्रन्थात मे)

वैद्यकसार—इसकी रचना जोगीदास (दास कवि) ने बीकानेर के महाराजा जोरावसिंह की आज्ञा से सम्वत १७६२ मे बीकानेर मे की थी।

'जन महाराज सुजान कै. जौरो कुंवर सुजान।
कलि मे दाता कर्ण सो सूरज तेज समान ॥७६॥
जिनकै नामै ग्रन्थ यहु कर्‌यो दासकवि जान।
राजकुवर की रीझ को, अब कवि करै बखान ॥८०॥

अन्त मे,

"नयन[2] खण्ड[6] सागर[7] अवनि[1], उजल आश्विन मास।
दसम द्यौस कवि दास कहि, पूरन भयो प्रकाश ॥"

अत कवि ने जोरावरसिंह के नाम से यह ग्रन्थ रचा था—

"इति श्रीमन्महाराज कुवर जोरावरसिंह-चिताया वैद्यकसारे। सप्तमो अध्याय ॥७॥ शुभ भवतु।" (अन्तिम पुष्पिका)।

'तिन महाराज कुवर की, उपज लखी कविराय।
अपने मन उछाह सौं, भाषा करि बनाय ॥'

समरथ (स० १७५५)—

यह श्वेतांबर खरतरगच्छ के सागरचन्द्रसूरि की परम्परा के मणिरत्न के शिष्य थे। दीक्षितावस्था क्षेत्र के निवासी थे।

इनके अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। केशवदास की व्रजभाषा मे रचित 'रसिकप्रिया' पर सस्कृत मे टीका' (स० १७५५), 'बावनीगाथा', 'मल्लिनाथ पचकल्याणकस्तवन' आदि। वैद्यक पर 'रसमजरी भाषा टीका' मिलती है।

रसमंजरी भाषाटीका यह ब्राह्मण वैद्यनाथ के पुत्र शालिनाथ द्वारा प्रणीत संस्कृत के 'रसमंजरी' ग्रंथ की पद्यमय भाषाटीका है। सुगम और सरल करने के लिए श्वेताम्बरी समरथ ने इसका यह अनुवाद किया था।

"किये शालिनाथ रसमंजरी, संस्कृत भाषा माहि।
समझि न सकति मूढ की, व्याकुल होत है आहि ॥८॥

तातै भाषा करत है, श्वेताबर समरथ ।
सुगम अरथ सरलता, मूरख जन के अरथ ।।६।।

ग्रन्थ के अन्त मे समरथ ने अपने गुरु का नाम मतिरत्न लिखा है—

"श्रीमतिरतन गुरु परसाद, भाषा सरस करी अति साद ।"

इस ग्रन्थ का रचनाकाल स० १७६४ है—

"सवत सतरेसय चौसठि समै, १७६७ (?)
फागुन मास सब जन कौ रमै ।
पाचमि तिथि अरु आदित्यवर, रच्यौ ग्रन्थ दरै मभारि ।।"

ग्रन्थ का प्रणयन देरा नामक स्थान पर किया गया था ।

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे उमासहित शंकर की वन्दना की गई है । यह रसविद्या सम्बन्धी ग्रन्थ है ।

"रसविद्या मे निपुण जु होइ, जस कीरति पाये बहु लोइ ।
जहा तहा सुख पावै सही, सो रसविद्या प्रगटावै सही ।।४४।।"

इस ग्रन्थ मे कुल १० अध्याय है जिनके नाम और उनकी पद्य सख्या इस प्रकार हैं—

१.	रसशोधन कथन	प्रथमोऽध्याय·	पद्य ३७
२.	रसजारणमारणादि कथन	द्वितीयऽध्याय.	,, ६८
३.	उपरसशोधनमारणसत्वनिपातमाणिक्य सोधन मारणकथन	तृतीयोऽध्याय	,, १०
४.	विपलक्षण, विषसेवन, विषपरिहार कथन	चतुर्थोऽध्याय	,, ३२
५.	स्वर्णादि धातुशोधनमारण कथन	पचमोऽध्याय	,, ८४
६.	रसमारण कथन	षष्ठोऽध्याय·	,, २६४
७.	वीर्यरोधनाधिकार	सप्तमोऽध्याय	,, २२
८.	? नाम	अध्याय	(अप्राप्य)
९.	मिश्रकाध्याय	नवम·	पद्य ७६
१०	छायापुरुप लक्षणकथन	दशमोऽध्याय	,, ४४

विनयमेरुगणि (१८ वी शती)—

यह खरतरगच्छीय जिनचन्द की परम्परा मे वाचक सुमतिसुमेरु के भ्रातृ-पाठक थे । इनका काल वि० १८ वी शती प्रमाणित होता है । इनके शिष्य मुनिमानजी के राजस्थानी भाषा मे लिखे हुए कई वैद्यकग्रन्थ (कविप्रमोद, कविविनोद आदि) मिलते हैं (जिनका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है) । ये बीकानेर क्षेत्र के निवासी थे ।

इनका एक वैद्यक ग्रन्थ "विद्वन्मुखमण्डनसार-सग्रह" मिलता है । यह योगसंग्रह है । ग्रन्थ की प्रति अपूर्ण रूप मे प्राप्त हुई है । जिसमे मस्तकरोगाधिकार तक ही रोगो की चिकित्सा दी गई है । रोगो की चिकित्सा इसका प्रतिपाद्य विषय है । यह ग्रन्थ सस्कृत मे है ।

रामलाल महोपाध्याय (१८ वी शती)—

यह बीकानेर के निवासी तवा धर्मशील के शिष्य थे। ग्रन्थारभ मे जिनदत्तसूरि के नाम स्मरण किये हैं।

इनका एक वैद्यक ग्रन्थ 'रामनिदानम्' मिलता है। इस ग्रथ का अन्य नाम 'रामऋद्धिसार' है। इस ग्रन्थ मे सक्षिप्त रूप से सब रोगो के निदान का वर्णन किया गया है। इसमे कुल श्लोक सख्या ७१२ है। ग्रन्थ सस्कृत मे है।

ग्रन्थ का प्रारभ इस प्रकार है—

अथ रामनिदान लिख्यते—

श्रिय स दद्यात् भवता जिनेन्द्र यदाप्तस्तस्याद्वादसुधा समुद्र।
येन निर्दिष्टभवा रुजापहत्, सिद्धौपध पथ्यनिमित्त कारणम् ॥१॥
श्रीजिनदत्तसूरीश सूरि कुशलसात्रकम्।
सद्गुरु धर्मशील च, वाग्देवी प्रणमाम्यहमम् ॥२॥
निदान सर्वरोगाणा आचक्षेऽह समासत।
वालाना सुखबोधाय निदान रामसज्ञकम ॥३॥
आत्रेय निजपुत्राय नाभेव निजपुगवम्।
शिक्षितमायुर्ज्ञानार्थं तत्सार अत्र सग्रहम् ॥४॥

अन्त का पद्य देखिए—

शिरा-छेदात् शुक्ररोधात् जन्मात् क्लैव्य च शमधा।
शिराछेदी जन्मक्लैव्य असाध्यो पच कष्टकृत् ॥१२॥ (६१२)

दीपकचन्द्र वाचक[1] (१८ वी शती)—

यह खरतरगच्छीय आचार्य जिनदत्तसूरि की परपरा मे हुए थे। यह मुनि वाचक थे। सभवत इनको जयपुर के महाराजा जयसिह द्वारा राज सम्मान प्राप्त हुआ था। इनका निवास स्थान भी जयपुर ही रहा। इनके गुरु का नाम 'दयातिलक' था। उपाध्याय दयातिलक स्वय कवि और संयमी साधु थे।

इनके दो वैद्यक ग्रन्थ मिलते हैं। एक, सस्कृत मे 'पथ्यलघननिर्णयः' तथा द्वितीय, राजस्थानी मे 'वालतन्त्र भाषावचनिका' नामक 'वालतन्त्र' पर भाषा टीका है। इनकी अन्य रचनाए १८ वी शती के द्वितीय चरण की मिलती हैं।

(१) पथ्यलघननिर्णय[2] (पथ्यापथ्यनिर्णय, लघनपथ्यनिर्णय, लघन पथ्यविचार)—यह दीपचन्द्र वाचक की प्रसिद्ध कृत्ति है। ग्रन्थारम्भ मे गुरु का नाम) 'दयातिलक' लिखा है—

महोपाध्यायतिलकान् श्रीदयातिलकाभिधान्।
सद्गुरून ज्ञानदान् विज्ञान् प्रणमामि मुहुर्मुहु ॥३॥"

---

१. मुनि कातिसागर ने इनका नाम "लक्ष्मीनाथ वाचक" लिखा है (द्र० अज्ञात आयुर्वेदिक साहित्य उदयाभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ६२१)। परन्तु यह नाम मेरे द्वारा देखी गई इस ग्रन्थ की छ प्रतियो मे नही मिला।

२ "जैनसिद्धातभास्कर" भाग ५, किरण २, पृ० १५५ पर 'लघनयथ्यविचार' नामक कृति का उल्लेख है। इसका प्रणयन काल भी स० १७६२ है और रचियता का नाम भी 'दीपचन्द' दिया हुआ है।

आत्रेय, धन्वन्तरि, सुश्रुत, नासत्य (अश्विनी कुमार), हारीत, माधव, सुषेण, दामोदर, वाग्भट, दस्त्र, (?), स्वयम्भू, चरक आदि के ग्रन्थो का अवलोकन कर यह ग्रन्थ रचा गया था ।

इसका निर्माण जयपुर मे किया गया था । उस समय वहा महाराजा जयसिंह का शासन था—

"श्रीजयपुरवरे रम्ये राज्ये जयसिंहभूपते ।
सपूर्णो हि कृतो ग्रन्थ· पथ्यलंघननिर्णय. ।।"

ग्रन्थ का रचनाकाल स० १७९२ माघसुदी १ वृहस्पतिवार को लिखा है

द्विनन्दमुनिभूवर्षे माघमासे शुभे दले ।
२ ९ ७ १
शुक्ले प्रतिपदाया च भृगोश्चैव तु वासरे ।।१०।।"

पुन· इस ग्रन्थ का सशोधन शकर नामक ब्राह्मण ने स १८८५ मे किया था—

५ ८ १ ८
शरभे भेन्दुभाग्वर्षे भाद्रे मास्यमिते दले ।
शकरस्य तिथौ चन्द्रे पथ्यलघननिर्णय ।।

शकराख्येण विप्रेण शोधितो बुध्यता बुधै ।
यह लघन और पथ्यापथ्य सम्वन्धी ग्रन्थ है । अर्थात् किस किस रोगो मे कितने दिनो तक लघन (अनाहार) किया जाय और किन-किन रोगो मे क्या पथ्य और अपथ्य होता है । ये पथ्य भी देशज हैं । इसमें विशेषत. मारू (मारवाड) और जागल आदि राजस्थान के पश्चिमी भागो की जलवायु को ध्यान में रखते हुए पथ्य की व्यवस्था की गई है । आयुर्वेदीय चिकित्सा मे पथ्य एव लंघन का महत्व औषधि मे भी अधिक स्वीकार किया गया है ।

इस ग्रन्थ से लेखक का अच्छे सस्कृत ज्ञान का परिचय मिलता है ।

२ **बालतन्त्र भाषावचनिका**—यह लेखक की राजस्थानी गद्य मे लिखी हुई रचना है । अहिच्छत्रानगर (वर्तमान नागौर) के निवासी, रामचन्द्र के पौत्र और महिधर के पुत्र कल्याणदास ने सस्कृत मे 'बालतन्त्र' की रचना की थी । इसकी भाषाटीका दीपचन्द्र वाचक ने की थी—

"तिसकी भाषा खरतरगच्छ माहि जनि वाचक पदवीधारक दीपचन्द इसै नामं ।"

इस टीका का नाम लेखक ने 'बालतत्र' भाषा-वाचनिका' लिखा है । इसमे बाल चिकित्सा का वर्णन कुल १५ पटलो मे हुआ है ।

पीताम्बर सं० (१७५९)—

यह विजयगच्छीय आचार्य विनय सागर सूरि का शिष्य थे । विनयसागर सूरि अच्छे उपदेशक और रससिद्ध कवि थे । महाराणा राजसिंह के समय विद्यमान थे । इनका विशेष परिचय नही मिलता । इनके अनेक प्रयोग मिलते है और इनके लिए "वैद्यविद्याविशारद" के विरूद्ध प्रयुक्त हुए हैं । इससे इनका अच्छा चिकित्सक होना ज्ञात होता है । महाराणा राजसिंह का काल मेवाड के सास्कृतिक इतिहास मे स्वर्णकार माना जाता है और इसमे साहित्य, सगीत, शिल्प, और चित्रकला का विशिष्ट विकास हुआ । स. १७२५ मे जब औरगजेब ने मेवाड पर आक्रमण किया तो मेवाड को दुर्दिन देखने पडे ।

पीताम्बर का एक गुटका मिलता है, जिसका नाम 'आयुर्वेदसारसग्रह' है । परीक्षित प्रयोगो को लौकिक भाषा मे प्रस्तुत करना इस सकलन का प्रयोजन है । यह ग्रन्थ रोगानुसार चिकित्साप्रयोगो का सकलन है । इसमे शताब्दियों से अनेक कुशल अनुभवी आचार्यो द्वारा अनुभूत प्रयोगो का संग्रह किया गया

है। सम्पूर्ण प्रयोग वानस्पतिक है और सरलता से प्राय: सर्वत्र उपलब्ध हो जाते हैं। कुछ रस-प्रयोग (रस व धातुओ से निर्मित योग) भी दिये गये हैं। जिन विशिष्ट विद्वानो से योग प्राप्त हुए थे, उनके नाम भी सकलन कर्त्ता ने उल्लेखित किये हैं, जैसे खीमसी, जोशी भगवानदास, ठाकुरशी नाणावाल, बालगिरि आदि।

इसमे मेवाड के राजपरिवार मे प्रयुक्त होने वाले योग भी सगृहीत किये गये हैं। ठाकरसी नाणावाल और जोशी भगवानदास-ये दोनो उस-काल मे उदयपुर के प्रसिद्ध चिकित्सक और रसायन शास्त्री थे। ये दोनो ही गुंसाई भारती के शिष्य और राजवैद्य थे।

यह ग्रन्थ उदयपुर मे रचा गया था, अत इसमे विशेषरूप से मेवाड मे प्राप्त होने वाली वनस्पतियो का प्रचुर उपयोग प्रदर्शित हुआ है। जैसे, गाठिया-भड' यह इस प्रदेश मे वातनाशक औषधि के रूप मे प्रयुक्त होती है और आस्थिसधान का कार्य भी करती है। एक लिंगजी के समीप राजसेना-राठासेन जी की पहाड़ी मे यह वनस्पति खूब मिलती है। किसी भी पशु या मनुष्य का अस्थिभग होने पर इस औषधि को पीसकर तीन दिन तक पीने से अस्थिसधान हो जाता है।

लेखक ने धातुस्तभन प्रयोगो मे सिहवाहनी गुटिका' का प्रयोग लिखा है—जिसे महाराणाकुभा सेवन करते थे। यद्यपि द्रव्यगुणविज्ञान की द्रष्टि से इसमे साधारण द्रव्य ही पडते हैं, परन्तु गुण की दृष्टि से गुटिका अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हुई है। इसी प्रकार राजा जगन्नाथ की 'कामेश्वर गुटिका' भी वर्णित है। विषप्रयोगो के अन्तर्गत विशेषरूप से 'वाघबालविषनाश' के प्रयोग उल्लेखनीय है।

आयुर्वेदीय प्रचलित मानो का भी इसमे दिग्द-दर्शन होता है। लेखक ने सामयिक महाराणा राजसिंह और उसके पीछे तक मेवाड मे शेरशाह-सूरी के ही सिक्को का प्रचलन रहा। इसी प्रकार 'द्रम्म' आदि सिक्के भी चल रहे थे।

इस सकलन से तत्कालीन मेवाडी गद्य और भाषा का अच्छा नमूना भी प्राप्त होता हैं।

इस गुटके का नाम स्वयं लेखक ने 'आयुर्वेद-सारसंग्रह' रखा है। इसका रचनाकाल स. १७५६ है, जैसा कि ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है।

"स १७५९ वर्षे श्री श्रीविधे पक्षे [विजयगच्छेय] श्री भट्टारक श्रीमद् १०८ विनयसागरसूरिजी-तिथौ शुक्रवासरे, लिपिकृत पीताम्वरजी उदयपुरनगरे राजाधिराज' राज्ये आयुर्वेदसारसग्रह सम्पूर्णम्।"

इस ग्रन्थ को गुजराती मे भाषातरकार श्री मुनि कातिसागर ने ई० १९६८ मे पालीताणा [गुजरात] से प्रकाशित कराया है।

ज्ञानसार [स १८०१ से १८९९]—

यह खरतर जिनलाभसूरि के शिष्य थे। इनका जन्म स. १८०१ मे बीकानेर राज्य के जागूल के पास जैंगलेवास नामक ग्राम मे हुआ था। इनके पिता का नाम उदयचन्द्र जी साड और माता का नाम जीवनदे था। इनकी दीक्षा स १८१२ मे खरतर जिनलाभसूरि के शिष्य रायचन्द्र [रत्नराज-गणि] के पास हुई थी। इन्होने अपने अनुभव से शास्त्राभ्यास किया। यह मस्तयोगी, कवि और अध्यात्मी थे। बीकानेर के राजा सूरतसिंह, जयपुर नरेश प्रतापसिंह, जैसलमेर के रावल गजसिंह और प्रधान जोरावरसिंह उनके भक्त और अनुरागी थे।

इन्होंने अपनी रचनाएं प्राय हिन्दी मे और क्वचित् राजस्थानी व गुजराती मिश्रित हिन्दी मे

लिखी हैं। स. १८९९ के लगभग इनका स्वर्गवास हुआ था। इनकी पादुका स १९०२ मे स्थापित की गई बीकानेर मे विद्यमान है। इनका प्रसिद्ध नाम 'नारायणजी बाबा' था। सदासुख, हरसुख आदि इनके शिष्य थे।

इनका कामशास्त्र विषयक—"कामोद्दीपनग्रन्थ' मिलता है। यह राजस्थानी मे पद्यबद्ध है। इसका रचनाकाल स. १८५६ वैशाख शुक्ल ३, जयपुर है। उस समय जयपुर मे माधवसिंह का राज्य-काल था।

ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है।

"प्रतिपो श्री परताप हरि, माधवेस नृपनन्द।
घर जबू फुनि मेरू गिर, घ्रूतारी रविचन्द ॥१७२
रस सेर अरु गज इदु फुनि, माघव मास उदार।
शुकल तीज तिथ दिन, जयपुर नगर मझार ॥१७३
बड खरतर जिनलाभ के, शिष्य रत्न गणि राज।
ज्ञानसार मुनि मदमति, आग्रह प्रेरण काज ॥१७४॥
ग्रन्थ करौ वह रस भरौं, वरनन मदन अखंड।
जसु माधुरि तातै जगति, खंड खड भई खड ॥९७५॥
सुघरनि जन मत रस दियैं, रस भोगनि सहकार
मदन उदीपन ग्रन्थ यह, रच्यौ रुच्यौ श्रीकार ॥९७६
जग करतार है, यह कवि वचन विलास।
पैया मति को खड है, है हम ताके दास ॥१७७

इससे प्रगट है कि माधवसिंह के पुत्र प्रतापसिंह राजा थे और उन पर इनका अच्छा प्रभाव था।

इनके राजस्थानी मे अनेक काव्य ग्रन्थ, स्तवन आदि मिलते हैं। इनके लिए देखिए मो० द० देसाई कृत 'जैन गुर्जर कविओ, भाग ३, खड १, पृ० २६०–२७४]।

चैनसुखयति—(स. १८२०)

यह खरतरगच्छीय जिनदत्तसूरि शाखा के लाभनिधान के शिष्य थे। इनका निवासस्थान फतहपुर (सीकर) था। इनके शिष्य चिमनीरामजी ने फतहपुर मे स. १८६८ मे इनकी छतरी (समाधि) बनाई थी। फतहपुर (शेखावाटी) मे इनकी परम्परा के यति आज भी विद्यमान हैं। ये अच्छे वैद्य थे।

इनके वैद्यक पर दो ग्रंथ राजस्थानी मे निम्न हैं—'सतश्लोकी भाषा टीका' और 'वैद्य जीवन टना'।

सतश्लोकी भाषा टीका यह बोपदेवकृत 'शतश्लोकी' की गद्य (राजस्थानी) मे भाषा टीका है। यह रचना महेश की आज्ञा से चैनसुख यति ने रतनचद्र के लिए किया था। इसका रचनाकाल स. १८२० भाद्रपद कृष्णा १२ शनिवार है, जैसाकि अंतिम पद्यो से ज्ञात होता है—

"सवत अठारे वीस के,
मास भाद्रपद जाण।
कृष्णपक्ष तिथ द्वादशी,
वार शनिश्चर मान ॥ १ ॥
टीका करी सुधारि कै,
चैनसुख कविराय।
आज्ञा पाय महेस की,
रतनचद के भाय ॥ २ ॥
(सतश्लोकी भाषा टीका)।

मलूकचंद (१६ वीं शती)—

यह जैन श्रावक थे। संभवत इनका बीकानेर क्षेत्र निवास स्थान था। श्री अगरचद नाहटा ने इनका काल १६ वी शती माना है।

एक स्थान पर श्री नाहटा लिखते हैं—

"मलूकचद रचित पारसी वैद्यक ग्रथ तिव्व सहावी का हिन्दी पद्यानुवाद 'वैद्यहुलास' नाम से प्राप्त है। कवि ने विशेष परिचय या रचनाकालादि नही दिए, पर इसकी कई हस्तलिखित प्रतियाँ खतरतरगच्छ के ज्ञानभंडारो मे देखने मे आई। अत इसके खरतरगच्छीय होने की संभावना है।"

(अगरचद नाहटा) खरतरगच्छ के साहित्यसर्जक श्रावकगण, जिनचद्रसूरि अष्टमशताब्दी स्मृतिग्रथ, पृ १७२)।

इनकी 'वैद्यहुलास' नामक वैद्यककृति मिलती हैं। यह यूनानी चिकित्सा शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रथ 'तिव्व सहावी' का भाषा मे पद्यमय अनुवाद है। इसमे कुल ५१८ पद्य हैं।

"वैद्यहुलास जो नाम धरि,
कीयो ग्रथ अभीकन्द।
श्रावकधर्म कुलपक्ष (जन्म) को,
मा [म] लूकचन्द सु (सो) चंद।।'
(ग्रंथारभ मे)।

लक्ष्मीचद जैन (स १६३७)—

यह पचारी नगर (?) के निवासी थे। इन्होंने अपनी गुरुपरम्परा के विषय मे कृत्ति के अन्त मे निम्न पक्तियो मे लिखा है—

"शहर पचारी शुभ वसो
जैनि को वास।
ता विच मदिर जैन को,
भगवत को निज दास।।
निज सेवक हैं भक्तजन,
वुध कुशाल अरु चद।
ता कुल को अरूमान है,
ताकै शिष्य नैनचन्द।।
ताकइ शिष्य मोतीराम है,
ताकै शिष्य श्रीलाल।
ताकै शिष्य लक्ष्मीचद है,
ताकै शिष्य महिलाल।।
वुध लक्ष्मीचद कीजियै,
ग्रथ पढनौ नही चद।
ता गुन वर्धन कारणे
हित मिट करि आनन्द।।"

इनका एक वैद्यक ग्रंथ मिलता है–'लक्ष्मी-प्रकाश'। इसका रचनाकाल स. १६३७ है—

"सवत उगणीसे अधिक,
वर्ष ऊपरि सैंतीस।
वदि वैशाख एकादशी
बुधदिन प्रगटीस।।
सिंघ लग्न मैं पूर्ण हैं
लक्ष्मीग्रंथ प्रकाश।
अल्पबुद्धि करि कीजिये
ग्रंथ बरण को भाव।।"

इस कृत्ति की यह विशेषता है कि इसमे प्रयुक्त लगभग सभी योग स्वानुभवमूलक हैं; जिसकी सूचना लेखक ने स्थान-स्थान पर दी है। इसमे प्रथम रोग का निदान, पूर्वरूप, लक्षण का और फिर शास्त्रीय चिकित्सा का वर्णन है। जिन व्यक्तियो से लेखक को योग प्राप्त हुए हैं, उनका भी

उल्लेख लेखक ने किया है। वाग्भट, माधव निदान भावप्रकाश, योगचिंतामणि आदि ग्र थो की सहायता ली गई है। ग्र थ के अन्त मे लिखा है—

"रोगी रोग निदान करि,
पीछे औषध देय।
वाकौ निकई जातिकै
ताकी विधि करैय ॥
जाति चिकित्सा रोग की
वात पित कफ आदि।
उलटि लपटि करि जानियै,
सर्व रोग की लाधी ॥
लक्ष्मीप्रकाशज ग्र थ है
पूर्व ग्र थ की साख।
माधवग्र थ निदान कृत
भावप्रकाश की साख ॥
योगचिंतामणि उपाय करि,
चरक धागमट जान।
शारगधर इत्यादि सब
एही उपाय बखान ॥
साको अठारा मे कह्यौ
उपरि दोय बधाय (शके १८०२)
ता दिन मे वौ ग्रंथ है
इहविधि कही जिताय ॥"

उपसंहार

राजस्थान मे आयुर्वेदीय हस्तलिखित ग्र थो के सर्वेक्षण से मै इस निष्कर्ष पर पहुचा हूँ कि मध्ययुग मे आयुर्वेद विषयक ग्र थो की रचना सबसे अधिक, अन्य प्रातो की अपेक्षा, राजस्थान में हुई। उसमे भी राजस्थान के जैन यति-मुनियो का योगदान सर्वाधिक हैं। सैकडो-सहस्त्रो हस्तलिखित वैद्यक ग्रंथ जैन ज्ञान भडारो मे भरे पडे है। अधिकाश तो अज्ञात, अप्रकाशित और सर्वथा नवीन हैं। उनका विस्तृत खोज विवरण तैयार करने का प्रयास किया जा रहा है। इन ग्रंथो का प्रकाशन भी आवश्यक है। प्रस्तुत शोध निबध मे कतिपय जैन ग्रंथकारो और उनकी वैद्यककृत्तियो का परिचय दिया गया है।



सत्रहवीं शताब्दी की एक महत्वपूर्ण रचना :- भविसदत्त चरित- कवि श्री बनवारीलाल

□ डा० गदाधरसिंह, एम. ए., पी-एच. डी.

श्री बनवारी लाल कृत 'भविसदत्त चरित' की हस्तलिखित प्रति बाढ (पटना) के जैन मन्दिर मे विद्यमान है। प्रति हाथ के मोटे कागज पर लाल और काली स्याही मे अकित है। इसे झीगुरो ने चाटना प्रारम्भ कर दिया है। इसमे कुल १२४ पत्र है। इसमे न तो लिपिकार का नाम अकित है और न लिपिकाल ही लिखा गया है।

रचनाकार का परिचय—

इस ग्रन्थ के अन्त साक्ष्य से मात्र इतना ही विदित होता है कि बनवारी लाल खतौली के अंतर्गत माखनपुर ग्राम के रहने वाले थे। यह स्थान आजकल उत्तर प्रदेश के जिला मुजफ्फर नगर मे पडता है। इनके भाई का नाम प्रगहमल था। इस ग्रन्थ की रचना कवि ने जिन-चैत्यालय मे बैठकर स० १६६७ फाल्गुन सुदी नौमी, शुक्रवार को की थी। इस रचनाकाल से ज्ञात होता है कि कवि का समय सत्रहवी शताब्दी का मध्यकाल है।[1]

ग्रन्थ परिमाण

'भविसदत्त चरित' की रचना कुल २२ सधियो मे पूर्ण हुई है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे कुल मिलाकर सत्रह सौ से ऊपर छन्द है।

---

१ बनवारी भाषै धरि ध्यान। जिन चैत्यालै खतौली सुध्यान॥
माखनपुर जु बसै सुखवास। ठई चौपई मन धरि उल्लास॥
मन मे ऐसी चितवन भई। तो यहु सुगम चौपई ठई॥
भाई प्रगहमल सु पियार। जै हू भूल्या लेहु सुधार॥
सवत सोला सै हो गये। छयासठ अधिक जु ऊपर भये॥
शुभ फागुण नौमी तिथि जान। स्वाति नक्षत्र भृगु शुभ मान॥
माखनपुर बसई सुखबास। ठई चौपई मन उल्लास॥

—छन्द संख्या १६६८-१७०२

कथासार

पंचपरमेष्ठी, सरस्वती तथा जिनेन्द्रो की वन्दना कर राजा श्रेणिक और गणधार गौतम के माध्यम से 'श्रुत पंचमी व्रत' के माहात्म्य-कथन के द्वारा कवि ने भविष्यदत्त का उपाख्यान वर्णित किया है।

धनपति नामक नगर सेठ की पत्नी कमलश्री से भविष्यदत्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। पूर्वभव के दोषवश उसका प्रेम कमलश्री से हठ गया और उसने एक दूसरी स्त्री सरूपा से विवाह कर लिया। इसी नयी पत्नी से सेठ को बन्धुदत्त नामक पुत्र हुआ। तरुण होने पर बन्धुदत्त व्यवसाय के लिए द्वीपान्तर जाने को जब उद्यत हुआ तब माता के मना करने पर भी भाई पर विश्वास कर भष्यिदत्त उसके साथ लग गया। नौकाएँ तिलक द्वीप मे जा लगी। तट-प्रदेश की रमणीयता देखने के लिए भविष्यदत्त जब नौका से उतर कर कुछ देर के लिए बाहर गया तब बन्धुदत्त ने नौकाए खोल दी और बेचारा भविष्यदत्त उस द्वीप मे अकेले पड गया। उस द्वीप मे उसे एक जनशून्य नगरी मिली। वहा के विशाल प्रासादो मे सुन्दर-सुन्दर पर्यंक बिछे थे किन्तु उन पर सोने वाला कोई नही था। गवाक्ष खुले थे किन्तु किसी का पता नही था। वहा उसे सौन्दर्य की प्रभा विकीर्ण करती हुई एक कन्या मिली जो असनवेग नामक दानवराज की पालिता कन्या थी। दानवराज ने पूर्भभव के स्नेहवश भविष्यदत्त के साथ उस कन्या का विवाह कर दिया। भविष्यदत्त जब घर लौटने लगा तब समुद्रतट पर उसे बन्धुदत्त मिला जिसकी सारी सम्पत्ति समुद्री दस्युओ ने लूट ली थी। बन्धुदत्त उसके पैरो पर गिर पडा और अपने कृत्यों के लिए उससे क्षमा मागी। उदार हृदय भविष्यदत्त ने उसे क्षमा कर दिया। अचानक भविष्यदत्त की पत्नी को स्मरण हुआ कि उसकी नागमुद्रिका घर पर ही छूट गयी है। भविष्यदत्त शीघ्रता से उसे लाने चला। बन्धुदत्त के हृदय का का वैर-भाव पुन जग पडा और वह उसकी पत्नी और सम्पत्ति को लेकर भाग खडा हुआ। उसने उसकी पत्नी के शील को भी खण्डित करना चाहा किन्तु जलदेवी की कृपा से उसके शील की रक्षा हुई। घर आकर बन्धुदत्त ने उसे अपनी पत्नी बताया और उसके साथ अपने विवाह का आयोजन करने लगा। इस बीच भविष्यदत्त की माता द्वारा सपन्न श्रुतपचमी व्रत के माहात्म्य के कारण एक देव प्रगट हुआ जो पूर्वजन्म मे भविष्यदत्त का मित्र था। उसने भविष्यदत्त को उसके पर पहु चा दिया। भविष्यदत्त द्वारा जब सारे रहस्यो का उद्घाटन हुआ तो राजा ने बन्धुदत्त को राज्य से निष्कासित कर दिया और उसके गुणो से प्रसन्न होकर अपनी दो पुत्रियों का विवाह भी उससे कर देने की घोषणा की। राज्य से निष्कासित हो बन्धुदत्त ने पोदनपुर के राजा को यह कहकर आक्रमण के लिए उकसाया कि तिलकद्वीप की कन्या राजाओ के उपयुक्त है, वणिक-पुत्र के योग्य नही। युद्ध मे भविष्यदत्त द्वारा पोदनपुर का राजा बन्दी बना लिया गया। उसके अपने राजा ने उसके प्रति कृतज्ञता व्यजित की और उसे आधा राज्य दे दिया।

कथा के दूसरे खण्ड में भविष्यदत्त के पूर्वभव का वृतान्त प्रस्तुत किया गया है। अपने पूर्वजन्म की बातें जानकर भविष्यदत्त के हृदय मे वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और वह दुष्कर पचमहाव्रतो का अनुष्ठान कर अन्त मे केवल ज्ञान प्राप्त करता है।

कथास्रोत एवं कथानक-संघटन—

कवि बनवारी लाल के "भदिसदत्त चरित" का मूलाधार धनपाल का "भविसदत्त कहा" नामक

ग्रन्थ है। महेश्वरसूरि चरित "णाण पचमी कहा"[२] मे भी भविष्यदत्त की कथा प्राकृत भाषा मे पद्यबद्ध आयी है। सस्कृत मे मल्लिषेणसूरि ने "नागकुमार पचमी कथा" और अपभ्रंश मे श्रीधर ने "भविसदत्त चरिय" के रूप मे इस कथा का प्रणयन किया है। हिन्दी मे ब्रह्मरायमल्ल ने "भविष्यदत्त चरित्र' (स० १६१६ वि०) का निर्माण कर इस परम्परा को आगे बढाया है।

कवि बनवारीलाल की कृति पर सबसे अधिक प्रभाव धनपाल के महत्वपूर्ण अपभ्रंश ग्रन्थ "भविसयत्त कहा" का है। यद्यपि बनवारीलाल ने किसी ग्रन्थ के अनुकरण का सकेत नही दिया है फिर भी उसकी कथावस्तु धनपाल की कथा के समान ही है। धनपाल की कृति की प्रत्येक सधि मे जितनी कथावस्तु अकित है उतनी ही बनवारी लाल की रचना मे वर्तमान है। अवश्य बनवारीलाल ने अपने चरित्रो को महाकाव्योचित बनाने की पूर्ण चेष्टा की है। इसमे भ्रमण-वृतान्तो को मौलिक रूप प्रदान करने का आद्यन्त प्रयास किया गया है।

ऐसा ज्ञात होता है कि कवि ने "पद्मावत" से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है। जिस प्रकार का प्रेम-चित्रण 'पद्मावत' मे हैं, ठीक उसी प्रकार का प्रेम-चित्रण 'भविसदत्त चरित' मे भी है। रत्नसेन की रानी पद्मावती के अपहरण का प्रयास अलाउद्दीन द्वारा होता है, भविष्यदत्त की स्त्री का अपहरण उसके भाई बन्धुदत्त के द्वारा। एक मे सिंहल द्वीप का उल्लेख आया है, दूसरे मे तिलक-द्वीप का। अवश्य, जायसी मे अलौकिक सकेत हैं किन्तु उनका लक्ष्य भी धार्मिक है। 'भविसदत्त चरित्र' को भी एक धर्म कथा का रूप दिया गया है। युद्ध का वर्णन दोनो मे है। 'भविसदत्त चरित' की तरह 'पद्मावत' का अन्त भी शान्तरस पर हुआ है।

कहा सो रतनसेन अस राजा।
कहा सुवा असि बुधि उपराजा॥
कहा सुरूप पद्मावती रानी।
कोई न रहा जग रही कहानी॥[३]

वस्तुत, भविष्यदत्त की कथा लोक कथा है। सौतेली माता एव भाइयो द्वारा किया गया षड्यत्र, समुद्र यात्रा, नौका-भंग, सूनसान नगरी से प्रवेश, दैत्य से मुकाबला, उसकी कन्या से परिणय आदि घटनाए लोक कथानक-रूढिया है जिन्हे इन कवियो ने स्वीकार कर धर्मकथा का रूप दे दिया है।

'भविसदत्त चरित्र' की कथावस्तु का गठन लक्षण-ग्रन्थो मे वर्णित महाकाव्य के लक्षणो के आधार पर हुआ है। कथा का आदि, मध्य और अन्त भाग महाकाव्य के वातावरण मे घटित हुआ है। कवि की दृष्टि मात्र कथा के विकास पर ही नही है अपितु उसका लक्ष्य वर्णन-सदर्भो द्वारा कथानक एवं घटनाओ मे काव्यत्व का नियोजन करना भी है।

वस्तु-वर्णन—

महाकाव्य वस्तुनिष्ठ होता है। इसमे कवि की दृष्टि वस्तुओ के भव्य चित्रण के द्वारा कथा को पाठक के हृदय मे बिठा देने की ओर अधिक

---

२ महेश्वर सूरि रचित "णाण पचमी कहा" सिंघी जैन ग्रथमाला द्वारा प्रकाशित है।

३ जायसी पद्मावत—व्याख्याकार श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रका० साहित्य सदन चिरगाँव, झाँसी, प्रथमावृत्ति, पृ० ७१३

रहती है। यही कारण है कि प्राय सभी आचार्यों ने महाकाव्य मे वस्तु वर्णन के महत्व का निर्घोष किया है। 'भविसदत्त चरित' एक महाकाव्य का परिवेश धारण किए हुए हैं। अत यह स्वाभाविक है कि इसमे नगर, वन, पर्वत, सरिता तथा प्रकृति के अन्य दृश्यो का समावेश हो। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही कवि ने भगवान महावीर के समवशरण क्षेत्र का भव्य चित्रण किया है। समुद्र-संतरण के प्रसंग मे समुद्र का जो स्वभावोक्ति पूर्ण चित्रण है उसमे समुद्र की विस्तीर्णता, लहरो की उच्छृंखलता तथा समुद्र मे निवास करने वाले प्राणियों की भयावहता मूर्तिमान हो उठी है। इसी प्रकार तिलक द्वीप के भयावह वन-प्रदेश मे एकाकी घूमते हुए भविष्यदत्त की मानसिक विक्षिप्तावस्था का बडा कारुणिक वर्णन कवि ने किया है। इसी प्रसग मे उसने वन की भयकरता का भी बडा रोमाचकारी रूप उपस्थित किया है—

देखा वन अति गहर गम्भीर।
तिसका कोई न पावै तीर॥
भरमैं चित्त भयावण होय।
तह मानुस दीसै नहि कोय॥
गज हस्ती के जूह फिरंत।
माते मद जु कपोल बहंत॥
घंम्या सूर्य जब रजनी भई।
दृष्टि न पसरै चिंता थई॥
अजनगिरि अन्धियार।
ऐसा देखा वर्नाहि मभार॥
हाथो हाथ न दीसै कोय।
वन मे कुमर भयाणक होय॥
चितवै कुमर डरै मन माही।
मरण आया इस वन माही॥

चतुर्थ सधि; छन्द संख्या २३४—२३५

तिलक द्वीप के जनशून्य नगर का वर्णन पढने पर ऐसा लगता है मानो पाठक लोक-कथाओ की उस नगरी मे पहुंच गया हो जहा दानव के भय से कोई नही रहता—

सुपना रयण जो देखे कोय।
ऐसा परगट देखा सोय॥
ठौर ठौर सो भरे भण्डार।
कहाँ गये सो विलसणहार॥४।२६१

रस-भाव-चित्रण –

महाकव्य मात्र काव्य रूप नही है अपितु वह जीवन का प्रतिबिम्ब है। जीवन जितने ही महत्तम एव विस्तृत रूप मे महाकाव्य का आधार बनता है उसका प्रासाद उतना ही भव्य और दृढ होता है। रस-भाव योजना महाकवि की चेतना के इसी फलक का मूर्त्त रूप है।

शृंगार रस—

कवि बनवारीलाल ने प्रेम के विस्तृत पट पर सवेग एव वियोग के मार्मिक चित्रो का अकन किया है। कमलश्री और धनपाल के शारीरिक मिलन का मूर्त्तरूप उपस्थित करते हुए कवि कहता है—

सुन्दरि उठाय उछंगतु लई।
कस्तूरि परिमल अग सु दई॥
मधुर बचन कर सीचीबाल।
सेज आरूढा कुवर बिसाल॥
भोगै भोग रहै जु आवास।
रति मन्दिर सो करै विलास॥
बहुतै दिन की बीछुरी, सुन्दरि लही कुमार।
अति हर्षित मन ऊपजा, बाढी रति जु अपार॥
१२।८७३-७५

बहुत दिनो के गए वणिको के स्वदेश आगमन पर उनके स्वजनो के मिलन का जो रूप कवि ने उपस्थित किया है उसकी तुलना अपभ्रंश-काव्य 'करकुण्ड चरिउ' के उस अंश से की जा सकती है जब करकुण्ड को देखने के लिए नगर का समस्त जन-समुदाय अपने गृह कार्य को ज्यो-त्यो छोडकर उमड पडता है।

कूवे भरण गई जे नार।
कुंभहु छोड चली पनहार ।।
कोई यक भोजन करती बाल।
भोजन छोड चली तत्काल ।।
केई सोवत नीद मे चली।
कोई यक वस्तर पहरत भली ।।
कोई अंको भरभर लेय।
सीस चूंबना कोई करेय ।।
मिलतै गह भरि आये नैन।
पूछैं कुसल कुसल सब छेम। ८।५२३-५२६

वियोग-शृ गार-वर्णन

'भविसदत्त चरित' मे वियोग-पक्ष का उद्घाटन सयोग-पक्ष की तुलना मे अधिक सफलतापूर्वक हुआ है। इसके कवि को वियोग की अनुभूति अधिक गहरी और तीव्र है। पति वियुक्ता भविसगरूपा के विरह का जैसा मर्मातक चित्र कवि ने उपस्थित किया है वह अन्यत्र दुर्लभ हैं—

"नाह नाह जपै विललतु,
कारण करै सु रुदन बहुतु ।।
आंधानी जिम लाकडी,
तिम आधार तुमारि।
तुज्झ समान वी जानही,
बिन अवगुण को विसारि ।।
अति प्रीतम जो विछुडइ,
तउ न मरणउ जाइ।
हियरा सावर सिंह जऊ,
दिन दिन निट्ठर थाइ ।। ७।४८४-८६

विरह की चरम परिणति मे विरहिणी के हृदय मे पर दु.ख कातरता का भाव है। यदि विधाता उसे मिल जाय तो वह उससे यही निवेदन करेगी कि वियोग की वेदना किसी को न हो।

अरे दैव निरदय पापी रे,
तू पर दुख ना जाणै रे।
तुज्झ विरहा दुख जो पडई रे,
तब तड साँच मानइ रे ।।
करव तणी करतार, जे सिर मेल्हो ता हरै।
तो तू जाणै सार, वेदन विछोहा तणी ।।
जो भेदउ करतार, करउ वीनती आपणी।
अइहा है सिरजणहार, इह दुख किम ना आइसी ।।
७।४९०।९२

साहित्य की चेतना एकांगी नही होती। यदि स्त्री पुरुष के वियोग मे व्यग्र है तो पुरुष को भी स्त्री के वियोग मे प्राण देने को प्रस्तुत रहना है। तिलकद्वीप मे छोडे जाने पर जब भविष्यदत्त को स्वदेश, एव माता की करुण मूर्ति का स्मरण होता है तो वह व्यग्र हो उठता है। पत्नी के स्मरण मे कामजन्य, सुखानुभूतियो की मधुर स्मृति भी मिली है—

नाग मुद्रिका देखै सोय,
हिरदे सेती लावै सोय।
मुदरी देखि हिया गहभरै,
काम बाण शल-हिरदै दहैं ।।७।४९५

वीर रसः— भविसदत्त चरित' मे सेना प्रयाण का बडा रोमाचकारी रूप अंकित हुआ है। इसकी भावानुकूल शब्द-योजना द्रष्टव्य है।

करिवि पयाणउ अनत महाभट्ट चलिउ ।।
समु हुज्झ षड् बालि भगु लाज्झ लियउ ।।
फटो जलहर कुंभधार तृणि दीय ।।
ले आइ तह अग्नि धूम सजुगतिडय ।।

१३।१०३८

सेना प्रयाण के बाद युद्ध की वास्तविक स्थिति आती है । युद्ध भी दो प्रकार के होते हैं:—

एक सामूहिक और दूसरा व्यक्तिगत । सामूहिक युद्ध-वर्णन मे समास शैली का आश्रय लेना पडता है । इसके लिए भाषा मे प्रवाह-शक्ति भी अपेक्षित होती है क्योकि युद्ध बडी त्वरित गति से घटित होता है । क्षिप्रगति से घटने वाली घटनाओ के लिए जबतक वैसे ही बहते शब्द नही दिये जाते, तब तक युद्ध का चित्र नही खीचा जा सकता । बनवारी लाल के युद्ध-वर्णन मे रासो ग्रन्थो की ताजगी है—

तब सुभटो काढे करवाल,
बरसे बाण मेघ अस राल ।।
भिडहि वार कर असिवर लेंय,
चढे तुरंग मदान जु देंय ।।
सेना जूझ पलाई सोय,
रण की भूमि भयानक होय ।।
दीनों दल सो खरे पखान,
दीनो करैं सिंह उठान ।।

१४।११०३-५

व्यक्तिगत युद्ध से दो योद्धाओ, विशेषकर नायक-प्रतिनायक के युद्ध का वर्णन कवि करता है । नायक और प्रतिनायक शक्ति मे जितना ही अधिक तुल्य होते है, रस-संचार मे उतनी ही अधिक तीव्रता आती है । इसी प्रसग मे गर्वोक्तिया भी आती हैं, जो वीर-भाव को उत्तेजना देती हैं । भविष्यदत्त और प्रतिद्वन्द्वी राजा के व्यक्तिगत युद्ध का दृश्य बडा लोमहर्षक है—

दोनो मुहु मिल हये जु कुमार,
दीनो दती लडैं इकसार ।।
उछल गयद तैं भवसि कुमार,
छती अम्बारी बैठा सार ।।
जह बैठा पोदनपुर राय,
भविसदत्त बाधा गल पाय ।।
हाहाकार मचा रणहिं मंझार,
सुभटन डारि दिए हथियार ।। ८।११२३-२५

शान्तरस

शान्तरस का स्थायी भाव 'निर्वेद' अथवा 'शम' है । "काव्य प्रकाश,, के अनुसार तत्वज्ञान से जो निर्वेद उत्पन्न होता है, वही शान्त का स्थायी भाव है । इष्ट नाश या अनिष्ट की प्राप्ति के कारण 'निर्वेद' होने पर वह सचारी भाव होगा, स्थायी नही।[४] 'भविसदत्त चरित, मे नायक को जो निर्वेद उत्पन्न हुआ है, वह तत्वज्ञान की उत्पत्ति के कारण । अत. इसमे शान्तरस की पूर्ण स्थिति है । भविष्यदत्त की अनुभूति है —

भवसमुद्र अतहिं नहिं होय, ग्यान दृष्टि जो देखै जोय ।।
आवै जाय बहुत दु ख सहे, जनम मरण तनै दुख लहै ।।
किनहि पुत्र किनहि घरवास, किसका स्वामी किसका दास ।।
दिवस चार का मेला होय, छोडे जीव जाय पर लोय ।।

२१।१५३६–१५३८

४. निर्वेदस्थायिभावोऽस्तिशान्तोऽपि नवमो रस. ।।४।३५ ।

इस प्रकार कविवर बनवारीलाल का 'भविष दत्त चरित' रस की दृष्टि से वडा उत्तम काव्य है।

अलंकार-छंद-योजना

प्रत्येक कवि उक्ति की वक्रता,, वाणी की भगिमा, लालित्य आदि अलकार—नियोजन से ही सम्भव करता है। कवि बनवारीलाल ने अपनी इस कृत्ति मे स्वाभाविक रूप से अलकारो की योजना की है। उसका प्रधान कारण परम्परित कथा को वर्णनो के माध्यम से प्रस्तुत करना है। अत उसने यथासम्भव स्वाभाविक रूप से आने वाले अलंकारो को ही स्वीकार किया है और गुण, क्रिया तथा वस्तु के आधार पर अलकारो का नियोजन किया है। इसके लिए उसने अनुप्रास, यमक, उपमा, प्रतीक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास. अतिशयोक्ति, रूपक, परिसख्या, उदाहरण आदि अलकारो की योजना द्वारा अपनी कृत्ति को चमत्कार पूर्ण वनाने का प्रयास किया है। यमक के इस प्रयोग द्वारा कवि ने अपने भावो को विम्बित करने का प्रयत्न किया है—

जग-जीवन काँसी सबद, काँसी माँहि समाय।
यहा प्रथम 'काँसी' का-अर्थ काँसा धातु विशेष है और दूसरे 'काँसी का अर्थ आकाश है।

इसी प्रकार अ धकार की उपमा काले पर्वत से देकर कवि ने वस्तु के रूप को उत्तेजना प्रदान की है —

अंजनगिरि जैसा अ धियार, ऐसा देखा बनहि मझार ।।छद २३७।। समग्रग्रन्थ को कवि ने 'दोहा—चौपाई-बन्ध मे लिखा है। पन्द्रह मात्रा की चौपाई का ही सर्वत्र प्रयोग है। सन्धि की समाप्ति मे प्राय दोहा छद प्रयुक्त-हुआ है। बीच-बीच- मे-तेईस और इकतीसा सवैया का प्रयोग है। यत्र-तत्र सस्कृत के श्लोक तथा प्राकृत की गाथाएं भी निवद्ध हैं। सोरठा प्रायः कथा की गति को बढाने के लिए प्रयुक्त हुआ है। दो-तीन स्थानो पर गद्य का प्रयोग है जिनकी भाषा प्रौढ है। इस कृत्ति मे भावो के के अनुरूप छद-विशेष का प्रयोग किया गया है। जैसे वस्तुछंद (२४६-५०) का प्रयोग किसी तथ्य अथवा किसी सिद्धान्त पर जोर देने के लिए और रोडक (छद सख्या १०३८) का प्रयोग कठोर भावो की अभिव्यज्जना के लिए किया गया है। इनके अतिरिक्त १० मात्रिक तुकछंद (छद १७४) और श करा छद (१८७) का भी प्रयोग है जिनका लक्ष्य नाद-सौन्दर्य उत्पन्न करना है। इस प्रकार छदो के विविध प्रयोग का इसमे अभाव है किन्तु भावो के अनुकूल छद-योजना कर कवि ने अपनी गहरी काव्य दृष्टि का परिचय दिया है।

भाषा—इस काव्य की भाषा व्रजभाषा और राजस्थानी का मिश्रित रूप है। अपभ्र श की शब्दावली का भी यथेष्ट प्रयोग किया गया। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से इसमे स्वरभक्ति के उदाहरण सर्वाधिक उपलब्ध होते हैं। मयक्ताक्षरो को तोडकर सारल्य के लिए कवि किसी स्वर विशेष का आगम कर लेता है जिससे सरलता और सहजता के अतिरिक्त अनुप्रास-योजना भी सहज मे हो जाती है। जैसे—

हिरदय = हृदय (पद्य २), परसाद = प्रसाद (६), परमाण = प्रमाण(४८),परगट = प्रकट(५६), पकति = पक्ति (२६१), परतीहार = प्रतिहार।

रेफ का लोप और अपभ्रंश की प्रवृत्ति के समान उकार बहुलत्व के उदाहरण निम्नलिखित है —

मुनीन्दु = मुनीन्द्र (४६), इन्दु = इन्द्र (२४), नरिन्दु = नरेन्द्र (२४)

अपभ्रंश की घ, थ, ध, फ और भ के स्थान पर "ह" आदेश होने की प्रवृत्ति भी उपलब्ध है.—
साहण—साधन (६३), गहीर—गम्भीर (६८), विषहर-विषधर (१८८)

'ण' कार की प्रवृत्ति का बाहुल्य इसमे है जो अपभ्रंश के अस्तित्व का सूचक है —

सुण्या, भण्या (२०), जणाई (२४,२७), जम्फाण (३०), सुणहु (४६), विणा (६६) परणाई (६६), पठण (८१), पढण (१२३), होणा(३४५), आपणि (५६)

मध्य और अन्त्य क,त,च,द का लोप उनके स्थान पर स्वर शेष तथा य श्रुति प्राप्त होने के निम्नलिखित उदाहरण उपलब्ध होते हैं —

रयण—रत्न (३४); सुरयण—सुरल (५१). आयसु—आदेश (१३०), परियण—परिजन (३२०), गयदु—गजेन्द्र (११२४)

कुछ शब्द अपभ्रंश के ज्यो के त्यो पाये जाते हैं लेकिन इनमे 'उकार' प्रवृत्ति का प्रयोग नही है:—

पुब्ब—पूर्व (२८८), समप्पर—समर्पय (५४६), सुक्क—सुख (७०), वसन्दर—वैश्वानर (८८) छमच्छर—सवत्सर (१२२)

ब्रजभाषा के ठेठ शब्द भी इसमे उपलब्ध होते हैं, यद्यपि इन पर राजस्थानी का भी प्रभाव है। जैसे,—

विगसन्त (२६), फुनि (८४), सगले (२०८),बाखरू (१६०), फिराई (२२६), बेढो (४६) तद्भव शब्दो का बाहुल्य भी इसमे हैं.—

थणहर (७८), लच्छी (१३२), समुद्र (१६६), गाठ (१६१), अच्छै—आसीत (१५७), जोबन (२३०) आदि।

सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग भी इसमे यथेष्ट हुआ है —

कचन (१६६६), ज्ञान (१६६७), इन्द्र (१६१२), कुण्डल (१६०२), सम्पत्ति(१४६१), तिर्यंच(१४५३)

इस प्रकार भाषा विज्ञान की दृष्टि से इस चरित ग्रन्थ का विशेष महत्व है।



हिन्दी के मध्ययुगीन निर्गुण मार्गी ज्ञानाश्रयी कवियों में जैनत्व की झलक

☐ डा० राजमल सराफ

उच्चतम भूमिका पर काव्य रसात्मक वस्तु है और इसके भीतर रचयिता के भावोन्मेष और आनन्द के तत्त्व अनिवार्य रूप से सन्निहित रहते हैं। इस भूमिका पर काव्य व्यक्तिगत अनुभूति और अभिव्यक्ति का विषय है। उसमे कवि लोकोत्तर आनन्द के सृष्टा के रूप मे सामने आता है। भारतीय काव्य परम्परा के अनुसार आनन्द से ही काव्य की सृष्टि होती है और कवि की समर्थ अभिव्यजना उसके आनन्द को पाठक अथवा श्रोता तक पहुचाने मे पूर्णत समर्थ होती है। यहा पर सामाजिक और सास्कृतिक प्रयोजनो का प्रश्न ही नही उठता परन्तु यह काव्य की सर्वोच्च भूमिका है। उससे नीचे उतरकर हम सामाजिक और सास्कृतिक प्रयोजनो के काव्य की ओर आते हैं। यहा कवि सामाजिक और सास्कृतिक प्राणी के रूप मे अपने काव्य कौशल के द्वारा समाज और सस्कृति से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है और युग चेतना को वाणी-प्रदान करता है। अन्य मनुष्यो की तरह कवि भी सामजिक प्राणी है। यह दूसरी बात है कि वह सामान्य मनुष्यो से कही अधिक सवेदनशील है। वह समाज मे ही जन्म लेता है और उसी के आदर्शो मे उसका पालन–पोषण होता है। इसके साथ ही वह परम्पराबद्ध प्राणी भी है क्योकि वह अपनी विशिष्ट राष्ट्रीय सस्कृति मे भी जीता है। कोई भी समाज अपने अतीत से मुक्त नही हो सकता। वह आचार-विचार, रीति-रिवाज, और 'क्लासिक्स, रचनाओ के अध्ययन से अनिवार्यत अपने सास्कृतिक विकास को साथ लेकर चलता है। ये तत्व जातीय अवचेतन के रूप मे उसकी कल्पना को अनुशासित करते हैं। उनमे शाश्वत् जीवनादर्शों की सिद्धि भले ही न हो, राष्ट्र जाति समाज के विकास के अनेक आयाम सुन्दरता से स्वीकृत हो जाते हैं। निर्गुणमार्गी सतो के काव्य मे हमे काव्य का यह दूसरा स्वरूप ही मिलता है। उन्होने अपने व्यक्तिगत जीवन के हर्ष-विषाद, सुख-दुख और आमोद प्रमोद को वाणी नही दी। लौकिक जीवन की ओर से स्पृहावान् नही रहे हैं, वे मूलत आध्यात्मिक युग पुरुष हैं और उनका काव्य उनकी अध्यात्म साधना से ही अनुप्राणित है। उन्होंने केवल आध्यात्मिक और धार्मिक प्रयोजनो को ही महत्ता दी है। उन्होने मानवमात्र की समानता और बन्धुत्व का सन्देश अवश्य प्रस्तुत किया है, परन्तु उसके मूल मे आध्यात्मिक जीवन दृष्टि है। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की उपासना अवश्य की है, पर उसके माध्यम से उन्होंने दया, करुणा, क्षमा, सत्य,अहिंसा प्रेम, न्याय आदि गुणो को प्रधानता दी है।

निर्गुण ज्ञानाश्रयी कवियो से हमारा तात्पर्य उन कवियो से है जो मध्ययुगीन काव्य की सन्त

परम्परा का निर्माण करते है। ये कवि मूलरूप से भक्त कवि हैं और भारतीय चेतना मे वैष्णवभक्ति आन्दोलन के साथ उनका सम्पर्क बना हुआ है परन्तु ऐतिहासिक भूमिका पर उनकी एक स्वतन्त्र सामाजिक और सास्कृतिक स्थिति है। रामानन्द के बाद कबीर, दादू, नानक, सुन्दरदास, रैदास, धर्मदास, चरणदास, मलूकदास, सहजोबाई, दयाबाई आदि निर्गुणमार्गी सन्तो की एक शृ खलाबद्ध परम्परा पाते हैं।

भारतीय संस्कृति की परम्परा की अति प्राचीनता का बड़ा भारी प्रमाण इसी बात मे है कि उसमे दार्शनिक दृष्टि की परम्परा अति प्राचीन काल से ही दिखलाई पडती है। वास्तव मे उसका प्रारम्भ कब हुआ इसका काल निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है। स्व. प. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा रचित जैन दर्शन नामक ग्रन्थ की भूमिका मे डा मंगलदेव शास्त्री ने अपना मत व्यक्त किया है कि जैन दर्शन की सारी दार्शनिक दृष्टि, वैदिक दार्शनिक दृष्टि से स्वतन्त्र ही नही भिन्न भी है, इसमे किसी को सदेह नही हो सकता। उसका विकास प्राग्वैदिक परम्परा से स्वतन्त्र रूप से हुआ है। उसकी सादी दृष्टि से तथा उसके कुछ पुद्गल जैसे विशिष्ट पारिभाषिक शब्दो से इस बात की पुष्टि होती है। इसी प्रकार सुप्रसिद्ध दार्शनिक डा. राधाकृष्णन ने भी जैन धर्म की प्राचीनता स्वीकार की है। निर्गुण मार्गी-ज्ञानाश्रयी कवियो की दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओ के ऊपर भारतीय परम्परा का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। जहा एक ओर निर्गुण मार्ग की मान्यता मे उपनिषदो की निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी मान्यता का स्पष्ट निर्देश है तो दूसरी ओर सन्तो की साखियो के अ गो के वर्णन मे कई जगह जैनधर्म की झलक भी बोधगम्य है। सन्त सत्सगी थे तथा उनकी दृष्टि अहिंसा मूलक थी। हो सकता है कि इस कारण से कि उन्होने जैन साधु-सन्तो की सत्संगति का लाभ लिया हो। सन्त सत्यान्वेषी थे, इसलिए वे जीवन भर सत्य की खोज तथा असत्य के खडन मे लगे रहे। सन्तो का ब्राह्मरूप सामाजिक मिथ्याडम्बरो के प्रति जितना कठोर था, अन्दर से उनका भक्त हृदय उतना ही कोमल तथा प्राणिमात्र के प्रति दयावान था। उनमे सारग्राही प्रवृत्ति थी, इसलिए उन्होने सभी मतो के सार को ग्रहण किया उन्होने अपने व्यक्तिगतजीवन मे धर्म को जीवन से पृथक् नही माना। अब हम सन्तो की वाणियो की कुछ उन प्रमुख बातो को लेकर चलेंगे जिन पर कि जैनत्व का प्रभाव पडा है।

चितावणी—

चितावणी शब्द मे पर कल्याण का भाव निहित है इसलिए प्रत्येक सन्त ने कुछ न कुछ चेतावनी अवश्य दी है। उन्होने सासारिक आकर्षण तथा क्षण भगुरता से सतर्क रहने का उपदेश दिया है। कबीर कहते हैं कि थोडे से जीवन के लिए बडे साज-बाज जुटाये जाते हैं किन्तु कठोर काल के द्वारा क्षण भर मे नष्ट कर दिये जाते हैं। काल, राजा-रंक का भेद नही करता। सौन्दर्य का गर्व करना भी व्यर्थ है—

कबीर थोडा जीवणा,
माडे बहुत मण्डाण।
सबही ऊभामेल्हि गया,
राव-रक सुल्तान ॥
कबीर कहा गरबियो,
देहा देखि सुरग।
बीछडिया मिलिवौ नही,
ज्यु कांचली भुवग ॥
(कबीर ग्रन्थावली, पृ० २१)

सुन्दर दास तो विल्कुल ही स्पष्ट भाषा मे चेतावनी देते हैं कि यह मनुष्य पन्चेन्द्रियो के वशीभूत होकर के विभिन्न प्रकार के प्रपचात्मक कार्य किया करता है। पर दारा से नेह लगाकर के भी उसमें कोई बुराई नही मानता। परधन का हरण करता है-और परजीवो की घात भी करता है। मद्य-मास का भक्षण करता है तथा रंच मात्र भी भलाई के कार्य नही करना है—

करत प्रपन्च इन पंचनि के बस परयो,
परदार रत भय न मानता बुराई को।
परधन हरै पर जीव की करत घात,
मद्य-मास खाय, लवलेस न भलाई को ।।
(सुन्दर विलास, पृष्ठ २०)

दरिया साहब बिहार वाले कहते हैं कि यह मन बहुत लालची है जो कि अपने को कनक कामनि के फदे मे फसा देता है और इस प्रकार अन्त समय बडे ही कष्ट मे प्राण निकलते हैं तथा यह मनुष्य-जन्म व्यर्थ चला जाता है—

कनककामिनी के फदे मे,
ललचो मन लपटाय।
कलपि कलपि जिव जाइ है,
विर्था जनम गवाइ ।।
(सन्तवाणी संग्रह १, पृष्ठ १२०)

बाबा मलूक दास ने देह और जीवन के गर्व करने वालो पर कितना तीखा प्रहार किया है—

इस जीने का गर्व क्या,
कहा देह की प्रीत।
बात कहत ढह जात है,
ज्यो बारू की भीत ।।
(वही, पृष्ठ १०१)

ज्ञान विरह—

अज्ञानी जीव दो प्रकार के कहे जा सकते हैं। प्रथम श्रेणी मे उन्हें लिया जा सकता है जो कि ज्ञान से रहित होते हैं तथा द्वितीय श्रेणी मे वे प्राणी लिए जा सकते हैं जिनमे ज्ञान तो रहता है पर वह मिथ्याज्ञान ही रहता है क्योकि वे मोह, भ्राति तथा वासना आदि के वशीभूत होकर शरीरादिक की सेवा करने मे लिप्त रहते हैं। वे तो भौतिक पदार्थ के ज्ञान के आधार पर ही अपने को सर्वोपरि समझते हैं जो कि वास्तव मे उनकी भ्रान्ति ही है क्योकि दृश्य जगत के भौतिक पदार्थ तो नाशवान् है, इन्हे अपने आत्म तत्व की अनुभूति नही रहती। इसीलिए ही वे अपने चर्मचक्षु-ज्ञान पर आधारित ज्ञान को ही सब कुछ मानते हैं। आत्म ज्ञान का बोध होने पर जीवात्मा विरहाग्नि मे जलता है तथा अपने सद्ज्ञान के द्वारा आत्मोन्नति मे लग जाता है गुरू के द्वारा सद्ज्ञान की उपलब्धि होती है और भ्रम का नाश होता है। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होने पर जीवात्मा की अन्तर्दृष्टि खुल जाती है तथा वह पर की तरफ से हटने लगता है और स्व मे लीन होने का प्रयत्न करने लगता है। जीव की ज्ञान विरह अवस्था का सन्तो ने बडा ही सुन्दर विवेचन किया है।

कबीर कहते हैं कि जब आत्मारूपी दीपक मे ज्ञान की ज्योति को परमात्म स्नेह से प्रज्जवलित किया गया तो उसमे विषय वासना रूपी पतगे जलकर नष्ट होने लगे। हृदय के भीतर ज्ञानाग्नि जल रही है जिसका कि धुआ तक भी दिखलाई नही पडता इसका अनुभव तो दो ही कर सकते हैं एक तो वह जो ज्ञानरूपी अग्नि को स्वय अपनी अन्तर्रात्मा मे प्रज्जवलित करता है तथा दूसरा वह जो इस अग्नि को जलाने वाला होता है। अन्य व्यक्ति इसको अनुभव नही कर पाते। सद् गुरु ही ज्ञानाग्नि को जलाने वाला होता है। इसके लगते

हो सांसारिक कामनाओ का संसार जल कर भस्म हो गया तथा ज्ञान से सम्बन्धित विभिन्न गुण रूपी पक्षी प्रगट हो गए है—

दीपक पावक आरिगया,
तेल भी आण्या सग ।
तीन्यूं मिलिकर जोडया (तव)
उडि उडि पडै पतंग ॥

हिरदा भीतरि दौ जलै,
धुम्रा न प्रगट होई ।
जाकै लागी सौ लखै,
कै जिय लाई सोई ॥

दौ लागी साइर जल्या,
पषी बैठे आई ।
दाधी देह न पालवै,
सतगुरु गया लगाई ॥
(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११)

निष्कपट व्यवहार

सत्कर्मों के अनुष्ठान के लिए निष्कपट व्यवहार की आवश्यकता है। यदि व्यक्ति का हृदय छल से परिपूर्ण है तो उसका मन उसी मे उलझा रहता है और वह अपनी आत्मिक उन्नति नही कर सकता। सन्तो को अपने जीवन मे भले बुरे सभी प्रकार के लोगो से वास्ता पडा है, इसलिए जीवन के साफल्यार्थ कपट पूर्ण व्यवहार की निन्दा की है। कबीर कपटी पुरुषो से बचने के लिए चेतावनी देते हैं। दरिया साहब मारवाड वाले कपटी मनुष्य की तुलना वगुला से करते हैं परन्तु हस और कौआ की प्रशसा करते है जो कि भीतर बाहर एक से ही हैं।

दरिया बगुला ऊजला, उज्जवल ही है हंस।
ये सरवर मोती चुगै, वाके मुख में मंस॥
बाहर से उज्जवल दसा, भीतर मैला अग।
ता से तो कौआ भलो, तन मन एकति रग॥
(सतबानी १., पृष्ठ १३२)

पलटूराम तो संसार की कपट पूर्ण नीति देखकर रोने लगते हैं—

पल्टू मैं रोवन लगा, जरो जगत् की रीति।
जह देखा तह कपट है, का सो कीजे प्रीति॥
(सतबानी)

अहिंसा

समाज मे किसी न किसी रूप मे संघर्ष होता रहता है अत मानव के सामने यह प्रश्न अत्यंत महत्त्व पूर्ण है कि सघर्ष को दूर कैसे किया जाय? जैसे पशु अपना सघर्ष का सामना पशु वल से करता है क्या उसी प्रकार मनुष्य भी सघर्ष का प्रतिकार करे? यदि मनुष्य भी पशुवल का प्रयोग करने लगे तो उसकी मनुष्यता कहां रहे? अत. मनुष्य को उचित है कि वह विवेक के साथ मानवोचित विधि का उपयोग करे यह है अहिंसा। इससे ससार का कल्याण हो सकता है, यही मानव का सच्चा धर्म है, कर्म है और यही है मानवता की सच्ची कसौटी। यह तो विकार जन्य प्रवृत्ति है कि वह झट हिंसा का उत्तर हिंसा से दे देता है जिससे कि संघर्ष बढता है उसका निवारण नहीं होता।

प्रत्येक प्राणी का यह जन्म सिद्ध अधिकार है कि वह शान्ति से अपना जीवन यापन करे यहाँ उसका यह कर्त्तव्य भी है कि वह किसी दूसरे प्राणी के जीवन यापन मे किसी भी प्रकार की बाधा न डाले पर व्यक्ति स्वयं के सुख के लिए दूसरे प्राणियो के लिए भयकर यातनायें देता है तथा उसे इस बात की तनिक भी चिंता नहीं रहती कि उसके

भोग विलास के निमित्त सैंकडो प्राणियो के प्राण जाते हैं। अपने इन्द्रिय जन्य सुख के लिए मानव मानव के प्रति भी उत्पीडन का व्यवहार करता है। उस समय वह यह भूल जाता है कि सभी जीवो के प्राण एक समान हैं और हिंसा के किसी भी कार्य से कष्ट सभी को होता है। अहिंसा का समर्थन ससार के सभी धर्मों मे किसी न किसी रूप मे मिल जाता है पर इस सिद्धात का सूक्ष्म तथा विषद् विवेचन हमे जैनधर्म मे मिलता है। "आचाराग सूत्र" के अध्ययन मे कहा गया है कि 'जैसे तुम अपने दुख का अनुभव करते हो वैसे पर दुख का अनुभव करो।' पर उत्पीडन की भावना से निहित होना ही अहिंसा है। हिंसक प्रवृत्ति मनुष्य का स्वाभाव नही है।

निर्गुणमार्गी सतो ने उपर्युक्त सभी बातो का चिंतन किया और स्वय प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा समाज मे उस समय की प्रचलित हिंसक प्रवृत्ति का विरोध किया तथा अहिंसा का प्रबल समर्थन किया। यहाँ तक कि उस समय की चमार, कसाई आदि जातियो मे भी सत हुए। जिनका कि व्यवसाय हिंसा पर आधारित था पर उन्होने हिंसा को हेय और अहिंसा को उपादेय बतलाया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इन सतो पर वैष्णवो की अहिंसा का प्रभाव मानते हैं पर मेरा विचार है कि कबीर तथा दूसरे संतो पर बहुत कुछ हद तक जैनधर्म की अहिंसा का भी प्रभाव पडा है। पत्ती तोडने पर भी कबीर को जीव हिंसा दीख पडती है—

जैन जीव की सुधि न जानै,
पाति तोडि देहुरि आनै।
ताकि हत्या होई अद्भुता,
षट् दर्शन मे जैन विगूता॥

आगे कबीर पडितो और श्रावको को फटकार कर कहते है कि तुम्हारा पानी छानकर पीना व्यर्थ है जबकि तुम पडौसी से मिलकर नही रह सकते। उनके ही शब्दो मे देखिए —

पाडौसी सु रूसणाँ, तिल तिल सुख की हाणि।
पडित भये सरावगी, पाणी पीवैं छाणि॥
(ग्रन्थ साहब, पृष्ठ १२)

आगे कबीर और भी कहते हैं कि जो व्यक्ति भाग, मछली तथा सुरा का पान करते है, उनका तीर्थ यात्रा करना, व्रत नियमो का पालना सब व्यर्थ है—

भाग माछुली सुरा पान जो जो प्राणी खाही।
तीरथ व्रत नेम किए, वे सबही रसातल जाही॥
(कबीर ग्रन्थावली, परिशिष्ट, पृ० २५६)

इसी प्रकार इस पद मे कबीर मालिन से पत्ती तोडने के विषय मे कहते हैं कि हे मालिन तू पत्ती तोडकर अनर्थ कर रही है क्योकि उस वृक्ष की पत्ती मे भी जीव है परन्तु तू जिस मूर्ति को चढाने के लिए पत्ती तोड रही है वह तो निर्जीव ही है—

भूलि मालिन पाती तोडे,
पाति पाति जीव।
जा मूरति को पाती तोडे,
सो मूरति निर्जीव॥
(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६८)

आगे कबीर हिंसा के नाम पर धर्म बताने वाले पाडे को खरी-खरी सुना देते हैं—

पाडे कौन कुमति तोहि लागी,
जीव बधत अरु धरम कहत हो,
अधरम कहाँ है भाई।
आपन तो मुनिजन ह्वै बैठे,
कासन कहो कसाई॥

दादू का मत है कि जो नर पर प्राणी की घात करता है वह निश्चय ही नरक जाता है। मास का आहार करने वाला, मद्य का पान करने वाला और इन्द्रियजन्य विषयो मे लिप्त रहने वाला व्यक्ति निर्दयी होता है क्योकि वह आत्म स्वाभाव के विपरीत कार्य करता है व्यक्ति स्व के अहकार को मारता नही और दूसरे प्राणियो को मारता है पर इस प्रकार की विपरीत क्रिया से ईश्वर की प्राप्ति कैसे हो सकती है?—

दादू कोई काहु जीव की करै आतमघात।
साच कहू ससा नही, सो प्राणी दो जगि जात॥
मास अहारी मदु पिवै, विषय विकारी सोई।
दादू आत्मराम बिन, दया कहाँ ते होई॥
आपस को मारे नही, पर को मारन जाई।
दादू आपै मारे विना, कैसे मिले खुदाई॥

वावा मलूकदास कहते हैं कि किसी को पीड़ा देने मे क्या लाभ है? यह मूर्ख प्राणी जानता नही है कि सभी जीवो को एक समान पीडा होती है। जरा सा काटा चुभने मे कितनी पीडा होती है फिर [तो कई इतने दुष्ट होते हैं कि दूसरे प्राणियो का गला काटकर खा जाते हैं—

पीर सबन की एक सी,
मूरख जानत नाही।
काटा चूभै पीर है,
गला काट कोई खाही॥

आगे हरी डाली तोडने मे भी मलूकदास ने हिंसा मानी है—

हरी डारि न तोडिए, लागै बूरा वान।
दास मलूका यो कहै अपना सा जिव जान॥
(सतवाणी १, पृष्ठ १०४)

सत धरनीदास कहते हैं कि मासाहारी व्यक्ति को ज्ञान की बातें करना व्यर्थ है—

मासाहारी जीयरा, सो पुनि कथै गियान।
नागी ह्वै घू घट करै, धरनि देख लजान॥
(धरनीदास, सतवानी सग्रह १, पृष्ठ ११६)

यहाँ पर धरनीदास का यही मत ज्ञात होता है साधु पुरुष मासाहारी या हिंसक नही हो सकता क्योकि पहले स्वय का चरित्र निर्माण करके ही ज्ञान का उपदेश देना सार्थक है।

अहिंसा की भावना मे समाज के सुख और शाति की भावना छिपी हुई हैं। परस्पर बीजारोपण के द्वारा अहिंसा की भावना सुलभ है, दूसरो को दुखी देखकर दुखी होना, सुखी देखकर सुखी होना, पारस्परिक प्रेम का एक मात्र साधन है। पारस्परिक अहिंसा व्यवहार ही शाति उत्पन्न कर सकता है। हमारे देश मे धर्म के नाम पर देवी-देवताओ के सामने बलिदान के रूप मे हिंसा होती है। अनेक मनगढंत वाक्य रचकर उस हिंसा की पुष्टि की जाती है और उसे धर्म कहा जाता है। ऐसी हिंसा को ही विवेकी पुरुषो ने त्याज्य बताया है क्योकि इस हिंसा के द्वारा केवल प्राणी का ही घात नही होता बल्कि धर्म के नाम पर समाज के व्यक्तियो को पथभ्रष्ट किया जाता है।

सत अधिकाश उन जातियो मे जन्मे थे जिनमे हिंसा कार्य बुरा नही माना जाता था। मध्य युग मे भी हिंसा बढ़ रही थी। इन सन्तो ने सभी दृष्टियो से विचार किया कि हिंसक भावनाओ के साथ प्रभु भक्ति और ज्ञान का ताल-मेल नही बैठ सकता इसीलिए ही उन्होंने बडी युक्ति संगत भाषा मे हिंसा त्याग का उपदेश दिया और अहिंसक होकर अपनी भावनाओ को सात्विक बनाने का आग्रह किया। इससे यही निष्कर्ष

निकलता है कि प्राणी अहिंसा को ग्रहण करने से स्वमेव कलह, ईर्ष्या और दम्भ को अपने से दूर रखने मे सफल हो सकता है और जीवन मे शाति प्राप्त कर सकता है ।

निर्गुण मार्गी कवियो का काव्य अध्यात्म से ओतप्रोत है । उसमे आध्यात्मिक चेतना विषद् रूप से भरी है और उसमे प्राणी मात्र के प्रति आत्मविकास करने की बलवती प्रेरणा है । यो तो भारतीय साहित्य और दर्शन मे आध्यात्मिकता के लिए प्रमुख स्थान रहा है तथा आदिकाल से लेकर आज के प्रगति के युग मे भी साहित्य मे आध्यात्मिक रस की धारा अबाध गति से वहती चली आ रही है । भारतीय सस्कृति मे अध्यात्म शरीर मे प्राण की तरह व्याप्त है । इसी आध्यात्मिकता के कारण ही भारतीय सस्कृति अविछिन्न है । आध्यात्मिक जीवन आतरिक जीवन है । आत्मा मे ही परमात्मा होने की शक्ति तथा गुण विद्यमान है यदि उनका विकास हो जावे । सत साहित्य मे इस चरम सत्य पर भी प्रकाश डाला गया है । भगवान महावीर स्वामी का अमर सदेश "जियो और जीने दो" तो पग-पग पर मिलता है । कवीर की एक प्रति छत्तीसगढ मे प्राप्त हुई है जिसमे अवधि ज्ञान, मन· पर्यय‌ज्ञान आदि का वर्णन ज्यो का त्यो मिलता है । सतो के अङ्गो के वर्णन—साच, दयानिर्वैरता, साध, असाध, मन, गुरु आदि मे जैन धर्म के तत्वो की स्पष्ट छाप मिल जाती है । मध्य युग के इस्लामी शासन मे अहिंसा का प्रचार करने का वहुत कुछ श्रेय ऐसे ही निस्पृही सतो को है ।



शील

शक्ति-गुण से यदि नही सम्पन्न है जन,
जन्म मानव-कोटि मे है निष्प्रयोजन ।
—अर्हंत्

२६

राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण में महावीर की प्रेरणाएँ

□डा० नरेन्द्र भानावत

राष्ट्रीय चरित्र की नींव व्यक्ति-चरित्र .

व्यक्ति राष्ट्र की मूल इकाई है। सुसंगठित शक्ति सम्पन्न व्यक्ति-समुदाय मे ही राष्ट्र का निर्माण होता है। राष्ट्रीय चरित्र का स्वरूप इस व्यक्ति-समुदाय के आचार-विचार, कार्य-कलाप, रीती-रिवाज और सामूहिक आदर्शों तथा लोक सम्मत परंपराओ से निर्धारित होता है। इस दृष्टि से राष्ट्रीय चरित्र की नीव व्यक्ति चरित्र जितनी हैं। व्यक्ति-चरित्र जितना पवित्र, ईमानदार और कर्त्तव्यनिष्ठ होगा, राष्ट्रीय चरित्र उतना ही दृढ और प्रशस्त होगा।

आत्म निर्भरता की शिक्षा :

चरित्र निर्माण की, चाहे वह व्यक्ति-चरित्र हो चाहे राष्ट्रीय चरित्र, आवश्यक शर्तें है-स्वतन्त्रचेता अस्तित्व की पहचान, अदम्य जीविषा और अपने पुरुषार्थ के वल पर निरन्तर आगे वढते रहने की दृढ-सकल्प शक्ति। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने व्यक्ति के इसी आत्म स्वतान्त्र्य भाव को जागृत किया। उन्होने कहा है-आत्मन्! तू ही अपने भाग्य का निर्माता और सुख-दुख का कर्त्ता है। सत्प्रवृत आत्मा ही तेरा मित्र है और दुष्प्रवृत्त आत्मा ही तेरा शत्रु है। तू अपने विकारो को जीत कर स्वय परमात्मा वन सकता है। इस प्रकार महावीर ने आत्म-निर्भरता की शिक्षा देकर यह बताया कि ईश्वरत्व की स्थिति प्राप्त करने के साधनो पर किसी वर्ग विशेष या व्यक्ति विशेष का अधिकार नही है। उस अवस्था को हर व्यक्ति, चाहे वह किसी वर्ग, धर्म या मत का हो, मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता के बल पर प्राप्त कर सकता है।

आत्मवाद मूलक कर्म सिद्धांत .

भगवान महावीर द्वारा आत्म-निर्भरता की दी गई यह शिक्षा चरित्र की मजबूती का केन्द्र-विन्दु है। आज वह केन्द्र-विन्दु कमजोर पड़ता जा रहा है। फलस्वरूप व्यक्ति अनास्था, निराशा, विश्वास और हीन भावना से ग्रस्त हैं। इसमे अपनी जिम्मेदारी को इमानदारी के साथ महसूस करने की भावना का लोप होता जा रहा है। जव व्यक्ति की यह स्थिति हो तव राष्ट्र कैसे आगे वढ सकता है ? ऐसी स्थिति मे भगवान महावीर का आत्मवादमूलक कर्म सिद्धात अपने को असहाय, निराश और पराधीन समझने वाले व्यक्ति मे आस्था, आत्मविश्वास, पुरुषार्थ और स्वावलम्वन की भावना जागृत कर, उसे अपनी पूरी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार कर्त्तव्यकपालन की प्रेरणा देता है।

अस्तित्व के प्रति जागरूकता

अपने अस्तित्व के प्रति जागरूकता का बोध व्यक्ति को उदार और सवेदनशील बनाता है और वह दूसरे के अस्तित्व को महत्व देने लगता है। इसी बिन्दु से अहिंसा की सामाजिकता का भाव प्रकट होता है। भगवान महावीर अहिंसा के सबसे बडे गूढ व्याख्याता थे। उन्होने कहा–ज्ञानी होने का सार यह है कि किसी जीव की हिंसा न करें। तू जिसे मारना चाहता है, जिसको कष्ट व पीडा पहुचाना चाहता है, यह अन्य कोई नही, तेरे समान ही चेतना-सम्पन्न प्राणी है। अत ऐसा समझ कि वास्तव मे तू ही है। महावीर की अहिंसा सूक्ष्म और गहन है। उनके अनुसार किसी प्राणी का वध करना मात्र हिंसा नही है बल्कि किसी प्राणी के मन, वाणी, शरीर, श्वास आदि मे से किसी को क्षति पहुचाना या उस पर प्रतिबन्ध लगाना भी हिंसा है।

अहिंसामूलक समता सिद्धांत

महावीर की इस सूक्षम अहिंसक दृष्टि ने समाज मे प्रचलित ऊंच-नीच के भेद-भाव को दूर किया। उन्होने जातिवाद, वर्णवाद तथा रगभेद का खण्डन किया और बताया कि व्यक्ति जन्म या जाति से बडा नही है। वह बडा बनता है–अपने गुण और कर्म से। महावीर ने सामाजिक भेद-भाव के विरुद्ध क्राति की। हरिकेशी जैसे शुद्ध, कुलोत्पन्न उनके साधु सघ मे थे। उन्होने नारी की स्वतन्त्रता के लिए पहल की। चन्दनबाला जैसी नारी को न केवल दीक्षित ही किया वरन् साध्वी सघ का सम्पूर्ण नेतृत्व भी उसे सौंपा।

राष्ट्र की सच्ची प्रगति तभी सम्भव जब बनती है उसके देह के सभी अगो को समान महत्व और आदर मिले। महावीर ने मानव ही नही, प्राणिमात्र के प्रति समभाव दर्शाया। आज विश्व मे धर्म् सम्प्रदाय और जाति के नाम पर तनाव है। काले-गोरे मे भेद किया जाता है। महावीर का अहिंसामूलक समता सिद्धात हमे मनुष्य को मनुष्य समझकर प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव रखने की प्रेरणा देता है–मित्ती मे सव्वभूएसु वैरमज्झ न केणइ।

आवश्यकता से अधिक संग्रह करना सामाजिक अपराध

राष्ट्रीय स्तर पर समता भाव तभी प्रतिष्ठित हो पाता है जब राष्ट्र मे आर्थिक विषमता न हो। जहा आर्थिक विषमता होती है वहा दो वर्ग बन जाते है–एक सम्पन्न, जिसके पास आवश्यकता से अधिक सग्रह होता है तथा दूसरा विपन्न, जो अपनी मूल आवश्यकताओ से भी वचित कर दिया जाता है। दोनो वर्गों मे यह सघर्ष शोषण, युद्ध और हिंसा को जन्म देता है। आज यद्यपि वैज्ञानिक प्रगति ने उत्पादन के साधन बढाकर उत्पादन की गति तेज कर दी है पर लोभ और सचय की वृत्ति ने कृत्रिम अभाव पैदा कर दिया है जिससे दुनिया मे अशाति भुखमरी और हाहाकार है। आज व्यक्ति भौतिक समृद्धि के पीछे पागल हैं। वह कुछ न करके बिना परिश्रम के समृद्ध होना चाहता है। दूसरे के प्राप्य को अपना बना लेने की यह प्रवृत्ति उसे भ्रष्टाचार की ओर ले जाती है। देश मे बढती हुई तस्कर–वृत्ति,चोर–बाजारी, घूसखोरी, वस्तुओ मे मिलावट, जमाखोरी और करो की चोरी इसी का परिणाम है।

भगवान महावीर ने इस अर्थजन्य विषमता और चौर्यवृत्ति को रोकने के लिए अपरिग्रह और अचौर्यव्रत की विचारधारा दी। उन्होंने कहा-परिग्रह के समान जगत् मे कोई दूसरा बन्धन नही है। आवश्यकता से अधिक सग्रह करना पाप है, सामाजिक अपराध है। आनन्द और शान्ति का रास्ताहै–अपकी इच्छाओ को मर्यादित करना,

आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना। क्योंकि हमारे पास जो अनावश्यक संग्रह है उसकी उपयोगिता कही और है। कही ऐसा समुदाय है जिसे इस सामग्री की ज़रूरत है, और जो उसके अभाव मे सतप्त है, दुखी है।

अचौर्यव्रत का विधान :

लोभ की प्रवृत्ति व्यक्ति को कृपण और कठोर बना देती है और उसे हिताहिक का ज्ञान नहीं रहता। वह येन-केन प्रकारेण धन बटोरने मे ही लगा रहता है। जीवनपोषक तत्वो मे, जीवन घातक पदार्थों की मिलावट करने की आज जो प्रवृत्ति बढी है, वह इसी कारण है। भगवान महावीर ने लोभ प्रवृत्ति को रोकने के लिए अचौर्यव्रत का विधान करते हुए वताया कि सद्गृहस्थ चोरी का माल न खरीदे, न चोर को किसी प्रकार की सहायता दे, राज्य के नियम के विरुद्ध व्यवसाय न करें, तोलने और नापने मे गडबडी न करें,असली मे नकली तथा वहुमूल्य वाली वस्तु में कम मूल्य की वस्तु मिलाकर न वेचें।

असंविभागशील की मुक्ति नहीं

अपरिग्रह की भावना को वल देने के लिए ही त्याग भावना का विधान किया गया है। सद्गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह मर्यादा से अधिक द्रव्य का दूसरो के लिए विसर्जन करे, उसे जन कल्याणकारी प्रवृतियो मे लगाये। भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा-असविभाग न हु तरस मोक्खो अर्थात् जो असंविभागशील है, अपनी प्राप्त सामग्री दूसरो मे वाटता नही, उसकी मुक्ति नही होती।

भगवान महावीर ने परिग्रह को मर्यादित करने और अनावश्यक सग्रह न करने की जो वात व्यक्ति के लिए कही, वह आज राष्ट्रो पर भी 'लागू होती है। विश्व के विकसित और विकासशील राष्ट्र जब परस्पर आयात–निर्यात के क्षेत्रो मे इस प्रकार की मर्यादायें निश्चत करेंगे तभी विश्व शांति सुरक्षित रह सकेगी और भगवान महावीर का यह कथन चरितार्थ हो सकेगा कि परस्पर उपकार करते हुए जीना ही वास्तविक जीवन है-परोस्परोपग्रहो जीवानाम्।

सापेक्ष चिन्तन और विश्व मैत्री ·

राष्ट्रीय चरित्र का सुदृढ़ विकास राष्ट्रीय एकता पर ही अवलम्बित है। भारत जैसे राष्ट्र मे सभी धर्मों, रीति-रिवाजो, भाषाओ और उपासना प्रकारों को समान आदर देने से ही राष्ट्रीय एकता सुरक्षित है। सघर्ष और अशाति का मूल कारण हटवादिता, दुराग्रह और एकान्तिकता है। जब व्यक्ति दूसरों के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करता है तो वह सहृदय और उदार बनता है। भगवान् महावीर ने परस्पर स्नेह और सौहार्द का वातावरण बनाये रखने के लिए कहा कि प्रत्येक वस्तु के अनन्त पक्ष हैं, ऐसा समझ कर यह वस्तु एकान्तत· ऐसी ही है, ऐसा मत कहो। यदि वस्तु के सभी पहलुओं का अच्छी तरह से देख लिया जाय तो कहीं न कहीं सत्यांश निकल ही आयेगा। भगवान् महावार का यह सापेक्ष चिन्तन हमे दिशा सकेत करता है कि कोई भी मत या सिद्धात पूर्णत सत्य या असत्य नही है, अर्थात् सिद्धान्तो के प्रति दुराग्रह नही होना चाहिए। विरोधियो द्वारा गृहीत और मान्य सत्य भी सत्य है, इसलिये उस सत्य का अपने जीवन मे उपयोग न करते हुए भी उसके प्रति सम्मान का भाव रखो। मनुष्य का ज्ञान अपूर्ण है और ऐमा कोई एक मार्ग नहीं है जिस पर चलकर एक ही व्यक्ति सत्य के सभी पक्षो की जानकारी प्राप्त कर सके। अतः सत्य के लिए कथित अन्य मार्ग भी उतने

श्रेष्ठ हैं जितना हमारा अपना मार्ग हैं । कहना न होगा कि हमारी विदेश नीति के निर्धारक तत्वो मे ये बातें किसी न किसी रूप मे विद्यमान हैं। जिस प्रकार अनेकान्तवाद दूसरे के विचारो की सत्यता, प्रामाणिकता और स्वायत्तता को स्वीकार करता है, उसी प्रकार गुटनिरपेक्षता सिद्धान्त भी अन्य राष्ट्रो की नीतियो, उनकी सार्वभौमिकता और स्वतन्त्रता के प्रति सम्मान का भाव रखता है ।

उठो ! प्रमाद मत करो

चरित्र निमाण की प्रक्रिया व्यक्ति से शुरू होती है । अत राष्ट्रीय चरित्र की सुदृढता के लिए व्यक्ति की जागरुकता पहली शर्त है। यह जागरुकता आत्मिक और लौकिक दोनो स्तरो पर आवश्यक है । भगवान् महावीर का कथन है कि जीव मे चैतन्य के साथ अचेतन अश भी है। वही कर्मों को खीचता है । अत पूर्ण जागरुकता के लिए अचेतनता को तोडना होगा। इसके लिये अप्रमत्तदशा प्राप्त करना आवश्यक है। इसकी प्राप्ति के लिए इन्द्रियो की विषयासक्ति, क्रोध, मान, माया, लोभादि मनोवेगो, आलस्य या असावधानी, व्यर्थ की वातो आदि से बचना होगा, क्योंकि ये प्रमाद हमारे हृदय को विकृत और संकुचित करते हैं। भगवान् महावीर ने इसीलिये कहा—उठो, प्रमाद मत करो—उठ्ठिए णो पमायए ।

प्रमाद दशा के कारण ही आज चारो ओर उच्छृखलता और अनुशासनहीनता का वातावरण है । जब मन, वाणी और कर्म पर सयम नही रहता तब विध्वसक प्रवृत्तिया हावी हो जाती हैं। इन पर काबू पाने के लिए आत्मानुशासन आवश्यक है। भगवान् महावीर ने इसके लिए सम्यक् चरित्र पर विशेष बल दिया । चारित्र की परिभाषा करते हुए उन्होने कहा—अशुभ कर्मो से निवृत्त होना और शुभ कर्मों मे प्रवृत होना ही चारित्र है ।

जीवन के लिए व्रत-साधना

यह चारित्र सम्यक् विवेक दृष्टि और सम्यक् आस्था-श्रद्धा के योग से ही प्राप्त किया जा सकता है । इसके लिए भगवान् महावीर ने बारह व्रतो की भूमिका प्रस्तुत की। जो पूर्णतया ज्ञान व्रतो की साधना करता है वह श्रमण है, मुनि है और जो अशत इन व्रतो को अपनाता है, वह श्रावक है, गृहस्थ है। इन बारह व्रतो की तीन श्रेणिया हैं—पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। अणुव्रतो मे श्रावक अहिंसा के पालन द्वारा वात्सल्य एव मैत्री भाव का प्रसार करता है, सत्य द्वारा वह वाणी के प्रयोग मे सावधानी वरतता है, अचौर्य द्वारा वह लोभ-सवरण करता है, ब्रह्मचर्य द्वारा वह काम भावना और अपरिग्रह द्वारा सग्रह-वृत्ति का नियमन करता है ।

गुणव्रतो में प्रवृत्ति के क्षेत्र को सीमित करने पर बल दिया गया है। शोषण की हिंसात्मक प्रवृत्तियो के क्षेत्र को मयादित एव उत्तरोत्तर सकुचित करते जाना ही इनका उद्देश्य है। शिक्षा व्रतो मे आत्मा के परिष्कार के लिए अनुष्ठानो का विधान है। इनमे समभाव, सयम, तप और त्याग पर बल दिया गया है ।

शील और शक्ति का समन्वय

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर ने जिस चारित्र धर्म की प्ररूपणा की, उसके अनुपालन से व्यक्ति एव राष्ट्र का जीवन इतना सयमनिष्ठ एव आचारसम्पन्न बन जाता है कि उसके द्वारा किसी का शोषण नही होता और उसमे इतनी शक्ति, पुरुषार्थ और क्षमता अर्जित हो जाती है कि कोई दूसरा उसका शोषण नही कर सकता, उसे दबा नही सकता ।



महावीर की दृष्टि में वाणिज्य-व्यापार की आचारमूलक निष्ठाएं

□ उदय नागौरी, बी० ए० जैन० सि० प्रभाकर

युगदृष्टा महावीर ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व वैचारिक क्रान्ति का जो शंखनाद किया था, भारतीय दर्शन मे महत्वपूर्ण है। महावीर ने अहिंसा अपरिग्रह एव अनेकान्त की जो त्रिवेणी प्रवाहित की थी जीवन के परिवर्तित मूल्यो के बावजूद हमारा पथ-प्रदर्शन कर रही है। उनकी क्रांति थोथी कल्पना पर आधारित न होकर जीवन की प्रयोगशाला मे अनुभूत तथ्यो से पूर्ण थी। वे आचार मे अहिंसा, व्यवहार मे अपरिग्रह एव विचार मे अनेकान्त को प्रकट करना चाहते थे।

महावीर कालीन संस्कृति सरल, धर्ममय एव समन्वय कारी थी। उन्होने आदर्श एव यथार्थ, प्रवृत्ति एव निवृत्ति तथा भौतिक और आध्यात्मिक धाराओ को जीवन मे समन्वय कर विचार प्रकट किये। वे आज भी चिर नवीन प्रतीत होते हैं। आचार और विचार की इस समता को जीवन में ग्रहण करले तो सारे दु ख, कठिनाईया और अभाव हमसे दूर हो जाएंगे।

जैन सस्कृति मे मानव-जीवन को अत्यन्त दुर्लभ महत्वपूर्ण एव महान माना गया है। चूंकि जीव (आत्मा) अपने पूर्णत्व को प्राप्त करने तक विविध योनियो मे परिभ्रमण करता है और सिद्धत्व प्राप्त कर कर्ममुक्त हो जाता है। आचार्य अमितगति ने —"भवेषु मानुष्य भव प्रधानम्"[1] कह कर इसका महत्व बताया हैं। निश्चित ही इतना महगा मानव जीवन व्यर्थ ही गवा देने जैसा नहीं। इसीलिए महावीर ने समय[2] मात्र भी प्रमाद न करने का सन्देश दिया है।[3] अपने शिष्य गौतम को आत्मा-

१. अमितगति कृत श्रावकाचार १।१२

२. 'समय' काल का अत्यल्प अविभाज्य अश है।

३. दुल्लहे खलु माणुसे भवे,
चिर कालेण वि सव्व पाणिणं।
गाढा य विवाग-कम्मुणो,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥
उत्तराध्ययन सत्र १०।४

भिमुख होने का उपदेश देते हुए उन्होने बताया कि चिरकाल तक विविध योनियो मे भटक कर दुर्लभ मनुष्य जन्म की प्राप्ति होती है। इसे प्राप्त कर भी जो आत्मा की प्रगति हेतु प्रयत्न न करे वह यथार्थ मे इसे खो रहा है। इसलिए हे गौत्तम ! समय मात्र भी प्रमाद न कर और हर समय आत्मा को कर्म–मल से पृथक् करने हेतु विचार कर।

अनन्तकाल से प्रत्येक जीव वास्तविक सुख आनन्द और शान्ति पाने के लिए भव-भ्रमण कर रहा है। सुख वस्तुनिष्ठ भी होता है और आत्म-निष्ठ भी। वस्तुनिष्ठ सुख भौतिक, क्षणिक एवं दु.ख परिवेश मे प्रकट होता है तो आत्मनिष्ठ सुख अजर अमर परिपूर्ण एव आध्यात्मिक है। भौतिक सुखो का सम्बन्ध शरीर अर्थात् इन्द्रियो एव मन से है और पराकाष्ठा पर भी दु ख ही प्रतीत होता है। धनधान्य, वैभव एव सौन्दर्य के धनी व्यक्ति भी अन्तत दु खी है। दूसरी ओर आत्मा के कल्याण मे लगा साधक हमे दु खी एव असहाय लग सकता है परन्तु सुखी वही है।

जैन सस्कृति के अनुसार जीव का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है और मोक्ष का एक मात्र मार्ग धर्म है। धर्म के दो भेद हैं—[४]

१. अनगार धर्म

(आगार रहित, तीन करण तीन योग पूर्ण, महाव्रत-धर्म)

२. सागार धर्म (स+आगार)

(आगार सहित, दो करण तीन योग पूर्ण, अणुव्रत-धर्म)

अनगार धर्म मे व्रतो के पालन करते हुए किसी प्रकार की छूट या आगार नही है। श्रमणधर्म में पाच महाव्रतो को पूर्णत पालन करना है। यह आकाश यात्रा के समान कठिन एव परिषह पूर्ण है।

गृहस्थ का धर्म सागार धर्म है अर्थात् यह साधना का राजमार्ग नही सीमित मार्ग है। यह जीवन की सरल पगडन्डी है। गृहस्थ पर स्वय, परिवार, समाज और राष्ट्र का उत्तरदायित्व है अतः वह महाव्रतो को पूर्णत पालन नही कर सकता। श्रावक के व्रत 'अणु' रूप हैं परन्तु हेय और महत्वहीन नही। वह भी धर्ममय जीवन व्य-तीत कर कर्म बन्धन क्षय कर मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। जैनधर्म मे श्रावक का पद जीवन की भूमिका को प्रकट करता है जहा त्याग और भोग, स्वार्थ और परमार्थ, प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुन्दर समन्वय है अत सुगठित एव व्यवस्थित समाज रचना की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है।

महावीर की वाणी ने किसी विषय को अछूता न छोडा। आज हम प्रगतिशीलता की डीग भले ही हाके, महावीर युग-युगो से आगे थे। उनके सिद्धात आज भी नूतन और व्यवहारिक है। आज समाजकी नसो मे व्याप्त विश्रृखलता, असन्तोष, भ्रष्टाचार सघर्ष एव परिग्रह सिद्ध करते हैं कि हम भौतिक दृष्टि से सफल भले ही हो, आध्यात्मिकता से कोसो दूर है। यहा हम वाणिज्य-व्यापार सम्बन्धी आचार मूलक निष्ठाओ पर विचार करेंगे। जिन पर महावीर ने अपना सन्देश दिया है।

जैन सस्कृति मे विकास का अर्थ आन्तरिक समृद्धि है यदि बाह्य सुख सामग्री आत्म सुख पाने मे

४. चरित्त धम्मे दुविहे पण्णते, तंजहा अगार चरित्त धम्मे चेव अणगार चरित्त धम्मे चेव ॥

—स्थानाग सूत्र

बाधक है तो वह भी हेय ही है परन्तु आज मानव भौतिक एव क्षणिक सुखो के पीछे दीवाना है। आज जमाखोरी, घू स, चोरी, तस्कर व्यापार, काला बाजारी कर-चोरी आदि के घुन समाज की जडे खोखली कर रहे है। अधिक लाभ पाने हेतु वस्तुओ मे और खाद्य पदार्थों मे मिलावट कर कतिपय व्यक्ति शीघ्र ही धनी बनना चाहता है पर ऐसे व्यक्ति वास्तव मे समाज के शत्रु है।

अर्थनीति को स्पष्ट करते हुए महावीर ने बताया कि लाभ की दशा मे गर्व नही करना चाहिए तथा अप्राप्ति पर शोक नही करना चाहिए।[५] इसी प्रकार थोडा लाभ होने पर दु खी नही होना चाहिए।[६]

आज समाज मे धन का समुचित विभाजन नही होने के कारण धनिक वर्ग अधिक धनी और मध्यम वर्ग अधिक निर्धन होता जा रहा है। इसका मूल कारण परिग्रहवाद है। अर्थशास्त्र के अनुसार सम्पत्ति मे उत्पादन के सभी साधनो का समावेश किया जाता है। अत. परिग्रह परिमाण व्रत मे जिन मर्यादाओ का उल्लेख है उनमे वे साधन सम्मिलित किये गए हैं।

मत्स्य उद्योग, मद्यपान, अण्डो का व्यापार, शस्त्र विक्रय कर की चोरी, रिश्वत लेना आदि विषयो पर महावीर ने जो सदेश दिया है उसके अनुसार उपर्युक्त उद्योग एव क्रियाएं पापमूलक हैं और आत्मा को पतन की ओर ले जाते हैं।[७]

महावीर ने श्रावक धर्म पालन हेतु बारह व्रतो का विधान किया। इनमे पाच अणुव्रत, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तीन गुणव्रत— दिशा परिमाण व्रत, उपभोग परिभोग परिमाण व्रत, अनर्थदण्ड विरमण व्रत और चार शिक्षा व्रत— सामायिक, देशावकाशिक, प्रौषधोपवास एव अतिथि सविभाग व्रत हैं। इन व्रतो मे वाणिज्य व्यापार की अनेक आचारमूलक निष्ठाए प्रकट होती हैं। इनसे ध्वनित होता है कि दैनिक जीवन मे व्यापार आदि व्यवसाय करते हुए आचार संहिता का पालन करना चाहिए।

प्रथम व्रत अहिंसा—स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के अतिचारो मे बंधे, वई, छविच्छए, अइभोर भत्तपाण विच्छेए हैं।

बधे

पशु-पक्षी तथा नौकर चाकार आदि आश्रित जनो को कष्टदायी बन्धन मे रखना। यह बन्धन शारीरिक, आर्थिक या सामाजिक हो सकता है।

अतिभार

पशु या दास दासी पर सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना। नौकर, मजदूर या अन्य कर्मचारी से इतना अधिक काम लेना कि वे इस भार से पिस जाय।

आज शोषक और शोषित-वर्ग का संघर्ष इसी कारण है कि श्रमजीवी वर्ग उचित परिस्थियो अनुकूल वातावरण मे कार्य कर अपना लाभाश भी मागते हैं।

---

५. लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुत्ति न सोइज्जा। आचाराग १।२।५
६. थोवं लद्धुं न खिसए। दशवैकालिक २।२९
७. द्रष्टव्य—औपपातिक सूत्र एव विपाक सूत्र

भत्तपाण विच्छेए

नौकर आदि से अधिक कार्य लेना और तदनुरूप भोजन या वेतन न देना। समय पर वेतन न देना, आजीविका मे व्यवधान उपस्थित करना तथा वेतन मे अनुचित कटौती करना।

आधुनिक हडतालें, सघर्ष और तालाबन्दी का यही कारण है।

द्वितीय व्रत स्थूल मृषावाद विरमण व्रत

श्रावक का कर्त्तव्य है कि दुर्भावना एव मानसिक चिन्तन मे असत्य का सहारा न लें। मृषावाद के पाच भेद है—

१. कन्यालीक—वैवाहिक सम्बन्ध के समय कन्या की आयु, स्वास्थ्य, वाणी, शिक्षा के वारे मे दूसरो को धोखा देना।

२ गवालीक—गाय, भैंस आदि का क्रय-विक्रय करते समय उनकी दुग्ध-क्षमता एवं कार्य-क्षमता के बारे मे असत्य भाषण।

३. भूम्यलीक—कृषि, निवास आदि भूमि के विषय मे वस्तु स्थिति को छिपाना।

४. स्थापना मृषा—किसी की धरोहर को दवाना। किसी सस्था या सार्वजनिक कार्य के लिए सग्रहीत राशि को तत्सम्बन्ध मे व्यय न कर निजी या वैयक्तिक कार्यों मे लगाना।

५ कूट साक्षी—लोभ वश झूठी साक्षी देना। जाली दस्तावेज जाली हस्ताक्षर' मुद्रा या मोहर बनाना। जाली नोट या सिक्के बनाना भी इसी श्रेणी मे आता है।

आज झूठ का सहारा लेकर अनुचित कार्य हो रहे हैं। झूठे दस्तावेज, जाली नोट, खोटे सिक्के आए दिन अपना परिचय दे रहे हैं। कुछ समय पूर्व जाली नोट और सिक्के बनाने वाले गिरोह सरकार द्वारा पकडे गए है।

तृतीय अचौर्य व्रत

श्रावक का तीसरा व्रत स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत है। इसके नीचे लिखे रूप हैं—

दूसरे के घर सेंध लगाना।
ताला तोडना। दूसरी चावी लगाना।
विना पूछे दूसरे की वस्तु लेना।
यात्री को लूटना। डाके डालना।
राजकीय कर की चोरी।
व्यापार मे वेइमानी।

इस व्रत के अतिचार हैं—

१ स्तेनाहृत—चोरी की वस्तु खरीदना या उसे घर मे रखना।

२ तस्कर प्रयोग—आदमी रखकर चोरी, डकैती, ठगी या तस्करी करना।

३. विरुद्ध राज्यतिक्रय—आयात-निर्यात के राज्य नियमो का अतिक्रमण करना।

४ कूट तुला कूट मान—नाप तथा तोल मे बेईमानी।

५ तत्प्रतिरूपक-व्यवहार—वस्तु मे मिलावट या अच्छे सेंपल (नमूना) दिखाकर। भेजकर घटिया पदार्थ देना।

जरा चारो ओर दृष्टिपात करे तो हम पाए गे कि खाद्य पदार्थ, औषधिया, पेय पदार्थों मे मिलावट आज की मुख्य समस्या है। विषमिश्रित मद्य, धतूरा मिश्रित तेल सादृश्य या घटिया वस्तु' मूल्यवान

पदार्थ मे मिलाने के परिणाम स्वरूप परिवार के परिवार एव गांव तक काल कवलित हो जाते हैं या उन्हे असाध्य रोग जकड लेते हैं। ऐसे समाचार प्राय. मिलते रहते हैं।

चोरी डकैती के वैज्ञानिक तरीके, आयकर व (Incom Tax) विक्रय कर (Sales Tax) आदि को बचाने के दावपेच एव आयात-निर्यात के नियमो का अतिक्रमण आज राष्ट्रीय विकास मे बाधक है।

चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रत ·

श्रावक का चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है। शारीरिक एव वैयक्तिक विकास के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता पर जोर देकर महावीर ने सामाजिक सदाचार का आदर्श प्रस्तुत किया है।

पांचवां परिग्रह परिमाण व्रत :

अपने धन-सम्पत्ति, खेत, मकान, स्वर्ण-रजत आभूषण, नौकर—चाकर, धान्य, बर्तन आदि की मर्यादा निश्चित करना परिग्रह परिमाण व्रत है।[८] सग्रह प्रवृत्ति से पदार्थों के प्रति ममत्व तो होता ही है साथ ही अन्य व्यक्ति के लिए अभाव भी पैदा होता है। परिग्रह के मूल मे इच्छाओ का अनियन्त्रण है क्योकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।[९] अनावश्यक पदार्थों का सग्रह न कर हम इच्छाओ को सीमित करे तो वास्तविक सुख के द्वार खुल जाते हैं।

छटा दिग्व्रत—दिशा परिणाम व्रत :

प्रस्तुत व्रत मे व्यापार या अन्य कार्यों के लिए क्षेत्र की मर्यादा का विधान है। ऊंची, नीची एव चारो तिरछी दिशाओ की मर्यादा कर श्रावक तदानुसार अपना जीवन यापन करता है और उनका अतिक्रमण नही कर सकता।

सातवां—उपभोग परिभोग परिमाण व्रत :

इस व्रत मे उपभोग और परिभोग के पदार्थों की मर्यादा की जाती है, उपभोग का अर्थ है—भोजन पानी आदि पदार्थ जो एक बार ही काम मे आते हैं। परिभोग का अर्थ है-वस्त्र-पात्र, शय्या प्रभ्रति पदार्थ जो अनेक बार काम मे लाए जाते हैं।[१०] साथ ही श्रावक को ऐसे व्यापार नही करने चाहिए जिनसे अधिक हिंसा हो। इन व्यापारो से उत्कट ज्ञानावरणीय कर्म का बन्धन होता है अतः इन्हे कर्मादान कहा है।

अहिंसा जैनधर्म का प्राण है और श्रावक जीवों की हिंसा नही कर सकता। भोजन, सब्जी, फल फूल आदि की मर्यादा की हुई हो तो दूसरे को अपना भाग मिलेगा और हिंसा कम होगी ही।

आठवां—अनर्थ दण्ड विरमण व्रत

निष्प्रयोजन लगने वाली हिंसा से बचना ही अनर्थ दण्ड है। व्यर्थ ही होने वाली शारीरिक क्रियाओ और चेष्टाओ पर अनुशासन करने से हम हिंसा से बचते हैं। चलते हुए किसी फूल को तोडना मसल देना, हिंसा के उपकरण रखना, हिंसात्मक कार्यों के लिए सहायता करना, पैरो मे दूब को कुचलना आदि ऐसी क्रियायें हैं जिनसे व्यर्थ ही हमे हिंसा का निमित्त बनना पडता है।

---

८. दृष्टव्य—प्रतिक्रमण सूत्र सार्थ-अ. भै. सेठिया जैन पारमार्थिक सस्था।
९. इच्छाहु आगासमा अणतए (उतराध्यन सूत्र अ)।
१०. भगवती सम. श. ७३.२.

छठे, सातवें, आठवें व्रत मे व्यक्ति को बाह्य चेष्टाओ पर नियन्त्रण का निर्देश है तो नवें से बारहवें चार व्रत आन्तरिक शुद्धि के लिए हैं ।

सामायिक व्रत

समभाव की प्राप्ति हेतु सामायिक करते हैं । जीवन मे हानि, लाभ, यश, अपयश, प्रेम, वैर आदि विषम परिस्थितियो मे भी जो समभाव बना रह सके धन्य है । अभ्यास क्रम से ऐसी स्थिति प्राप्त करना कठिन नहीं । हमे एतदर्थ मन मे बुरे विचार नही लाने चाहिए और कठोर वचन का त्याग करना चाहिए ।

देशावकाशिक व्रत

इस व्रत मे श्रावक को साधु जैसी चर्या का पालन करना पडता है । सामायिक मे दो घडी का समय ही धार्मिक अनुष्ठान मे लगाया जाता है । इसमे साधक निश्चित काल के लिए क्षेत्र की मर्यादा करता है । उसके बाहर किसी प्रकार की प्रवृत्ति नही करता ।

पौषधोपवास व्रत

धर्म स्थान मे रहकर उपवास करना पौषधावास व्रत है । यह दिन रात अर्थात् आठ प्रहर का होता है ।

अतिथि संविभाग व्रत

संविभाग का अर्थ है अपनी सम्पत्ति या भोग्य वस्तुओ मे विभाजन करना अर्थात् दूसरे को देना । अतिथि के लिए इस प्रकार प्रावधान रखना अतिथि संविभाग व्रत है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महावीर ने वाणिज्य व्यापार की आचार मूलक निष्ठाओ के प्रति जागरूक रहने का सदेश दिया है ।

सातवें अग सूत्र उपासक दशाग सूत्र मे महावीर के आदर्श श्रावको का वर्णन है । आनन्द श्रावक का जीवन तत्कालीन वाणिज्य-व्यवसाय पर प्रकाश डालता है ।

इस दिव्य-विभूति की यह वाणी सदा स्मरण रखने योग्य है कि जब तक वार्धम्य न घेरले, इन्द्रिया अशक्त नही हो जाय, धर्माचरण करते रहना चाहिए ।[११]

अन्त मे यही कहना है कि महावीर के जीवन दर्शन का सार यही है कि किसी प्रकार हिंसा न की जाय । अहिंसा एव सयम जीवन का सार है —

एयं खु नानिणो सारं जं न हिंसाई किंचन ।
अहिंसा संयम चैव एसावन्त वियाणिया ।

● ● ●

---

११. जरा जाव न पीडेइ, वारी जाव न वडडई । जाविंदिया न रामन्ति, ताव धम्म समायरे ॥

३१

मुद्रित कुमुदचन्द्र प्रकरण : एक अन्तः परीक्षण

☐ प्रो० डा० गुलाबचन्द्र चौधरी

[लेखक ने प्रस्तुत लेख मे यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इस प्रकरण मे किसी कुमुदचन्द्र नाम धारी दिगम्बर वादी का निराकरण नही किया गया बल्कि वादि देव सूरि ने अपनी समानान्तर रचना स्याद्वाद रत्नाकर द्वारा दिगम्बर प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुद चन्द्र के प्रचार-प्रसार की कमी करदी और उसकी स्त्री मुक्ति विरोध का करारा जवाब प्रस्तुत किया जिसे इस साम्प्रदायिक रूपक मे दो सम्प्रदाय के आचार्यों की जय पराजय द्वारा दिखाया गया है। पर यह विवाद कोई ऐतिहासिक घटना नही हैं, इसलिए यह कोई ऐतिहासिक नाटक नही है] ।

मुद्रित कुमुदचन्द्र एक लघु प्रकरण[1] (रूपक नाटक) है, जिसमे पाच अ क हैं। इस प्रकरण मे श्री देवसूरि (देवाचार्य) नामक श्वेताम्बराचार्य द्वारा चौलुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज के दरबार मे किसी दिगम्बर जैन वादी कुमुदचन्द्र की स्त्रीमुक्ति विषय पर पराजय का अभिनय किया गया हैं।

इसके कर्त्ता धक्कंट वशीय पद्मचन्द के पुत्र यशश्चन्द्र हैं जिनका समय अज्ञात है। इस प्रकरण की प्रस्तावना से मालूम होता है कि वे एक गृहस्थ थे क्योकि उन्होने सपादलक्ष देश मे किसी शाकम्भरी नरेश द्वारा अभ्युन्नति प्राप्त की थी और उनके पितामह शाकम्भरी नृप के राजसेठ थे। वे अनेक प्रबन्धो के रचयिता भी थे, पर इस कृति के सिवाय उनकी अन्य कृतिया अभीतक नही मिली।

यद्यपि कर्त्ता का समय ज्ञात न होने से इसे हम देव सूरि की समकालिक रचना नही कह सकते फिर भी यह वि०स० १३३४ से पहले की रचना अवश्य है क्योकि उक्त वर्ष मे निर्मित प्रभावक-चरित मे वादि देव सूरिचरित मे इस प्रकरण से ६ पद्य (६२, ६४, ६६, १६६, १६८, २०७, २०६, २१४ और २३४) तथाहि, तद्यथा, उक्त च आदि द्वारा उद्धृत किये गये हैं और उसकी परवर्ती रचना प्रबन्ध चिन्तामणि मे भी ८ पद्य उद्धृत किये गये है।

इस नाटक की कथावस्तु सक्षेप मे इस प्रकार है। प्रथम अ क मे प्रस्तावना के बाद शुद्ध विष्कम्भक मे देवसूरि और कुमुदचन्द्र के बीच अमर्ष के सूत्र-पात होने की सूचना मिलती है। जिसे आगे हम कुमुदचन्द्र पक्षीय बन्दी राजसाधार और देवसूरि के बीच आक्रोश पूर्ण बहस मे देखते है। उसमे कुमुद-

1. यशोविजय जैन ग्रन्थमाला (सं. ८), वी. सं. २४३२

चन्द्र को ८४ विवादो का विजेता बतलाया गया है। दूसरे अ क मे प्रारम्भ मे शुद्ध विष्कम्भक मे दोनो पक्ष के तटस्थ शिष्य अशोक और मकरन्द के बीच सम्वाद से ज्ञात होता है कि कुमुदचन्द्र पर एक वृद्ध आर्यिका को विट गोष्ठी मे नचाने का आरोप है और कर्णावती से देवसूरि ने अणहिल्लपुर के श्रमणसघ के पास सूचना दी कि वे कुमुदचन्द्र से विवाद करेंगे। इस पर वहा से श्रमणसघ ने उन्हे अणहिल्लपुर आने का निमन्त्रण दिया। इसके बाद देवसूरि पक्षीय वैतालिक ने कुमुदचन्द्र के साथ गरमागरम बहस की। तृतीय अ क के निष्कम्भक मे मालूम होता है कि कुमुदचन्द्र को विवाद का नोटिस दिया गया है। कुमुदचन्द्र के वाद-सामर्थ्य के कारण देवसूरि के पक्ष मे पराजय की सम्भावना पर बडी घबडाहट है। 'राजदरबार मे पैरवी चल रही है। राजा जयसिंह सिद्धराज ने कुमुदचन्द्र और देवसूरि को दरबार मे बुलाया है और सभ्य व्यवस्था की है। न्यायालय मे विवाद सम्बन्ध लिखाने की व्यवस्था की जा रही है। इसके बाद न्यायालय मे मन्त्री गागिल और देवसूरि के बीच गरम बातें चलती हैं जिससे ज्ञात हुआ कि मन्त्री उन पर कुपित है और राजा से कहने वाला है कि श्वेताम्बराचार्य विवाद करनें मे अयोग्य हैं।

चतुर्थ अ क के प्रारम्भ मे विष्कम्भक से सूचना मिलती है कि श्रीपालकवि इस घटना से चिन्तित हैं वे राजा के प्रतिहार से बात करते हैं कि राज को उक्त बातो की सूचना है और उसने बीच मे पडकर विवाद सम्बन्ध न्यायालय मे लिखवा दिया है और वाद-व्यवस्था की है। प्रतीहार ने आशका की है कि कुमुदचन्द्र के पक्ष द्वारा मन्त्री को लाच घूस दी गई है। इसके बाद देवसूरि और श्रीपाल कवि के सम्वाद से विवाद व्यवस्था के प्रति हर्ष और राजा का स्वदेशज के प्रति पक्षपात एव उसकी विजयाकाक्षा के लिए सन्तोष प्रकट किया गया।

पचम अ क मे विष्कम्भक द्वारा श्रीपाल कवि का सुबह ही राजा से मिलने जाना सूचित होता है। इसके बाद दरबार मे कुमुदचन्द्र और देवसूरि अपने पक्ष के लोगो के साथ उपस्थित होते हैं। फिर सभ्य, सभापति वादी, प्रतिवादी की व्यवस्था पूर्वक विवाद का अभिनय प्रारम्भ होता है। कुमुदचन्द्र को वादी मानकर प्रयोग करने को कहा गया, पर किस प्रकार प्रयोग किया गया इसकी तनिक भी सूचना नही। देवसूरि ने इसे दूषित किया (पर किस प्रकार किया, यह वहा सूचित नही)। हा, उनने इतना अवश्य निर्देश किया कि वादी को दो कार्य करने होते हैं एक तो परपक्षविक्षेप और दूसरा स्वपक्षसिद्धि। इसके बाद स्त्रीनिर्वाण सिद्धि के प्रयोग की सूचना दी गई। (पर वह किस रूप मे हुआ, इसका कुछ भी रूप नही दिया गया) कुमुदचन्द्र ने, उक्त प्रयोग दो बार पूछा और फिर दूषित किया (पर किस तरह किया, इसका भी थोडा सकेत वहा नही)। देवसूरि ने कहा (अस्य भवम्द्रपितस्य अनव बोध एवोन्तरम' अर्थात्, आपके कथन का न समझना ही उत्तर है। कुमुदचन्द्र ने उसे कटिभ (पाटिये) पर लिखने को कहा तब उसे देवसूरि ने गुरुशिष्य व्यवहार कहकर टाल दिया और तभी महर्षि नामक सभासद (सभ्य) ने वादकथा को समाव बतलाकर दिग० कुमुदचन्द्र की हार घोषित कर दी। फिर भी राजा के अनुरोध से पटिये पर प्रयोग लिखा गया (क्या लिखा गया, सूचित नही)। जिसे कुमुदचन्द ने दूषित किया (किस प्रकार किया वह भी सूचित नही)। इसका परिहार कर अपने पक्ष की स्थापना पूर्वक (वह भी किस प्रकार थी सूचित नही) देवसूरि ने कोटाकोटि शब्द का प्रयोग किया। उसे कुमुदचन्द्र ने अपशब्द बतलाया पर उत्साह नामक सभ्य ने उसे पाणिनि व्याकरण सम्मत बनवाया और देव सूरि ने शास्त्र का उद्धरण देकर कुमुदचन्द्र को चुप कर दिया। कुमुदचन्द्र ने घबडा कर देवसूरि की विजय स्वीकार करली। इससे

दरबार मे हर्ष का वातारण छा गया। अन्त मे दैवीतत्व-योगिनी– वजागंला –को आविष्कृत कर बतलाया गया कि उसने कुमुदचन्द का चेहरा स्याही से रग दिया था और उसे निरुत्तर बना दिया था अन्त मे राजा द्वारा देवसूरि की प्रशसापूर्वक नाटक की समाप्ति की गई।

इस प्रकरण की कथावस्तु को और कुछ जोड वृद्धि कर प्रभावक चरित्र मे देव सूरि चरित्र की प्रमुख घटना के रूप मे प्रस्तुत किया गया है और बतलाया गया है कि यह विवाद वि स. ११८१ मे वैशाख पूर्णिमा के दिन हुआ था।[2] प्रबन्ध[3] चिन्तामणि मे इसे १६ दिन तक चलने वाला विवाद बतलाया है। मुद्रित कुमुदचन्द्र और प्रभावक चरित्र के अनुसार इस विवाद की व्यवस्था मे श्वेताम्बर श्रावक कवि श्रीपाल को प्रमुख भाग लेते दिखाया गया है, जबकि प्रबन्ध चिन्तामणि मे उसका नाम भी नही। उनकी जगह वहा हम आचार्य हेमचन्द्र को प्रमुख रूप मे भाग लेते देखते हैं। जबकि मुद्रित कु च और प्रभावक चरित मे उन्हे उक्त प्रसग मे कही भी भाग लेते नही दिखाया गया। वह विवाद जयसिंह के दरबार मे हुआ था। इस विषय मे उक्त तीनो ग्रन्थ सहमत हैं।

इस घटना को, उक्त प्रकरण मे तथा अर्ध इतिहास समकक्ष ग्रन्थ-प्रभावक चरित्र और प्रबन्ध चिन्तामणि मे वर्णित पाकर, प्राय सभी विद्वानो ने एक ऐतिहासिक घटना माना है और इसके प्रतिवादी श्वेताम्बर देवसूरि का साम्य उन वादिदेव सूरि मे स्थापित किया है जिनने स्याद्वाद रत्नाकर व्याख्या सहित प्रमाणनय तत्त्वालोकालकार नामक विशाल न्यायग्रन्थ लिखा है। उस ग्रन्थ के आठवें अध्याय मे वादविधि का वादि, प्रतिवादि, सम्य और सभापति चार अंगो का सागोपाग वर्णन है। संभवतः उक्त प्रकरण के पाचवें अंक की वाद व्यवस्था मे उसका प्रयोग प्रदर्शित किया गया है। सभापति के राजा जयसिंह भी वादिदेव सूरिके समकालीन चौलुक्य नृप जयसिंह सिद्धराज ही है। देवसूरि का जन्म वि. स, ११४३ मे दीक्षा वि.स. ११५२ और सूरिपद ११७४ मे और स्वर्गवास वि.सं. १२२६ मे हुआ था। उनके समवयस्क जयसिंह का जन्म भी वि स ११४३ मे राज्यपद वि स ११५० मे और मृत्यु विस. १२१० मे हुई थी। इन दोनो से दो वर्ष छोटे तथा समकालीन प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र थे, जिनका जन्म वि. सं. ११४५ मे, दीक्षा वि स ११५४ मे और आचार्य पद वि स. ११६६ मे और मृत्यु वि स. १२२९ मे हुई थी। यदि उक्त विवाद को प्रभावक चरित्र के अनुसार वि स ११८१ मे हुआ मानें तो उस समय देवसूरि और राजा जयसिंह की उम्र ३८ वर्ष की तथा हेमचन्द्र की ३६ वर्ष की रही होगी। हेमचन्द्र को उस समय तक आचार्यपद पाये १५ वर्ष के लगभग हो चुके थे और देवसूरि को केवल ७ वर्ष। प्रबन्धचिन्तामणि मे हेमचन्द्र और कुमुदचन्द्र को टकराते हुए कहा है कि हेमचन्द्र उस समय किंचिद्वयति क्रान्त शैशवा थे और कुमुचन्द्र ज्यायान् और जरातरलिजमति थे परन्तु ३३ वर्षीय हेमचन्द्र के प्रति उक्त कथन संभव नही। फिर जयसिंह के दरबार मे उक्त घटना के समय हेमचन्द्र के भाग लेने की बात मु, कु च तथा प्रभावक चरित्र मे नही मानी गई। आधुनिक विद्वानो का मत है कि उस समय तक हेमचन्द्र और जयसिंह मे कोई सम्पर्क न था। वह तो जयसिंह की मालवा विजय वि सं. ११९२–९३ के बाद ही विशेष रूप से हुआ।

---

२. प्र. च. (सि जैन ग्र०) पृ० १७८
३. प्र. चि. (सि जैन ग्र०) पृ० ६८

सम्भवत उसके कुछ पूर्व सामान्य रूप से हुआ हो। फिर यह विवाद हेमचन्द्र के सामने होता तो वे अपने किसी ग्रन्थ मे प्रत्यक्ष या परोक्षरीति से अवश्य उल्लेख करते सो ऐसा कही दिखता नही। इसलिए हेमचन्द्र के विशेष रूप से भाग लेने की बात केवल प्र. चिन्तामणिकार की कल्पना ही है।

इस प्रकरण के ऐतिहासिक होने मे जिस प्रकार एक ओर देवसूरि और नृप जयसिंह की समकालिकता एक सम्भावना है उसी तरह दूसरी ओर दिगम्बरवादी कुमुदचन्द्र की पहिचान और समकालिकता भी होना चाहिए। पर अब तक उसकी स्थापना का कोई प्रयत्न नही हुआ। उक्त प्रकरण के पृष्ठ ८ मे दिगम्बर कुमुदचन्द्र को 'चतुरासीनि विवाद विजयार्जितोर्ज्जित यश,, वादीन्द्र तथा कुन्तल्ल, चोल, गौड, वंग, नैषध आदि अनेको देशो के विद्वानो का मानमर्दन करने वाला कहा है पर आश्चर्य है कि वादिदेव के समकालीन (वि स ११४३–१२२६ के बीच) दिगम्बर सम्प्रदाय मे इस नाम के किसी आचार्य का पता नही लगता और न पाडित्य को प्रकट करने वाली कृत्ति का। वादिदेव सूरि की कृत्ति मे उक्त नाम से किसी आचार्य का खण्डन भी नही निर्दिष्ट है और न आचार्य हेमचन्द्र की भी कृत्तियो मे। यदि उक्त विशेषणो से विशिष्ट कोई आचार्य होते,, जिनके नाम से श्वेताम्बराचार्य को अपने समय मे आतकित होना पडा था तो ऐसे प्रभावशाली वादी का दिगम्बर सम्प्रदाय मे भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे अवश्य एक ही नही अनेक बार उल्लेख मिलता। यद्यपि बहुत खोज के बाद, वादिदेव सूरि की मृत्यु के लगभग ६८ वर्ष बाद वि, स १२९२ के लगभग 'प्रतिष्ठा कल्पटिप्पण' या 'जिन सहिता' ग्रन्थ के कर्त्ता एवं कर्नाटक देशीय माघवनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य एक कुमुदचन्द्र' कुमुदेन्दु भट्टारक' का नाम सुनाई देता है जिन्होने अपने ग्रन्थ की पुष्पिका मे चतुर्विध पाण्डित्य चक्रवर्ति श्री वादि कुमुदचन्द्र मुनीन्द्र कहा है।[४] पर एक तो ये वादिदेव सूरि के बहुत पश्चाद्वर्ती है और दूसरे दिगम्बर सम्प्र० मे इनकी वाद विषयक कोई ख्याति नही। ये प्रतिष्ठा कराने वाले भट्टारक प्रतीत होते हैं। जो उस समय बडी–बडी उपाधिया धारण करने लगे थे। हा, यदि काल व्यति क्रम से इन्हे ही वादिदेव सूरि से टकरा देने की पश्चात्कालीन लेखकों की कल्पना हो तो इसे ऐतिहासिकता नही कह सकते।

पर जो हो, मुद्रित कुमुदचन्द्र से एक अन्य रहस्य का उद्घाटन होता है, वह यह कि उक्त रूपक मे कुमुदचन्द्र नाम से कही दिग० प्रभाचन्द्र कृत–'न्यायकुमुदचन्द्र' नामक ग्रन्थ के मुद्रित (चुप) करने की घटना का तो अभिनय इस रूपक द्वारा चित्रित किया गया हो क्योकि वादिदेव सूरि के स्याद्वाद रत्नाकर न्यायकुमुदचन्द्र का विशेष नामोल्लेख पूर्वक खण्डन किया गया है। इतना ही नही स्याद्वाद रत्नाकर न्यायकुमुदचन्द्र से अधिक उद्वेलित हुआ है। स्वर्गीय प० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य के शब्दो मे "वादि देवसूरि के स्याद्वाद रत्नाकर को प्रभाचन्द्र के ग्रन्थो के प्रकाश मे पढने पर पाठक को पता चलता है कि प्रभाचन्द्र के ग्रंथो से रत्नाकर मे कितना आदान किया गया है। रत्नाकर के सम्बन्ध मे यहा यह लिख देना आवश्यक है कि न्याय कुमुदचन्द्र के बहुत अंश वहा आनुपूर्वी से ज्यो के त्यो पाये जाते हैं और न्याय कुमुदचन्द्र के सशोधन मे हमे उनसे बहुत सहायता मिली है"

पर न्याय कुमुदचन्द्र और स्याद्वाद रत्नाकर की रचना मे समकालीकता नही है, पूर्वा परता

---

४. प० नाथूराम प्रेमी . जैन साहित्य और इतिहास, प्र० स० पृ० ५३४ टिप्पण।

अवश्य है। दोनो की रचना एक नामधारी दो राजाओ के राजकाल मे अवश्य हुई है। न्याय कुमुदचन्द्र की रचना धारा नरेश जयसिंह देव परमार (वि. स ११११–१६) के राज्यकाल मे हुई थी[५] और उसके पश्चात् चौलुक्य जयसिंह सिद्धराज के राज्यकाल (सं ११५२–१२००) मे स्याद्वाद रत्नाकर की रचना हुई थी।

उस काल मे श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय मे तनाव या मौलिक मतभेद के आधारभूत दो सिद्धान्त माने जाते थे, एक स्त्री निर्वाण और दूसरा केवलि कवलाहार। न्याय कुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र से पहले इन सिद्धातो का निषेध और विधि दोनो सम्प्रदाय के आगमिक ग्र थो मे ही देखे जाते थे किन्तु प्रभाचन्द्र ने अपने दोनो ग्रंथ— प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्याय कुमुदचन्द्र मे पूर्व पक्ष स्थापन और उनका खण्डन करके दार्शनिक क्षेत्र मे भी इस विवाद को स्थान दिया।[६] सम्भवत. इससे, सम्प्रदाय मोही अनुयायियो मे प्रतिस्पर्धा की भावना तीव्र हुई। इसके बाद श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अभय देवसूरि और वादिदेव सूरि ने प्रभाचन्द्र के मार्ग का अनुसरण कर उन्न दोनो सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे दिगम्बर मान्यता का खण्डन कर श्वेताम्बर पक्ष की स्थापना की। इतना ही नही श्वेताम्बर समाज मे प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्याय कुमुदचन्द्र जैसे सबल ग्र थो के अनुसरण पर समानान्तर कृति द्वारा उनके प्रचार प्रसार को गुजरात व उसके पडौस क्षेत्र मे मुद्रित करने का प्रयास हुआ। साहित्य जन मानस का प्रतिबिम्ब होता है और पश्चात काल मे इस घटना का ही रूपक जय पराजय के रूप मे साम्प्रदायिक मानस को सन्तोष देने के लिए मुद्रित कुमुदचन्द्र जैसे प्रकरण रूप मे प्रस्फुटित हुआ जिसमे कुमुदचन्द्र और वादिदेव सूरि को टकरा देने जैसी कल्पना का चित्रण हुआ।

पर भारतीय साहित्य के क्रमिक विकास को तटस्थ भाव से देखने वाले मनीषियो से यह बात छिपी नही रही। साहित्य मे तो परस्पर आदान प्रदान से ही उसकी श्री वृद्धि हुई है। जैन न्याय के क्रमिक विकास क्रम को दिखाते हुए स्वय प. महेन्द्र कुमार ने लिखा है 'प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्याय कुमुदचन्द्र के तीक्ष्ण एव आल्हादक प्रकाश मे जब हम स्याद्वाद रत्नाकर को तुलनात्मक दृष्टि से देखते है तो वादिदेव सूरि की गुणग्राहिणी सग्रह दृष्टि की प्रशंसा किए विना नही रह सकते। इसकी संग्राहक वीजवुद्धि प्रमेयकमल मार्तण्ड तथा न्याय कुमुदचन्द्र से अर्थ, शब्द और भावो को इतने चेमश्चमत्कारक ढंग से चुन लेती है कि अकेले स्याद्वाद रत्नाकर के पढ लेने से उक्त दोनो ग्रंथो का यावद्विषय विशद रूप से अवगत हो जाता है। वस्तुतः स्याद्वाद रत्नाकर उक्त दोनो ग्रन्थो के शब्द अर्थ रत्नो का सुन्दर आकार ही है। यह ग्रन्थ मार्तण्ड (प्रमेयकमल०) की अपेक्षा चन्द्र (न्याय कुमुद०) से ही अधिक उद्वेलित हुआ है। प्रकरणो के क्रम और पूर्व पक्ष तथा उत्तर पक्ष के जमाने की पद्धति मे कही कही तो न्याय कुमुदचन्द्र का इतना अधिक शब्द सादृश्य है कि दोनो ग्रन्थ की पाठशुद्धि मे एक दूसरे का मूल प्रति की तरह उपयोग किया जा सकता है"[७]

---

५. यह बात न्याय कुमुदचन्द्र की प्रशस्ति से ज्ञात होती है।

६. न्याय कुमुदचन्द्र भाग १ की प्रस्तावना पृष्ठ १२

७. न्याय कुमुदचन्द्र द्वितीय भाग प्रस्तावना, पृष्ठ ४१

स्याद्वाद रत्नाकर स्वय मे स्वनिर्मित प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार नामक सूत्र ग्रन्थ की विस्तृत व्याख्या है । 'उक्त सूत्र ग्रन्थ दिग० माणिम्यनन्दि कृत परीक्षामुख सूत्र का अपने ढग से लिखा गया दूसरा सस्करण ही है । इसमे परीक्षा मुख के ६ परिच्छेदो का विषय ठीक उसी क्रम से अपने सूत्र के आ ग ६ परिच्छेदो मे यत्किंचित् शब्द भेद तथा अर्थभेद के साथ ग्रथित किया गया है । परीक्षा मुख के अतिरिक्त इसमे नय परिच्छेद और वाद परिच्छेद नामक दो परिच्छेद और जोड दिये गये है ।[८] वास्तव मे अपने सूत्र और टीका ग्रन्थो द्वारा देवसूरि की महत्वपूर्ण देन उक्त ग्रंथ का आठवा परिच्छेद–वादनिधि है जिसमे भारतीय वाद विवाद पद्धति के उस काल तक विकसित रूप के सागोपयाग दर्शन हो जाते हैं । सभवत इसी कारण से देवसूरि को वादिदेव सूरि नाम से ख्याति मिली ।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश मे मुद्रित कुमुदचन्द्र की रचना के रहस्य उद्घाटन की एक व्याख्या ही प्रस्तुत की गई है ।



ध्यान

ध्यान-लीन साधक समर्थ-
होता हर दोष-निवारण मे
सब दोषो-अतिचारो का
प्रतिक्रमण ध्यान से सभव
है ।

—अर्हत

८. प्रमेयकमल मार्तण्ड की प्रस्तावना पृ. ४८

३२

प्राकृत साहित्य और लोक संस्कृति

□ डा० प्रेम सुमन जैन

प्राकृत एव अपभ्रंश साहित्य से लोक संस्कृति का सम्बन्ध स्पष्ट करने की आवश्यकता नही है। साहित्य का लोकजीवन से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए प्राकृत की प्रत्येक अवस्था एव विधा ने कार्य किया है। जनसाधारण के निश्चल हृदय से जो भाषा फूटती है उसमे और उसके दैनिक सरल व्यवहारो मे कोई अन्तर होने की सम्भावना नही है।

प्राकृत साहित्य के लोक संस्कृति से ओत-प्रोत होने मे एक कारण यह भी है कि प्राय. प्राकृत साहित्य का सम्बन्ध लोकधर्म से रहा है। यह कहना अप्रासंगिक नही होगा कि श्रमणधर्म ग्राम्य-जीवनप्रधान संस्कृति का पोषक रहा है अत. उसके आचार्यो ने लोकभाषाओ को अपनाया। साहित्य मे साधारण कोटि के चरित्रो को उभार कर अभिजात वर्ग का नामकत्व समाप्त किया तथा धार्मिक क्षेत्र मे इन्द्र आदि देवताओ को तीर्थङ्करो का भक्त बताकर मनुष्य जन्म को देवत्व से श्रेष्ठता प्रदान की। इतना ही नही, प्राकृत साहित्यके माध्यम से सभी लोककलाओ की सुरक्षा हुई है।

लोकसंस्कृति के अन्तर्गत यद्यपि अनेक तत्व समाहित होते हैं। विद्वानो में इस सम्बन्ध मे मतैक्य नही हैं अत प्राकृत साहित्य ने लोकसंस्कृति के जिन प्रमुख तत्वो को उभारकर प्रस्तुत किया है उन्ही पर विवेचन करना उपयुक्त होगा। इस दृष्टि से १. लोकसाहित्य, २ लोकभाषा, ३ लोकजीवन ४. लोकविश्वास, ५. लोककला तथा ६. लोक-चिकित्सा इन प्रमुख छह केन्द्रबिन्दुओ पर प्राकृत साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे विचार किया जा सकता है।

१. लोकसाहित्य

लोक साहित्य लोकवार्त्ता का एक महत्वपूर्ण भाग है इसके अन्तर्गत यद्यपि विद्वानो ने अनेक विषयो को सग्रहीत किया है, किन्तु वे सब लोक की विभिन्न अभिव्यक्तिया ही है। अत व्यक्तित्व से रहित समानरूप मे समाज की आत्मा को व्यक्त करने वाली मौलिक अभिव्यक्तियां लोकसाहित्य की श्रेणी मे आती हैं।[1] इन अभिव्यक्तियो को निम्न भागो मे बाटा जा सकता है—धर्मगाथा (लोकगीत), लोककथा, लोकोक्तिया, पहेलिया आदि। प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य मे इन सभी तत्वो का समा-वेश है।

धर्मगाथा—प्राकृत साहित्य का गाथा से निकट का सम्बन्ध है। उसका बहुत सा भाग गाथाबद्ध ही

१. भारतीय लोक साहित्य पृ. २२।

है। साहित्य रचना मे गाथा का प्रयोग प्राकृत साहित्यकारो ने लोक से ही ग्रहण किया है। क्योकि लोक मे सरलता से गाये जाने और कंठ से कंठ तक स्मरण बनाए रखने मे पद्यो का प्रयोग बहुप्रचलित था। प्राकृत की गाथाओ की यह अर्थवत्ता ही आज के लोकगीतो की उत्सभूमि है। धीरे-धीरे गाथाओ मे लोक के अनेक आख्यान भी गाये जाने लगे। गाथाओ मे निबद्ध अनेक प्राकृत लोककथाए उपलब्ध है। इन्ही प्राकृतकथाओ के गाथारूप से मध्यकालीन व आधुनिक लोकगीतो मे आख्यान कहे जाने की परम्परा विकसित हुई प्रतीत होती है, जिन्हे आज भी लोकगाथा के नाम से पुकारा जाता है।

लोककथा—प्राकृत एव अपभ्रंश कथा साहित्य मे लोककथा के अनेक तत्व विद्यमान हैं। क्योकि इन कथाओ की उत्सभूमि ही लोकजीवन है। साहित्य का लोक से सम्बन्ध बना रहे इसके लिए प्राकृत कथाकारो ने जो कुछ भी कहा है उसे समूह की वाणी बनाकर और जन-समूह मे घुल-मिलकर। यही कारण है कि उनकी कथाओ मे लोकधर्म, लोकचित्र और लोकभाषा लोककथा के ये तीनो तत्त्व विद्यमान हैं। इनकी प्रचुरता का कारण यह भी है कि प्राकृत कथाकारो का मुख्य उद्देश्य जन-जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक स्तर को ऊचा उठाना था। अत. उन्होंने बिना किसी भेद-भाव के लोक जीवन मे प्रचलित कथाओ को ग्रहण कर उन्हे धार्मिक एवं उपदेशात्मक शैली मे प्रस्तुत कर दिया किन्तु इससे लोककथाओ की मौलिकता मे कोई अन्तर नहीं आया उनके स्वरूप मे कुछ जुडा ही।

प्राकृत कथाओ मे लोकतत्त्वो का समावेश क्रमश हुआ है। आगमकालीन कथाए यद्यपि बीज-रूपा है विकसित नही। फिर भी उनके कथा-बीजो मे लोकतत्त्वो का पुट है। ज्ञाताधर्म कथा की धरणी का दोहद, विजयचोर, सागरदत्त और वेश्या, धन्ना सेठ और उसकी पतोहू आदि कथाए लोककथाओं का पूरा प्रतिनिधित्व करती हैं। महारानी धारिणी देवी ने अपने दोहद मे असमय मे ही वर्षाकालीन दृश्य देखने की इच्छा प्रगट की थी, जिसे कथा के अन्त मे पूरी की गई। कथा का यह स्वरूप लोक-कथा शैली का है। प्रारम्भ मे अनहोनी जैसी बात को समस्या के रूप मे रखकर पाठक मे कौतुहल उत्पन्न किया गया है और बाद मे उसकी पूर्ति की गयी है।

टीकायुगीन कथाओ मे नीतिकथा और लोक-कथा के तत्त्व अधिक मिलने लगते हैं, इन कथाओ की नीति-उन्मुखता पूर्णत व्यापक जीवन के संदर्भ मे घटित होती है, इसलिए वह सार्वभौमिक और साधारण जन-आस्वाद्य है, लोक जीवन का ग्रहण कथाओ को एक नयी शैली प्रदान करता है। वैसे तो प्राकृत टीका साहित्य के सभी ग्रंथो मे कुछ न कुछ लोककथाए संग्रहीत है, किन्तु आवश्यक चूर्णि 'लालच बुरी बलाय, पडित कौन, कोक्कास बढई चतुर रोचक, चतुराई का मूल्य, पढो और गुनो, इतना बडा लड्डू आदि कथाएं, दशवैकालिक चूर्णि की ईर्ष्या मत करो, अपना-अपना पुरुषार्थ, गीदड की राजनीति आदि कथाए, व्यावहारभाष्य की भिखारी का सपना, अकल बडी या भैंस कथाए तथा उत्तराध्ययन टीका की मण्डित चोर, गंगा की उत्पत्ति आदि कथाएं लोककथाओ के सुन्दर नमूने हैं। इनमे से बहुत सी कथाएं तो आज भी लोक मे प्रचलित हैं।

आवश्यक चूर्णी की एक लोककथा द्रष्टव्य है—

किसी परिवार की तीन कन्याये थी, उनका विवाह होने पर उनकी मा ने उनको सुखी बनने के लिए सिखा दिया कि तुम सब प्रथम दर्शन मे पाद

प्रहार से पति का स्वागत करना। जेठी कन्या के पति ने लात खाकर उसका पेट दबाते हुए पूछा—'प्रिये! कही तुम्हें चोट तो नही लगी,' लडकी ने यह वृतान्त जब मा से कहा तो वह बोली—'बेटी, जा तू अपनी इच्छापूर्वक जीवन व्यतीत कर तेरा पति तेरा कुछ नही बिगाड़ सकता। मंझली लडकी के पति ने उसकी लात खाकर पहले तो उसे भला-बुरा कहा फिर शीघ्र ही शान्त हो गया, लडकी की मा ने कहा कि बेटी, तुम भी अलग से रहेगी। छोटी लडकी के पति ने लात लगाते ही उसे पीटना शुरू कर दिया और कहा कि तुम नीच कुल से आयी हो। बडी मुश्किल से उसे शान्त किया गया, मा ने लड़की को एकान्त मे बुलाकर कहा—'बेटी, तुम देवता के समान पति की पूजा करना और उसका साथ कभी मत छोडना।[1]

स्वतन्त्र प्राकृत कथा ग्रन्थो मे लौकिक तत्व प्रचुर मात्रा मे समाविष्ट हैं, इनमे अनेक लोक-कथाएं स्वतन्त्र रूप से निर्मित हुई हैं। वसुदेव हिण्डी विशुद्ध लोककथा ग्रन्थ है। इसकी लोक कथाएं मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञानवर्धन भी करती हैं। इसके शीलमती, धनश्री, विमल सेना, ग्रामीण गाडीवान, वसुदत्ताख्यान, रिपुदमन आदि आख्यान सुन्दर लोक-कथानक हैं। इनमे लोक कथाओ के सभी गुण और तत्त्व विद्यमान हैं।

प्राकृत कथा साहित्य की सम्पन्नता का युग ८-९वी सदी है, इस समय कथानक, शिल्प और भाषा इन तीनो का पर्याप्त विकास हुआ हैं। मूल कथा के साथ अवान्तर कथाओ का कलात्मक संश्लेष इस युग की पहली चेतना हैं। अत स्वाभाविक रूप से लोक मे प्रचलित अनेक कथाएं एव कथातत्व प्राकृत व अपभ्रंश कथाओ मे समाहित हुए हैं। हरिभद्र सूरि की समराइच्च कहा और उद्योतनसुरि की कुवलयमाला कहा मे लोककथा के पर्याप्त गुण धर्म विद्यमान है। लोकभाषा मे लोक परम्परा से प्राप्त कथानक सूत्रो को संघटित कर लोक मानस को आन्दोलित करने वाली लोकानुरंजक कथाएं लिखकर इन प्राकृत कथाकारो ने लोककथा के क्षेत्र मे अनुपम योगदान दिया हैं। विश्लेषण करने पर इन प्राकृत-कथावृत्तियो मे निम्नाकित लोककथा के तत्व उपलब्ध हैं—[2]

१ लोक मंगल की भावना	२. धर्म श्रद्धा
३. कुतूहल	४. मनोरंजन
५. अमानवीय तत्व	६. अप्राकृतिकता
७. अतिप्राकृतिकता	८. अन्धविश्वास
९. अनुश्रुत मूलकता	१० हास्य विनोद
११ साहस का निरूपण	११ जनभाषा का प्रयोग
१३. मिलन-बाधाएं	१४. प्रेम के विभिन्न रूप
१५ उपदेशात्मकता	इत्यादि।

यहा इन सभी लोककथा के तत्त्वो का उदाहरण देना सम्भव नही है। 'अतिप्राकृतिकता' तत्व से सम्बन्धित समराइच्चकहा के अष्टम भव की एक घटना दृष्टव्य है—

एक दिन कौशलाधिपति को उनका घोडा भगा कर एक जंगल मे ले गया, वहा मनोहरा नाम की यक्षिणी कुमार के अद्भुत सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गयी और उसने कुमार से प्रेम याचना की किन्तु कुमार ने मना कर दिया, एक दिन कुमार की पत्नी सुसंगता का रूप बनाकर वह यक्षिणी कुमार के पलंग पर सो गयी तथा सुसंगता

---

२ डा० शास्त्री का शोध प्रबन्ध—(पृ० २४५—२८०) द्रष्टव्य

के समान ही उसने कुमार के साथ आचरण किया जब वास्तविक सुसगता शयन कक्ष मे आयी तो पति के बगल मे अपनी ही आकृति की अन्य स्त्री को सोते देखकर आश्चर्य चकित हो गयी, उसने पति से अनुरोध किया कि आप इस धोखेबाज स्त्री को हटा दीजिए, पर राजकुमार ने वास्तविक पत्नी को ही नकली समझकर घर से निकाल दिया।

लोककथा का प्रधान तत्त्व कथानक रूढि हैं। कथानक रूढि के आदि स्रोत के रूप मे लोक प्रचलित अनेक सस्कार विश्वास एव आचारो को स्वीकार किया जा सकता है। प्राकृत कथाओ मे अनेक कथा रूढियो का प्रयोग हुआ है। यथा–(१) लोक प्रचलित विश्वासो से सम्बद्ध (२)अमानवीय शक्तियो से सम्बद्ध (३) अतिमानवीय प्राणियो से सम्बद्ध (४) काल्पनिक रूढिया (५) सामाजिकता की द्योतक रूढिया (६) मन्त्र-तन्त्र सम्बन्धी (७) पशु-पक्षी सम्बन्धी तथा (८) आध्यात्मिक अभिप्राय आदि। ये रूढिया भारतीय साहित्य मे हर जगह मिल जायेंगी, किन्तु प्राकृत कथाओ की विशेषता यह है कि उन्होने लोक जीवन मे से अनेक ऐसी कथानक-रूढियो का निर्माण किया है, जिनका अब तक साहित्य मे प्रयोग नही हुआ था, अत अभिजात साहित्य तक लोक सस्कृति को पहुचाने मे प्राकृत कथा साहित्य द्वारा किया गया प्रयत्न सर्व प्रथम है।

अपभ्रंश कथाओ ने प्राकृत साहित्य की अनेक लोककथाओ को नया रूप प्रदान किया है। 'भविसयत्तकहा' उनमे से एक है। इसका सास्कृतिक अध्ययन डा देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने प्रस्तुत किया है, जिसमे अपभ्रंश साहित्य मे प्रयुक्त लोक तत्त्वो का भी विवेचन भी किया गया है।[3] प्राकृत एव अपभ्रंश लोककथाओ का अन्य भारतीय लोक कथाओ के साथ तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है। डा सत्येन्द्र ने कुछ कथाओ की लोकयात्रा का विवेचन प्रस्तुत कर इस क्षेत्र मे मार्ग प्रशस्त किया है।[4]

लोकोक्तिया—लोक साहित्य मे लोकोक्तियो, पहेलियो, मुहावरो आदि का विशेष महत्व है, इनके द्वारा लोकचिन्तन धारा का प्रतिनिधित्व होता है। प्राकृत साहित्य मे इनकी भरमार है। उदाहरण स्वरूप कुछ दृष्टव्य हैं—

१ मरइ गुडेण चिय तस्स विस दिज्जए किं व।
—जो गुड देने से मर सकता है उसे विष देने की क्या आवश्यकता है?

२ किं न सम्भवन्ति लच्छिनिलयेसु कमलेसु किमओ
(समरा० ४.२६८)

—क्या सुन्दर कमलो मे कीडे नही होते?

३ हत्यठिय ककणयं को भरण जोएह आरिसए?
(ज्ञानपचमी कहा)

—हाथ कगन को आरसी क्या?

४. न हि गेहम्मि पलित्ते अवड खणिउ तरइ कोई
(—भव भावना)

—घर मे आग लगने पर क्या कोई कुआं खोद सकता है?

---

३. 'भविसयत्त कहा और अन्य अपभ्र शकाव्य' भारतीय ज्ञानपीठ १९७१
४ 'मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन'

३. लोक भाषा

समस्त प्राकृत साहित्य की भाषा लोकभाषा है। लोकजीवन की जब बात कहनी है तो उसी भाषा मे कहना उपयुक्त होगा जिसे जन मानस हृदयंगम कर सके, प्राकृत कथाकारो ने देशी भाषा को विशेष महत्व दिया है, कुवलयमालाकहा पढने का अधिकारी उसको समझा गया है जो देशी भाषा का अच्छा जानकार हो।[५] यही कारण है कि इस ग्रन्थ मे जैसे पात्रो की रचना है, वैसी ही उनकी भाषा विभिन्न देशो के व्यापारी अपनी-अपनी लोक भाषाओ मे बात करते है। अन्य प्राकृत ग्रन्थो मे भी अनेक ऐसे लोक शब्द मिलते हैं जो आज भी प्रान्तीय जन भाषाओ मे प्रयुक्त होते हैं।[६]

इस प्रकार प्राकृत साहित्य मे लोक साहित्य के उपयुक्त तत्व-धर्मगाथा, लोककथा, लोकोक्तिया, लोकभाषा आदि प्राप्त होते है। इनके अतिरिक्त लोक संस्कृति के विभिन्न अंगो का समावेश भी इसमे हुआ है। सम्पूर्ण प्राकृत साहित्य विभिन्न युगो के लोक जीवन का प्रतिबिम्ब उपस्थित करता हैं।

४. लोकजीवन

प्राकृत कथाओ मे प्राय मध्यमवर्गीय पात्रो के जीवन को लोक वातावरण मे प्रस्तुत किया गया है, अतः ग्रामीण और लोक जीवन के विविध दृश्य इस साहित्य मे देखने को मिलते हैं, उन्हे प्रमुख पाच भागो मे विभक्त कर सकते हैं— (१) ग्राम्य वातावरण (२) पारिवारिक जीवन (३) रीति-रिवाज (४) त्योहार-पर्व एवं (५) लोकानुरजन इनमे से प्रत्येक के कुछ दृश्य उपस्थित है।—

ग्राम्य वातावरण—गाहासत्तसई गावो के उल्लास और स्वतन्त्र जीवन का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है। एक गाव की सुबह का वर्णन देखे— प्रात काल होने पर गाय चरने चल देती, खोचे वाले अपने व्यापार के लिए निकल पडते, लुहार अपने काम मे लग जाते, किसान अपने खेतो मे चले जाते,, मच्छीमार मछली पकडने निकल पडते, खटीक लाठी लेकर कसाईखाने मे पहुच जाते, माली फूलो की टोकरी ले गाव मे निकल पडता, राहगीर रास्ता चलने लगते और तेली कोल्हुओ मे तेल पेरने लगते।[७]

दूसरा दृश्य गाव मे पड़े दुष्काल का है—बारह वर्ष तक अनावृष्टि हुई, उससे औषधिया नही पनपे, वृक्ष नही फले, फसल व्यर्थ हो गयी, पशुओ का चारा नही उगा। केवल पवन चलता रहा, धूल उड़ती रही, पृथ्वी कंपती रही, मेघ गरजते रहे, उल्काए पडती रही, दिशाए गूंजती रही और बारह सूर्यों के तेज जैसा कठोर ताप वाली गर्मी पड़ती रही।[८]

—वर्षा ऋतु मे गाव मे मूसलाधार पानी बरस रहा है। झोपडी मे टप-टप पानी चू रहा है।

---

५. जो जाणइ देसीओ भासाओ लक्खणाइं धाऊ य।
वय-णय-गाहा-छेय कुवलयमाल पि सो पढउ॥ —कुव. २८१-१३

६. द्रष्टव्य लेखक का निबन्ध-प्राकृत अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाएँ

७. निशीथिचूर्णी-१ ५२२

८. कुवलयमालाकहा,पृ ११७, १२-१५.

किसान की पत्नी अपने प्यारे बच्चे को बचाने के लिए उस पर झुककर पानी की बुंदे अपने सिर ले रही है, किन्तु अपनी दरिद्रता के लिए रोती हुई उसे यह नही पता कि वह अपने नयनो से झरते जल से बच्चे को भिजो रहीहै ।[६]

पारिवारिक जीवन—प्राकृत साहित्य मे प्राय सयुक्त परिवारो का चित्रण प्राप्त होता है, जो लोकजीवन मे प्रमुख रहा है । परिवार के सभी लोग एक ही स्थान पर रहते, एक ही जगह पकाया हुआ भोजन करते तथा सर्व सामान्य जमीन-जायजाद का उपभोग करते । स्त्रिया छरने-पछारने, पीसने-कूटने, रसोई बनाने, पानी भरने और बर्तन माजने का काम करती थी । मिलकर भी रहती और लडती-झगडती भी । इन सवके विवरण प्राकृत की लोककथाओ मे हैं ।

आदर्श गाव की गृहणी का एक चित्र दृप्टव्य है—

भुजइ भुंजियसेस सुप्पइ सुप्पम्मि परियणे सयले ।
पढम चेय विबुज्झइ घटस्स लच्छी न मा घरिणी ।।

—जो वाकी बचा हुआ भोजन करती है, सब परिजनो के सो जाने पर स्वय सोती है, सबसे पहले उठती है, वह गृहिणी ही नही, घर की लक्ष्मी है । परिवार की प्रतिष्ठा और पाहुने सत्कार के प्रति उसका कर्त्तव्य देखिए – किसी प्रिय पाहुने के आ जाने पर उसने अपना मगलवलय वेच दिया इस प्रकार डस कुल बालिका की दयनीय दशा देखकर सारा गाव रो पड़ा ।[१०]

न मालूम गाँवों के पारिवारिक जीवन के ऐसे कितने चित्र इस साहित्य मे उपलब्ध हैं । जन-जीवन को ज्यो का त्यो कथाओ मे उतारकर रख दिया गया है ।केवल एक उदाहरण पर्याप्त है । एक गरीब व्यक्ति का दैनिक–जीवन के प्रति चिन्तन दृप्टव्य है—–

'मेरे घर मे पैसा नही हैं और लोग उत्सव मनाने लगे हैं, बच्चे मेरे रो रहे हैं, अपनी घर वाली को मे क्या दूं ? कुछ भी तो नही मेरे पास देने को मेरे स्वजन-सम्बन्धी अपनी समृद्धि मे मस्त हैं, दूसरे धनी लोग भी तिरस्कार ही करते हैं, वे स्थान नही देते । आज मेरे घर मे घी, तेल, नमक, ईंधन और वस्त्र कुछ भी तो नही है, तौनी (मिट्टी की कुटिया) भी आज खाली है, कल कुटुम्व का क्या होगा ? घर मे कन्या सयानी हो रही है, लडका अभी छोटा है इसलिए धन कमा नही सकता । कुटुम्व के लोग बीमार हैं और दवा लाने के लिए पास मे पैसे नही । घरवाली गुस्से से मुह फुलाए बैठी है, बहुत से पाहुने घर मे आये हुए हैं । घर पुराना हो गया है, वह चूता है, सब जगह पानी गिर रहा है । मै करू तो क्या करूं ? साहूकार कर्ज और मागते हैं । कहा जाऊ ?[११]

साहित्य मे इससे अधिक यथार्थ की अभिव्यक्ति और क्या होगी ? प्राकृत के अन्य ग्रन्थो मे ननद–भावज, सास–वहू और देवरानी-जिठानी के झगडे-टटो का सजीव वर्णन मिलता है, जिसका लोक-जीवन से हमेशा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है ।

रीति-रिवाज—लोक-जीवन अनेक रीति-रिवाजो से भरा होता है, जन्म से लेकर मृत्यु तक

---

९ गाथासप्तशती–अन्य दृश्यो के लिए द्रष्टव्य

१०. वही

११. प्राकृतपद्यो के लिए द्रष्टव्य–डा. जैन, प्रा. सा. इ. पृ. ५११

कई सामाजिक रीतियां निभानी पड़ती हैं। प्राकृत कथाओं मे दोहद, पुत्रजन्म, विवाह, धार्मिक अनुष्ठान आदि अवसरो पर कई परम्पराए निभाने का उल्लेख मिलता है। गर्भकाल में दोहद का बहुत महत्व था–भिखारिन से लेकर पटरानी तक के दोहद पूरे किये जाते थे, दोहदो के विचित्र प्रकार उपलब्ध होते हैं।[१२] कोई पत्नी अपने पति का मास खाने का दोहद प्रगट कर उसके प्राण संकट मे डाल देती थी तो कोई ऐसी भी पत्नी थी कि उससे पूछे जाने पर अपने दोहद मे खाली पानी पीने की इच्छा ही व्यक्त की, जिससे गरीब पति को परेशान न होना पडे।

पुत्र जन्मोत्सव मनाने के अनेक वर्णन उपलब्ध हैं।[१३] जन्म के बाद परंगमण, चक्रमण, जेमामण, प्रजलान, कर्णवेधन, सम्वत्सर प्रतिलेखन, चोलोमण, उपनयन और कलाग्रहण आदि सस्कार भी मनाये जाने के उल्लेख हैं. इन संस्कारो और हिन्दू सस्कारो मे कोई विशेष अन्तर नही है, इससे स्पष्ट है कि प्राकृत साहित्य मात्र जैन धर्म का साहित्य था, जनसामान्य की सस्कृति को प्रतिबिम्बित करना उसका कार्य था।

पर्व-उत्सव—जैनसूत्रो मे अनेक उत्सवो और पर्वों के उल्लेख मिलते हैं। पुण्णभासिणी का उत्सव कौमुदी महोत्सव के नाम से मनाया जाता था। उज्जाणिया-महोत्सव एक प्रकार से वनभोज जैसा था। 'इट्ठगा' नामक एक पर्व मे सेवइया बनायी जाती थी। इसकी आन के रक्षाबन्धन त्योहार से की जा सकती है। खेत मे हल चलाने के दिन भी पूजा की जाती थी और भात खिलाया जाता था। कुछ घरेलू त्योहार भी मनाये जाते थे, जिनमें श्राद्ध देवबलि आदि प्रमुख थे। 'सखंडि' नाम से एक बड़ा सामूहिक भोज का आयोजन कर उत्सव मनाया जाता था।[१४]

लोकानुरजन—लोक जीवन मे मनोरंजन के साधन निराले होते हैं। बच्चो के अलग और प्रौढो तथा वृद्धो के अलग। नागरिक जीवन के मनोरंजन के साधनो के अतिरिक्त प्राकृत साहित्य मे लोकजीवन मे व्यवहृत मनोरजन के साधनो का भी उल्लेख मिलता है। पर्व-उत्सव के अतिरिक्त लोग विभिन्न प्रकार के खेल-खिलौनो द्वारा अपना मनोविनोद करते थे। कुछ लोक खिलौनो के नाम इस प्रकार हैं–खुल्लय (एक प्रकार की कौडी=कपर्दक), वट्टय (लाख की गोली), अडोलिया (गिल्ली), तिन्दूस (गेंद), पोतुल्ल (गुडिया) और साडोल्लय (कपडे की गुडिया) सरयत (धनुष), गोरहग (बैल का खेल), घटिक (छोटा घडा बजाते आदि के लिए), डिडिस और चेलगोल (कपडे की गेंद) आदि खिलौने बच्चो का मनोरंजन करते थे।[१५] कपड़े की गेंद का खेल गडा गेद के नाम से आज भी बुंदेलखण्ड के गावो मे प्रचलित है। इन खिलौनो के अतिरिक्त मल्लयुद्ध, कुक्कटयुद्ध तथा मयूर-पोत युद्ध आदि मनोरंजन के प्रधान साधन थे। लोकजीवन इन्ही के सहारे जीवंत बना रहता था।

४. लोकविश्वास

मानव समाज मे आदि काल से अनेक प्रकार के ऐसे विश्वास, जो तर्क और बुद्धि से परे होते हैं,

---

१२. डा. जैन–जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज, पृ. २४०

१३ वही पृ. २४२.

१४. विशेष के लिए द्रष्टव्य–वही पृ. ३६४-६६.

१५. वही, पृ. ३५६-६०

मान्य और प्रचलित रहे है। इन अन्धविश्वासो का लोककथाओ मे समावेश है। अनिवार्य लोकसाहित्य इन से भरा होता है। प्राकृत साहित्य मे जो अन्धविश्वास व्यक्त हुए है उन्हे इस तरह विभाजित किया जा सकता है—

१ विद्या, मन्त्र और योग
२ जादू-टोना और झाड-फूंक
३ शुभाशुभ शकुन विचार
४ अलौकिक चमत्कारो से सम्बद्ध।

जैन ग्रन्थो मे अनेक विद्याओ और मन्त्रो का वर्णन मिलता है जैन साधु अनेक विद्याओ मन्त्रो के जानकार होते थे। जन-सामान्य मे उनके चमत्कार भी दिखाते थे। जन-जीवन मे इनका प्रयोग अनेक इच्छाओ की पूर्ति के लिए किया जाता था। ज्ञाता-धर्मकथा मे पोट्टिला की कथा आती है। वह जब प्रयत्न करने पर भी अपने पति का प्रेम प्राप्त न कर सकी तो उसने चूर्णयोग, मन्त्रयोग, कामंरा-योग, काम्यजोग, हियपडड्डावरा काउड्डावरा, वशीकरण, गुटिका आदि के प्रयोग द्वारा उसे वश मे करना चाहा। इसी प्रकार एक परिव्राजक ने मन्त्र और औषधि की शक्ति द्वारा नगर की सभी सुन्दरियो को अपने वश मे कर लिया था। (सूत्र-कृताग टीका) लोगो मे यह भी मान्यता थी कि मुर्गे का सिर भक्षण करने से राज्यपद प्राप्त होता है।[१६]

जादू-टोने और झाड-फूक के भी अनेक चित्र उपलब्ध होते हैं। प्रायः लोग स्नान करने के बाद कौतुक, मगल, प्रायश्चित आदि करते थे। कौतुक के नौ भेद गिनाये हैं—विस्नपन, होम, शिवपरिरय, क्षारदहन, धूप, असदृशवेषग्रहण, अवयासन, अवस्तोभन और बन्ध। नजर से बचने के लिए तावीज आदि बांधना बन्ध कौतुक कहलाता था।[१७] कुवलयमाला कहा मे पुत्र प्राप्ति के लिए अनेक जादू-टोने और टुटके करने का उल्लेख है।

शुभाशुभ शकुन से सम्बन्धित अनेक कथाए प्राप्त होती हैं।[१८] समराइच्चकहा मे चन्द्रकुमार और चन्द्रकान्ता जब कुए मे गिरा दिए जाते हैं तो वहा से छुटकारा पाने के लिए चिन्तातुर होते हैं। तभी चन्द्रकान्ता का बाया और चन्द्रकुमार का दाया नेत्र फडकने लगता है। इस शकुन को वे शुभ मानकर सन्तोष करते हैं और अन्त मे एक सार्थवाह के द्वारा कुए से निकाल लिए जाते हैं। कुवलयमाला कहा मे कुमार की विदा के समय शुभ-अशुभ शकुनो पर विचार किया जाता है। विभिन्न दिशाओ, पशु-पक्षी, पेड-पौधे तथा शारीरिक क्रियाओ से शुभ-अशुभ शकुनो का विचार किया जाता है।

इनके अतिरिक्त यज्ञपूजा बहुवासिनीदेवी, की पूजा, गगा मे अस्थियो का विसर्जन, सिद्धो की साधना आदि कितने ही लोकविश्वास की जानकारी प्राकृत साहित्य के माध्यम से होती है। यद्यपि जैन धर्म ईश्वरकर्तृत्व आदि पर विश्वास नहीं करता, किन्तु उसके साहित्य मे इन सब विश्वासो का उल्लेख मिलता है। लौकिक देवी-देवताओ को समाज मे विशेष स्थान प्राप्त था। इन्द्र, स्कन्द,

---

१६. डा. जैन—वही, पृ ३४३-४८.
१७ वही, पृ. ३५२
१८ वही पृ. ३५६-५८

रूद्र, मुकुन्द, शिव, वैश्रमण, नाग, यक्ष, भूत, आर्या और व्योहकिरिया मह का विशेष प्रचलन था। इनके अतिरिक्त वानमंतर, वानमन्तरी, गुह्यक और पिशाचो की भी अर्चना की जाती थी।[१९] उदाहरण के लिए एक भूतकथा ही पर्याप्त है—

'उज्जैनी की दुकानों मे अन्य वस्तुओ के साथ भूत भी विकते थे। एक वार भगुकच्छ का कोई वैश्य उज्जयनि की दुकान से भूत खरीदने आया। दुकानदार ने कहा—भूत मिल सकता है, लेकिन यदि उसेतुम काम न दोगे तो वह तुम्हे मार डालेगा। वैश्य भूत खरीद कर चल दिया। वह उसे जो काम वताता, उसे वह तुरन्त कर डालता। आखिर मे तंग आकर वैश्य ने एक खम्भा गड़वा दिया और उसपर उतरते चढते रहने का कार्य बताकर भूत से अपना पीछा छुड़ाया।[२०]

कथासरित्सागर मे इस प्रकार की कथा आती है तथा वर्तमान मे यह कथा प्रचलित है। इस प्रकार प्राकृत साहित्य मे उल्लिखित लोकविश्वास आधुनिक लोकविश्वास तुलना की अपेक्षा रखते हैं।

५. लोक कला

लोक संस्कृति की वास्तविक अभिव्यक्ति लोक कला के माध्यम से होती है। लोक कलाओ के अन्तर्गत वे सभी कार्य विशेष परिगणित होते हैं, जिनमे लोक के मूक कलाकारो के सरल हृदय और प्रतिभा को अभिव्यक्ति मिलती है। विभिन्न अवसरों पर वनायी गई मिट्टी व काष्ट की मूर्त्तियां, विवाह आदि उत्सवों पर खींचि गयी रेखानुकृत्तियां मुक्त कंठो से गाया गया संगीत तथा विभोरकर देने वाली उछल-कूद लोककला को मूर्त्तिकला, चित्रकला संगीत और नृत्यकला मे विभाजित करती है। समय और प्रकृति के प्रहार से प्राचीन लोककला के हो सकता है अवशेष बहुत थोड़े बचे हो, किन्तु प्राकृत साहित्य मे उनके जो उल्लेख मिलते है, वे लोककला की समृद्धि लोकप्रियता के उद्घोषक हैं। तत्कालीन संगीत तथा नाट्यकला के लोकरूप दृष्टव्य हैं।

सगीत के वाद्य, नाट्य, गेय और अभिनय ये चार भेद बतलाये गये हैं। स्थानागसूत्र मे षड्ज, ऋषभ, गाधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद नामक सात स्वरो का उल्लेख है। इन स्वरो के स्वर स्थान, उच्चारण प्रकट, वाद्यो का सम्बन्ध, स्वरो से लाख, तथा गुण दोषो का भी वर्णन किया गया है।[२१] तत, वितत, धन और भुसिर इन चारो प्रकार के वाद्यो का न केवल उल्लेख है, अपितु उनके लगभग ५०-६० भेद-प्रभेदो की भी चर्चा की गयी हैं। कुछ वाद्य तो संस्कृत ग्रन्थो मे उल्लिखित वाद्यो के समान है, किन्तु खरमुही, पीरिपिरिया, गौमुखी, तुंबवीणा, कलशी, रिंगिसिया लत्तिया, वाली, परिल्ली, वत्तगा आदि वाद्य नये हैं, जिनका सम्बन्ध प्रदेश विशेष के लोकवाद्यो से हो सकता है।

जम्वुद्वीप प्रज्ञप्ति (५, पृ० ४१३) मे उक्खित्त (उक्षिप्त), पत्तम (पादात्त), मन्दय (मन्दक) और रोविंदय अथवा रोइया व साण (रोचितावसान) इन चार प्रकार के गेय सगीत का उल्लेख है। सम्भवत.

---

१९. वही, पृ. ४२९-५०

२०. वृहत्काल्यभाष्यवृति, ३.४२१४-२२।

२१. स्थानांगसूत्र, ७, पृ. ३७२.

इन गेयो से शरीर की विभिन्न क्रियाओ के उत्क्षेपन निपतन आदि द्वारा सगीत को प्रस्तुत किया जाता रहा होगा ।

नाट्यो के भी चार भेद प्राप्त होते हैं—अ चिय (अचित), रिभिय (रिभित) आरभड (आरभट) और भसोल । इनका विशेष वर्णन नही दिया गया है किन्तु नाट्य विधि मे अभिनय का होना आवश्यक माना गया है । चार प्रकार के अभिनय बतलाये गये हैं—दिट्ठ तिय (दार्ष्टान्तिक), पाण्डुसुत, सामन्तोवयणिय (सामन्तोपयातनिक) और लोग मज्भवसित (लोकमध्यावसित्त) ।[२२] अभिनय के चारो भेद भरत के नाट्य शास्त्र मे वर्णित अभिनय भेदो से भिन्न प्रतीत होते हैं । यदि इनके शाब्दिक अर्थ लिये जाय तो (१) मुखतक अ गप्रक्षालन करने वाला अभिनय (२) पाण्डुसुत का कथानक व्यक्त करने वाला अभिनय (३) समान रूप से अ ग सचालन द्वारा किया गया अभिनय और (४) जनसमुदाय के बीच मे ही किये जाने वाला अभिनय की प्रतीति इनसे होती है ।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे अभिनय शून्य नाटको का भी उल्लेख है । यथा—उत्पात (आकाश मे उछलना) निपात, सकुचित, प्रसारित, भ्रान्त सम्भ्रान्त आदि नाटक । राजप्रश्नीय सूत्र मे बत्तीस प्रकार की नाट्यविधि का उल्लेख हैं । उनमे से कुछ तो भरत नाट्यशास्त्र मे उल्लिखित है किन्तु शेष नाट्यविधिया लोकनाट्य के क्षेत्र मे खोजी जा सकती हैं ।

लोक नाट्य से सम्बन्धित कुवलयमाला का एक प्रसग उल्लेखनीय है । एक गाव मे पृथ्वी को धन धान्य से समृद्ध देखकर फसल काटने के समय नट, नर्तक, मुष्टिक, और चारणो का एक दल इधर उधर घूमता हुआ आ पहु चा । गाव के मुखिया ने उन नटो के तमाशे को देखने के लिए सारे गाव मे निमन्त्रण दिया । दिन मे काम-काज के कारण ठीक अवसर न जानकर रात्रि के प्रथम पहर मे उसे दिखाने की व्यवस्था की गयी । ग्रामीण जनता घर के सब कार्यों को निपटाकर अपने-अपने आसन और मशाल ले लेकर तमाशा देखने पहु च गई । एक परिवार के तो सभी लोग उसे देखने का मोह सवरण न कर सके और गये, किन्तु घर की बहु नन्दिनी प्रकृति के जपड़स्वभाव के कारण अपने जीवन की रक्षा करती हुई घर पर ही रह गयी । काफी रात्रि तक वह नाटक चला, जिसमे स्त्रीपात्र भी थे । तथा सगीत और गीत आदि द्वारा किसी शृ गारप्रधान आख्यान को अभिनीत किया गया ।[२३]

इनके अतिरिक्त अन्य नाट्यविधियो का उल्लेख भी प्राकृत साहित्य मे मिलता है । नट लोग स्त्री का वेषधारण कर नृत्य करते थे । रास का भी उल्लेख मिलता है । गाधर्व, नाट्य आदि की शिक्षा देने की व्यवस्था के उल्लेख कथाकोष प्रकरण मे आते हैं । इस प्रकार की लोक कलाओ द्वारा प्रजा मनोरजन करने वाले, कितने ही लोगो के नाम आते है । उदाहरण के लिए नट, नर्तक जल्ल (रस्सी पर खेल दिखाने वाले) मल्ल, मोष्टिक, विदूषक, कथक, लंख (उछलने कूदने वाले), मख (चित्रपट दिखाने वाले), तूणइल्ल, तुम्बवीणिक भोजक और मागध के नाम लिए जा सकते हैं ।[२४]

---

२२. स्थानाग, ४, पृ. २७१

२३. तुलनात्मक अध्ययन के लिए द्रष्ठव्य—लेखक का शोध प्रबन्ध ।

२४. डा. जैन वही, पृ. ३६६

भंवो की परम्परा तो आज भी पट दिखाने वाले भोमा लोगो से की जा सकती है ।[२५]

६. लोक चिकित्सा

प्राकृत साहित्य मे आयुर्वेद से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है, रोगो के प्रकार, रोगोत्पत्ति के कारण व्याधियो के देशी उपचार, घावो के भरने के लिए विविध घृत और तेल का प्रयोग, छोटे-मोटे रोगो के इलाज के लिए घरेलू चिकित्सा आदि के विषय पर डा० जैन ने विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है ।[२६] प्राकृत साहित्य मे इस सबके उल्लेख का एक कारण यह है कि जैन साधु-साध्विया हमेशा पैदल प्रवास करते थे। रास्ते चलते जो छोटे-छोटे रोग या व्रण उन्हे होते थे, गाववासी देशी दवाइयो के उनका इलाज कर देते थे । अत साहित्य सृजन के समय इन सब देशी उपचोरो का उसमे उल्लेख हो गया है। दो रोगो के देशी उपचार दृष्टव्य है—

—एक बार किसी जैन भिक्षु को कृमिकुष्ठ की बीमारी लग गयी, वैद्य ने तेल, कंबलरत्न और गोशीर्ष चन्दन बतलाया, तीनो चीजें श्रावको ने एकत्र की, साधु के शरीर मे तेल की मालिश की गयी, जिससे तेल उसके रोमकूपो मे भर गया ।इससे कृमि संक्षुब्ध होकर नीचे गिरने लगे । साधु को कंबल उढा दिया और सब कृमि कंबल पर लग गये । बाद मे शरीर पर गोशीर्ष चन्दन का लेप कर दिया गया, दो-तीन बार इस तरह करने से कोढ बिल्कुल ठीक हो गया ।[२७]

—सर्प के काट लेने पर विभिन्न इलाज किये जाते थे, किसी राजा को महाविषधारी सर्प ने काट लिया, लेकिन रानी का मूत्रपान करने से वह स्वस्थ हो गया ।[२८] सर्पदश पर मिट्टी का लेप कर दिया जाता था या फिर रोगी को मिट्टी खिलाते थे, ताकि खाली पेट विष न चढे, कभी कभी काटे हुए स्थान को दाग दिया जाता और रोगी को रात भर जगाये रखा जाता । कभी-कभी सुवर्ण को घिसकर रोगी को पिला दिया जाता था ।

इस प्रकार प्राकृत साहित्य मे लोक-संस्कृति के सभी पक्षो–लोक साहित्य, भाषा, जीवन, विश्वास, कला, चिकित्सा आदि—से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती हैं पालि और अपभ्रंश साहित्य की खोज से इसमे और वृद्धि हो सकती है, लोक संस्कृति की सामग्री की विविधता और प्रचुरता को देखते हुए यह नि सन्देह रूप से कहा जा सकता है कि 'प्राकृत साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन' शोध एवं अनुसधान का एक स्वतन्त्र विषय है । इस पर निष्ठा और परिश्रमपूर्वक किया गया कार्य निश्चय ही भारतीय लोक संस्कृति पर महत्वपूर्ण-प्रकाश डालेगा ।



---

२५. लेखक का निबन्ध–पटचित्रावली की लोक परम्परा द्रष्टव्य ।
२६ डा जैन–वही, पृ. ३०७ से ३१८
२७. आवश्यकचूर्णी पृ. १३३
२८. वृहत्कल्पसूत्र, ५.३७ ।

जैन कला में भारतीय देव-प्रतीकों का रूपान्तर

□ श्री गोपीलाल अमर

जैन कला में देव प्रतीकों की वर्तमान स्थिति

जैन समाज मे प्रतीकात्मक देव-देवियो की उपासना कदाचित् उतनी ही प्रचलित है जितनी तीर्थंकरो की। इन देव-देवियो की मूर्तिया भी तीर्थंकरो की मूर्तियो से सख्या मे कम न होगी। उनकी उपासना पहले और तीर्थंकरो की उपासना बाद मे करने की प्रथा भी दृष्टिगत होती है। एक ही शिला पर तीर्थंकर-मूर्ति की अपेक्षा देवी-मूर्ति का आकार बीसगुना तक बनाया जाता रहा। देव-देवियो के साथ उनके गण, परिजन, अनुचर महत्तर आदि की उपासना के विधान भी किये गये।[1]

जैन कला में देव प्रतीको का मूलत अभाव

इतना होने पर भी विचारणीय है कि जैन धर्म मे देव-देवियो की उपासना का मूलत अभाव है। प्राचीन जैन साहित्य मे उसके अस्तित्व का विधान है और उनकी विभिन्न गतिविधियो के उल्लेख भी हैं, पर उनके प्रतीकीकरण का विधान तो क्या, सकेत भी नही हैं। प्राचीन साहित्य मे यह कही भी नही लिखा है कि अमुक देव या देवी की मूर्ति किस धातु की हो, उसका आकार-प्रकार क्या हो और वह किस आसन या मुद्रा मे हो। उपासक दशाग और भगवती सूत्र आदि ग्रन्थो मे कई श्रावको का जीवनचरित्र विस्तार पूर्वक लिखा गया है, पर कही भी यह उल्लेख नही है कि अमुक श्रावक ने किसी देव प्रतीक की उपासना की। समवायाग सूत्र और दशाश्रुतस्कन्ध मे वर्णित तेतीस आशातनाओ मे से एक भी ऐसी नहीं जो जैन प्रतीक से सम्बन्ध रखती हो। छेदसूत्र मे प्रतिपादित अनेक प्रायश्चितो मे से एक भी ऐसा नही जो देव प्रतीको की अविनय आदि के कारण किया

---

१. ओ मनोवेगादेव्यै स्वाहा ।१। मनोवेगायरिजनाय स्वाहा ।२। मनोवेगानुचराय स्वाहा ।३। मनोवेगामहत्तराय स्वाहा ।४। अग्नेय स्वाहा ।४। अग्निलाय स्वाहा ।६। वरुणाय स्वाहा ।७। प्रजापतये स्वाहा ।८। ओ स्वाहा ।९। भू स्वाहा १०। भुवः स्वाहा ।११। स्व स्वाहा ।१२। ओ भूर्भुव स्व स्वाहा ।१३। स्वधा स्वाहा ।१४।
हे मनोवेगादेवि स्वगणपरिवारपरिवृत्तायै तुम्यमिदमर्घ्यं पाद्य जलं गन्धमक्षत पुष्पं चरू दीपं धूपं फल बलि स्वस्तिक यज्ञभागं च यजामहे प्रतिगृहणता स्वाहा ।।
दिगम्बर जैन व्रतोद्यापन सग्रह ' श्री शान्तिसागर दि० जैन ग्रन्थमाला, ईडर, साबरकाठा, १९५४ ई. पृ २९७।

जाता हो। मुनि या श्रावक के आचार में, वस्तुत दैव प्रतीको की उपासना की जरा भी गुंजाइश नही क्योकि सभी प्रकार के देवो का दर्जा किसी भी श्रावक से नीचा है। इतना ही नही, स्वामी समन्तभद्र के देव-देवियो की उपासना का निषेध भी किया है, क्योकि वे रागद्वेष से मलिन होते हैं।[2] असल बात यह है कि जैन और जैनेतर धर्मों मे जो पारस्परिक आदान प्रदान चलता रहा है उसी के दौरान जैन धर्म मे दैव प्रतीको का आदान हो गया। यह दूसरी बात है कि उन्हे तुरन्त ही जैन साचे मे ढाल दिया गया।

जैन कला में दैव प्रतीकों के आदान के कारण

जैन कला मे दैव प्रतीको के आदान के कई कारण हैं—

१. जैनेतर धर्मों मे प्रचलित दैव प्रतीकों की पूजा का जैन भक्तो पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पडा अत उन्होने, शास्त्रविहित न होने पर भी दैव प्रतीको को उसी प्रकार मान्यता दे दी जिस प्रकार बौद्ध भक्तो ने, स्वय महात्मा बुद्ध के द्वारा निषिद्ध होने पर भी बुद्ध प्रतिमा को मान्यता दी।

२. तीर्थंकर मूर्ति की उपासना मे वीतरागता की प्रधानता है, उसमें तामझाम और आडम्बर को स्थान नहीं जिसे कुछ भक्त विशेष रूप से पसन्द करते आये हैं। ऐसे भक्तो ने दैव प्रतीको को जिनकी उपासना मे तामझाम वगैरह की काफी गुंजाइश है, जैन कला मे रूपान्तरित करने की खास पहल की।

३. कलागत प्रतिस्पर्धा की भावना ने भी अनेक दैव प्रतीको को जैन कला मे स्थान दिलाया। इस प्रतिस्पर्धा का एक बहुत ही अच्छा उदाहरण है तीर्थंकर की माता की मूर्ति निर्माण।[3] शेषमयी विष्णु की और बालक बुद्ध के साथ लेटी मायादेवी की मनोहरी मूर्तियो को देखकर, ऐसी ही मुद्रा मे मूर्त्यंकन के लिए किसी जैन पात्र की खोज मे जैन भक्त बेचैन हो उठा होगा। तीर्थंकर को लेटा हुआ दिखाया नही जा सकता, कोई देव पूजा का पात्र नही; कोई साधु अलंकरण और परिकर के साथ अंकित नही होता और किसी राजा या महापुरुष को जैन मन्दिर मे मूर्त्यंकित नही किया जा सकता। आखिर कुछ कुशाग्रबुद्धि भक्तो ने तीर्थंकर की माता को उपर्युक्त मुद्रा मे मूर्त्यंकित करके जैन कला को वैष्णव और बौद्ध कला से पीछे न रहने दिया।

४ चमत्कार प्रियता मुख्य कारण थी। इष्ट-सिद्धि और अनिष्ट परिहार का चमत्कार दिखाने के लिए तीर्थंकर तो दौडे नही आते, उनके भक्त देव देविया ही यह कार्य कर सकते थे। अत बहुत सी होनी–अनहोनी कथाएं और मन्त्र–तन्त्र जोड़कर अनेक दैव प्रतीको को जैन कला मे स्थान दिया गया।

---

२. 'वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलिमसा।
देवता यदुपासीन् देवतामूढमुच्यते ॥'
रत्नकरकण्ड श्रावकचार श्लोक २३।

६. प्रसंगवश यह मानवी मूर्ति का उदाहरण दिया गया है, दैव मूर्तियो के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। सिंह गरुड़ आदि वाहनो, अतिरिक्त मुखो और भुजाओ तथा आयुधो वाली मूर्तिया ऐसी ही हैं।

५. भट्टारक संप्रदाय की भौतिकवादी नीति ने दैव प्रतीको को सर्वाधिक सक्रिय प्रोत्साहन दिया। आठवी शती के आसपास उदित हुआ यह सप्रदाय साधुसंस्था का सरलीकृत संस्करण था। भट्टारको ने शारीरिक कष्टो से बचने और ऐहिक सुख पाने के लिए देव-देवियो की उपासना पर अधिक जोर दिया, जिनके नाम पर शासको और धनाढ्यो से दान-दक्षिणा प्राप्त करते-करते कुछ भट्टारक भौतिक सुखो मे इतने लीन हुए कि उनके ठाठ-बाठ राजाओ के समान होने लगे।[४] इस सप्रदाय मे कदाचित् कुछ जैनेतर व्यक्ति भी आ मिले और उन्होने अपने इष्ट दैव प्रतीको का दैवीकरण किया।

६ नारी के प्रति स्वाभाविक आकर्षण मे जैन भक्त भी आये। यही कारण है कि देवो की अपेक्षा देवियो की मूर्तिया न केवल सख्या मे अधिक बनी, बल्कि आकार मे भी बडी बनी। उन्हे आकर्षक मुद्राओ मे अंकित करने का कारण भी यही है।

७. राजनीतिक प्रभाव ने भी गगा, जमुना आदि अधिष्ठात्री देवियो के प्रतीको को जैन कला मे भी स्थान दिया।

इन सब कारणो से, इसमे सन्देह नही रह जाता कि जैन कला मे मूलत दैव प्रतीको का अभाव है। अब यह देखना है कि उन्हे जैनेतर कला से कब और किस रूप मे अपनाया गया।

जैन कला में दैव प्रतीको का विकास

भगवान् महावीर के समय यक्षो के आयतन बनते थे। उनमे यक्षो की मूर्तिया नही होती थीं और कदाचित तीर्थंकर मूर्तिया स्थापित की जाने लगी, इसलिए यक्षायतनो को जिनायतन कहा जाने लगा। जिनायतनो का निर्माण स्वतन्त्र रूप से भी होने लगा। कुषाण काल मे कुछ दैव प्रतीको को जिनायतनो के प्रवेश द्वार पर स्थान मिला। वे अपने विशिष्ट लक्षणो से यह सूचित करते थे कि इस जिनायतन मे अमुक तीर्थंकर की मूर्ति स्थापित है। कालान्तर मे इन प्रतीको ने जिनालय के भीतर प्रवेश किया और क्रमशः गर्भगृह के प्रवेश द्वार पर उत्कीर्ण होने लगे। गुप्तोत्तर काल मे इन्हे तीर्थंकर के सिंहासन मे नीचे स्थान दिया जाने लगा। उनका यह स्थान आज भी तीर्थंकर के नीचे है, किन्तु कलचुरि काल के आते-आते उनका आकार काफी बडा हो गया। बाद मे पूर्वोक्त कारणो से, दैव प्रतीको का आकार इतना बड़ा होने लगा कि तीर्थंकर-मूर्ति से देवी मूर्ति बीस गुनी तक बडी बनाई जाने लगी। चन्देल काल तक देवी मूर्ति के समक्ष तीर्थंकर मूर्ति का महत्त्व लुप्त प्राय हो गया और अन्तत तीर्थंकर मूर्ति के बिना ही देव देवियो की मूर्तिया निर्मित होने लगी। इस समय मत्तमयूरियो, कौल-कापलिको, भट्टारको आदि के प्रभाव से दैव प्रतीको का महत्त्व जैन कला मे भी इतना बढा कि जैन मन्दिर मे भीतर बाहर ऊपर नीचे, सर्वत्र देव देवियो की मूर्तिया दृष्टिगत होने लगी और उनके नाम पर स्वतन्त्र मन्दिरो का निर्माण तक हुआ। इन अद्भुत अपूर्व मूर्तियो को देखकर यह समझते देर नही लगती कि जैन कला दैव प्रतीको का मूलत अभाव क्यो है।

---

४ डा, विद्याधर जोहरापुरकर भट्टारकसप्रदाय, प्रस्तावना पृ. ४-५. जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर, १९५८ई.।

५. मुनिश्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ, पृ. १८९-९१, ब्यावर, १९६५ ई.।

जैन कला में रूपान्तरित कुछ देव प्रतीक

१. धरणेन्द्र–पद्मावती पूर्व जन्म मे नाग–नागिन थे। एक वैदिक तापस द्वारा उनकी आहुति दी ही जाने वाली थी कि युवराज पार्श्वनाथ ने उन्हे मरणासन्न अवस्था मे देखकर णमोकार मन्त्र सुनाया जिसके प्रभाव से वे भवनवासी देव–देवी हुए। जब भगवान् पार्श्वनाथ पर कमठ ने उपसर्ग किया तब इन दोनो ने उनकी रक्षा की।[६] पद्मावती की मूर्तिया जैन कला मे सर्वाधिक है। कहते हैं, विद्यानुवाद पूर्व नामक आगम ग्रन्थ मे जो अब अनुपलब्ध बताया जाता है, इस देवी का वर्णन था जिसके आधार पर आठवी शती के मुनि सुकुमार सेन ने 'भैरवपद्मावती कल्प' लिखा। किन्तु विद्यानुवाद पूर्व मे पद्मावती की मूर्ति का भी विधान रहा होगा, यह विश्वसनीय नही, क्योकि मुनि सुकुमारसेन जैसे अनेक साहित्यकारो ने बात तो कही है अपनी और उस पर मुहर लगायी गौतम गणधर या भरत चक्रवर्ती या किसी प्राचीन अनुपलब्ध ग्रन्थ की। तीसरी शती के पादलिप्त सूरि की निर्वाणकालिका मे और छठी शती के आचार्य यति वृषभ की तिलोयपण्णत्ती मे पद्मावती का नाम है किन्तु उसके प्रतीक का कोई निर्देश नही। इसके अनन्तर अवश्य इस देवी के प्रतीक सम्बन्धी अनेक विस्तृत विधान मिलते है। पर वे सब भट्टारक परम्परा के परिणाम हैं, उनमें से एक भी ऐसा नही जो इस प्रतीक का मूल जैन कला मे होना सिद्ध कर सके।

२. अम्बिका पूर्व जन्म मे अग्निला नाम की ब्राह्मणी थी। एक बार उसने निमन्त्रित ब्राह्मणो के पहले एक जैन मुनि को भोजन करा दिया इस पर नाराज होकर उसके पति सोमशर्मा ने उसे उसके पुत्र शुभकर और प्रभकर के साथ घर से निकाल दिया। वह गिरिनगर पर्वत पर एक अमराई मे पहुची जहा उसके पुत्रो के लिए एक आम्रवृक्ष असमय मे ही इसलिए फल गया कि उसने मुनि को भोजन कराया था। इसी समय गिरिनगर ग्राम मे आग लग गयी जिससे पूरा ग्राम भस्म हो गया। केवल शोमशर्मा का घर बच रहा। सोमशर्मा ने समझा कि इस अतिशय का कारण अग्निला ने समझा कि वह उसे और कष्ट देने आ रहा है अत वह दोनो पुत्रो के साथ पर्वत से कूद कर मर गयी। उसके वियोग से विह्वल होकर सोमशर्मा भी मर गया और सिंह बन कर अग्निला के वाहन के काम आने लगा जो अब अम्बिका के नाम से बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षी बन चुकी थी।[७] अम्बिका की प्राचीनतम मूर्तिया मथुरा से प्राप्त हुई हैं। इनका निर्माण काल दूसरी से सातवी शती तक माना जाता है।[८] इन मूर्तियो का निर्माण एक आकस्मिक घटना थी क्योकि इन शताब्दियो मे मथुरा के बाहर कही इस देवी की मूर्तिया नही बनी और इसके प्रतीक का विधान भी इस समय तक के साहित्य मे नही मिलता।

३. सच्चिया माता वस्तुत महिषासुरमर्दिनी है। इसके जैनीकरण की कथा बहुत महत्त्वपूर्ण

---

६. (१) भावदेव सूरि . पार्श्वनाथ चरित्र, ६, ५० ६८।
 (२) आचार्य गुणभद्र : महापुराण (उत्तर पुराण), ७३, १३६,४०।

७ (१) वादिचन्द्र सूरि . अम्बिका कथा।
 (२) बप्पभट्ट सूरि . चतुर्मशतिका, अम्बिका देवी कल्प। आदि।

८. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल . मथुरा म्यूजियम केटलाग, भाग-३, पृ० ३१,३२, ५५,६७।

हैं। यह देवी भैंसे के मास से तृप्त होती थी, इसलिए तेरहवी शती मे रत्नप्रभ सूरि ने जैनो को उसके मन्दिर मे जाने मे रोक दिया। एक बार भूख से व्याकुल होकर वह रत्नप्रभ सूरि से भोजन की याचना करने आयी। उन्होने उसे मिष्ठान दिया जिसे अस्वीकार कर उसने भैसे के मास की याचना की। उससे सूरि जी उसे ऐसा उपदेश दिया जिससे वह अहिंसक बनकर जैन धर्म मे दीक्षित हो गयी।[8] इसके बाद उसकी अनेक मूर्तिया बनी। मारवाड मे ओसिया मे इसकी कदाचित प्रथम मूर्ति स्थापित हुई।

४. कुरुकुल्ला के जैन होने की कथा काफी दिलचस्प है। यह मूलत वज्रयानी तान्त्रिक सम्प्रदाय की बौद्ध देवी थी। एक बार उसने बारहवी, तेरहवी शती के देवसेन सूरि का उपदेश सुन लिया सो जैन बन गयी। उसने सूरि की सर्पों से रक्षा की, तब से यह सर्पों की देवी भी कहलायी।[10] कदाचित इस देवी की मूर्तिया नही बनी।

उपसहार

प्रतीको के इस आदान से जैन कला मे विविध रूपता और मनोहारिता का समावेश हुआ है। अन्यथा उसमे तीर्थंकर-मूर्तियो की एक रसता ही शेष रहती है। ये प्रतीक जैन कला और साहित्य की सबल पाचन शक्ति के प्रतीक हैं।



तप

वर्तमान में, या अतीत मे, या भविष्य में
स्वाध्याय सा तप न हुआ है, और न होगा।

—अर्हत

९ उपकेशगच्छ पट्टावली समुच्चय, भाग १ पृ० १८७।
१०. कल्पसूत्र (जैकोबी), सूत्र ३ पृ० २१६ आदि।

खण्ड ४

इतिहास एवं पुरातत्व

३४

सराक (श्रावक) संस्कृति और हम

□ बाबूलाल जैन जमादार

जैन धर्म अति प्राचीन धर्म है, इसे अब सभी मनीषी विद्वान डंके की चोट कहने लगे है। जो लोग भ० महावीर स्वामी को जैन धर्म का प्रवर्तक, प्रचारक-प्रसारक मानते थे वह भी अब अपनी भूल सुधार रहे हैं। भगवान पार्श्वनाथ स्वामी भ. महावीर स्वामी से पूर्व हुए है, और भगवान पार्श्वनाथ स्वामी से पूर्व भ० नेमीनाथ स्वामी हुए है। भ० ऋषभदेव स्वामी सर्वप्रथम वर्तमान चौबीसी मे हुए हैं। यह सब मानते है और मानने लगे हैं।

श्रमण सस्कृति और वैदिक संस्कृति का प्रचार-प्रसार एक साथ हुआ है ऐसा बहुत से मनीषी मानते हैं लिखते हैं लेकिन जैन धर्म मे प्रधानता श्रमण सस्कृति की है। अध्यात्मवाद उसका मूल धन है, उसी की उपसना भक्ति उसका भक्त करता है। भौतिकवाद से जैन धर्म धर्मात्मा की रक्षा करता है। भगवान ऋषभदेव व उनके बडे पुत्र चक्रवर्ति भरत तथा कामदेव बाहुबलि के पास भौतिक पदार्थों की क्या कमी थी लेकिन उन्हे रचमात्र भी सुख न मिला और मिला सघर्ष, कलह, विद्वेष तथा अलगाव।

उस धन और धरा का क्या उसे अपनो को अपनो से विलग कर दे और अपने धर्म बन्धुओ को विस्मरण करा दे उसे यदि कोई धर्म का प्रसाद कहे तो मात्र उसे वाचयालया बावला ही कहना चाहिए। क्योकि उसने वात्सल्य धर्म और स्थितिकरण अंग को समझा ही नही, जाना ही नही। वह तो मात्र भौतिकता का पुजारी है। भौतिक पदार्थों मे आनन्द मानने वाला ससारी है।

लेकिन अध्यात्मवाद का वेत्ता, श्रमण सस्कृति का उपासक शरीर को गुलाम बनाता है। स्वय उसके आधीन नही होता, वह शरीर से आत्म रक्षा करता हुआ पर की रक्षा मे तत्पर रहता है। छहखड का धनी हो, बलभद्र हो, नारायण हो, कामदेव हो कोई भी हो वह प्रतिक्षण अपनी सुध रखता है और दूसरे की सुध रखता हुआ जीवन यापन करता है। यदि अपनी सुध भूल जावे और बाहरी दुनिया मे ही खो जावे तो उसका जीवन भी भारमय तथा कष्टमय ससारी हो जाता है। अध्यात्मवाद की शरण मे वह जल से भिन्न कमल के समान रहता है। देश रक्षा, देश निर्माण, युद्ध विजय हार आदि सभी भोगता है और सभी षट् कर्म करता है पर उसमे रचता पचता नही है, उसे खिलाडी के समान खेल कर भूल जाता है और अपनी स्वय की दशा का बोध करके उस अनन्त ससार से हटना चाहता है जहा अनन्त काल से दु.ख भोगता आया है। उस दु.ख मे आनन्द लेता वह अपनी श्रमण परम्परा को एक क्षण भी नही भूलता और उसी की रक्षा व सेवा सम्भाल मे पुरुषार्थ करता रहता है। श्रमण

परम्पराओ मे ग्रहस्थ औरमुनि का मार्ग जुदा–जुदा है ।श्रमण (मुनि) समस्त अन्तरंग और वहिरंग परिग्रहो (मूर्च्छाओ) से रहित होता है, उसे अपने शरीर का भी वोध न रहता कि वह किस तरह है, उसे क्या खिलाया। कव खिलाया और कव पिलाया मात्र वह तो आत्मध्यानी, संयमी, तपस्वी और चरित्रधारी आत्म चिंतन मे लीन रहता है। वन, पर्वत, गुफा, कदरा मे नदी के तीर या तीर्थ क्षेत्रो की भूमि अथवा कुछ समय को वसतिका आदि मे आकर निवास करते हैं। जाडा, वरसात, धूप की पीडा सहना, उपसर्ग सहना और आत्मध्यान मे लीन स्वयं का कल्याण करना तथा पर को धर्मोपदेश देकर सद्मार्ग पर लगना यही उनका पुरुपार्थ है यही उनका कर्म है।

वीतरागी निग्रंथ दिगम्बर श्रमण सर्वत्र एकल विहारी सघस्थ ध्यानस्थ भगवान ऋपभ देव स्वामी के समय से इस भूमंडल पर कर्म भूमि के प्रारम्भ से वरावर विचरण कर रहे हैं और काल के अन्त तक विचरण करते रहेगे। साथ ही इन पर उपसर्ग भी आते रहे हैं आते रहेंगे ऐसा भी सत्य है। इतिहास इसके साक्षी हैं। पर श्रमण परम्परा कायम रहेगी।

जव श्रमण रहेंगे तो उसके मानने वाले, पूजने वाले भक्त भी रहेगे, ग्रहस्थ भी रहेगे इसे कोई नष्ट नही कर सकता। जिन्होने इस वर्ग को नष्ट करना चाहा वह भले ही नष्ट हो गये पर यह ज्यों के त्यो किसी न किसी रूप मे विद्यमान रहे।

घानी मे पेले गये, कडाहो मे छोंके गये, भट्टियो मे झोंके गये, आरे से चीरे गये, नेत्रो पर लटकाये गये, सामूहिक वध किया गया और ऐलान किया गया कि वीतराग धर्म (जैन धर्म) का उपासक उसका गुरु और उसका वीज आर्यवर्त से लोप कर दिया गया" आदि। पर अहिंसा धर्म का उपासक उसका भक्त और उसका गुरु व उसका वीज किसी न किसी रूप मे विद्यमान रहा। भले ही उसे भूमिगत रहना पडा हो, अपना भेष वदलना पडा हो, अपना रहना सहना वदलना पडा हो. पूजा पद्धति वदलनी पडी हो, अपने इष्ट देवताओ को भूमि की गोद मे छिपा देना पडा हो, उसने सदैव आतताईयो के जुल्म सहे और वलिदान दिये, पर अपने धर्म को, अपनी सस्कृति को और अपने शुद्ध खान पान, आचार-विचार को उसने न छोडा है, न छोडे गे। यह ठीक है कि कुछ समय के लिए जैन धर्म लोपसा दिखने लगा था, पर वह भूमिगत था प्रगट समय पाकर पुनः हुआ।

भ० महावीर स्वामी के काल मे जैन धर्म पर बडे–बडे आघात हुए यह तो सर्व विदित है लेकिन भ० महावीर के अपने अपरिग्रहवाद ने, स्यादवाद सिद्धान्त ने सभी को चुप कर दिया और वीतराग धर्म की गूंज विश्व मे गुंजा दी। वडे वडे वादीभ सामने आते ही अपना अभिमान छोड वैठे और मुख से यही उच्चारण किया कि "हे नाथ हम आपकी शरण मे हैं। आप ही मगल है, आप ही धर्म हैं आप ही उत्तम हैं और आपकी शरण ही हमारा धर्म हैं।" उस काल के स्वयं सुखी वेत्ता केवली सर्वज्ञ जव विपुलाचल पर रचे गये समोशरण की ओर झुके तव पता चला कि सर्वज्ञ कौन है? निग्रंथ धर्म क्या है? वीतराग भाव क्या है? गुरु शिष्य कौन है। धर्म का चमत्कार और उसका रूप क्या है? आदि प्रश्नो का उत्तर स्वय पा गये। अन्दर मे महिमा जागी पर वाहर से अभिमान न छोडा जिससे भटक गये चरण और चल पडे विपरीत दिशा को। जो मार्दव धर्म मे प्रविष्ट कर गये वह जा पहुंचे समोशरण मे और वन वैठे गणधर मन पर्यय ज्ञानी, केवली और मुक्ति गामी।

उसी पावन विहार की भूमि मे, उसके पडौसी बगाल और उडीसा मे, कण–कण जैन धर्म की गूंज

जहा गूंजती थी उसके विपरीत नर सहार और पशु वध, वलि और क्रियाकांड की गूज भी भटके चरणों के पथिको द्वारा गूंज रही थी। हिंसा अहिंसा का द्वन्द एक साथ चलने लगा। जैसे भ० आदि नाथ (ऋषम देव स्वामी) के समय मे बावा और पौते के मार्ग का प्रचलन चला था।

अहिंसा पर हिंसा सदेव हावी होती रही है पर जीत अहिंसा की ही होती आई है। कुछ समय को हिंसा अपना एक क्षेत्र राज्य करती है पर अहिंसा धीरे धीरे हिंसा का सिंहासन हिला देती है और स्वयं विराज जाती है।

भ० महावीर के निर्वाण होते ही और उनके गणधरो का निर्वाण होते ही इस भूमडल पर धर्म समाज जाति के नाम पर जो कत्ले आम हुआ उसे समय के भोगी तो जानते ही थे इतिहास, कारो ने भी नही भुलाया। सम्राट अशोक का कत्लेआम मचाना, जैनियो का बध करना, वैशाली के राज प्रासादो और राजकुमारो का वध करना, नर–नारियो का वध और भावी पीडी का वध आदि ऐसे कुकृत्य हुए जिन्हे पाकर सुनकर रोगटे खडे हो जाते है। फिर शंकराचार्य के आक्रमण, मुगलो के आक्रमण, शैवो का आक्रलण, और यहुदियो के आक्रमण आदि ऐसी दुर्घटनायें यहा के श्रावको को छिन्न भिन्न कर रही। धन्य है उन श्रावको को सराको को जिन्होने अपनी समस्त सम्पत्तिया विपत्तियो के सामने त्याग दी अपने परिवार के लोगो को मीत के मुह मे दे दिया। अपने बाल–बच्चो को धर्म की रक्षा मे बलिदान कर दिया। सभी कुछ त्याग किया लेकिन अपना पावन जैन धर्म (श्रावक धर्म) नही छोडा। अपने देवालयो की जिन मूत्तिया भोहरो (तहखानो) मे छिपा आये। नदी, पहाडो की तलहटी मे जा बसे पर धर्म न त्यागा।

विहार, बगाल, उडीसा इन तीन प्रान्तो मे यह श्राउक (सराक) ५ लाख की सख्या मे अभी भी विद्यमान है। इनकी रहन सहन खानपान आज भी शुद्ध है। इनके आचार विचार आज भी पवित्र हैं। इनकी बोल चाल आज भी सही व प्रमाणिक हैं। सभी खेतीहर हैं वह भी धान्य की उपज करने वाले हैं। भगवान ऋरषभ देव द्वारा जो ग्रहस्थो की षट् कर्म करने का उपदेश था उसे आज भी यह लोग अक्षरश, पालन करते है। इन तीन प्रान्तो मे घूमने पर हमे ऐसा लगा मानो हम पुन अपने बचपन मे लौट आये हो। क्योंकि जो खाते हमारी मा हमारे जीवन मे घर पर ढालती थी वह सभी यहा इस काल मे इस समय मौजूद है। हमे ऐसा लगा कि असली जैन यह है हमतो दिखावे मात्र हैं।

प्रात उठकर ऊ अर्हं ऊ नम सिद्धेभ्य ऊं जय जय, ऊ वीतरागय नमः ऊं देवाय नमः ऊँ ब्रहमेयनम आदि का घर घर मे उच्चारण है। सूर्योदय के एक घंटा बाद नाश्तापानी शुद्ध होता है। जल छान कर पीते है। भोजन शाला की पवित्रता पूरी पूरी रखते है। बगैर स्नान किए भोजन पानी नही, न चौके मे स्त्री बगैर शुद्ध वस्त्र पहने जावेगी।

मुनियो का आहार समय पर जल से भरे कलष लेकर और वे पुरुष द्वार पर खडे होगे और जल छोड कर माथा झुका कर अन्दर जावेगे। घर के वयोवृद्ध पुरुष को प्रथम भोजन कराया जावेगा। चन्देवा घर घर मे बन्ध होगा।

प्याज, लहसुन, अयक्ष्य पदार्थों का सेवन नही है जहा वह सभी भोजन भी नही होता। पर्व तिथियो मे उपवास, एकासन, नियम आदि का प्रचलन है। सामाजिक मर्यादा ये हैं जिनमे, साथ ही बाजार का भोजन नही लेंगे। अपनी जाति के भाइयो के हाथ का भोजन करेंगे।

तीर्थ क्षेत्रो की वन्दना का अंतिम लक्ष्य-श्री सम्मेद शिखर जी की यात्रा के वाद घरेलु कार्यो से मुक्ति ले लेते हैं मात्र आत्म चिन्तन करते हैं।

चोरी डाकेजनी भ्रष्ट चरित्र मे फसने नही और मुकद्दमे वाजी करते नही, पचायत की आज्ञा प्रधान है। गुरुओ की सत्संगति करते हैं। रामायण महाभारत गीता आदि ग्रन्थो को ग्रन्थ मानकर पूजते हैं। जैन गुरुओ का सतसग युगो से नही मिला और और न कोइ विद्वान १६० वर्ष से उनके पास वीच मे शीतल प्रसाद जी सेठ वंजननाथ जी सरावगी कुछ स्थानो पर गये। वंद्ध गुरु वैश्णव गुरु और शैव गुरु घूमते रहते हैं जैन नही। फिर भी उनके सस्कार जैन धर्म के विद्यमान हैं।

रात्रि मे जल भी नही लेते और कपडे रगने वाले वंधु दिन मे रंग नीचे रख देते हैं (सूर्य छीपने से पूर्व)। गोत्र भी जिनके ऋषभ देव, आदि देव, धर्म देव अनतवेव शान्ति दव, वासु पुज्य, गौत्तम शाडिल्य, भारद्वाज, आदि ताथकर गणधर ऋपियो पर हैं।

काटा, फाटा मार डाला आदि शब्दो को हिकारत की दृष्टि से देखते–सुनते हैं। सराको मे गुरु भक्ति अधिक ह। यदि कोई व्रती एक वार भोजन करने वाला पहुचे तो उसकी इतनी प्रभावना वह लोग करते है कि सारा गाव गीत नाच मे लगता है। उसका उपदेश वडी तन्मयता से सुनते हैं वह चरित्रधारियो क उपासक हैं।

मेदनीपुर और कटक के ऐलक (अलक) जाति के श्रावक हैं। इनके गुरु मात्र एक अर्द्ध लगोटी रखते है। खड होकर आहार पानी एक ही वार लेते हैं। मोर पिच्छिका (पखा) रखते हैं और एक नारियल का कमडुल रखते हैं शिष्यो को शुद्ध लाल वस्त्र पहने देखा जाता है। दिन के प्रमाण से भोजन होता है। कोई भी भक्त रात्रि मे भोजन तो क्या जल भी ग्रहण नही करेगा। अष्टमी, चतुदर्शी, एकादशी पचमी को हरी सब्जी नही लेगे, और न अन्न ग्रहण करेंगे। मात्रदघ या गर्म जल लेंगे। अन्यथा निर्जल उपवास करेंगे। खडगिरि उदयगिरि की यात्रा अपने गुरु के साथ साल मे एक बार अवश्य करेंगे।

अतिथि सत्कार के स्वामी हैं। और वे ममतामयी धर्म का आभूपण है। शृगार रहित मोटा खाना, मोटा पहिनना चरित्रार्थ की पालक हैं। व्यापार, नौकरी, डाक्टरी, वकीली, मास्टरी आदि खेती के वाद के धन्धे है। इनमे पुलिस अधिकारी, वैरीस्टर, वकीलें, डाक्टर, प्रो० फेसर, मास्टर, व्यापारी आदि सभी हैं। फिर भी गरीव हैं कृपक है। भूमि मे जगह-जगहमूर्तिया दवी पडी हैं उनकी खोज सम्भाल होना आवश्यक है।

ऐसे सराको पर हजारो श्रावक वारे जाये तो भी तो थोडे है। भगवान महावीर स्वामी के २५०० वे निर्वाण दिवस की पुण्य वेला मे जैन समाज अपने विछुडे भाइयो को यदि गले लगावे और २० लाख रुपया इनके हेतु खर्चे करे तो वह दिन दूर नही जव हम अपनी खोई निधि को पालेंगे। मेरी लिखी चारो पुस्तको—(१) सराक वंधुओ के वीच (२) सरावक हृदय (३) जैन सस्कृति के विस्मृत प्रतीक (४) प्राच्य जैन सराक शोध कार्य से विशेष जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

हमतो यही सोचते है कि श्रावक (सराक) अव भी जैन धर्म मे विद्यमान हैं।

●●●

३५

जैन साहित्य एवं संस्कृति का केन्द्र राजस्थान

☐ डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

राजस्थान के नाम के साथ वीरता, शौर्य देश-भक्ति एव आत्म बलिदान की कहानियां जुडी हुई है। मध्य काल मे इस प्रदेश ने देश का नेतृत्व ही नही किया किन्तु अपने पीछे ऐसे सस्मरण छोडे जिन्हे भारतीय इतिहास मे सदा एव सर्वदा स्मरण किया जाता रहेगा। वास्तव मे राजस्थान उन सपूतो का देश है जिन्होने मातृभूमि की रक्षा मे अपने प्राणो की कभी परवाह नही की। यह उन देश भक्तो का प्रदेश है जिन्होने अन्याय, अत्याचार एवं अमानवीय कष्टो के आगे कभी झुकना अथवा आत्म समर्पण करना नही सीखा और देश हित को सर्वोपरि माना। महाराणा सागा, हम्मीर, महाराणा प्रताप, अमरसिंह जैसे वीर देश भक्तो को जन्म देने का गौरव प्राप्त किया किन्तु राजस्थान वीरता के साथ साथ साहित्य, कला एव भारतीय मे सस्कृति को जो आश्रय मिला वह किसी भी प्रदेश के लिये स्पृहणीय हो सकेगा। यहा के वीर तोपो की गड़गडाहट एव तलवारो की चकाचौध के मध्य मे भी साहित्य एव कला के विकास मे अपना योग देते रहे और अपने अपने दरबारो मे इनकी महत्ता को कभी कम नही होने दिया।

राजस्थान मे वैदिक एव श्रमण सस्कृतियां साथ साथ रह करके भी खूब फली फूली। दोनो ही एक दूसरे का सहयोग लेकर अपने अपने विकास क्षेत्र मे आगे बढती रही। इस प्रदेश के इतिहास मे सम्भवत ऐसी कोई बडी घटना नही घटी जब धर्म एव सस्कृति के नाम पर इनके उपासको मे झगडा हुआ हो। यद्यपि यहा के शासक कभी जैन धर्मावलम्बी नही रहे किन्तु उन्होने श्रमण सस्कृति मे जितना अधिक योग दिया वह किसी भी इसी धर्म वाले शासक कम नही है। उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, बूदी एव जैसलमेर के राज्यो मे श्रमण सस्कृति एव साहित्य का खूब प्रचार हुआ और आज भी इन मे देशो उनके विकास के उज्वल अवशेष मिलते हैं।

राजस्थान को किसी तीर्थंकर की जन्म भूमि अथवा उसके पाच कल्याणको मे से किसी एक कल्याण की भी पावन भूमि बनने का सुयोग नही मिला किन्तु वर्तमान मे जैन समाज की प्रमुख खण्डेलवाल जाति का उद्गम स्थान होने का सौभाग्य मिला। खण्डेलवालो की ८४ जातियो का उत्पत्ति स्थान भी इसी के खण्डेला ग्राम को है। कविवर बखतरामसाह ने इस सम्बन्ध मे बडा ही रोचक एवं ऐतिहासिक वर्णन दिया है। इसी तरह बघेरवाल जाति का प्रारम्भ बघेरा ग्राम मे हुआ माना जाता है। बघेरा ग्राम आज भी एक सुन्दर एंव सास्कृतिक स्थान है। इसके चारो ओर बघेरवाल समाज की अच्छी सख्या है। डूगरपुर के मन्दिर

मे एक बघेरवाल जाति गोत्र छद वाली लघु कृति उपलब्ध हुई है इसमे इसके ५२ गोत्रो का नाम देकर इनके उत्पत्ति का इतिहास पर भी कुछ पक्तिया लिखी-हैं–

विद्या वलि करि वात विचार
धर्म तणा उन्नति चितधार।

चित्रकोट की करि पयाण
आये गाव बघेरइ ठाण ॥

अमृतवाणी करे उपदेश अति
वोधरिणपुर नगर निवेशा।

वैश्य वरण वस्टूला व्यापणि
प्रतिषोघ्या समकित धर्मधारिण ॥८॥

साचो जैन धर्म समझायो
श्रावक मरम सुगति वतायो।

श्री जिन पूजा बहू विधि धारे
श्री गुरूसेवा परउगारे ॥६॥

नाम बघेहर ग्राम थमाया
बघेरवाल तिणि जाति कहाया।

तेहना बावन गोत्र गुणाया
सुगुत नामे ते शास्त्र सुणाया ॥१०॥

पल्लीवाल जाति का उद्‌गम राजस्थान के प्रसिद्ध औद्योगिक नगर पाली से माना जाता हैं। इसी तरह जोधपुर के ओसिया ग्राम से ओसवाल जाति एव उपदेश कच्छ का उद्‌गम स्वीकार लिया गया है। यह उद्‌गम कोई ६८ वी शताब्दी से हुआ होगा। नागपुरीय तपागच्छ का अस्तित्व नागौर से प्रकट हुआ। इनके अतिरिक्त श्वेताम्बर जैन समाज के और भी कितने ही गण एव गच्छ हैं जिनका उद्भव एव विकास राजस्थान मे हुआ। नरसिंहपुरा जाति का उद्‌गम स्थान भी राजस्थान ही है।

प्रमुख आचार्य

राजस्थान मे कितने ही जैनाचार्य हुए जिन्होने भारतीय सस्कृति एव विशेषत जैन सस्कृति एव साहित्य की खूब सेवा की। "जम्बू द्वीप प्रज्ञाप्ति" के आचार्य पद्‌मनन्दि राजस्थानी थे और वारा नगर उनकी तपोवन भूमि थी। आचार्य हरिभद्र सूरि का चित्तोड से अत्यधिक सम्बन्ध था। आचार्य श्री ने जैन धर्म एवं साहित्य की जो महती सेवा की थी वह इतिहास के स्वर्ण पृष्ठो पर अंकित रहेगी। विद्वानो का अनुमान है कि केशोरायपाटन का पूर्व नाम आश्रम पत्तन था जहा पर दि० जैनाचार्य नेमिचन्द्र ने द्रव्य संग्रह की रचना की थी। इसी तरह अन्य कितने ही आचार्यों का राजस्थान से विशेष सम्बन्ध रहा है। सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान आशाधर का माडलगढ मे जन्म हुआ था। इन्होने जीवन भर सस्कृत साहित्य की सेवा और जिनयज्ञकल्प, सागार धर्मामृत, अनगारधर्मामृत, त्रिषष्टि स्मृति शास्त्र अध्यात्म रहस्य, भरतेश्वरायभ्युदय, राजमती विप्रलभ एव काव्यालकार जैसे उच्चकाटि के ग्रन्थो की रचना की।। सस्कृत साहित्य का घर–घर मे प्रचार करने वाले तथा समाज को एक नयी दिशा प्रदान करने वाले जैन सन्त भट्टारक सकलकीर्ति ने ८ वर्ष तक भट्टारक पद्‌मकीर्ति के पास नैणवा मे गहरा अध्ययन किया था और फिर राजस्थान एवं गुजरात मे स्थान-स्थान पर भ्रमण करके २५ से भी अधिक ग्रन्थो की रचना की। इन्होने साहित्य सेवा के प्रति जन साधारण एव साधु वर्ग मे इतनी जवरदस्त रूचि पैदा की जिससे इनके पीछे ३०० वर्षो तक विशाल साहित्य का निर्माण होता रहा। आज जो राजस्थान के ग्रन्थ सग्रहालयो मे इतनी अधिक सख्या मे ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उसमें भट्टारक सकलकीर्ति का प्रमुख योगदान है। सकलकीर्ति के पश्चात् ब्रह्म जिनदास, आचार्य सोमकीर्ति, भट्टारक ज्ञानभूषण

भ० विजयकीर्ति, ब्रह्म बूचराज, संतकवि यशोधर भट्टारक शुभचन्द्र, सन्त शिरोमणी वीरचन्द्र, सुमतिकीर्ति, कुमुदचन्द्र एवं भ० रत्नकीर्ति के नाम विशेषत उल्लेखनीय हैं। वास्तव मे इन सन्तो ने संस्कृत एव हिन्दी साहित्य मे सैकड़ो रचनायें लिख कर जनसाधारण मे स्वाध्याय की रुचि बनाये रखी। अपभ्रश के प्रमुख विद्वान महाकवि हरिषेण एव धनपाल दोनो ही राजस्थानी कवि थे और इन विद्वानो ने धम्मपरिक्खा एव भविसयत्त कहा जैसी उच्चकोटि की रचनाये लिख कर अपभ्रश साहित्य की ही सेवा नही की किन्तु भविष्य मे होने वाले साहित्य निर्माताओं के लिये भी एक नई दिशा प्रदान की। राजस्थान की वीरभूमि मे होने वाले हिन्दी एवं संस्कृत के विद्वानो की तो एक लम्बी सूची तैयार की जा सकती है। वास्तव मे समस्त जैन समाज मे जितने भी हिन्दी के विद्वान् हुए उनमे से आधे से अधिक विद्वानो ने राजस्थान प्रदेश को सुशोभित किया। कविवर छीहल, ठक्कुरसी, बूचराज, छीतर ठोलिया, ब्रह्म रायमल्ल, आनन्द धन, हेमराज, जोधराज गोदीका, किशनसिंह दौलतराम कासलीवाल, ऋषभदास निगोत्या, महापंडित टोडरमल, जयचन्द छाबड़ा, अजयराजपाटनी ब्रह्म रायमल्ल, दिलाराम, दीपचन्द कासलीवाल, सदासुख कासलीवाल आदि सभी राजस्थानी विद्वान् थे। इसके अतिरिक्त गत सौ वर्षों मे भी राजस्थान में कितने ही विद्वानो ने जन्म लेकर मा भारती की अपूर्व सेवा की और जिनकी सेवाओ पर समूचे देश को गौरव है। इनमे श्रद्धेय पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ की साहित्यिक सेवायें महत्वपूर्ण हैं। उनका अकेला जैन दर्शनसार ही एक ऐसी कृति है जिसकी तुलना मे सस्कृत भाषा का गत २०० वर्षों मे दर्शन का ऐसा कोई ग्रन्थ नही लिखा गया।

राजस्थान में रचित साहित्य

अभी मैंने पहिले राजस्थान मे होने वाले आचार्यों एव विद्वानो को साहित्यिक सेवाओ का उल्लेख किया था। इन आचार्यों एवं विद्वानो ने राजस्थान प्रदेश मे ही रह कर जो साहित्य का नव निर्माण किया और अपनी कृतियो से ग्रथ सग्रहालय को आप्लावित किया वह अत्यधिक प्रशंसनीय है। प्राकृत भाषा की महत्वपूर्ण कृति जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति का निर्माण संवत ८०५ मे वारा नगर मे हुआ। पडित राजमल्ल ने समयसार की हिन्दी टीका राजस्थान के वैराठ नगर मे समाप्त की थी। इसी टीका को देखकर महाकवि बनारसीदास ने समयसार नाटक की रचना करने की ओर प्रवृत हुए। बनारसीरदास ने अपने समयसार नाटक मे राजमल्ल के प्रति निम्न शब्दो मे कृतज्ञता प्रकट की हैं।

"पाण्डे राजमल्ल जिन धर्मी
समयसार नाटक के ममी"
तिन्हि ग्रंथ की टीका कीनी
बालावोध सुगम कर दीनी।

इसी तरह नगर में ही भट्टारक सोमसेन ने सस्कृत के पद्मपुराण की रचना समाप्त की थी। भट्टारक नरेन्द्र कीर्ति के शिष्य पं. जगन्नाथ ने नक्षकगढ मे कितने ही ग्रथो का निर्माण किया। हिन्दी की तो सैकडो रचनाये राजस्थान के विभिन्न भागो मे लिखी जाती रही। हिन्दी काव्यो के लिए १७वीं शताब्दी तक बागड प्रदेश रचना भूमि रही उसके पश्चात हिन्दी रचनाओ की प्रमुख रूप से आमेर, सागानेर, टोडाराय सिंह, बसवा, जयपुर, अजमेर, नागौर, बूंदी, उदयपुर, जालौर, सौजत आदि नगर केन्द्र बन गये और यही से सारे देश के लिए साहित्य सर्जना होती रही। कविवर दौलतराम एवं महापंडित टोडरमल के पश्चात् तो जयपुर

ही सारे भारत का साहित्य सर्जन का केन्द्र बन गया और १०० वर्ष तक इसके समकक्ष कोई भी नगर स्थान नही ले सका। ब्रह्म रायमल्ल ने भविष्यदत्त तक को सागानेर मे, श्रीपालरास को गढ रणथम्भोर मे परमहंस, चौपई को नक्षकगढ मे एव प्रद्युम्न रास को गढ हरसोर मे निर्माण करके राजस्थान के विभिन्न नगरो मे साहित्यिक सस्थायें खोली जिनके माध्यम से साहित्य का नव निर्माण होता रहा। कविवर दौलतराम ने बसवा, उदयपुर एवं जयपुर को अपना साहित्यिक क्षेत्र बनाया। उन्होने अपने पुन्यास्रव कथाकोश, आदिपुराण, पद्मपुराण, हरिवश पुराण, अध्यात्म बारहखडी, श्रेणिक चरित, एव श्रीपाल चरित के माध्यम से देश मे एक नयी साहित्यिक क्रान्ति को जन्म दिया। जनता इनके नये-नये ग्रंथो की बाट जोहा करती थी और जैसे ही ग्रथ समाप्त होता उस समय सैकडो हस्तलिखित प्रतिलिपिया तैयार होकर देश के विभिन्न प्रदेशो मे भिजवा दी जाती थी। यही माग महापडित टोडरमल जी के ग्रन्थो की थी। उनका उनका 'मोक्षमार्ग प्रकाशक'- जयपुर नगर की नयी देन थी। जयपुर मे से ही रहते हुए उहोने इस ग्रथाधिराज को लिखना प्रारम्भ किया था। इस ग्रथ की लोक प्रियता इतनी बढी कि उस समय छापे खाने के अभाव मे इसकी प्रतिया देश के विभिन्न शास्त्र भण्डारो मे पहुचा दी गई। चारो ओर उसका स्वाध्याय होने लगा। इस प्रकार उनके आगे की करीब १०० वर्षो की साहित्य निर्माण की बड़ी तीव्र गति रही और जयपुर नगर को दीपचन्द कासलीवाल, सदासुख कासलीवाल, पन्नालाल चौधरी, पारसदास निगोत्या केशरसिंह, जयचन्द छाबडा आदि जैसे विद्वानो को आश्रय देने का सौभाग्य मिला। १८ शताब्दी मे कविवर नेमीचन्द ने आमेर में हिन्दी गद्य पद्य मे नेमिनाथ रास की रचना करके सारे हिन्दी जगत का नेतृत्व किया।

भट्टारकों की गादियां

१५वी शताब्दी से लेकर १८वी शताब्दी तक भट्टारक युग का स्वर्ण काल रहा। इन वर्षों मे भट्टारको ने अपनी अपनी ज्ञान साधना एवं तपस्या के द्वारा देश मे एक नये युग का सूत्रपात किया। समाज एव देश मे नये-नये सास्कृतिक कार्यक्रम स्वीकार किये गये। वास्तव मे मध्ययुग मे श्रमण सस्कृति के ये भट्टारक ही एक मात्र प्रतिनिधि थे। इन वर्षों मे भट्टारक ही आचार्य, उपाध्याय एवं सर्वसाधु के रूप मे जनता द्वारा पूजित थे। ये भट्टारक प्रारम्भ मे नग्न होते थे। भट्टारक सकल कीर्ति को निर्ग्रंथराज कहा गया है। भ. सोमकीर्ति अपने आपको भट्टारक के स्थान पर आचार्य लिखना अधिक पसन्द करते थे। भ. वीरचन्द महाव्रतियो के नायक थे। उन्होने १६ वर्ष तक नीरस आहार का सेवन किया था। आवा मे भट्टारक शुभचन्द्र, जिनचन्द्र एवं प्रभाचन्द्र की जो निषेधिकाएं हैं वे तीनो ही नग्नावस्था की हैं। राजस्थान मे इन भट्टारको की कितने स्थानो मे गादिया थी। इनमे आमेर, नागौर, आमेर, डूगरपुर, सागवाडा, उदयपुर, ऋषभदेव, बोली बैराठ, फतहपुर, जयपुर, श्रीमहावीरजी आदि स्थानो मे इनकी प्रमुख गादिया थीं। आमेर की गादी भ देवेन्द्रकीर्ति ने स्थापित की और इसके पश्चात इस गादी पर कितने ही भट्टारक हुए। आमेर से इस गादी का केन्द्र जयपुर एव अन्त मे श्री महावीरजी मे स्थापित हुआ। इस गादी के अन्तिम भट्टारक का अभी ३ जून सन् १९६९ को स्वर्गवास हुआ। नागौर गादी की स्थापना संवत १५८१ मे भ० रत्नकीर्ति के पट्टाभिषेक से प्रारम्भ हुआ। रत्नकीर्ति की शाखा मे कितने ही भट्टारक हुए। भ० देवेन्द्र कीर्ति नागौर गादी के अन्तिम भट्टारक हैं, जिनका अभी

कुछ समय पूर्व ही स्वर्गवास हुआ है। अजमेर की भट्टारक गादी सर्वाधिक प्राचीन है। सर्व प्रथम भ. अनन्तकीर्ति का उल्लेख आता है जो सवत १२६४ मे अजमेर पद पर बैठे थे। इनके पश्चात् वहा और भट्टारक हुए। वास्तव मे ११वी शताब्दी से १७वी शताब्दी तक अजमेर का अत्यधिक महत्व रहा और यहा पर होने वाले भट्टारको ने श्रमण सस्कृति की करने रक्षा मे अपना अपूर्व योग दिया। आज भी वहां भट्टारक गादी है। उधर डूंगरपुर, सागवाडा, गलियाकोट एवं ईडर में अनेक भट्टारक हुए। बागड प्रदेश के भट्टारको में भट्टारक सकलकीर्ति सबसे प्रसिद्ध थे। इनके पश्चात ये भट्टारक ईडरशाखा, भानुपुर शाखा सूरत शाखा आदि विभिन्न शाखाओ मे विभाजित हो गये और राजस्थान एवं गुजरात मे साहित्य एव सस्कृति की महान् सेवायें की। भ. ज्ञानभूषण, शुभचन्द्र, कुमुदचन्द्र, रत्नकीर्ति, विजयकीर्ति, सोमकीर्ति, ज्ञानकीर्ति जैसे समर्थ भट्टारको का जीवन निर्माण इन्ही भट्टारक गादियो मे हुआ जिन्होने ग्राम नगर एवं प्रदेश विहार करके जनता को आध्यात्मिक खुराक के साथ साहित्यिक क्षेत्र में कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया। वास्तव में इन्ही भट्टारको की कृपा एवं आशीर्वाद से ब्रह्म जिनदास, ब्र. रायमल्ल पाण्डे राजमल्ल, पं. जगन्नाथ, महाकवि रइधू, बूचराज, नेमिचन्द्र, अजयराज पाटनी, बख्तराम साह जैसे साहित्य सेवियो को तैयार कर सके।

ग्रंथ भण्डार

राजस्थान अपने ग्रन्थ भण्डारो के लिए भी प्रसिद्ध है। यहा के शासको एव सामान्य जनो ने दोनो ने ही ग्रन्थो की सुरक्षा की ओर ध्यान दिया और अपने–अपने नगरों मे राज्यस्तर एवं जनस्तर पर ग्रन्थ भण्डारो की स्थापना की गई। राजस्थान मे दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनो ही समाजो ने एव उसके साधुओ ने इन ग्रन्थ संग्रहालयो की ओर विशेष ध्यान दिया। दिगम्बर समाज के भट्टारक एव श्वेताम्बर समाज के श्री पूज्य एव पतियो ने अपने–अपने केन्द्रो मे ग्रन्थ भण्डारो की स्थापना की और उनमे बिना किसी भेद भाव के अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त करने एवं जगत् को ज्ञान दान देने की दृष्टि से इन भण्डारो मे सभी विषयो के ग्रन्थो का संग्रह दिया। इन्ही साधुओ एव विद्वानो की कृपा से आज राजस्थान ग्रन्थ भण्डारो से भरा पडा है। छोटे-छोटे गावो तक मे इन भण्डारो की स्थापना की हुई हैं। ये ग्रन्थ भण्डार जयपुर, अजमेर, नागौर, जैसलमेर, बीकानेर, जोधपुर, भरतपुर, डीग, कामा, टोडारायसिंह, उदयपुर, डूगरपुर, ऋषभदेव, फलोदी, आहोर, मोजमाबाद, किशनगढ, कुचामन, सीकर, फतेहपुर, सवाईमाधोपुर, कोटा, बूदी, नेणवा, दबलाना आदि न जाने कितने कस्बो एव नगरो मे ये ग्रन्थ भण्डार स्थापित किये हुए हैं। मैंने अपने शोध प्रबन्ध लिखने के प्रसंग मे राजस्थान के १०० भण्डारो का अध्ययन किया, उनकी सूचिया तैयार की और अप्रकाशित एव महत्वपूर्ण ग्रन्थो के नोट्स आदि लिए। लेकिन अभी राजस्थान मे इतने ही भण्डार और होगे जिनको अभी किसी भी विद्वान द्वारा नही देखा जा सका है और हो सकता है उनमे साहित्य कितनी ही अमूल्य निधिया छिपी पडी हो। राजस्थान मे अकेले जैन ग्रन्थ सग्रहालय मे ३ लाख से कम पाडुलिपिया नही होगी।

इन भण्डारो मे ताडपत्र, कागज पर, कपड़े पर एव लकडी के पुट्ठो पर लिखे हुए ग्रन्थ मिलते हैं। ताडपत्र पर सबसे अधिक जैसलमेर के भण्डारो मे हैं तथा कागज पर सबसे अधिक ग्रन्थ नागौर के भट्टारकीय भण्डार मे हैं। वास्तव मे यह भण्डार ज्ञान के अपूर्व भण्डार हैं जिसमे विभिन्न विषयो पर लिखी हुई १५ हजार से भी अधिक पान्डुलिपिया सग्रहीत हैं।

प्राचीनता की दृष्टि से इन भण्डारो मे जैसलमेर, नागौर एव अजमेर के शास्त्र भण्डार सर्वाधिक प्राचीन हैं। जैसलमेर के वृहद् ज्ञान भण्डार की स्थापना सवत् १४९७ मे जिनभद्र सूरि द्वारा की गई थी। नागौर का शास्त्र भण्डार रत्नकीर्ति द्वारा सवत् १५८१ मे स्थापित किया गया था एव अजमेर मे यह भण्डार १३ वी शताब्दी मे ही स्थापित हो चुका था। जयपुर नगर के ग्रन्थ भण्डार पहिले आमेर एव सागानेर के विभिन्न मन्दिरो मे थे और जयपुर नगर की स्थापना के साथ-साथ इन ग्रन्थो का भी स्थानान्तरित हो गया। राजस्थान के इन जैन ग्रन्थ भण्डारों मे ताडपत्र पर सवत १११७ की ओघनिर्युक्ति वृत्ति तथा कागज पर सवत १३२८ की पचास्तिकाय की सर्वाधिक प्राचीन पान्डुलिपिया हैं। ये शास्त्र भण्डार ज्ञान के अथाह सागर हैं और इनमे जितनी अधिक डुबकिया लगायी जावेंगी, उतनी ही रत्नों के रूप मे नयी-नयी कृत्तिया उपलब्ध होगी।

प्राचीन एवं कलापूर्ण मन्दिर

राजस्थान साहित्यिक दृष्टि से तो अत्यधिक समृद्ध है ही किन्तु पुरातत्व, मन्दिर निर्माण कला एव मूर्तिकला की दृष्टि से भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यहा के विशाल मन्दिरो को देखकर कोई भी दर्शनार्थी मुग्ध हुए बिना नही रहेगा। यदि हम राजस्थान को मन्दिरो का प्रदेश भी कह दें तो कोई अत्युक्ति नही होगी। आबू, चित्तौड, जालौर, रणकपुर, केशरियानाथ, सागानेर, आमेर, जैसलमेर, बूंदी, जयपुर, अजमेर के जैन मन्दिर अपनी स्थापत्य कला एव शिल्पकला की दृष्टि से अद्वितीय हैं। इनमे आबू एवं रणकपुर के मन्दिर तो संसार के आश्चर्यों मे से हैं। इनमे कलाकारो ने अपनी आत्मा ही उडेल के रख दी हैं। इन मन्दिरो के विषय मे प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल जेम्स टाड ने लिखा है "मैं ढूंढता था वही मिल गया।" रणकपुर के वे मन्दिर मे जो कला है वह तो आबू के मन्दिरो से भी उत्कृष्ट है। इसमे एक हजार से भी अधिक कला पूर्ण स्तम्भ हैं और जिनमे कला स्वय दर्शकों के साथ बात करती है। सागानेर संघी जी का मन्दिर १८ वीं शताब्दी मे निर्मित हुआ था। इसके शिखर, बाहर के चौक, दरवाजा, अन्दर की वेदी एव दक्षिण ओर उत्तर की ओर जो वेदिया हैं और उनमे जिस रूप मे कला पूर्ण काम हैं उससे ऐसा लगता है कि मानो यह मन्दिर कलाकार की सबसे अद्भुत एवं मनोरम कृत्ति है। जयपुर नगर के विशाल मन्दिरो को देखकर कौन मुग्ध नही होगा। यहा के सिरमोरियां के मन्दिर की वेदी एव चौक मे जिन कला के दर्शन होते हैं वह तो आजकल के कारीगरो के लिए मानो एक चुनौती है। आमेर का कीर्तिस्तम्भ, चित्तौड का कीर्ति-स्तम्भ एव ऋषभदेव के मन्दिर के शिखर भी अपनी कला के लिए राजस्थान भर मे प्रसिद्ध हैं। जयपुर मे खानियो का जो विशाल मन्दिर है उसके निर्माण को देखकर सभी दर्शको को एक बार ऐसा आभास होता है कि मानो वे किसी स्वर्ग मे आ गये हो।

प्रमुख आन्दोलन

राजस्थान समाज के प्रमुख आन्दोलनो का भी केन्द्र रहा है। दिगम्बर समाज मे जो तेरहपथ आन्दोलन चला और जिसके माध्यम से सम्पूर्ण समाज मे कितने ही सुधार हुए। जिसे समाज के विद्वत् वर्ग का सर्वाधिक समर्थन मिला तथा महाकवि बनारसीदास, प० हेमराज, जोधराज गोदीका, महापण्डित टोडरमल, भाई रायमल्ल, जयचन्द छावड़ा एव सदासुख कासलीवाल जैसे उच्चस्तरीय विद्वानों ने जिसके प्रचार एव प्रसार मे सर्वाधिक योग दिया। वैसे यह आध्यात्मी मत के नाम से

आया। आगरा मे महाकवि बनारसीदास का बडा प्रभाव था और यह आध्यात्मी मत के नाम से प्रसिद्ध होने लगा। वैसे इसका मुख्य स्थान कामा था। इसके पश्चात यह सागानेर मे आकर जमा और भट्टारक नरेन्द्र कीर्ति के समय मे इसका अत्यधिक जोर बढ़ा। महापण्डित टोडरमल के पश्चात तो इसको इतना बल मिला कि यह थोडे से ही समय में समस्त उत्तरी भारत में फैल गया।

इसी तरह श्वेताबर समाज में जो तेरह पंथ सम्प्रदाय चला और जिसके श्री तुलसी गणि आजकल प्रमुख आचार्य हैं उसका उद्गम स्थान भी राजस्थान ही है। सर्व प्रथम आचार्य श्री भीखरण जी महाराज ने इस सम्प्रदाय की स्थापना राजस्थान में ही की थी। आचार्य श्रीभीखरण जी के स्वर्गवास के पश्चात जितने भी आचार्य बने उनमें अधिकाश राजस्थान प्रदेश के ही है।

उक्त दो प्रमुख आन्दोलनो ने तो समाज को दो विचारधाराओ में ही विभक्त कर दिया और दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही समाजो में ही तेरहपंथ विचारधारा की नीव हमेशा के रख दी गयी। श्वेताम्बर समाज मे तो तेरहपंथ एक सम्प्रदाय के रूप मे ही प्रगट हुआ जिसके अनुयायी सारे देश में फैले हुए हैं।

प्रमुख अतिशय क्षेत्र

यद्यपि राजस्थान में २४ तीर्थंकर में किसी भी तीर्थंकर का जन्म, तप, ज्ञान एव निर्वाण कल्याणक नही मनाया गया। और न किसी भी तीर्थंकर ने अपनी चरण रज से इस प्रदेश को पावन किया फिर भी यहां कितने ही अतिशय क्षेत्र हैं जिनकी कीर्ति प्रसिद्धि एव लोकप्रियता सारे देश मे विख्यात है। ऐसे क्षेत्रो में दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। यह एक–ऐसा क्षेत्र है जहा प्रतिवर्ष लाखो की सख्या में यात्रीगण आते है। देश का धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त जहा सैकडो वर्षो पहिले से ही जीवन मे उतारा जा रहा है। अतिशय चादखेडी का अभ्युदय सवत १७४६ में हुआ। इस समय यहा हजारो की संख्या में मूर्तिया प्रतिष्ठापित हुई थी जो आज राजस्थान के विभिन्न मन्दिरो में विराजमान है। नदी के किनारे पर स्थित यहा का मन्दिर अत्यधिक विशाल एव सुन्दर है। अतिशय क्षेत्र ऋषभदेव की प्रसिद्धि सारे भारत में व्याप्त है। यहा का विशाल मन्दिर शिखर एवं भगवान आदिनाथ की प्रतिमा दर्शनार्थियो को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। उक्त दोनो के अतिरिक्त दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र पद्मपुरा, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र तिजारा, अतिशय क्षेत्र चमत्कार जी नस सवाईमाधोपुर आदि और भी क्षेत्र है जिन्हें हम श्रमण संस्कृति के केन्द्र कह सकते हैं।

प्रमख नगर

राजस्थान के सभी प्रमुख नगर जैन साहित्य एवं संस्कृति के केन्द्र है। जहा के रहने वाले जैनो की संख्या भी देश के अन्य नगरो की अपेक्षा अत्यधिक है। जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर, अजमेर, बूदी, कोटा, नागौर, लाडनू, सुजानगढ, सरदारशहर, भरतपुर, सीकर आदि कुछ ऐसे नगर हैं जिनमें बडी बडी जैन बस्तिया हैं और जिनके आधार पर राजस्थान मे इस संस्कृति की लोकप्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

नर्मदा घाटी में—
जैन संस्कृति का एक अज्ञात केन्द्र

☐ प्रो० भागचन्द जैन, भागेन्दु

वर्तमान मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ सम्भाग मे भारतीय इतिहास, कला और सस्कृति की अनेक अनुपम निधिया अब भी अछूती हैं। शहडोल जिला इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। शहडोल जिले मे पर्यटन करने का अवसर मुझे मिला है और इसी सन्दर्भ मे मैंने एक महत्त्वपूर्ण स्थान का पर्यवेक्षण किया।

शहडोल जिले मे, दक्षिण-पूर्वी रेलवे के अनूपपुर जकशन से चिरमिरी जाने वाली ब्राञ्च लाइन पर कोतमा एक महत्त्वपूर्ण एव समृद्ध व्यापारिक और राजनैतिक केन्द्र हैं। कोतमा रेलवे स्टेशन से पाच मील पूर्व की ओर "किवई" नामक रमणीय नदी बहती है। इस नदी के तट पर अनेक महत्त्वपूर्ण प्राचीन स्थान होने की सूचनाए मुझे स्थानीय लोगो से मिली। उनमे से एक स्थान का सर्वेक्षण मैंने किया है, वह यहा प्रस्तुत है—

कोतमा से पाच मील पूर्व मे किवई नदी के तटवर्ती प्रदेश को अब रण्डही और गडई नामों से पुकारा जाता है। 'रण्डही' अरण्य का और गडई गढी का अपभ्रंश हो सकता है। कदाचित् पहले इस स्थान पर कोई गढी (छोटा किला) रही होगी, जो अब ध्वस्त हो गई है। वर्तमान मे इस तटवर्ती प्रदेश की अरण्य सज्ञा सरलता से दी जा सकती है। यह स्थान निकटवर्ती ग्राम-चन्दोरी से एक मील पूर्व मे, ऊरा से एक मील उत्तर पश्चिम मे तथा कठकोना से एक मील दक्षिण-पश्चिम मे किवई नदी के पूर्वी तट पर है। इस स्थान का चारो ओर काफी दूर तक पर्यवेक्षण किया। लेखक का दृढ विश्वास है कि प्राचीन काल मे यह एक समृद्ध केन्द्र था। प्राचीन नागरिक सभ्यता के अवशेष पर्याप्त मात्रा मे अब भी यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। तावे तथा लोहे की प्राचीन वस्तुए, पकी मिट्टी के खिलौने तथा गृहोपयोगी पत्थर आदि की वस्तुए भूमि के अन्दर तथा ऊपर प्रचुरता से प्राप्त होती हैं। यदि इस स्थान पर उत्खनन कार्य कराया जाय तो निश्चित ही नई सामग्री उपलब्ध होगी। यहा उपलब्ध कलाकृतियाँ और पुरातात्विक अवशेषो से यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि इस प्रदेश मे शैव और जैन धर्मों का अच्छा प्रभाव था।

यद्यपि शैव धर्म से सम्बन्धित शिवलिंग ही यहा उपलब्ध होते हैं जबकि जैन-तीर्थंकर-मूर्ति यहा विशेष कही जा सकती है। प्रस्तुत निबन्ध मे इस प्रदेश मे विशेषरूप से प्रसिद्ध और मान्यता प्राप्त एक जैन तीर्थंकर प्रतिमा का विश्लेषण उपस्थित किया जा रहा है।

प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभनाथ की यह अत्यन्त सुन्दर और प्राचीन प्रतिमा इस प्रदेश में "ठाकुर बाबा" के नाम से विख्यात है। वर्तमान में यह

एक बेल के वृक्ष के निकट नवनिर्मित चबूतरे पर विराजमान है। यह चबूतरा सम्प्रति दो फुट तीन इंच ऊंचा, छह फुट नौ इंच लम्बा और आठ फुट तीन इंच चौडा है। इसी चबूतरे के मध्य मे कुछ पुराने मूर्तिखण्डो और अन्य शिलाखण्डो के सहारे उक्त तीर्थंकर प्रतिमा टिकी हुई है।

भगवान् ऋषभनाथ की यह प्रतिमा किंचित् हरित् वर्ण, चमकदार काले पाषाण से निर्मित है। यह पत्थर वैसा ही है जैसा कि खजुराहो की मूर्तियो के निर्माण मे प्रयुक्त हुआ है। मूर्तिफलक की ऊंचाई दो फुट तीन इ च, चौडाई एक फुट दो इ च तथा मौटाई छह इ च है। पद्मासनस्थ इस जिन प्रतिमा के छह इ च ऊंचे पादपीठ मे (दोनो ओर) शार्दूलो के मध्य झूलती हुई मणिमाला के बीचो बीच तीर्थंकर का लाञ्छन बृषभ बहुत सुन्दरता से अंकित है। इसके ऊपर बायें एक श्रावक दायें एक श्राविका अपने हाथों मे फल (कदाचित् नारियल) लिए हुए भक्तिविभोर और श्रद्धावनत हो उठे हैं। कदाचित् ये आकृतियां मूर्ति-समर्पको या प्रतिष्ठापकों की होगी। पादपीठ मे ही दायें गोमुख यक्ष तथा बायें चक्रेश्वरी यक्षी की लघु आकृतिया अंकित हैं।

पादपीठ पर से मुख्य मूर्ति एक फुट तीन इंच ऊची एवं एक दो इ च चौडी है। मूर्ति मे श्रीवत्स का लघु आकार मे अ कन, कंधो तक लटकती हुई केशराशि तथा पृष्ठभाग मे चक्राकार भामण्डल विशेष उल्लेनीय है। मूर्ति के शिरोभाग पर क्रमश तीन छत्र इस भव्यता और चारुता से उत्कीर्ण किये गये हैं कि उनमे गु था हुआ प्रत्येक मणि साकार हो उठा है। छत्रत्रय के दोनो पार्श्वो मे भगवान का मानों अभिषेक करने हेतु अपने शुंडादडो मे कलश लिए हुए, अत्यन्त सुसज्जित गजराजो का मनोरम निदर्शन दर्शको का मन सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है।

मुख्य मूर्ति के उभय पार्श्वों मे अशोकवृक्ष के नीचे तीन-तीन इ च की दो-दो (प्रत्येक ओर) तीर्थंकर मूर्तिया और भी अ कित है। इन सबके पृष्ठ भागो मे प्रभामण्डल तो है ही, कंधो पर केशराशि भी दिखाई गई है।

यद्यपि इस मूर्ति पर कोई लेख नही है तथापि समसामयिक कला और मूर्तिगत विशिष्ट लक्षणों के आधार पर इसका निर्माण काल ईस्वी सातवी आठवी शती प्रतीत होता है। इस समय महाकोशल मे जैनधर्म एक शक्तिशाली धर्म के रूप मे समाहृत था और कलचुरि वश के शासको ने इसे पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान किया था। विवेच्य प्रदेश कलचुरियो की राज्यसीमा मे विद्यमान था।

दु ख का विषय है कि कुछ वर्ष पूर्व किसी पागल ने इसे खण्डित कर दिया। किन्तु मूर्ति के तीनो खण्ड सुरक्षित है तथा अच्छी स्थिति मे हैं।

यद्यपि इस मूर्ति के आसपास के ग्रामो मे अत्र एक भी जैन नही है। तथापि उस प्रदेश को जैनेतर जनता इसे बहुत श्रद्धा और भक्ति के साथ पूजती है। प्रत्येक मंगलकार्य के प्रारम्भ मे वे बहुत आदर के साथ इसे स्मरण करते हैं तथा यथाशक्ति घी, दूध, नारियल, सुपाडी, फूल, फल तथा अगरबती अर्पित करते हैं। नौदुर्गा के अवसर पर एक बडे मेले का आयोजन भी यहा होता है। इस मूर्ति के महत्व के सम्बन्ध मे निकटवर्ती ग्राम कठकोना के प्रमुख, भूतपूर्व जमीदार का जबानी व्यक्तत्व सुनिए, जो अपने पूरे गाव की ओर से इस मूर्ति की उपासना करने आया था। उसी के शब्दो मे प्रस्तुत है :—

"हमारा गाव झुरत्तू बलद काशीराम है। मोर उमर ६५ साल की है। हम ई गाव के जमीदार

आहन। ई मूरत की पूजन हमी करत हन। रोट, नरियल, दम कथा गाव वारन की तरफ से टैम-टैम से होत रहत हैं। आसपास के गावन के लोग हर सुम्मवार को इकट्ठे होकर फल, फूल, दूध, घी चढाते है, भक्तें गावत हैं। ई देवता जीव नही मागता। ए ही देव हमारे गाव का रक्षक है।"

इस वक्तव्य के समय उसकी श्रद्धा पद पद पर टपक रही थी। गाव मे पहुचने पर अन्य लोगो से वार्ता में उक्त तथ्यो की पुष्टि पाई। इस मूर्ति से करीब एक फर्लाग दूर एक प्राचीन मन्दिर के अवशेष भी हैं।

किवई नदी के तट पर ही अन्यत्र, कोतमा से करीब दो मील दूर एक शिलालेख उत्कीर्ण होने की सूचनाए भी प्राप्त हुई हैं। यदि किवई नदी के तटवर्ती प्राचीन स्थानो का सर्वेक्षण और आवश्यकतानुसार उत्खनन कराया जाये तो प्राचीन कौशल, विशेष रूप से छत्तीसगढ के इतिहास पर नया प्रकाश पडेगा। क्योकि किवई नदी तथा कोतमा दोनो ही अमरकटक के सन्निकट हैं। अत इस नर्मदाघाटी का सर्वेक्षण अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।



हिंसा

हिंसा बिना नही होता है धन का संग्रह,
अत अहिंसक मानव त्यागे सारे परिग्रह।

—अर्हत

३७

दिल्ली के जैन मंदिरों संबन्धी महत्वपूर्ण विवरण

□ अगरचन्द नाहटा

जैन धर्म का प्रचार तीर्थंकरो और आचार्यों आदि ने किया पर मुनिजनो का सब समय सब जगह पहुंचना सम्भव नही होता और धर्म प्रचार का विषय ऐसा है कि थोड़ी-सी छूट मिल गई या लम्बा समय यो ही चला गया तो लोगो मे शिथिलता आ जाती है इसीलिये धर्म को पागले की उपमा दी हैं कि वह स्वय चल नही पाता उसे चलने के लिए किसी के सहारे की जरूरत होती है। सस्कृत मे भी कहा गया कि 'न धर्मो धार्मिकै विना' अर्थात् धार्मिक जनो के विना धर्म का स्थायीत्व और प्रचार नही हो पाता। जैनाचार्यों ने इस बात का खूब अच्छी तरह अनुभव करके निरन्तर धार्मिक प्रेरणा प्राप्त करने के लिए जैन मूर्ति व मन्दिरो की जगह-जगह प्रतिष्ठा की जिससे साधु-साध्वियो का कुछ समय तक कही पधारना नही हो तो भी जैन मूर्तियो के आलम्बन से लोग धार्मिक भावना को वनाये रखें और धर्म साधना मे उद्यत रहे। दिगम्बर मन्दिरो मे जैन ग्रन्थो का भी संग्रह रखा जाता है। जिससे नियमित दर्शन करने वाले प्रभु के दर्शन-पूजा के वाद कुछ समय स्वाध्याय कक्ष मे बैठकर शास्त्र स्वाध्याय व चर्चा करते हुये धार्मिक ज्ञान की अभिवृद्धि करें। और साथ ही धार्मिक क्रियाओ में दत्त-चित्त होकर लगे रहें।

धार्मिक जनो के लिए दैनिक ६ कार्यों का आवश्यक बतलाया गया जिसमे पहला है देव पूजा जो पूजा नही कर सके वह कम-से-कम दर्शन तो नित्य नियमित रूप से करे—इसी विधान के कारण गाव-गाव मे जैन मन्दिर बने व मूर्तिया स्थापित हुईं। महापुरुषो का जहा जन्म हुआ, दीक्षा ली, केवल्य और निर्वाण प्राप्त किया—ऐसे स्थानो को 'कल्याणक भूमि' कहा जाता है। पहले-पहले ऐसे स्थानो मे उनके स्मारक बने जो आगे चलकर तीर्थ कहलाये। क्रमशः जैन तीर्थों का विस्तार होता गया। जहां-जहा भी अच्छे पर्वत और सुन्दर प्राकृतिक स्थल थे वहा जैन मन्दिर बने उनमे से कुछ मूर्तिया बड़ी चमत्कारी मानी जाने लगी। इस तरह अतिशय क्षेत्र के रूप मे बहुत से तीर्थ क्षेत्र मान्य हुए। जनता की भक्ति-भावना के केन्द्र बनें। हजारो-लाखो यात्री एक स्थान से दूसरे स्थान के तीर्थों की यात्रा करने लगे। बीच-बीच में तीर्थ-यात्रा के लिए सघ निकले। मध्यकाल मे जैन तीर्थ भक्ति-भावना के केन्द्र ही नही पर मनोज्ञ एव दर्शनीय कला धाम भी बने। बहुत-से स्थान तो उजड़ गये पर वे तीर्थ और मन्दिर कायम रह गये। इसलिये हजारों यात्री आज भी भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक तीर्थ यात्रा के लिये पहुंचते हैं। समय-समय पर तीर्थ यात्रा करने वालो

ने तीर्थों, मन्दिरो और मूर्तियो के सम्बन्ध मे कई स्तवन, भजन, गीत, तीर्थ मालायें, चैत्यपरि-पाटिये आदि की रचनाये की, जिनसे बहुत-से ऐतिहासिक तथ्य भी प्राप्त होते है।

दिल्ली भारत की राजधानी है। जैनी भी बहुत बडी सख्या मे यहा रहते आये है अत श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो समाज के बहुत से जैन मन्दिरो का वहा होना स्वाभाविक ही है। अब तो जैन समाज दिल्ली की ओर से डायरेक्टरी भी प्रकाशित हो चुकी है जिसमे अन्य बहुत-सी ज्ञातव्य बातो के साथ वहा के वर्तमान जैन मन्दिरो का भी विवरण दिया है। पर राजधानी हो जाने के कारण यहा समय-समय पर बहुत से राज्य-परिवर्तन हुये और इससे जनता में भी उथल पुथल मची। कभी लोग यहा से प्राण बचाकर भागे और कभी फिर आकर जमे। बहुत प्राचीन मन्दिर और उपाश्रय नष्ट हो गये और नये बनाये जाते रहे। इसलिए दिल्ली के जैन समाज का इतिहास स्वतत्र रूप से लिखा जाना आवश्यक है और उसके साधन भी यत्र-तत्र बिखरे पडे हैं। पर उनको अभी तक एकत्रित करके उनके आधार से इतिहास लिखने का कोई प्रयत्न नही हुआ। दो चार लेख अवश्य लिखे गये हैं। पर उनसे शताब्दियो का पूरा चित्र सामने नही आ पाता।

दिल्ली के जैन मन्दिरो के सम्बन्ध में फुटकर रूप से तो कई प्रशस्तियो आदि में उल्लेख मिलता है पर किस समय कितने जैन मन्दिर कहा-कहा थे और उनको किन-किन ने बनाया—इसकी पूरी जानकारी देने वाली कोई रचना अब तक नही मिली थी। सौभाग्य से यति नयनसुख रचित 'नयन सुख विलास' का अध्ययन करते पर उसमें 'दिल्ली की मन्दिर मंजरी', व 'प्रतिष्ठा मंजरी' नाम महत्वपूर्ण रचना प्राप्त हुई जिसकी मैंने अपने अभय जैन ग्रन्थालय के लिए नकल करवाली है। उसमें कवि नयनसुख ने दिल्ली के दिग. श्वे दोनो सम्प्रदायो के प्रत्येक जैन मन्दिर के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। साथ ही उनके समय में जो नये मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई उसका भी ऐतिहासिक विवरण दिया है। उसी के आधार से प्रस्तुत लेख में दिल्ली के जैन मन्दिरो के सम्बन्ध मे संक्षिप्त प्रकाश डाला जा रहा है। कवि ने प्रारम्भ मे जैन मन्दिरो के अतिरिक्त भी दिल्ली का सुन्दर वर्णन किया है।

कवि नयनसुख ने दिल्ली की मन्दिर मन्जरी और प्रतिष्ठा मन्जरी के प्रारम्भ मे मगलाचरण के बाद लिखा है—

श्रीम दिल्ली नगर की, कहू प्रतिष्ठा म जरी।
सिर धार निकट ससार जत, सेवो जिन पदक जरी।।

आगे चलकर गद्य मे जैन मन्दिरो के सम्बन्ध मे लिखा है कि "दिल्लो खास शहर के अन्दर २० चैत्यालय तो पहले प्रतिष्ठित है और एक मन्दिर अब लाला ईश्वरी प्रसादजी का नया बना है तिस्की जिन मन्दिर प्रतिष्ठा और जिन बिम्ब प्रतिष्ठा का मेला सब मन्दिरो की सोभा और पता बयान किया जाता है। ए सब २१ शहर के अन्दर दिगम्बर मन्दिर है।

तत्रादौ जुग्गादिदेव के पचायती मन्दिर बादशाही का बयान और श्रीमान राजेन्द्रकीर्ति जी भट्टारक दिगम्बर तिनकै महत तिनकी गद्दी का वर्णन जो अवार प्रतिष्ठा करावेगे।

भैय्या इन्द्रप्रस्थ के अन्दर, हैगैबीस सिरीं जिन मन्दिर।
तिनका गता बताऊ सुन्दर, जिनमे तिष्ठै देव दिगम्बर।।"

फिर कष्टासघ, पुष्करगरण, के देवेन्द्रकीर्ति पट्टधर जगतकीर्ति पट्ट ललितकीर्ति और उनके पट्टधर मुनिकीर्ति के हकदार होने का उल्लेख किया गया है। धर्मपुरे का प्रथम मन्दिर पचायती का मन्दिर है।

तदनन्तर हरसुखराय के नये मन्दिर का वर्णन करते हुए लिखा है अथ हरसुखरायजी नये मंदिरजी का बयान और पडितो की शैली का जिकर। यह मन्दिर तेरहपथ की शुद्ध आम्नाय का धर्मपुरे मे है। इस मन्दिर के चार पडितो का उल्लेख महत्वपूर्ण है।—

पडित गोपालराय सहामी, दोनूं मथरादास है नामी।
बनारसीदास बडे गुणधामी, च्यारौ कहिये भद्र प्रणामी ॥

इसके वाद शैली के (स्वाध्याय मण्डली) श्रोताओ मे लाला बलदेव सहाय, पारसदास, दिलसुखराय, धर्मदास, समनलाल, चिमनलाल राय किशोरीलाल, पिशोरीलाल लाला रगीलाल का उल्लेख है।

तीसरा मन्दिर पाथडीवाले सौदागरमल प्यारेलाल का चैत्यालय धर्मपुरे मे सम्भवनाथजी का है। नये मन्दिर मे अजितनाथ जी के मन्दिर का उल्लेख किया गया है। अब प्रत्येक मन्दिर सम्बन्धी पद्यो के पहले गद्य मे जो सक्षिप्त विवरण दिया गया है वह दिया जा रहा है—जिससे कौन मन्दिर कहा है व किसका बनाया हुआ—इसकी सूचना मिल जाती है—

४. भोंदूमल के चैत्याले का जिकर जो धरमपुरे मे है।
५. सनेहीलाल रामप्रसादजी के चैत्याले का जिकर जो अनारकली की गली मे है।
६. सतधरे मे इसका लालाजी के चैत्याले का जिकर अनारकली की गली मे
७. सेठ के कूचे का पचायती मन्दर तथा इन्द्रराज जी के मन्दिर का जिकर
८. इन्द्रराज जी के चैत्याले का जिकर
९. बुलाकी बेगम के कूचे का मन्दर लाल किले के नीचे उर्दूबाजार में
१०. दरीबा बाजार के पाश खुशानन्द के कूचे मे सालग्राम मथुरादासजी खजानचीयो के चैत्याले का जिकर.
११. साहवराम द्वारकादासजी वाला चैत्याला दरीबै सुखानन्द के कूचे मे
१२ मीमामलजी का चैत्याला सुखानन्दजी के कूचे में
१३. दिल्ली दरवाजे का मन्दिरजी.
१४. कुतुबवाली घाटी अन्दर
१५ सैद फिरोज के बगलै शहादतखा की नहर पर मन्दिरजी का जिकर
१६ खुसहालराय के कटले मे लाला श्यामलाल चिरंजीलाल भगवानदास ईश्वरीप्रसाद की हवेली मे पुस्तैन चैत्यालय।
१७ धीरज की पहाड़ी का शिखरबन्द मन्दिर जिन और धर्मशाला का बयान सदर बाजार में
१८. धीरज की पहाडी का शिखर मन्दर जिन मन्दिर धर्मशाला का बयान सदर बाजार मे
१९. जैसिहपुर का मन्दिर हरसुखरायजी वाला
२०. खडेलवालो का पचायती दूजा मन्दर जो जैसिहपुरे में है।
२१. इक्कीसवा मन्दिर प्रतिष्ठा मंजरी में वर्णन कर चुके हैं

२२ पडपडगज का दिगम्बर मन्दर जमना पार दिल्ली के ताल्लुक—

२३. शाहदरे का मन्दरजी जमना पार।

इसके बाद 'जैन स्तम्भ मजरी' मे तीन श्वेताम्बर जैन मन्दिरो और दादाबाडी आदि का विवरण है। पहला मन्दिर मालीवाडे के पास नवघरे मे शिखरबन्द मन्दिर है। दूसरा चेलपुरि मे और तीसरा चीरखाने मे बच्छराज जी वाला चैत्यालय। इसके बाद कटरा खुसालराय की पोशाल का उल्लेख करके जिनहर्ष सूरि और कुशल सूरि की छत्री और दादाबाडी का उल्लेख है।

संवत १६४२ मे दिल्ली के लाला भूतूलाले ने ४०० श्रावक-श्राविकाओ के साथ सम्मेद शिखर की यात्रा का संघ निकाला उसमें यति नयनानन्द भी सम्मिलित थे। उस यात्रा का कवि ने अच्छा वर्णन किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यात्रा-विवरण महत्व का है।

सवत १६२६ मे दिल्ली मे क्षुल्लक धर्मदास जी ने चौमासा किया था और वहा से उन्होने दिल्ली के भाईयो के साथ हस्तिनापुर की यात्रा कार्तिक सुदि १५ को की थी।



भूख

भूख बड़ी ही कष्टप्रदाता
नही वेदना जग मे कोई
बड़ी क्षुधा से!!

३८

महावीर और श्रेणिक के देहांत का समय

☐ मिलाप चन्द कटारिया

हरिवन्श पुराण में वीरनिर्वाण के समय राजा श्रेणिक मौजूद थे ऐसा उल्लेख है और हरिषेण के कथाकोष मे कथा नं० ५५ मे वीर निर्वाण के पौणे चार वर्ष बाद संख्या श्रेणिक की,मृत्यु लिखी है। हमने इन्हीं उल्लेखो के आधार पर "राजा श्रेणिक का आयुष्य काल" इस शीर्षक के लेख में श्रेणिक की आयु १०७ वर्ष करीब होने की लिखी थी। वह लेख अनेकान्त पत्र मे प्रकाशित हुआ था। किन्तु बौद्धशास्त्रो से उक्त उल्लेखों का मेल नहीं बैठता है। बौद्ध ग्रन्थो मे श्रेणिक की मृत्यु के २५ वर्ष बाद भगवान् महावीर का निर्वाण माना है।

बौद्ध आगमो मे लिखा है कि "श्रेणिक की मृत्यु होने पर उसका पुत्र अजातशत्रु राजगद्दी पर बैठा। उससे ८ वर्ष बाद बुद्ध का निर्वाण हुआ बुद्ध निर्वाण से १७ वर्ष बाद महावीर का निर्वाण हुआ। बुद्ध की कुल आयु ८० वर्ष की थी और महावीर की ७२ वर्ष की। श्रेणिक का जन्म हुआ तब बुद्ध ५ वर्ष के थे। यानी श्रेणिक से बुद्ध ५ वर्ष बड़े थे। और महावीर से श्रेणिक २० वर्ष और बुद्ध २५ वर्ष बडे थे। कुल उम्र श्रेणिक की ६७ वर्ष की थी। बुद्ध ने अपनी २९ वर्ष की उम्र मे गृह त्याग किया और छह वर्ष बाद ३५ वर्ष की उम्र मे उनको बोधिलाभ हुआ। महावीर ने ३० वर्ष की वय में गृह त्याग किया और उन्हे ४२ वर्ष की अवस्था मे केवलज्ञान हुआ। उस वक्त बुद्ध की उम्र ६७ वर्ष की थी। दोनो ही बोधिलाभ के बाद १३ वर्ष तक प्रतिद्वंद्वी के रूप मे अपना अपना धर्म प्रचार करते रहे।"

बौद्ध शास्त्रो के इस कथन का फलितार्थ यह हुआ कि महावीर के मोक्ष पधारने से २५ वर्ष पहिले ही श्रेणिक की मृत्यु हो चुकी थी। और जब महावीर को ४२ वर्ष की उम्र मे केवल ज्ञान हुआ तब श्रेणिक की उम्र ६२ वर्ष की थी। और चूंकि श्रेणिक की ६७ वर्ष की उम्र मे मृत्यु हुई अत. महावीर को केवल ज्ञान हुए बाद सिर्फ ५ वर्ष तक ही जीवित रहे। श्रेणिक की आयु ६७ वर्ष की होने का हिसाब यह है—बुद्ध का जब ८० वर्ष की आयु मे निर्वाण हुआ उससे ८ वर्ष पहिले श्रेणिक के देहांत होने पर उसका पुत्र कुणिक राजगद्दी पर बैठा था। ८० मे से ८ घटाने पर ७२ वर्ष की उम्र जब बुद्ध की थी तब श्रेणिक का मरण हुआ। और उस मे बुद्ध श्रेणिक से ५ वर्ष बडे थे। इस प्रकार श्रेणिक की कुल उम्र ६७ वर्ष की होती है। जब ३५ वर्ष की अवस्था मे बुद्ध को बोधिलाभ हुआ तब बौद्ध मतानुसार श्रेणिक की उम्र ३० वर्ष की थी। दि० जैन कथा को लेकर अनुमानतः

चेलना का विवाह का अगर श्रेणिक के साथ उसकी ४० वर्ष की अवस्था के लगभग हुआ माना जाये तो उस वक्त श्रेणिक का बौद्धमती होना भी सम्भव हो सकता है। इससे पहिले श्रेणिक न बौद्धधर्मी था न जैनधर्मी। उसका कोई तीसरा ही धर्म था। उसने पहिले दो प्रकार के धर्मों का परिवर्तन किया बाद मे जैन धर्म को ग्रहण किया था। ऊपर बताया गया है कि बौद्ध मतानुसार श्रेणिक की उम्र ६७ वर्ष की थी। इसकी सगति जैन कथा ग्रन्थो के अनुसार इस प्रकार बैठायी जाती है कि श्रेणिक ने करीब १६ वर्ष की अवस्था मे एक ब्राह्मण कन्या से विवाह किया था उससे अभयकुमार नामक पुत्र हुआ। इसी अभयकुमार के प्रयत्न से श्रेणिक का चेलना के साथ विवाह हुआ था। उस वक्त अभय कुमार की आयु २४ वर्ष की मान लें तो यहा तक श्रेणिक की आयु ४३ वर्ष करीब की होती है। तथा चेलना की कूख से कुणिक का जन्म यदि चेलना के विवाह के १ वर्ष बाद भी मान लें और कुणिक को राजगद्दी उसकी २३ वर्ष की अवस्था मे मिली हो तो उक्त ४३ मे ये २४ वर्ष जोड़ने पर श्रेणिक की ६७ वर्ष की बनती है।

किन्तु यदि हम हरिवंश पुराण और हरिषेण कथा कोश के वे उल्लेख जिनमे कि वीर निर्वाण के वक्त श्रेणिक की उपस्थिति बताई है, जिनका कि जिकर हमने इस लेख के प्रारम्भ मे किया है, उनको छोड भी दें तथापि अन्य जैन कथा ग्रंथो आदि मे जो भगवान् महावीर और राजा श्रेणिक का वृत्तांत मिलता है उसका भी बौद्धमत के ऊपर लिखे विवरण से मेल बैठता नही है। नीचे हम यही दिखाते हैं—

ऊपर लिखा गया है कि चेलना से विवाह करते वक्त श्रेणिक की उम्र ४३ वर्ष की थी। उसी जगह हम ३६ वर्ष की ही मानकर चले—१८ वर्ष अभयकुमार के जन्म समय तक के और तदनन्तर १८ वर्ष चेलना के विवाह के वक्त तक के। अब इससे आगे की उम्र लाने के लिये हमे ज्येष्ठा की की जीवनी पर ध्यान देना होगा। जैन कथाओ मे लिखा है कि—ज्येष्ठा चेलना की बहन थी और चेलना के विवाह के वक्त वह भी नवयुवती थी। अभयकुमार दोनो ही को छपाकर श्रेणिक के साथ शादी करने को ले चला था। परन्तु रास्ते मे चेलना ने कपट करके कोई बहाना बनाकर ज्येष्ठा को वापस भेज दी थी। अतः उसका विवाह श्रेणिक के साथ न हो सका। चेलना के इस कृत्य से ज्येष्ठा के दिल मे विरक्तता पैदा हुई और वह आर्यिका हो गई। इस ज्येष्ठा आर्यिका को एक दिन एक सात्यकि पुत्र हुआ था। जैन शास्त्रो मे इस सात्यकि को ११ वा रुद्र बताया है। और लिखा है कि इसने भगवान् महावीर के ऊपर उनके तपस्याकाल मे उपसर्ग किया था। इस रुद्र के बाबत यह भी लिखा है कि—यह पहिले जैन मुनि हुआ था। फिर वह मुनि पद से भ्रष्ट होकर अपने असयम काल मे उसने भगवान् पर उपसर्ग किया था। हरिवंश-पुराण के सर्ग ६७ मे लिखा है कि—

वर्षाणि सप्त कौमार्ये विंशति सयमेऽष्टभिः।
एकादशस्य रुद्रस्य चतुस्त्रिंशदसयमे ॥५४५॥

अर्थ—ग्यारहवे रुद्र का कुमार काल ७ वर्ष का, सयम काल २८ वर्ष का और असयम काल ३४ वर्ष का था।

इस कथन से रुद्र का असयमकाल उसकी ३५ वर्ष के बाद आता है। अगर उसने अपनी ३६ वर्ष की अवस्था में भी भगवान् पर उपसर्ग किया हो और इस उपसर्ग के बाद उसी वर्ष मे ही महावीर को केवल ज्ञान हुआ भी मान लिया जाये तो श्रेणिक

की उक्त ३३ वर्ष की उम्र में रुद्रका यह ३६ वर्ष का काल जोडने पर श्रेणिक की आयु उस वक्त तक ७२ वर्ष की होती है। अर्थात् महावीर को केवलज्ञान हुआ तब तक श्रेणिक की आयु ७२ वर्ष की थी। महावीर को केवल ज्ञान उनकी ४२ वर्ष की वय मे हुआ था यह विदित ही है। इससे सिद्ध होता है कि—महावीर से श्रेणिक ३० वर्ष बडे थे। रुद्र के इस उपसर्ग का कथन गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण मे भी किया है।

अब हमको जैनशास्त्रो से यह देखना है कि महावीर को केवलज्ञान हुए बाद श्रेणिक कितने वर्ष तक जीवित रहा।

एक समय जब भगवान् विपुलाचल पर पधारे थे तो उनसे श्रेणिक ने पूछा था कि—इस काल मे अन्तिम केवली कौन होगा ? और वह कहां होगा ? उत्तर मे भगवान् ने कहा था कि "यह जो अभी विद्युन्माली देव यहां दिख रहा है इसीका जीव तेरी इसी राजगृही नगरी में आज के ७ वे दिन एक सेठानी के गर्भ मे आवेगा। उसका नाम जंबू होगा और वही अंतिम केवली होगा।" इसी तरह वर्णन संघदासगणिकृत "वसुदेवहिंडी" ग्रंथ मे भी पाया जाता है। इस ग्रंथ का रचना काल विक्रमकी ६ वी शताब्दी के लगभग का बताया जाता है। इस कथन से यह तो स्पष्ट होता है—कि जंबू स्वामी के गर्भकाल तक तो महावीर और श्रेणिक दोनो ही जीवित थे। और जब गौतम स्वामी केवली बनकर विपुलाचल पर आये और उनके निकट सुधर्मास्वामी से जंबूस्वामी ने दीक्षा ली तब राजगृह का राजा कूणिक था ऐसा उत्तरपुराण मे लिखा है। इससे प्रगट होता है कि जंबू स्वामी की दीक्षा के वक्त न श्रेणिक जीवित था और न महावीर जीवित थे। अगर महावीर स्वामी उस समय जीवित होते तो कथा मे जम्बू स्वामी की दीक्षा गौतम के निकट न लिखकर महावीर के निकट लिखते। और उस समय अगर श्रेणिक भी जीवित होता तो उसकी जगह कुणिक का नाम नही लिखते।

यह तो सब जानते ही हैं कि—जम्बूस्वामी ने यौवनारम्भ मे ही मुनि दीक्षा लेली थी। यौवनारम्भ का काल अगर १७-१८ वर्ष की उम्र मे माना जाये तो कहना होगा कि—श्रेणिक और महावीर दोनो ही जम्बूस्वामी की १७-१८ वर्ष की उम्र के पहले ही गुजर चुके थे। दोनो में से महावीर के निर्वाण के विषय मे उत्तर पुराण मे ऐसा लिखा मिलता है—

विनीतो यौवनारंभे अप्यनाविष्कृत विक्रियः ।
वीर पावापुरे तस्मिन् काले प्राप्स्यति निर्वृतिम्
॥३८॥ पर्व ७६

अर्थ—विनीत जबूकुमार यौवन के प्रारम्भ मे भी काम विकार से रहित होगा। उसी काल मे महावीर स्वामी पावापुर से मोक्ष पधारेंगे।

इसमे महावीर का निर्वाण काल स्पष्टतः जंबूकुमार के यौवन के प्रारंभिक समय में लिखा है। अर्थात् भगवान् की मोक्ष जंबूकुमार की १६-१७ वर्ष की उम्र के लगभग हुई थी ऐसा इस कथन से जान जाता है। इस श्लोक मे आये "तस्मिन् काले" का अर्थ कोई कोई जंबू के गर्भ-काल के समय मे ही महावीर का निर्वाण होना कहते हैं वह ठीक नही है। कारण ऐसा मानने से गौतम केवली के निकट जंबू की दीक्षा की वार्ता बनेगी नहीं। क्योंकि जैनागम में वीर निर्वाण के १२ वर्ष बाद गौतम केवली का निर्वाण माना है। निर्वाण के पहिले ही जंबू ने गौतम के निकट दीक्षा ली तब जंबू की उम्र (गर्भकाल को छोडकर) १०-११ वर्ष की ही हो सकती है। इस छोटी उम्र में न तो जंबू का सेठानी की पुत्रियो के साथ विवाह की

बात बन सकती है और न मुनिदीक्षा की बात ही श्रुतसागर ने भावपाहुड की ५१ वीं गाथा की टीका मे जबूस्वामी का पूरा ही चरित्र बिल्कुल उत्तर-पुराण के सदृश ही लिखा है-पद्यो को गद्य मे रूपांतरित कर दिया है। उसमे श्रुतसागर ने लिखा है कि—

"तस्मिन् जबूस्वामि यौवनकाले श्रीवीरभट्टारक पावापुरे मुक्तिं यास्यति।" जबूस्वामी के उस यौवन काल मे भगवान् महावीर पावापुर मे मोक्ष पधारेंगे।

इस प्रकार महावीर के निर्वाण समय का तो उल्लेख मिलता है। किन्तु श्रेणिक के अन्तकाल का उल्लेख नही मिलता। हां हरिवंश पुराण और हरिषेण कथा कोश मे श्रेणिक का अन्तकाल वीर निर्वाण से उत्तरकाल मे लिखा है वह अटपटा सा मालूम पडता है। क्योकि उससे श्रेणिक की आयु १०२ वर्ष से भी अधिक की होती है। वह इस तरह कि महावीर के केवलज्ञान के वक्त श्रेणिक की ७२ वर्ष की उम्र हम ऊपर बता आये हैं उसमे ३० वर्ष महावीर का केवलि काल मिलाने से वीर-निर्वाण के वक्त श्रेणिक की १०२ वर्ष की आयु बनती है। ये दोनो ही ग्रन्थ पुन्नाट सघ के है। अन्य किसी ग्रन्थ मे ऐसा उल्लेख देखने मे नही आया। फिर भी यह तो स्पष्ट ही है कि जम्बू के गर्भ मे आने के वक्त श्रेणिक जीवित था। और जम्बू की दीक्षा के वक्त वह जीवित न था जैसा कि ऊपर बताया गया है। जम्बू की १७ वर्ष की उम्र के लगभग यदि महावीर का निर्वाण माना जाये तो कहना होगा कि जम्बू के जन्म के समय महावीर को केवल ज्ञान हुए १३ वर्ष हो चुके थे। भगवान् ३० वर्ष तक केवल ज्ञानी रहे ऐसा जैन शास्त्रो का मत है। जब कि श्रेणिक जंबू के गर्भ मे आने के समय मे जीवित था तो महावीर के केवली काल के समय १३ वर्ष ७२ में जोडने से यहा तक श्रेणिक की उम्र ८५ वर्ष की होती है। क्योकि भगवान् की केवलज्ञानोत्पत्ति के वक्त उसकी आयु ७२ वर्ष की थी ऐसा हम ऊपर बता आये हैं। यह टोटल उस वक्त तक का होता है जब हम श्रेणिक का जीवित रहना जबू के गर्भकाल तक ही मान लेते हैं। अगर श्रेणिक उसके बाद भी जीवित रहा हो तो इस टोटल मे वृद्धि करनी होगी। परन्तु यह ध्यान मे रखना है कि श्रेणिक के बाद उसकी राजगद्दी चेलना के पुत्र कुणिक को मिली है। उस वक्त कुणिक की उम्र यदि हम ३० वर्ष की मानलें तो इसका अर्थ यह होगा कि कुणिक का जन्म श्रेणिक की ५५ वर्ष की अवस्था मे हुआ था। अब यदि हम श्रेणिक की ८५ वर्ष की उम्र से और अधिक आगे बढते हैं तो कुणिक का जन्म भी श्रेणिक की ५५ वर्ष की अवस्था से आगे बढता है। इसलिये श्रेणिक की ८५ वर्ष से अधिक उम्र होने की थोडी ही गुंजाइश है अर्थात् पाच चार वर्ष और अधिक मानी जा सकती है। इससे यही सिद्ध होता है कि-महावीर स्वामी के मोक्ष पधारने से अनुमानत १५ वर्ष पहिले तक राजा श्रेणिक का अन्तकाल हुआ था। उस वक्त जम्बू कुमार शिशु अवस्था मे था।

प्रस्तुत चर्चा के आधार पर बौद्ध और जैन मत मे निम्न प्रकार मतभेद है—

(१) बौद्धमत मे महावीर से श्रेणिक २० वर्ष बडा था। जैन मत मे ३० वर्ष बडा था।

(२) बौद्धमत मे श्रेणिक की मृत्यु के २५ वर्ष बाद महावीर का निर्वाण हुआ। जैन मत मे लगभग १५ वर्ष बाद निर्वाण हुआ।

(३) बौद्धमत मे महावीर को केवलज्ञान हुआ तब श्रेणिक की उम्र ६० वर्ष की थी। जैनमत मे तब श्रेणिक की उम्र ७२ वर्ष की थी।

(४) बौद्धमत मे महावीर को केवलज्ञान हुए बाद श्रेणिक ५ वर्ष तक ही जीवित रहा। जैन मत मे लगभग १५ वर्ष तक जीवित रहा।

(५) बौद्धमत मे श्रेणिक की आयु ६७ वर्ष की बतायी है। जैन मत मे ८५ या उससे भी कुछ अधिक वर्षो की होती है।

दि० जैन ग्रन्थो मे महात्मा बुद्ध का कही कोई जीवन वृतान्त देखने मे नही आया है। इसलिए बुद्ध की जीवनी जैनमत के अनुसार क्या हो सकती है यह हम कह नही सकते है। बौद्धमत मे जो श्रेणिक की आयु ६७ वर्ष की लिखी है उससे हम को ऐसा आभास होता है कि शायद श्रेणिक अपनी ६७ वर्ष की उम्र तक ही बौद्धमती रहा हो। तदुपरान्त उसने जैन धर्म ग्रहण कर लिया हो। इस लिये बौद्धो ने उसकी उम्र ६७ वर्ष की ही बतादी हो ताकि आगे का इतिहास ही उसका न रहे।



शील

नारी के आभूषण लज्जाशील है
शोभा नही बढ़ा सकते बाहर के भूषण।

—अर्हंत्

ग्वालियर के काष्ठासंघी भट्टारक

□पं० परमानन्द शास्त्री

श्रमण सस्कृति युगादिदेव (आदिनाथ) के समय से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर के परि-निर्वाण के बहुत काल तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित रही है और उनके निर्वाण के वाद अन्तिम श्रुत केवली भद्रवाहु के समय द्वादश वर्षीय भीषण दुर्भिक्ष के कारण वह दिगम्बर-श्वेताम्वर दो धाराओ मे विभक्त हो गई। उक्त दोनो धाराओ मे भी परवर्तीकालो में अनेक अवान्तर सघ और गण-गच्छो का आविर्भाव हुआ। इसका कारण दुर्भिक्ष के समय की विकृत परिस्थिति, विचार विभिन्नता और सकीर्ण मनोवृत्ति है। सकुचित मनोवृत्ति से आत्म-परिणति में अनुदारता रहती है। सकीर्ण दायरे में अनेकान्त की सर्वोदयी समु-दाय भावना तिरोहित हो जाती है। इससे वह परस्पर में सौहार्द को उत्पन्न नही होने देती, प्रत्युत कटुता को जन्म देती रहती है। दोनो पर-म्पराओ में मत विभिन्नतादि कारणो से विभिन्न गण गच्छ उत्पन्न होते रहे हैं। और २४ सौ वर्ष के दीघकाल में भी गण गच्छो की विभिन्नता में कोई अन्तर नही आ पाया है। शिलाभेद के समान इन सघो की विभिन्नता परस्पर में अभिन्नता में परिणत नही हो सकी। यदि गण गच्छादि के सम्बन्ध में अन्वेषण किया जाय तो एक बडे ग्रन्थ का निर्माण किया जा सकता है।

यहा ग्वालियर के काष्ठा सघ के कुछ भट्टारको का परिचय दिया जाता है—

ग्वालियर प्राचीन काल से दि० जैन सस्कृति का केन्द्र रहा है। यहा के दिगम्बर जैन मन्दिरो में ११ वी शताब्दी तक की धातु मूर्तिया उपलब्ध होती हैं। यहा काष्ठासघी भट्टारको की बडी गद्दी रही है जिसके द्वारा वहा आस पास के प्रदेशो में जैन धर्म और जैन सस्कृति का प्रसार हुआ है। अनेक विद्वान और भट्टारको द्वारा ग्रन्थो की रचना हुई है। यहा मूलसघी और काष्ठासघी भट्टारक बराबर प्रेम से रहे हैं। दोनो के द्वारा प्रतिष्ठापित अनेक मूर्तिया मन्दिरो मे विराजमान हैं। इन सब भट्टारको में भट्टारक गुणकीर्ति अपने समय के विशिष्ट विद्वान, तपस्वी और प्रभावक थे। उनके निर्मल चरित्र और व्यक्तित्व का प्रभाव तोमरवंश के क्षत्रिय शासको पर अप्रतिहत रूप में पडा, जिससे वे स्वय जैनधर्म के प्रति निष्ठावान हुए। उनके तपश्चरण के प्रभाव से राज्य में संक्रान्ति और विरोध जैसे विकार पास में भी नही फटक सके। राजागण अपने राज्य का संचालन स्वतन्त्रता और विवेक से करते रहे। राज्यकीय विषम समस्याओ का समाधान भी होता रहा। अपनी प्रजा का पालन करते हुए राज्य वृद्धि में सहायक

हुए। जनता स्वतन्त्रता से अपने-अपने धर्म का पालन करती हुई सासारिक सुख-शान्ति का उपभोग करती थी। अनेक वरिष्ठ श्रेष्ठि जन राज्य के आमात्य और कोषाध्यक्ष जैसे उच्च पदो पर प्रतिष्ठित रहते हुए निरन्तर राज्य की अभिवृद्धि और अमन मे सहायक हुए। उस समय के ग्वालियर राज्य मे परिस्थिति का सुन्दर वर्णन कविवर रइधू ने पार्श्वनाथ चरित्र मे किया है। उससे उस समय की सुखद स्थिति का अच्छा आभास मिल जाता है।

यहाँ उन भट्टारको का, जिन के नाम का उल्लेख कविवर रइधू के ग्रन्थो और प्रतिष्ठित मूर्ति-लेखो मे उपलब्ध होता है उनका संक्षिप्ति परिचय देना ही इस लेख का प्रमुख विषय है।

१. भट्टारक देवसेन :—

काष्ठा संघ, माथुरान्वय बलात्कारगण सरस्वती गच्छ के विद्वान् भट्टारक उद्धरसेन के पट्टधर एव तपस्वी थे। वे मिथ्यात्व रूप अन्धकार के विनाशक, आगम और अर्थ के धारक तथा तप के निलय और विद्वानो के तिलक स्वरूप थे। इन्द्रिय रूपी भुजंगो के दलने वाले और गरुड के समान (इन्द्रियजयी) थे[1]। काष्ठा सघ की गुर्वावली मे उन्हे अमित गुणों का निवास, कर्म-पाश के खण्डक, समय के ज्ञायक निर्दोष, संसार की शका के नाशक, मदन, कदन (युद्ध) के विनाशक धर्मतीर्थ के उन्नायक नेता व देवसेन गणी जयवत रहे,[2] ऐसा प्रकट किया है। इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत देवसेन अपने समय के बडे विद्वान थे। इसी से उन के यश का खुला गान किया गया है। इन का समय विक्रम की १४ वी शताब्दी सम्भव है।

दूसरे देवसेन वे हैं जिन का उल्लेख दूबकुण्ड (चडोम) के मानस्तम्भ के नीचे दो पक्तियो वाले लेख मे पाया जाता है- उस मे देवसेन की एक भग्न मूर्ति भी अकित है —

> "सवत् ११५२ वैशाख सुदि पचमम्याम्
> श्री काष्ठासंघे श्री देवसेन पादुका युगलम् ॥"

प्रस्तुत देवसेन किसके शिष्य थे, और इन्होंने क्या क्या कार्य किये हैं यह अभी कुछ ज्ञात नही हो सका। इनका समय विक्रम की १२ वी शताब्दी का मध्यकाल है। यह किसके शिष्य थे और इनकी गुरु परम्परा क्या है यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका। क्यो कि इनके साथ काष्ठा-सघ का उल्लेख है इसलिये यह जानना आवश्यक है कि यह किसके शिष्य थे।

---

१. मिच्छत्त-तिमिर हरुणाई सुहायरु, आयमत्थहरु तव-णिलउ।
णामेण पयडु जणि देवसेणु गणि, संजायउ चिरू बुह-तिलउ ॥
सम्मइ जिन चरिउ प्रशस्ति

इदिय-भुअंग णिद्दलण-वेणु—पद्मपुराण प्रशस्ति

२. विज्ञानसारी जिनयज्ञकारी, तत्त्वार्थवेदी वरसंघ भेदी।
स्वकर्मभंगी बुध यूथसगी, चिर क्षितौ नन्दतु देवसेनः ॥
अमितगुणनिवासःखडिता कर्मपाशः, समयविद कलंकः क्षीण [संसार-शंकः।
मदन-कदनहंता धर्मतीर्थस्य नेता, जयति महतिलीन. शासने. देवसेन. ॥
—काष्ठासंघ मा० गुर्वावली

विमलसेन—यह देवसेन गरिण के पट्टघर एवं शिष्य थे। अनुपम गुणो के धारक, समितियो से युक्त, कर्म बन्धादि से भय-भीत तथा चन्द्र किरण के समान शीतल विमलसेन हमे सुख प्रदान करने वाले जो भव्य जनो के चित्त को आनन्द प्रदान करें विमल यति हैं। मल संग के विनाशक, अनुपम गुणमन्दिर, ऐसे ऋषि पुगव विमलसेन थे।[3] इस गुणानुवाद से ज्ञात होता है कि भट्टारक विमलसेन विद्वान्, तपस्वी, द्विविधसग के त्यागी और प्रतिष्ठाचार्य थे। इनके द्वारा प्रतिष्ठित धातु की एक पद्मासन चौवीसी मूर्ति स० १४१४ की प्रतिष्ठित जयपुर (राजस्थान) के पाटौदी मन्दिर मे विराजमान है।[4] और दूसरी प्रतिष्ठित आदिनाथ की एक मूर्ति दिल्ली के नया मन्दिर धर्मपुरा मे विद्यमान है, जो स० १४२८ मे किसी जयसवाल सज्जन के द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई थी।[5] इनके उपाधि मलधारी थी। इनका समय १५ वी शताब्दी का पूर्वार्ध जान पडता है।

धर्मसेन—भट्टारक विमलसेन के पट्टघर थे, जो वस्तुधर्म के धारक थे, जिन्होने लोक मे दशधर्मों का विस्तार किया था। व्रत, तप शील गुणो में जो श्रेष्ठ थे। बाह्याभ्यन्तर परिग्रहो के निवारक वे धर्मसेन मुनि जनता को संसार समुद्र से तारने वाले थे। वे काष्ठासघ के नायक थे और धर्मध्यान के विधान मे दक्ष थे। तथा सकलसघ मे शोभायमान थे।[6] यह प्रतिष्ठाचार्य भी थे। इनके द्वारा प्रतिष्ठित तीन मूर्तिया पार्श्वनाथ, अजितनाथ और वर्धमान तीर्थंकर की हिसार जिले के मिट्टि ग्राम,

---

३. तास पट्टि णिरुवम गुणमन्दिरू, णिच्चु भवज्जण चित्ताणंदिरु।
विमलमई फेडिय-मल-सगमु, विमलसेणु णामे रिसिपुंगमु ॥
—सम्मइ जिनचरिउ प्रशस्ति

४ स० १५१४ वैशाखसुदि १५ गुरो श्री काष्ठा संघे माथुरान्वये भट्टारक श्री देवसेन तत्पट्टे प्रतिष्ठाचार्य श्री विमलसेनदेवा अग्रोतकान्वये गर्ग, गोत्र...... ......साह गोकल भार्या लिरदा पुत्र कुंधरा भार्या गयसिरि पुत्र देवराज भार्या .... । पटोदी मन्दिर जयपुर

५ सवत् १४२८ वर्षे ज्येष्ठ सुदि १२ द्वादश्या सोमवासरे काष्ठासंघे माथुरान्वये भट्टारक देवसेन देवास्तत्पट्टे त्रयोदश चारित्ररत्नालंकृता सकल-विमल-मुनि-मंडली शिष्य शिखामणय प्रतिष्ठाचार्य श्री भट्टारक विमलसेनदेवा. तेषामुपदेशेन जाइसवालान्वये सा० वूड़पति भार्या मदना पुत्र विजयदेव पत्नी पूजा द्वितीय पुत्र लालसिंह तत्पुत्र विजयदेव तत्पुत्र समस्त दातु धुरीण साधु श्रीभोज भार्या ईसरी पुत्र हम्मीरदेव द्वितीय भार्या कर्षो करशा पुत्र शुभराज (सा०) कोल्हाको हम्मीर देवा भार्या धर्म श्री तत्पुत्र धर्मसिह एतेषा स्वश्रेयार्थं शिव. तत्पुत्र आदि नाथ नेमिचन्द्राभ्या प्रतिष्ठितन्। नयामन्दिर धर्मपुरा दिल्ली वेदी १ कटनी २

६. वत्थु सरूव धम्म-धुर धारउ, दह विह धम्मु भुवणि वित्थारउ।
वय-तव-सील गुणहिं जे सारउ, वज्झतर संग-णिवारउ।
धम्मसेणु मुणि भवसर तारउ, — सम्मइ जिणचरिउ प्रशस्ति
काष्ठासघ गणनायकवीर, धर्मसाधन विधानपरीरः।
राजते सकलसंघ समेत, धर्मसेन गुणरेव चिदेतः॥
—काष्ठासंघ मा० पट्टावली

से मनिराम जाट को प्राप्त हुई थी।[७] जो अब हिसार के मन्दिर मे विराजमान है। जो १४×१० इंच के आकार को लिये हुए हैं। तीनो मूर्तिया पहाडी मटियाले पाषाण की है। इससे भट्टारक धर्मसेन का समय विक्रम की १५ वी शताब्दी का मध्यकाल जान पडता है।

भावसेन—इस नाम के अनेक विद्वान हो गए है।[८] उनमे प्रस्तुत भावसेन काष्ठासघ माथुरान्वय के आचार्य थे, वे धर्मसेन के शिष्य एव पट्टधर थे। तथा भट्टारक सहस्रकीर्ति के गुरु थे। सिद्धात के पारगामी विद्वान थे, शीलादि व्रतो के धारक, शम दम और क्षमा से युक्त थे। वैभारादि तीर्थ मे हुए प्रतिष्ठोदय मे जिन्होने महान योग दिया था। और जो अपने गुणो की भावना मे सदा तन्मय रहते थे।[९] इन का समय विक्रम की १५ वी शताब्दी है।

सहस्रकीर्ति—भावसेन के पट्टधर विद्वान थे। रत्नत्रय के आकर कर्मग्रन्थो के सार विचारक व्रतादिक के अनुष्ठाता और अनेक सद्गुणो से परिपूर्ण थे। अपने समय के अच्छे विद्वान थे।[१०] इनके द्वारा प्रतिष्ठित कोई प्रतिमालेख और ग्रन्थ रचना अभी तक मेरे देखने मे नही आई। अन्वेषण करने पर उनको प्राप्ति सभव है। इनका समय भी १५ वी शताब्दी हैं।

---

७. संवत् १४४२ वैशाखबुदी ५ शनौ श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये आचार्य श्री धर्मसेनदेव. इन्द्रिमी नाक अग्रोतक वशे सा० जाल्ह सहाय (भा०) जियत्तो।

८. जिन मे एक भावसेन काष्ठासघ लाल बागड गच्छ के आचार्य थे। गोपसेन के शिष्य और जयसेन के गुरु थे। जयसेन ने अपना धर्मरत्नाकर सन् ९९८ सं १०५५ मे करहाड मे बनाकर समाप्त किया था। अत. इन का समय ११ वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध होना चाहिये।
दूसरे भावसेन मूलसघ सेनगण के विद्वान थे जिनकी उपाधि त्रैविद्यचक्रवर्ती थी त्रैविद्यचक्रवर्ती की उपाधि शब्दागम, तर्कागम और परमागम मे निपुण विद्वानो को दी जाती थी। यह जैन दर्शन के अच्छे विद्वान थे। इन की निम्न कृतिया प्रकाश मे आई है, कातंत्ररूपमाला, विश्वतत्त्व प्रकाश, भुक्ति-मुक्ति विचार, प्रमा प्रमेय, सप्त पदार्थी टीका सिद्धान्तसार आदि। कातन्त्र रूपमाला शक सं० १२८९ सन् १३६७ की है। आन्ध्र प्रदेश के अनन्तपुर जिले मे अमरापुर ग्राम के निकट इनकी निषधी भी बनी हुई है।
भावसग्रह के कर्ता भावसेन भी काष्ठासघ के विद्वान जान पडते हैं।

९ धर्मोद्धारविधिप्रवीणमतिक सिद्धान्तपारगमी।
शीलादिव्रतधारक शम-दम-शान्तिप्रभाभासुर.।
वैभारादिकतीर्थराजरचित प्राज्य प्रतिष्ठोदय—
तत्पट्टाब्ज विकासनैकतरणि, श्रीभावसेनोगुरु ॥ —काष्ठासघ मा० पट्टावली

१० कर्मग्रन्थ विचारसार सरणी रत्नत्रयस्याकर,
श्रद्धावन्धुरलोकलोकनलिनी नाथोपम साम्यप्रतम।
तत्पट्टे चल चूलिका सुतरणि कीर्तिऽपि विश्वम्भरी,
नित्य भाति सहस्र कीर्तियतिय क्षान्तोऽस्ति दैगम्बर: काष्ठासंघ मा० पट्टावली ॥
कम्म-कलंक-पंक-सोसणु इणु, सहसकित्तिउव्वासिय भव-वणु सम्मइ जिन चरिउ

भट्टारक गुणकीर्ति—सहस्रकीर्ति के शिष्य एव पट्टधर थे । १५ वी शताब्दी के प्रतिभासम्पन्न विद्वान विशिष्ट तपस्वी और ज्ञानी थे । ये अपने समय के बडे प्रभावक और प्रकृति से प्रशान्त एव सौम्य मूर्ति थे । इनके तप और चारित्र का प्रभाव तौमरवश के शासको पर अधिक पडा, जिसमे वे जैन घर्म के प्रति निष्ठावान हुए । उनके तपश्चरण के प्रभाव से राज्य मे किसी तरह की कोई सक्राति पर विरोध उत्पन्न नहीं हुआ । और कुछ हुआ भी तो वह किसी तरह की कोई क्षति पहुंचाने मे समर्थ नही हुआ । राजा गण राज्य कार्य का स्वतन्त्रता और विवेक से सचालन करते रहे । और अपनी प्रजा का पुत्रवत् पालन करते हुए धर्म-कर्म मे निष्ठ रहकर राज्य वैभव की वृद्धि मे सहायक हुए । कविवर रइधू और काष्ठा सघ की पट्टावली मे इनका खुला यशोगान किया गया हैं ।[११] वे काष्ठा सघ रूप उदयाद्रि के लिये दिवाकर थे । वाह्य और आभ्यान्तर तप के आकर थे । बुधजनो मे शास्त्र और अर्थ के चिन्तामणि थे । दीक्षा परीक्षा मे निपुण अभावयुक्त मनादि से रहित, माथुरान्वयके ललामभूत, राजाओ के द्वारा मान्य आचार्य थे । तपस्याचरण से उनका शरीर क्षीण हो गया था । सिद्धान्त के वेत्ता, पाप रहित, विद्वानो के प्रिय, माया, मान आदि पर्वतो के लिये वज्र, हेयोपादेय के विचार मे अग्रणी, और कामरूप हथनियो के लिये कठीरव (सिह) थे । स्याद्वाद के द्वारा वादियो के विजेता, रत्नत्रय के धारक, माथुर संघरूप पुष्कर के लिये शशि थे । दम्भादि से रहित वस्तु तत्व के विचारक और जगत जन के कल्याण कर्त्ता थे । स० १४६० मे वैशाखसुदि १३ के दिन खण्डेलवाल व शी प० गणपति के पुत्र प० खेमल ने पुष्पदन्त के उत्तरपुराण की एक प्रति भ० पद्मनन्दि के आदेश से भ० गुण कीर्ति को प्रदान की थी ।[१२]

---

११ तासु पट्टि उदयद्दि दिवायरु, बज्झब्भतर-तव-कय-आयरु ।
वुहयण-सत्थ-अत्थ-चितामणि, सिरिगुणकित्ति-सूरि पायउ जाणि ।।

—सम्मइ जिन चरिउ

(क) दीक्षा परीक्षा-निपुण प्रभावक , प्रभावयुक्तोधमदादिमुक्त ।
श्रीमाथुरानूक ललामभूतो, भूनाथ मान्यो गुणकीर्तिसूरिः ।।

—समयसार प्रश० कारजा भण्डार

(ख) श्रीमान् तस्य सहस्र कीर्तियतिन पटटे विकृष्टेऽभवत् ।
क्षीणाग गुणकीर्ति साधुरनघा विद्वज्जनाना प्रियः ।
मायामानमदादिभूधरपवीराद्धान्तवेदी गणी,
हेयादेय विचार चारुघिषण कामेभकठी रव ।।३२
यत्ते जो गुणबद्धबुद्धि मनसो मूला भवन्तो नुता ।।

१२ स० १४६० वैशाख सुदि १३ खण्डेयवाल व शे पंडित गणपति पुत्र पं० खेमलेन एसा पुस्तिका भट्टारक पद्मनन्दि देवादेशेन गुण कीर्तिये प्रदत्त ।

—उत्तरपुराण प्रशस्ति आमेर भडार

वीरमदेव के रूप मे भ० गुणकीर्ति के आदेश से पद्म नाभ कायस्थ ने यशोधर चरित्र की रचना की थी।[13] सं० १४६८ मे आषाढ वदि २ शुक्रवार के दिन ग्वालियर मे उक्त वीरमदेव के राज्य काल मे काष्ठासंघ माथुरान्वय पुष्करगण के भट्टारक गुणकीर्ति की आम्नाय मे साहू वीरमदेव की पुत्री देवसिरी ने 'पचास्तिकायटीका' की प्रति लिखवाई थी।[14]

स० १४६६ मे माघसुदी ६ रविवार के दिन राजकुमार सिंह की प्रेरणा से गुणकीर्ति ने एक धातु की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी।

स० १४७३ मे भ० गुणकीर्ति द्वारा एक मूर्ति की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। इनका समय स १४६० से १५१० तक है। राजा डूगरसिंह के राज्य काल मे जैन मूर्तियो के उत्खननका जो महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ, उस सबका श्रेय भ० गुणकीर्ति को ही है। इनके द्वारा अनेक मूर्तियो की प्रतिष्ठा और निर्माण कार्य हुआ हैं। इन्होंने क्या-क्या ग्रथ की रचना की यह कुछ ज्ञात नही हो सका।

यश कीर्ति

भ० गुणकीर्ति के लघु भ्राता और शिष्य थे। प्राकृत संस्कृत और अपभ्रंश भाषा के विद्वान, कवि और सुलेखक थे। जैसा पार्श्व पुराण के निम्न पद्य से स्पष्ट हैं:—

"सुतासु पट्ठि भायरो वि आयमत्थ-सायरो
रिसि सुगच्छनायको जयत्तसिक्खदायको।
जसक्खुकित्ति सुन्दरो अकपुणाय मन्दिरो ॥—
पास पुराण प्रश०

तहो बधउजसमुणि सीसुजाउ, आयरिय पणासिय दोसुराउ।
—हरिवश पुराण

भव्यकमल सबोह पयंगो, तहपुणु सुन्ताव तवियगो।
णिच्चोब्भासिय पवयण अंगो, बंदिवि सिरिजसकित्ति असगो ॥
—सम्मइ जिन चरिउ प्र०

यश कीर्ति असग (परिग्रह रहित) भव्य रूप कमलो को विकसित करने के लिए सूर्य के समान थे, वे यश कीर्ति वदनीय हैं। काष्ठा सघ माथुर-गच्छकी पट्टावली मे भी उनकी अच्छी प्रशंसा की गई है। जिनकी गुणकीर्ति प्रसिद्ध थी। पुण्यमूर्ति और कामदेव के विनाशक अनेक शिष्यो से परिपूर्ण, निग्रन्थ मुद्रा के धारक, जिनके चित्तगृह मे जिन-चरण-कमल प्रतिष्ठित थे—जिनभक्त थे और स्याद्वाद के सत्प्रेक्षक थे। इनकी इस समय चार

---

१३. उपदेशेन ग्रन्थोय गुणकीर्ति महामुनेः।
कायस्थ पद्नाभेन रचित पूर्वसूत्रत. ॥

—यशोधर चरित प्रश०

१४. सवत्सरेस्मिन् विक्रमादित्य गताब्द १४६८ वर्षे आषाढ़ वदि २ शुक्रदिने श्री गोपाचले राजा वीरमदेव राज्य प्रवंतमाने श्री काष्ठासघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री भावसेन देवाः तत्पट्टे श्री सहस्रकीर्ति देवा तत्पट्टे भट्टारक श्री गुणकीर्ति देवा स्तेषामाम्नाये सघइ महाराज वधू साधु मारदेव पुत्री देवसिरि तया इद पचास्तिकायसार ग्रन्थं लिखापितम्।

कारजा भंडार

कृतिया उपलब्ध हैं। पाण्डव पुराण, हरिवंश पुराण, आदित्यकवार कथा और जिनरात्रि कथा।

आपके द्वारा लिखवाए हुए दो ग्रथ विबुध श्रीधर कृत भविष्यदत्त-चरित्र और सुकमाल चरिउ स १४८६ मे लिखे गए थे।[15] आपने अपनेगुरु की अनुमति सेमहाकवि स्वयभू देव के खडित एवं जीर्ण-शीर्ण दशा को प्राप्त हरिवश पुराण का ग्वालियर के समीप कुमर नगर मे पणियार के जिन चैत्यालय मे श्रावक जनो के व्याख्यान करने के लिए उद्धार किया था।[16] उक्त चारो कृतिओ मे से अन्तिम दोनो कृतियो मे रचनाकाल नही दिया, जिससे यह निश्चय करना कठिन है कि ये दोनो कृतिया कब बनी ? कवि ने पाण्डव पुराण को स० १४९७ की कार्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार के दिन नवगाम नगर मे बनाकर समाप्त किया था और हरिवश पुराण को स० १५०० मे भाद्रपद शुक्ला एकादशी गुरुवार के दिन बनाया था। यश कीर्ति भट्टारक पद पर कब प्रतिष्ठित हुए, और कब उसका परित्याग कर अपने शिष्य मलयगिरि को उस पर प्रतिष्ठित किया, इसका कोई प्रमाणिक उल्लेख नही मिलता। कविवर रइधू ने भी इनके बारे मे कुछ नही लिखा। इनका समय स. १४८६ से स० १५१० तक तो है ही। उसके बाद वे कब तक इस भूमण्डल को पवित्र करते रहे यह अन्वेषणीय है। आपके अनेक शिष्य थे और आपने अनेक देशो मे विहार करके जिन शासन को चमकाने का प्रयत्न किया था। यह प्रतिष्ठाचार्य भी थे। इनके द्वारा प्रतिष्ठित अनेक मूर्तिया होगी, किन्तु उनका मुझे अभी दर्शन नही हुआ। गवलियर के भट्टारकीय मन्दिर में मूर्तिया और उनके द्वारा रचित अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हो सकते है। इनके समय कवि रइधू ने अनेको ग्रन्थो की रचना की है। मलयकीर्ति भट्टारक यश कीर्ति के पट्टधर थे। अच्छे विद्वान और प्रतिष्ठाचार्य थे। कवि रइधू ने आपका निम्न वाक्यो से उल्लेख किया है,—

उत्तम खमवासेण अमदउ,
मलयकीर्ति रिसवरु चिरणंदउ।

—सम्मइजिन चरिउ

काष्ठासघ स्थित माथुरगच्छ पट्टावली मे भी दीक्षा देने में सुदक्ष, सहृदय, सच्चरित, मुक्ति-

---

१५ स० १४८६ वर्षे आसाढ वदि ९ गुरु दिने गोपाचल दुर्गे राजा डूगरसी (सिं) ह राज्य प्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री सहस (स्त्र) कीर्तिदेवास्तत्पट्टे आचार्य गुणकीर्ति देवास्तच्छिष्य श्रीयश कीर्ति देवास्तेन निजज्ञानादरणीकर्मक्षयार्थ इद भविस्यदत्त पचमी कथा लिखापितम्।

—जैन नया मन्दिर धर्मपुरा, दिल्ली

स० १४८६ वर्षे आश्वणि वदि १३ सोम दिने गोपाचलदुर्गे राजा डूगरेन्द्रसिंह

१६. त जसकित्ति-मुणिह उद्धरियउ, णिएविसुत्तु हरिव शच्छ चरियउ।
णिय गुरु सिरि-गुणकीर्ति-पसाए, किउपरि पुण्णु पणहो अणुराए।
सरह सणेद १ सेठि आएसे, कुसर-णयरि आविउ सविसेसे।
गोवग्गिरिहे समीवे विसालए, पणियारेह जिणवर-चेयालए।
सावय जण हो पुरउ वणवारिणउ, दिठुमिच्छत्त मोहु अवमाणिउ॥

—हरिवंश पुराण प्रशस्ति

मार्गी, लोभ, क्रोध और माया रूप मेघो को उडाने के लिए मारुति (वायु)देव थे। वे मलयकीर्ति जयवत हो।[१७]

यह मयलकीर्ति वही जान पडते हैं जिन्होने सं० १४९४ मे मूलाचार की प्रशस्ति लिखी थी। यह प्रतिष्ठाचार्य भी थे, इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तिया अनेक मन्दिरो मे मिलेंगी, किन्तु मुझे तो केवल दो मूर्ति लेख ही प्राप्त हो सके है।[१८] अन्वेषण करने पर और भी मिल सकते हैं। इनकी रचनाए अभी तक प्राप्त नही हुई। जिनका अन्वेषण करना आवश्यक है। यह कोई भिन्न मलयकीर्ति हैं।

भट्टारक गुणभद्र—भ० मलयकीर्ति के पट्टधर एव शिष्य थे। अपभ्रंश भाषा के विद्वान कवि तथा प्रतिष्ठाचार्य थे। आपने अपने जीवन को आत्म-साधना के साथ धर्म और समाज-सेवा मे लागाया था। आपके द्वारा रची गई १५ कथाए खजूर मस्जिद देहली के पचायती मन्दिर के एक गुच्छक मे उपलब्ध हैं जिन्हे उन्होने ग्वालियर मे रहकर भक्त श्रावको की प्रेरणा से रचा था। उनके नाम इस प्रकार है—१ सवणवारसि कहा २ पक्खवइ कहा ३ आयास पचमी कहा ४ चदायणवय कहा ५ चदण छट्ठी कहा ६ दुद्धारस कथा ७ णिद्दुह सप्तमी कहा ८ मउडसत्तमी कहा ९ पुप्फांजलि कहा १० रयणत्तय कहा ११ दहलक्खणवय कहा १२ अणंतवय कहा १३ लद्धविहाण कहा १४ सोलह कारण कहा १५ सुग्रध दहमी कहा।[१९]

कवि ने इन कथाओ में व्रत का स्वरूप, उनके आचरण की विधि और फल का प्रतिपादन करते हुए व्रत की महत्ता पर अच्छा प्रकाश डाला है। इनमे से सवणवारसि कहा और लब्धि विधान कहा, इन दो कथाओ को ग्वालियर के उद्धरण के जिन मन्दिर मे बैठकर सारगदेव के पुत्र देवदास की प्रेरणा से रचा गया है। पुप्फाजलि, दहलक्खणवय कहा और रत्नत्रय कहा इन तीनो को जयसवाल वशी लक्ष्मणसिह चौधरी के पुत्र पंडित भीमसेन के अनुरोध से रचा है और नरक उतारी दुद्धारस कहा, ग्यालियर निवासी साहुवीधा के पुत्र सहणपाल के अनुरोध से रची गयी है। भ० गुणभद्र नाम के अनेक विद्वान हो गये हैं, परन्तु उनमे प्रस्तुत गुणभद्र सबसे भिन्न जान पडते हैं। इनका

---

१७. दीक्षादाने सुदक्षोवगतगुरु शिष्यवा क्षेत्रनाथ,
ध्यायतन्त्रं श्रान्तं शिष्ट चरित सहृदयो मुक्तिमार्गे।
यो लोभक्रोधमायाजलद विलयने मारुती माधुरेशः,
काष्ठासघे गरिष्ठो जयति स मलयाद्यस्ततः कीतिसूरि ॥

—काष्ठासघ मा० प०

१८. सं० १५०२ वर्षे कातिक सुदी ५ भौम दिने श्री काष्ठा संघे श्री गुण कीतिदेवा तत्पट्टे श्रीयशकीतिदेवा तत्पट्टे मलयकीतिदेवान्वये साहु नरदेव तस्य भार्याजैनी।
स० १५१० माघसुदि १३ सोमे श्री काष्ठासंघे आचार्य मलयकीति देवा; तैं प्रतिस्थितम्॥
गुणगणमणिभूषो वीतकामादि शेषः कृत जिनमत तोषस्ततोष स्तत्पदेशान्त चेय ॥
धनचरण विशेष. सत्यघोष विरोधो,
जयति च गुणभद्र सूरिरानन्दसूरिः ॥ काष्ठासघ मो० प०

१९. देखो, जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा० २ पृ० ११२

समय विक्रम की १६वी शताब्दी है। इनके समय मे अनेक ग्रन्थो की प्रतिलिपि की गई और मूर्तियो की प्रतिष्ठा भी हुई है। उनमे से दो मूर्ति लेख यहा दिये जाते हैं।

१–स० १५२६ वैशाख सुदि ७ बुधे श्री काष्ठा संघे भ० श्री मलयकीर्ति भ० गुणभद्राम्नाये अग्रोत्कान्वये मित्तल गोत्रे आदि लेख है। यह धातु की मूर्ति भ० आदिनाथ की यक्षयक्षिणी सहित हैं।

२–सं० १५३१ फाल्गुण सुदि ५ शुक्रे काष्ठासघे भ० गुणभद्राम्नाये जैसवाल सा० काल्हाभार्या [जयश्री] आदि। यह मूर्ति १८ इच धातु की है।

इस सब विवेचन से पाठक भट्टारक गुणभद्र के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

भानुकीर्ति—भट्टारक गुणभद्र के पट्टधर थे। अपने समय के अच्छे विद्वान्, उपदेशक और प्रतिष्ठाचार्य थे। शब्द शास्त्र. तर्क, काव्य अलकार एव छन्दो मे निष्णात थे।[२०] इनके द्वारा लिखी हुई एक रविव्रत कथा मेरे अवलोकन मे आई है। परन्तु ग्रन्थ रचनाओ का अभी तक पता नही चला। इनका समय विक्रम की १६वी और १७वी शताब्दी है।

कमलकीर्ति—हेमकीर्ति के पट्टधर थे। यह स० १५०६ मे पट्टधर थे। उस समय चन्द्र वाड मे राजा रामचन्द्रदेव और उनके पुत्र युवराज प्रतापचन्द्र के समय कविवर रइधू ने शान्तिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की थी। तव हेमकीर्ति के पट्टधर कमलकीर्ति प्रतिष्ठित थे।[२१] इनका समय भी विक्रम की १६वी शताब्दी है।

इनके दो शिष्य थे, शुभचन्द्र और कुमारसेन। उनमे शुभचन्द्र कमलकीर्ति के पट्ट पर सोनागिर मे प्रतिष्ठित हुए थे।[२२] और कुमारसेन भानुकीर्ति के पट्ट पर आसीन हुए थे। कुमारसेन के शिष्य

---

२०. यो जानाति सुशब्द शास्त्रमनघ काव्यनि, तर्कादिद
सालंकार गुणैर्युतानि नियत जानाति छन्दासि च।
यो विज्ञानयुतो दयाशमगुणैर्भातीह नित्योदय,
जीयाच्छी गुणभद्रसूरि ···श्री भानुकीर्ति गुरु ॥

२१ देखो, जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह भाग २, पृ० १११ की टिप्पणी।

२२ सिरिकंज कित्ति-पट्टवरेसु, तच्जत्थ–सत्थभासण दिणेसु।
उदइय मिच्छत्त तमोहणासु, सुहचन्द भडारउ सुजसवासु ॥
· ··· ····
कमलकीर्ति उत्तम खमधारउ, भव्वह भव-अम्मारिणहितारउ।
तासु पट्ट कणयट्टि परिट्ठिउ, सिरि सुहचद सु– तव उक्कंठिउ ॥

—हरिवश प्रशस्ति

तत्पट्टमुच्चमुदयाद्रि मिवानुभानु, श्री भानुकीर्ति रिह भातिहताधकार।
उद्योतयन्निखिल सूक्ष्म पदार्थ सार्थान् भट्टारको भुवन पालक पद्मबन्धु ॥६२

हेमकीर्ति दिल्ली के भट्टारक प्रभाचन्द्र के प्रशिष्य और शुभचन्द्र के शिष्य थे। ये वही हेमकीर्ति ज्ञात होते है जिनका उल्लेख स० १४६५ के विजोलिया मे उत्कीर्ण शिलालेख मे हुआ है। इससे इनका समय विक्रम की १५वी शताब्दी है।

—जबूस्वामी चरित पृ० ८

हेमचन्द्र थे, और हेमचन्द्र के शिष्य पद्मनन्दि। पद्मनन्दि के शिष्य यश कीर्ति थे, जिन्होंने स० १५७२ मे केशरियाजी मे सभा मण्डप बनवाया था। इन यश कीर्ति के दो शिष्य थे। गुणचन्द्र और क्षेमकीर्ति। गुणचन्द्र का सम्बन्ध दिल्ली पट्ट परम्परा से है।

माथुरगच्छ के एक अन्य कमलकीर्ति का उल्लेख मिलता है, जिन्होने देवसेन के तत्त्वसार की एक सस्कृत टीका बनाई है। वे अमलकीर्ति के शिष्य थे। इन्होने उस टीका की प्रशस्ति मे अपनी गुरु परम्परा निम्न प्रकार बतलाई है। क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति, सयमकीर्ति, अमलकीर्ति और कमलकीर्ति हो सकता है कि ये दोनो कमलकीर्ति एक हो। कारण कि स० १५२५ के मूर्ति लेख मे जो कविवर रइधू द्वारा प्रतिष्ठित है उसमे भ० अमलकीर्ति और उनके बाद शुभचन्द का उल्लेख है।[२३] और यह भी हो सकता है कि दोनो कमलकीर्ति भिन्न ही हो, क्योकि दोनो के गुरू भिन्न-भिन्न है, और यह भी सम्भव है कि एक विद्वान के दीक्षा और शिक्षा गुरु के भेद से दो विद्वान गुरु रहे हो। कुछ भी हो, इस सम्बन्ध मे अन्वेषण करना अत्यन्त आवश्यक है। कुमारसेन [२४] भानुकीर्ति के शिष्य थे। स्याद्वाद रूप निर्दोष विद्या के द्वारा वादी रूपी गजो के कुम्भस्थल के विदारक थे। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के धारक थे। कामदेव के जीतने वाले तथा महाव्रतो का आचरण करने वाले थे। अच्छे विद्वान तपस्वी और जन-कल्याण करने में सदा तत्पर रहते थे। इसी से पाण्डे राजमल जी ने उनकी विजय कामना की है।



जीते क्रोध क्षमा से साधक
और मान को मार्दव से
माया को आर्जव से जीते
और लोभ संतोष से।

—अर्हत्

२३. शिष्योऽथ शुभचन्द्रस्य हेमकीर्ति महासुधी.।

—देखो, अनेकास्त वर्ष ११ कि० पृ० ३६

२४ तत्पट्टमव्धिमभिवर्द्धन हेतुरिन्द्र., सौम्य. संदोदयमयोलसदशु जालै।
ब्रह्म व्रताचरण निर्जित मारिसेनो, भट्टारको विजयतेऽथ कुमारसेन ॥

—जंबूस्वामी चरित ६३ पृ० ८

ऊपरगांव के जैन मन्दिर का अप्रकाशित शिलालेख

☐ श्री रामवल्लभ सोमाणी

ऊपर गाव डूगरपुर के समीप स्थित है। यहा के दिगम्बर जैन मन्दिर मे वि. स १४६१ का शिलालेख लग रहा है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। मन्दिर अब ध्वस्त हो गया है और मूलनायक प्रतिमा डूगरपुर के मन्दिर मे रखवा दी गई है। शिलालेख बहुत लम्बा और ३६ पक्तियो का सुन्दर खुदा हुआ है। इसे भी अब डूगरपुर मे सुरक्षित रखवा दिया गया है।

बागड दीर्घकाल से जैन धर्म का केन्द्र रहा है। प्रसिद्ध तीर्थ केसरियाजी इसी क्षेत्र की सीमा के पास है। वि स ११६६ का शिलालेख अर्थूणा से मिला है। इस लेख मे वर्णित है कि जब परमार राजा विजयराज वहाँ राज्य करता था तब नागर वशी जैन भूषण ने आदिनाथ भगवान का मन्दिर बनवाया। इसमें छत्रसेन नामक माथुरसघ के आचार्य का उल्लेख हैं। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भी यहा जैन धर्म का विकास बहुत ही पहले हो गया था।

ऊपर गावं वाले लेख मे प्रारम्भ के ८ श्लोको मे सुन्दर मगलाचरण है। आगे राज पद्धति वर्णित है जो श्लोक सं ६ से २० तक है। इसके बाद काष्ठासघ नन्दितट गच्छ के आचार्यों के नाम हैं जिनके सबके आगे प्राय. सेन या कीर्ति लिखा हुआ है। यह वर्णन श्लोक सं २८ तक है। श्लोक सं० २६ से श्रेष्ठि वश वर्णन है। अन्त मे कुछ गद्य है।

इस लेख का सबसे महत्वपूर्ण भाग इसका राजपद्धति वाला है क्योकि डूंगरपुर के राजाओ की प्रथम विस्तृत शुद्ध वंशावली है। श्लोक सं० ६ मे भगवान एकलिंग की स्तुति की गई है और आगे के श्लोक मे उनके प्रसाद से बप्पारावल को राज्य मिलना वर्णित है। आगे बप्पा के उत्तराधिकारियो का वर्णन है। जिसका सार इस प्रकार है" गुहिल वश मे बाघा का पुत्र खुम्माण हुआ। इस के वंश मे बैरड बैरिसिह पद्मसिह आदि शासक हुए . जैत्रसिह ने पृथ्वी को विजित किया और सीहड के द्वारा यह राजान्वती हुई। इसमे प्रथम बार सीहड का सम्बन्ध मेवाड के महाराजा जैत्रसिह से किया गया है। डूंगरपुर के पश्चात् कालीन शिलालेख उदाहरणार्थ जिनेश्वर मन्दिर का वि. सं १६१७ का लेख, महारावल आशकर्ण की प्रशस्ति और गोवर्धन नाथ के मन्दिर वि स. १६७६ की प्रशस्ति आदि मे सीहड को साम तसिह का उत्तराधिकारी बतलाया गया है। अपने-अपने विस्तृत लेख" बागड़ मे गुहिल राज्य की स्थापना और Foundat.on Guh1la Puri in Bagada मे इसको विस्तार से वर्णित किया है। इसमे ओझाजी प्रभृति विद्वानो की इस मान्यता का मैंने इस ऊपर गाव के जैन शिलालेख

के आधार पर खण्डन किया था कि सीहड जिसे डूंगरपुर का मौजूदा राजवंश चला था सामन्तसिंह का पौत्र नही था बल्कि मेवाड़ के महारावल जैत्रसिंह का पुत्र था।

आगे के श्लोक मे सीहड के पुत्र जैसल का वर्णन है। ओझाजी ने इसका नाम विजयसिंह माना है। इसके २ शिलालेख अब तक मिले हैं (१) वि स. १३०६ फाल्गुण सुदि का जगत गाव का और झाडोल का वि. स. १३०८ का। इन दोनो मे इसे जयसिंह पढा है। ओझाजी की मान्यता थी कि झाडोल के शिलालेख मे "विजयनाथ मन्दिर" के निर्माण का उल्लेख है अतएव राजा का नाम विजयसिंह होना चाहिए। किन्तु यह केवल कल्पना है। मुझे अभी डूंगरपुर मे इस शिलालेख की मूल छाप देखने का भी अवसर मिला। इसमे मूल शब्द "वयजनाथ देव" है जिसका स्पष्ट अर्थ वैद्यनाथ होता है। ऊपर गाव की इस प्रशस्ति का वर्णन ही अधिक उपयुक्त लगता है कि उसका नाम जैसल या जयसिंह होगा। एकलिंग मन्दिर के समीप स्थित। चीखागाव के वि. स. १३३० के विस्तृत शिलालेख मे प्रसगवश अर्थूणा के युद्ध मे जैसल के लिए मेवाड की सेनाओ का तलारक्ष मदन की अध्यक्षता में लडना वर्णित है। ओझाजी ने इस जैसल शब्द को मेवाड के शासक जैत्रसिंह का नाम माना है और वागड के शासक का नाम विजयसिंह माना है जो दोनो ही स्पष्टत गलत है ऊपर गाव के इस लेखके अनुमार यह जैसल शब्द बागड के शासक के लिए ही प्रयुक्त हुआ था। इसका उत्तराधिकारी देवपाल हुआ था। अन्य वशावलियो मे सीहड के वाद सीधा देवपाल का नाम दिया गया है। उनमे जैसल का नाम छूटा हुआ है। इसका समाधान इस प्रशस्ति मे स्पष्ट रूप से दिया गया है कि सीहड के २ पुत्र थे एक जैसल और (२) देवपाल। अतएव इसकी यह सूचना भी महत्वपूर्ण है। वशावली मे इसमे सिंधुर नाम के एक शासक का नाम और जोडा गया है जो अन्य प्रशस्तियो मे नही है। इसके लिए यह भी लिखा है कि इसने अमरसिंह नामक एक शत्रु को हराया था। इस सम्बन्ध मे और शोध की आवश्यकता है।

इस प्रकार राजवश वर्णन की दृष्टि से यह प्रशस्ति बड़ी महत्वपूर्ण है। साधुओ के जो नाम आये हैं वे ये है गर्गसेन, नागसेन, नोपसेन रामसेन यशःकीर्ति कनकसेन शुभकर सेन, अनन्तकीर्ति, मारसेन केशवसेन देवकीर्ति नयकीर्ति राजकीर्ति पद्मकीर्ति पद्मसेन भावसेन और रत्नकीर्ति। आगे श्रेष्ठि भाहड का वर्णन है जो नरसिंहपुरा जाति का था। अन्त मे सवत् का कुछ अश इस प्रकार है —

"संवत १४६१ वर्षे बैशाख सुदि ५ पचम्याम् शुक्रवारे राउल श्री प्रतापसिंह विजय राज्ये

ऊपर गामनाम्नि ग्रामे श्री काष्ठासघ नद्रि तटगच्छे श्री रत्नकीति स्यादेशात् नारसिंह ज्ञातीय खरनहर गोत्रे "आदि"

इस क्षेत्र मे और भी कई मन्दिर है जिनमे शिलालेख लगे हुए है। मेवाड और वागढ़ क्षेत्र के विस्तृत Survey की पूर्ण आवश्यकता है।



राजस्थान के प्रमुख जैन तीर्थ

□ पं० अनूपचन्द न्यायतीर्थ

राजस्थान प्रारम्भ से ही भारतीय सस्कृति एव कला का केन्द्र रहा है। यहा के राजाओ ने सस्कृति एव कला के उत्थान मे अपना पूर्ण योग दिया है एक ओर जहा राजस्थान ने अपनी आन बान पर मर मिटने वाले वीर पुत्रो को जन्म दिया है दूसरी ओर उसने समाज और सस्कृति की रक्षा करने वाले अनेक साहित्यकार एव कलाकारो को अपनी गोदी मे पाल पोष कर बडा किया है। राजस्थान अपनी वीरता के क्षेत्र मे जहा सवसे आगे रहा और रणथभौर, चित्तौडगढ, हल्दीघार्टी, मांडलगढ आदि वीर भूमिया आज भी उसका यशोज्ञान करती है उसी प्रकार वह अपनी संस्कृति एव कला के क्षेत्र मे किसी से पीछे न रहा और रणकपुर, आबू, ऋषभदेव, पुष्कर, आदि धर्म स्थान उसके युगो से यशोगान करते आ रहे हैं। इन सभी धर्म स्थानो मे जनता एव शासन के सौहार्द पूर्ण सहयोग से ही सस्कृति एव कला जीवित रह सकी है।

भारत एक धर्म प्राण देश है। यहा धर्म के नाम पर अनेक तीर्थों की स्थापना हुई है। जिस स्थान मे मनुष्य को अपने तथा पर के कल्याण करने की प्रेरणा मिलती है वह तीर्थ कहलाता है। अथवा जहां से मनुष्य के हृदय मे तीर्थंकर (परमात्मा) बनने की प्रेरणा उठे वह तीर्थ कहलाता है। उन पवित्र या पुण्य स्थानो को जहा धर्म भाव से श्रद्धा सहित लोग पूजा या अर्चना के लिये जाते हैं तीर्थ क्षेत्र कहते है। जैन मान्यतानुसार ऐसे क्षेत्र तीन प्रकार के होते हैं—तीर्थ क्षेत्र, निर्वाण क्षेत्र और अतिशय क्षेत्र।

तीर्थ क्षेत्र—जिस स्थान पर किसी भी तीर्थंकर का गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण कल्याण को मे से कोई भी एक तथा पाचो कल्याण हुए हो—यथा कैलाश, चम्पापुर पावापुर, सम्मेदशिखर गिरनार शत्रुंजय कुण्डलपुर अयोध्या बनारस हस्तिनापुर आदि।

निर्वाण क्षेत्र—वह स्थान जहां से तीर्थंकर अथवा अन्य तपस्वियो ने तपस्या कर निर्वाण प्राप्त किया हो यथा कैलाश, चम्पापुर, पावापुर, गिरनार समेद शिखर, मागीतुगी, सिद्धवरकूट, द्रोणागिरि, नैनागिरि सोनागिरि आदि।

अतिशय क्षेत्र—जो स्थान किन्ही विशेषताओ के कारण, किन्ही कुतूहल प्रिय घटनाओ अथवा चमत्कारो के कारण या आश्चर्यकारी उपलब्धियो के कारण पूज्य अथवा आदरणीय माने जाते हैं। यथा—

जैनविद्री, मूडविद्री, कारकल, चन्देरी, श्री महावीरजी, पद्मपुरा, चमत्कारजी, चादखेडी, तिजारा,

रणकपुर, आबू, मक्षीपार्श्वनाथ, अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ आदि ।

उपरोक्त प्रकार के तीर्थ प्राय भारत के सभी भागो मे फैले हुए है। तीर्थ स्थानो पर जाकर मनुष्य अपने आपको धर्म एव अपनी संस्कृति से अनुप्राणित पाता है और स्वय मे एक गौरव अनुभव करता है। तीर्थ स्थान धर्म स्थान होने के कारण शान्ति के स्थान माने जाते हैं। यदि तीर्थ स्थान पर भी मनुष्य को शाति नही मिलती तो उसका वहा जाना वृथा होता है। प्राय सभी प्राचीन तीर्थ ऐसे स्थानो पर थे जहा पहिले कठिनाई से पहु चा जाता था, बिजली पानी की सुविधाए नही थी, तथा नागरिक कोलाहलपूर्ण जीवन की अशान्ति से दूर थे। वहा जाकर मनुष्य असुविधाओ के होते हुए भी अपने को पूर्ण सुखी एव कृतकृत्य मानता था। आज सभी क्षेत्रो पर पूर्ण सुविधाए है लोग आसानी से पहु च सकते हैं यद्यपि आधुनिक सुविधाओ के कारण वहा का वातावरण भी शहरी जैसा ही अशात बन गया है किन्तु साधन और सुविधा के कारण यात्रियो की सख्या अधिक बढी है—

राजस्थान मे भी अनेक जैन तीर्थ है जिनमे प्रमुख-प्रमुख तीर्थों (अतिशय क्षेत्रो) का परिचय प्रस्तुत लेख मे दिया जा रहा है। ये सभी क्षेत्र सस्कृति एव कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं एव राजस्थान के गौरव स्वरूप हैं। उक्त तीर्थों की स्थापना, रक्षा तथा सवृद्धि मे जैन समाज ने तो अपना तन-मन-धन न्योछावर किया ही है किन्तु तत्कालीन राजा महाराजाओ का भी पूर्ण सहयोग रहा है और उसी के फल स्वरूप संस्कृति एव कला के जीते जागते ये तीर्थ मस्तक उन्नत किये लाखो दर्शनार्थियो को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं तथा उन्हे सद्बुद्धि प्राप्त होने की प्रेरणा देते हैं—

राजस्थान मे प्राय अतिशय क्षेत्र ही हैं और उनमे से कतिपय क्षेत्रो का वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

१ आबू (अर्बुदाचल) दिलवाडा

आबू राजस्थान का शिमला कहा जाता है। यह देहली, अहमदाबाद लाइन पर स्थित है। आबू रोड स्टेशन से १४ मील की चढाई पर यह स्थान है। यहा गर्मी के थपेडो से घबरा कर शीतलता की शरण पाने को अनेक पर्यटक आते है। बादल पहाडो को छूते नजर आते है। पहाड की चढाई विकट है। आबू रोड से माउन्ट आबू पहु चने के लिये यातायात की तथा यहा ठहरने की पर्याप्त व्यवस्था है। यहा ग्रीष्म ऋतु मे पहिले वाइसराय दफ्तर तथा मिलिट्री का कैम्प रहता था आजकल भी राजस्थान राज्यपाल का वहा गर्मी मे निवास रहता है तथा अनेक कार्यालय भी रहते है। पहाड पर जाने का १) एक रुपया प्रति यात्री सरकार द्वारा कर लिया जाता है। आबू विशेषकर जैन मन्दिरो के लिये विश्व विख्यात है। यहा के जैन मन्दिर देखने के लिए ही अधिकाश यात्री आते है और उनकी कारीगरी देख अपने आपको धन्य मानते हैं।

आबू अर्बुदाचल तथा दिलवाडा के नाम से भी प्रसिद्ध है। यहा दो श्वेताम्बर तथा दो दिगम्बर जैन मन्दिर है। दोनो ही श्वेताम्बर मन्दिर मनोज्ञ कला पूर्ण एवं दर्शनीय है। वास्तुकला की दृष्टि से ये मन्दिर बेजोड हैं। पत्थर की कुराइ का इतना सुन्दर कार्य कही देखने को नही मिलता। शिल्पकार ने अपनी टाची से इन प्राणहीन प्रस्तरो को सजीव सा बना दिया है। यहा जैसा कि ऊपर कहा गया है दो मन्दिर हैं। एक 'विमल बसही' जिसे राजा भीमदेव के सेनापति विमलशाह ने संवत १०८८ तदनुसार सन् १०३१ मे १८,५३,००,००० अठारह क्रोड तरेपन लाख रुपये की लागत से बन-

वाया तथा दूसरा 'लवण वसही' जिले वीरधवल राजा के मन्त्री वस्तुपाल तेजपाल ने स० १२८७ तदनुसार सन १२३१ मे १२,५३,००,००० रुपये के लागत से बनवाया ·

सभा भवन, गुंबज, तारेणद्वार खभो तथा तिवारो की छतो की कारीगरी देखकर दर्शक दातो तले अंगुली दबा लेता है। एक खंभे तथा छत मे जो कार्य उत्कीर्ण है वह दूसरे मे नहीं मिलेगा। कहते हैं जितना दिनभर मे शिल्पकार पत्थर मे कुराई का कार्य करता था उतने खड्डे मे जितना स्वर्ण भर जाय उतना उसे दे दिया करते थे। निज मन्दिर के बाहर सभा मण्डप मे देवरानी जिठानी के द्वारा बनवाई गई दो वेदिया अत्यधिक महत्वपूर्ण है। वेलबूंटे, फूल की पखुडिया, पत्तिया पत्थर को तराश कर इस प्रकार बनाई गई हैं कि सब आश्चर्य चकित रह जाते हैं। ये भारतीय प्राचीन सस्कृति एवं कला के उत्कृष्ट नमूने हैं जिन्हे सब प्रकार के आतको से सुरक्षित रखा गया है। इतने ऊंचे पहाडो एव घने जगलो के बीच इतनी सामग्री पहुंचाई जाकर किस प्रकार ये देवालय खडे किये गये हैं और वे भी उस युग मे जब कि कोई आज कल जैसे यातायात के साधन उपलब्ध नही थे कम आश्चर्य की बात नही है। इन मन्दिरो मे विशाल एव मनोज्ञ जिन प्रतिमाएं हैं। मन्दिर के सामने हस्तिशाला है जिसमे वस्तुपाल तेजपाल घोड़े पर सवार हैं। इन्ही दोनो मन्दिरो के बीच से जाकर आगे कुंथनाथ स्वामी का दिगम्बर जैन मन्दिर है जिसमे ११ वी शताब्दी की मनोज्ञ पाषाण प्रतिमा भी है। इसमे २२ प्रतिमाए और हैं। दोनो उक्त मन्दिरो के सामने की ओर एक और दिगम्बर जैन मन्दिर है। इसमे भी ११ वी शताब्दी की पाषाण की विशाल मूल नायक प्रतिमा है तथा १८ प्रतिमाए और हैं। यात्रियो के ठहरने के लिये धर्मशाला भी है।

दिलवाडा पर कई धर्मशालाएं हैं तथा यात्रियों के ठहरने की पूर्ण व्यवस्था है।

यहा राजा महाराजाओ की अनेक कोठियां है मिलिट्री ट्रेनिंग स्कूल है। दर्शनीय स्थानो मे जैन मन्दिर नकीझील, सूर्यास्त स्थल (Sun Set point) आदि प्रमुख है। यहा से ५ मील दूर अचलगढ स्थान है जहा धातु की विशाल जैन मूर्तिया हैं—कहते हैं ये सोने की मूर्तिया हैं और इनका प्रत्येक का वजन करीब एक सौ मन है।

रणकपुर—

रणकपुर राजस्थान मे प्रसिद्ध श्वेताम्बर तीर्थ है। यहा अजमेर से अहमदावाद जाने वाले पश्चिमी रेल्वे के फालना स्टेशन से पहुचा जा सकता है। रणकपुर क्षेत्र पर सडक मार्ग से उदयपुर काकरोली चार भुजा आदि होते हुए पर्वतीय प्रदेशो मे घने जंगल एवं घाटिया पार करके देसुरी की नाल से पहुचना होता हैं। यह क्षेत्र पहाडो की गोद मे बसा हुआ है। पास मे नदी बहती है। यहा का मंदिर वास्तु कला की दृष्टि से ससार मे प्रसिद्ध है। दिलवाडा के जैन मदिरो की तरह यहा भी पत्थर की कुराई का काम दर्शनीय है। इस मद्रिर की कलात्मक विशेषताओ से विदेशी पर्यटक अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। रणकपुर राजस्थान की जैन कला और धार्मिक भावना का सजीव चित्र है। भारतीय स्थापत्य कला का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक यह मदिर अरावली की सुरम्य घाटियो मे स्थित है।

मद्रिर के एक शिलालेख से पता चलता है कि यह मंदिर पौरवाड जाति मे धारणाक धन्ना नामक महान जैन भक्त के द्वारा निर्माण कराया गया था। इस लेख मे धारणाक के परिवार की पूरी प्रशस्ति दी गई है। इस मंदिर के निर्माण मे सभीं परिवार वालो ने सहायता दी थी। इसका नाम राणपुर भी दिया गया है जो राणा कुम्भकर्ण के नाम पर पडा प्रतीत होता है। यह मदिर त्रैलोक्यदीपक के

नाम से भी प्रसिद्ध है। मदिर के निर्माताओ मे राज्य का भी काफी हाथ था। इस मदिर के निर्माताओ मे राणा कुभा का नाम विशेषतौर से लिया जाता है। मंदिर के क्षेत्र का नाम भी उन्ही के नाम से है और कहते हैं मदिर की जमीन भी इसी शर्त पर दी गई थी कि इसका नाम राणा के नाम पर रखा जावे। चित्तौड़ का कीर्तिस्तभ रणकपुर का मदिर तथा आबू का कुभाश्याम राणा कुभा की कलाप्रियता के प्रतीक हैं। इस क्षेत्र का नाम राणा कुभा के नाम पर 'राण' और पौरवाड जाति के श्रावक के नाम से 'पुर' इस तरह 'राणपुर' पडा। इसे राणकपुर भी कहने लगे हैं। इतिहासकार 'टॉड' के अनुसार इसकी नीव सन् १४३८ (वि० सं० १४६५) मे पडी और सन् १४३६ (वि स १४६६) मे मंदिर की प्रतिष्ठा हुई। किन्तु यह ठीक प्रतीत नही होता। एक वर्ष मे मदिर का निर्माण हो जाना असभव है। सं. १४६६ का लेख देखिये—श्री चतुर्मुख जिनयुगादिश्वराय नम वि० सं० १४६६ सख्या वर्षे श्री मेदपारधिरज……"

उक्त शिला लेख से प्रकट होता है कि इसकी प्रतिष्ठा स० १४६६ मे हुई थी।

एक अन्य मूर्ति जो सं १४७५ की है से प्रतीत होता है कि इस मूर्ति के यहा आने के पश्चात् इस मंदिर की प्रतिष्ठा हुई हो। इसमे करीब २० वर्ष का अन्तर है। यह कुछ ठीक प्रतीत होता है। इस तरह निर्माण काल स. १४७५–७६-हो सकता है।

इस मंदिर के बीच मे निजवेदी है। चारो ओर ४ सभा मडप हैं वेदियो मे चतुर्मुखी प्रतिमाएं विराजमान हैं। मदिर मे चारो ओर वेदिया (देहरियाँ) बनी हुई हैं। उनमे सभी मे प्राचीन जैन मूर्तियां विराजमान है।

चारो सभा मंडप कला पूर्ण हैं तथा दुमंजिले हैं। कला सभी मंडपो मे भिन्न २ हैं। सभी सभा मडप ४० फीट ऊंचे खंभो पर टिके हुए है। सभी खंभे कलापूर्ण है। इस मदिर मे कुल १४४४ खभे हैं जिन पर मंदिर के चारो ओर के गुबज गये हुये हैं। इनमे सबसे वडी विशेषता खंभो की "सीमेट्री" है। किसी भी जगह खडे होकर देखिये उस तरफ के सारे खँभे एक ही कतार मे दिखाई देंगे। इसके अतिरिक्त एक विशेषता और है किकिसी भी देहरी के सामने ये खभे नही आते जिससे कि दर्शनो मे आड पड सके। सभा मडप तथा खंभो की कुराई छतो के भाड आदि के कार्य बहुत ही उच्च कोटि का है। संपूर्ण मदिर इतना कलापूर्ण है कि दर्शक देखते २ नही अघाता। एक बडे शिलाखड पर पार्श्वनाथ की सहस्रफणी मूर्ति बडी मनोज्ञ है।

क्षेत्र पर सब तरह की सुन्दर व्यवस्था है। यात्रियो के लिये ठहरने तथा औढने बिछौने की भी पूर्ण व्यवस्था है। काफी विदेशी पर्यटक आते हैं। मदिर के ऊपर के शिखर दूर से ही यात्रियो को अपनी ओर बुलाते हैं।

ऋषभदेव (केशरियाजी)

यह स्थान मेवाड मे उदयपुर से ४० मील दूर दक्षिण की ओर पहाडियो मे है। उदयपुर से डूगरपुर जाने वाले मार्ग पर यह स्थान मुख्य सडक से करीब १।। मील दूर रहता है। अब यहा मोटर से तथा रेल से जाने के दोनो ही साधन हो गये हैं। उदयपुर से डुगरपुर जाने वाली तथा डूगरपुर से उदयपुर आने वाली प्रत्येक बस ऋषभदेव ठहर कर आती हैं। बसे प्रति एक घंटे के फासले से चलती हैं। यह स्थान ऋषभ देव, केशरिया तीथ, तथा धूलेव के नाम से भी प्रसिद्ध है।

यहा दि० जैनो के करीव १०० घर है तथा ६-७ मन्दिर चैत्यालय हैं। जैन विद्यालय तथा छात्रावास हैं। मेवाढ प्रात के प्रसिद्ध भट्टारक यश कीर्ति जी महाराज भी यहां कभी कभी विरा-

जते हैं उनका यहां एक चैत्यालय है तथा एक ग्रथ भण्डार भी है जिसमे अच्छी सख्या मे हस्तलिखित प्राचीन एव महत्वपूर्ण ग्रंथ विराजमान हैं। यह भण्डार प्रतिष्ठाचार्य प० रामचन्द्र जी तथा प० चदनमलजी की देखरेख मे है। यहा ऋषभदेव के मन्दिर के चारो ओर परकोटा है। परकोटे मे कई धर्मशालाए हैं। इस क्षेत्र का प्रवन्ध देवस्थान विभाग राजस्थान सरकार की देखरेख मे है मन्दिर बहुत विशाल एव प्राचीन है। मन्दिर के बाहरी द्वार पर पत्थर के दो विशाल हाथी है। सीढिया चढकर अन्दर घुसने पर सभा मण्डप है, चौकी है इसमे से निजमन्दिर मे प्रवेश किया जाता है।

निजमन्दिर मे ऋषभदेव भगवान की श्यामवर्ण की ३½ फीट ऊंची पद्मासन प्रतिमा है। प्रतिमा अत्यन्त प्राचीन एवं मनोज्ञ है। इस पर केशर बहुत चढाई जाती है इसलिये इसे केशरियानाथ जी के नाम से भी पुकारते हैं। भील लोग इसे काले पत्थर की होने के कारण कालाजी घूलेव ग्राम मे होने के कारण 'घूलेवा धणी' भी पुकारते हैं। प्रतिमा पर किसी प्रकार का लेख या सवत नही है किन्तु फिर भी यह निश्चित है कि प्रतिमा अति प्राचीन है। इस प्रतिमा के सम्बन्ध मे कुछ किंवदन्तिया निम्न प्रकार हैं—

१ कहते हैं इस प्रतिमा को रामचन्द्रजी लका विजय करके वहा से साथ लाये थे और उज्जैन मे विराजमान थी। और बाद मे यहा लायी गई।

२ इस मन्दिर से २० मील दूर किसी मन्दिर मे बादशाह अलाउद्दीन ने इस मूर्ति को तोडना चाहा था किन्तु उसकी फोजें अधी हो गयी और न तोड सका—पुजारी को स्वप्न हुआ उसी अनुसार कावड मे रख कर यहा लाया गया और मन्दिर बना।

३. चादनपुर के महावीर की तरह गाय का दूध झरने की जगह से खोद निकालना। यहा से कुछ दूरी पर पगल्याजी हैं वहा निकलने का स्थान है।

४. धूलिया भीलके स्वप्न के अनुसार जमीन मे से निकलने के कारण धूलिया ग्राम नाम पडा।

उक्त किंवदन्तियो मे प्रामाणिक क्या है यह तो पाठक स्वयं सोचे किंतु इतना अवश्य ज्ञात होता है कि मूर्ति किसी दूसरी जगह निकली है और यहा लाकर विराजमान की गई है।

मूर्ति बहुत चमत्कारपूर्ण है। अनेको के कार्य सिद्ध होते हैं अत: अधिक मान्यता है।

भारत का यह प्रसिद्ध एक ऐसा मन्दिर है जहा दिगम्बर श्वेताम्बर जैन, वैष्णव, शैव, भील एव सभी जाति वाले समान रूप से मूर्ति को पूजते हैं, प्रात: ९ बजे तक प्रक्षालन के पश्चात् आंगी आदि चढाई जाती है। मूर्ति के चारो ओर परिकर मे नग्न खड्गासन मूर्तियो से ज्ञात होता है कि यह मूर्ति दिगम्बर है। चारो ओर भी अनेक मूर्तियां है जिन पर दिगम्बर आम्नाय के लेख हैं। खेलमण्डप मे लगे विक्रम स. १४३१ का लेख काष्ठा सधी भट्टारक धर्मकीर्ति का है। उनके उपदेश से इसका जीर्णोद्धार हुआ। यह मन्दिर १२, १३ वी शताब्दी का प्रतीत होता है। इसके ४८ भव्य शिखर अति मनोज्ञ हैं। उनमें जैन मूर्तियो के अतिरिक्त सभी धर्मों के देवीदेवताओ की मूर्तिया भी हैं।

मन्दिर मे कई जगह दिगम्बर लेख एव मूर्तिया हैं।

चमत्कार क्षेत्र

यह क्षेत्र राजस्थान में जयपुर राज्यान्तर्गत जिला सवाईमाधोपुर मे है। सवाई माधोपुर दिल्ली से बम्बई जाने वाली बड़ीलाइन पर रेल्वे जंक्शन

एक कीर्तिस्तभ -है। चौक के बीच मे एक चबूतरा है जो मण्डल विधानादि के लिए सुरक्षित है। यहा स० १७४६ मे एक विशाल प्रतिष्ठा समारोह हुआ था जिसमे हजारो मूर्तिया प्रतिष्ठित हुई थी और आज भी जगह-जगह वहा की प्रतिष्ठित मूर्तिया मिलती है। यह प्रतिष्ठा महोत्सव भट्टारक जगत्कीर्ति की देखरेख मे बूदी निव सी सघी कृष्णदास (किशनदास) बघेरवाल ने करवाया था।

मूर्ति के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि यह मूर्ति पहिले बारापाटी के जंगलो मे विराजमान थी। कहते हैं किसी को स्वप्न आया था वह मूर्ति को ले जावे तथा जहा मूर्ति ठहर जावे वही मन्दिर बनवा देना।

तदनुसार मूर्ति लाई गई और वह नदी के बीच ही स्थित रह गई और नदी मे ही मन्दिर बनाना पडा। सवत १७४२ मे मूर्ति वहा अटल हुई तथा संवत १७४६ मे मन्दिर तैयार होकर उसकी प्रतिष्ठा हो गई। इस प्रतिष्ठा महोत्सव मे कोटा राज्य की ओर से पूर्ण सहायता दी गयी थी। प्रतिष्ठा महोत्सव मे सोमकीर्ति विजयकीर्ति पश कीर्ति मगलकीर्ति भुवन कीर्ति धर्मकीर्ति वृजेन्द्रकीर्ति महेन्द्रकीर्ति एव सुमतिकीर्ति भट्टारक सम्मिलित हुये थे।

मन्दिर के बाहर मानस्तम्भ है। बगीचा आदि लगा है। नीचे नदी बहती है। स्थान बडा रमणीक है। यहा प्रतिवर्ष चैत्र मास की नवमी को मेला भरता है।

केशोराय पाटन

यह भी राजस्थान का प्रसिद्ध क्षेत्र है। यह कोटा से ८–९ -माइल चम्बल नदी के किनारे बसा है। ब दी रोड रेल्वे स्टेशन से भी यहां पहुंचा जा सकता है। यहा एक प्रसिद्ध केशवराय का वैष्णव मन्दिर है जिसके नाम से इस ग्राम का नाम केशोराय पाटन है। पाटन शब्द नगर का ही द्योतक है। पुराने समय मे अच्छे कस्बो को पट्टन तथा पाटन ही कहा करते थे यथा झालरा पाटन, अन्हलवाड पट्टन आदि।

यहा एक विशाल एव प्राचीन जैन मन्दिर ठीक चम्बल के किनारे पर है। इसमे वहरे मे नीचे जाकर श्याम वर्ण की पाषाण की मनोज्ञ एव प्राचीन भगवान मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमा है। यह मूर्ति तीन फीट ऊची है तथा ३$\frac{3}{4}$ फीट चौडी एवं ३ फीट ऊचे शिला पट्ट पर खुदी हुई है। पाषाण बहुत घिसा हुआ एवं मुलायम है। मूर्ति मे जगह जगह टाचे हो रही हैं। दाहिने पैर का अ गूठा नही है तथा गले के पास एक खड्डा भी है। शिलापट्ट पर भामण्डल है मस्तक पर तीन छत्र हैं। किन्नर देवो की भी शिलापट्ट पर मूर्तिया हैं हाथो मे वाद्य यत्र हैं—हाथ मे अंकुश लिये हाथी पर कोई बैठा हुआ है। शिलाखण्ड एक ओर से कुछ टूटा हुआ है। मूर्ति पर कोई लेख नही है किन्तु मूर्ति के प्राचीन होने मे कोई सदेह भी नही है। बहरे मे ही बाहर की वेदी मे सवत १३२७ तथा १३५० की मूर्तिया विराजमान है। ये मूर्तिया भी अतिमनोज्ञ हैं।

बहरे मे जाने का मूल दरवाजा २७ इंच चौडा तथा ५४ इंच ऊचा है। दर्शनार्थी को झुककर अन्दर जाना पडता है। ऊपर भी मन्दिर मे कई मूर्तिया विराजमान है।

मन्दिर कितना पुराना है यह प्रमाणिकरूप से नही कहा जा सकता किन्तु फिर भी मन्दिर को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र कम से कम ३००–३५० वर्ष पुराना है। मन्दिर के जीर्णोद्धार की आवश्यकता है।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

भारत प्रसिद्ध अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी राजस्थान का लोकप्रिय क्षेत्र है। यह दिल्ली से बम्बई जाने वाली रेल्वे की बडी लाइन पर स्थित है। स्टेशन से ४ मील दूरी पर गंभीर नदी के किनारे पर एक रमणीय स्थान है। जयपुर तथा दिल्ली आगरा से सडक मार्ग से भी सबद्ध है। भारत मे श्री महावीरजी ही एक ऐसा क्षेत्र है जहा बिना किसी जातीय भेदभाव के मानवमात्र भगवान महावीर के मन्दिर मे जाकर दर्शन कर अपने आप को कृत कृत्य समझता है। यहा १०-१२ धर्मशा-शालाएं है तथा नल, बिजली, तार, टेलीफोन आदि की पूर्ण व्यवस्था है। तीन उन्नत शिखरो वाला मन्दिर दूर से ही यात्रियो को अहिंसा का पाठ पढाता है। कटले में विशाल एव कलापूर्ण मदिर हे जहा लाल वर्ण की पाषाण की पद्मासन २ फीट ऊची भगवान महावीर की प्राचीन एव मनोज्ञ मूर्ति विराजमान है। मूर्ति इतनी मनोज्ञ है कि घटो सामने से हटने को जी नही चाहता। मीना, गूजर जाट चमार एव और अनेक यात्री दूर दूर से दडवत करते अपनी मनौतिया मनाते आते है।

यह मूर्ति करीव ३००-३५० वर्ष पूर्व नदी के किनारे टीले मे से निकली थी। एक चमार की गाय का दूध टीले पर स्वत. झरता देख उसे खोदा गया तो यह मूर्ति निकली, आसपास के जैन इसे ले जाना चाहते थे किंतु काफी कोशिश करने पर भी नही ले जाई जा सकी। चर्मकार की झोपडी ही पवित्र करती रही; कुछ दिन बाद अमरचन्द बिलाला ने यहा का मन्दिर बनवाया और उसमे इसे विराजमान किया। निकलने के स्थान पर चरण छत्री बनाई गई।। यह स्थान नौरगाबाद कहलाता था और जयपुर राज्य की हिन्डौन निजामत मे था। यहा प्रारम्भ से जैनो के गुरु भट्टारक जी की गादी विराजमान है और उसके अंतिम भट्टारक चन्द्रकीर्तिजी महाराज का अभी ३ जून १९६९ को स्वर्गवास हुआ है।

इस मन्दिर की सेवा पूजा के लिये जयपुर राज्य की ओर से जागीर मे गाव मिले हुए थे। पहिले यहा किन्ही कारणो से कोर्ट आफ वार्डस द्वारा प्रबन्ध किया जाता रहा किंतु सन् १९३० मे यह क्षेत्र जयपुर दि० जैन समाज को संभला दिया गया और उसकी ओर से एक प्रबन्धकारिणी कमेटी नियुक्त की गई जिस के सर्व प्रथम मन्त्री स्व० रामचन्द्रजी खिन्दूका चुने गये। उन्होने इस क्षेत्र की बीस वर्ष से भी अधिक सेवा की और क्षेत्र की चहुंमुखी उन्नति हुई, सर्वांगीण विकास हुआ जहा धीरे धीरे नयी धर्मशालाओ का निर्माण, सडक निर्माण, नल बिजली की व्यवस्था एव मन्दिर के जीर्णोद्धार का कार्य हुआ वहां समाज के योग्य एव होनहार असमर्थ छात्रो को छात्र वृत्ति तथा प्राचीन साहित्य की खोज एव शोध के लिये साहित्य शोध विभाग की स्थापना की गयी। साहित्यशोध विभाग की ओर से प्राचीन साहित्य की खोज एव सूची निर्माण का जो कार्य हुआ वह सभी दृष्टियो से प्रशसनीय है।

शिक्षा साहित्य प्रचार एवं छात्र वृत्ति जैसे उपयोगी कार्य अन्य किसी भी क्षेत्र द्वारा सपादित नही होते। व्यवस्था प्रबन्ध एव सफाई आदि के विषय मे भी यह कहना अत्युक्ति नही होगा कि अन्य कोई क्षेत्र इसकी तुलना मे नही ठहरते।

मन्दिर का जीर्णोद्धार कराकर कितने ही मकराने के भाव पूर्ण चित्र लगाये गये हैं। मान स्तभ, चरण छत्री एव पानी की टंकी आदि दर्शनीय स्थान है। यहा औषधालय डिसपैसरी एव विद्यालय क्षेत्र की ओर से चलते हैं। प्रतिवर्ष करीब १५००० हजार रुपए की छात्रवृत्ति दी जाती है। साहित्य शोध विभाग द्वारा प्राचीन साहित्य की

खोज का कार्य चालू है। अबतक यहा से २० पुस्तको का प्रकाशन हो गया है–जिनमे राज. के जैन ग्रंथ भण्डारो की सूची ५ भाग, प्रशस्त्रि सग्रह, प्रद्युम्न चरित जिणदत्त चरित, डा. कासलीवाल का शोध प्रबन्ध Jain granth Bhandars in Raj जैन शोध एव समीक्षा, पद संग्रह आदि उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त राजस्थान के ५ शेष भंडारो की सूचिया बनाने का कार्य भी चालू है। साहित्य शोध विभाग के प्रकाशनो से जो प्राचीन तथ्य सामने आये उनसे जैन धर्म एवं इतिहास के सम्बन्ध मे बडे २ विद्वानो को अपने मत बदलने पडे हैं। विदेशो मे जैन धर्म एव साहित्य का प्रचार हुआ हैं। मूर्ति एव यत्र लेखो का भी सग्रह किया गया है। साहित्य शोध विभाग स्व पूज्य पडित चैनसुखदास जी की प्रेरणा का ही फल हैं।

आजकल यहा के मन्त्री स्व रामचन्द्रजी खिन्दूका के पुत्र श्रीज्ञानचन्द्रजीखिन्दूका हैं, वे उत्साही नवयुवक हैं एव बडी तत्परता से लगन के साथ सेवा कार्य कर रहे है।

यहा प्रतिवर्ष महावीर जयती के अवसर पर चैत्र शुक्ल १० से बैशाख कृ० १ तक विशाल मेला होता है जिसमे मीने गूजर आदि सभी नाचते हुए आते हैं। सरकार की ओर से मेलेका पूरा प्रवन्ध होता है—वैशाख कृष्णा एकम को रथ यात्रा होती है जिसमे भगवान का रथ नदी तक मीने साथ ले जाते हैं तथा वहा अभिषेक होकर मोहरो मे माला की बोली होती है। रथ के साथ वापसी मे गूजर आते हैं। कभी कभी मेले मे १ लाख से भी अधिक दर्शनार्थी हो जाते हैं।

नदी पर पुल एवं बडी टकी दर्शनीय है।

पद्मपुरा

यह क्षेत्र राजस्थान का नवोदित दिगम्बर जैन तीर्थ है। इसका प्रादुर्भाव वि. सं. २००० मे हुआ। यहा भगवान पद्मप्रभु की श्वेत पाषाण की मनोज्ञ एव प्राचीन प्रतिमा एक मकान की नीव खोदते समय मूला जाट के हाथ से जमीन मे से निकली। प्रतिमा एक पेड के नीचे जहा आजकल चरण छत्री है विराजमान करदी गई। चारो ओर मूर्ति निकलने की खबर फैली आसपास के जैनी आये। मूर्ति के दर्शन से लोगो के कई दुःख दर्द दूर होने लगे। भूत पिशाच डाकिनिशाकिनि भागने लगे। भूतप्रेत के असर वाले लोग कई ठीक हुए। श्रद्धालु भक्त जनो की मनोकामनाएं पूर्ण होने लगी—भारत के कौने-कौने से यात्री आने लगे। जयपुर से सवाई माधोपुर जाने वाले रेल मार्ग पर शिवदासपुरा स्टेशन से ४ मील दूर यह क्षेत्र चाकसू तहसील के अन्तर्गत स्थित है। जयपुर से वस से जाने के पर्याप्त साधन है पहिले यहा कच्ची धर्मशाला थी बाद मे पक्की बन गई है।

सर सेठ भागचद जी सोनी के कर कमलो द्वारा मन्दिर की नीव लगी—वास्तुलला विशारद स्व. मिर्जा इस्माइल साहब द्वारा इस मन्दिर का मॉडल पास किया गया–उसी के अनुसार मन्दिर का निर्माण कार्य आज बीस वर्ष से चालू है—मॉडल के अनुसार पूर्ण होना अभी निकट भविष्य मे असभव सा लगता है किन्तु जितना बन चुका है उतना भी अभूतपूर्व है। यह मन्दिर भारत के दर्शनीय स्थानो मे से एक है। मन्दिर का गुंबद मीलो दूर से दिखाई देता है। इसके ऊपर शिखर चढने के बाद तो इसकी ऊंचाई ....काफी पहुच जावेगी। मन्दिर बहुत ही मनोज्ञ एव कलापूर्ण है। भगवान पद्मप्रभु की सातिशय प्रतिमा कलापूर्ण वेदी मे विराजमान है।

वि. सं, २०२५ के फागुण मास (फरवरी ६९) मे यहा एक विशाल प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ जो

व्यवस्था एव सुविधा की दृष्टि से अपनी सानी का एक ही था। इस प्रतिष्ठा मे केवल बडी मूर्तिया ही प्रतिष्ठा हेतु ली गई थी।

यहा की प्रबन्धक समिति का अपना रजिस्टर्ड विधान है जिसके मन्त्री श्री भंवरलालजी न्याय-तीर्थ हैं। ये लगातार कई वर्षों से क्षेत्र की तन-मन से सेवा कर रहे हैऔर यह उन्ही के सत्प्रयत्नो का फल है कि मन्दिर का इतना सुन्दर निर्माण कार्य हो सका है। क्षेत्र पर नल, बिजली, तार, टेलीफन पोम्ट आफिस औषधालय आदि की व्यवस्था है। अर्थाभाव के कारण मन्दिर के निर्माण कार्य मेअडचने आवश्यक है। आशा है सभी के सहयोग से शीघ्र पूर्ण हो जागया।

यहा इनके अतिरिक्त अलवर मे तिजारा एव जयपुर मे चूलगिरि भी क्षेत्रो की गणना मे लिये जा सकते हैं किन्तु ये अभी अपनी शैशवावस्था मे है।



समाजवाद

कष्ट न हो औरों को
ऐसे लिए
जीवन-रस बाटे सबको
खुद पिए।
अर्जित धन को बाटता
जो न पुन ससार को
उसकी मुक्ति नही होती।
वह असंविभागी समाज कोढ है।

—अर्हत्

४२

दशभक्त्यादि महाशास्त्र

एक अप्रकाशित ग्रंथ का ऐतिहासिक परिचय

□ प० के० भुजबलिजी शास्त्री

इस ग्रन्थ का नाम दशभक्त्यादि महाशास्त्र है। इसके रचयिता वर्धमान मुनीन्द्र हैं। यह नदिसघान्तर्गत बलात्कार गण के विद्यानन्द मुनीश्वर के शिष्य जो देवेन्द्रकीर्ति थे, उनके शिष्य एव द्वितीय विद्यानन्द के सधर्मा हैं। इनकी गुरु परम्परा इस कृति मे निम्न प्रकार दी गयी है। (पृ०२४६-३०५) दशपूर्व के धारी विशाखाचार्य के द्वारा पूजित दशपूर्वधारी भद्रबाहु। इसी परम्परा मे तत्त्वार्थं सूत्र के रचयिता उमास्वाति। पश्चात् कुन्दकुन्दान्वय के नन्दिसघ मे समतभद्र के देवागम स्तोत्र पर टीका रचने वाले अकलक। पश्चात् आप्तमीमासा को समलकृत कर श्लोकवार्तिकालकार को रचने वाले स्वामी विद्यानन्द। पश्चात् माणिक्यनन्दि और प्रभाचद्र। पश्चात् जैनेन्द्रन्यास, पाणिनीय सूत्रो पर शब्दावतार न्यास, वैद्यशास्त्र एवं तत्त्वार्थं सूत्रो पर टीका रचने वाले पूज्यपाद।

पश्चात् जिनदत्तराय के द्वारा वदित सिद्धान्त कीर्ति। होय्सल के द्वारा व्याघ्र को वश मे करने वाले वर्धमान मुनीन्द्र वासुपूज्य, वल्लालराय के द्वारा वदित श्रीपाल, पात्रकेसरी, त्रिलोकसार आदि शास्त्रो के रचयिता तथा चामुण्डराय के द्वारा पूजित सैद्धान्तिक सार्वभौम नेमिचन्द्र, उनके शिष्य माधवचन्द्र, अभयचन्द्र, जयकीर्ति, जिनचन्द्र इन्द्र नन्दि, वनदेश (बनवासि) वासी वसंतकीर्ति, विशाल कीर्ति, शुभकीर्ति, पद्मनन्दि, माघनन्दि, जटासिहनदि पद्मप्रभ, वसुनन्दि, मेघचन्द्र, वीरनन्दि, धनजय वादिराज। पश्चात् वर्धमान मुनीन्द्र, के शिष्य एव राजाधिराज परमेश्वर देवराय भूपाल के द्वारा अर्थात विजय नगर-के प्रथम प्रताप देवराय के द्वारा (ई सन् १४०६-१४२२) अथवा द्वितीय प्रौढ देवराय के द्वारा (ई, सन् १४२२-१४४६) पूजित धर्मभूषण।

विद्यानन्द के शिष्य सिहकीर्ति, मेरुनन्दि, वर्धमान, प्रभाचन्द्र, अमरकीर्ति, विशालकीर्ति एव नेमिचन्द्र। इनमे से सिहकीर्ति ने 'वंगाल्यदेशावृत' दिल्ली नगर के मुहम्मद सुरीत्राण के अर्थात् बगाल के सुलतान नसिरूद्दीन माहमूद शाह के (ई सन् १४४२-१४५६) आस्थान मे बौद्धादि वादियो को जीता था। विशालकीर्ति सिकन्दर सुरित्राण अर्थात् प्राय सिकन्दर लोदी के द्वारा (ई० सन् १४८८-१५१७) सम्मानित हुए, विजयनगर के विरूपाक्ष राय (ई० सन् १४६५-१४८६) की सभा मे वादियो को जीतकर जयपत्र प्राप्त किया, आरग के देवप्य दडनायक के नगर मे जैनधर्म की प्रभावना की एव बलात्कार गण के स्वामी रहे। पश्चात् उक्त विशालकीर्ति के शिष्य और साल्व मल्लिराय के द्वारा अर्चित विद्यानन्द स्वामी, उनके शिष्य विजयनर के कृष्णराय (ई० सन् १५०६-

१५२९) के छोटे भाई अच्युतराय के द्वारा (ई० सन् १५२९–१५४० पूजित भारती भाललोचन देवेन्द्र-कीर्ति ।

देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य विद्यानन्द—आपने श्री रगपट्टण मे श्री वीरपृथ्वीपति के आस्थान मे साख्य कापिल, कापालिक, यौग, वैशेषिक, चार्वाक, बौद्ध और भाट्टो को जीता, - साल्व देवराय नरेश के भाजा और पद्माबा के पुत्र साल्व कृष्णदेवराय के द्वारा पूजित हुए एवं विजयनगर के कृष्णराय के आस्थान मे विद्वानो को परास्त किया । इन विद्यानन्द के सधर्मा नेमिचन्द्र ने हुम्बुच्च मे पार्श्वनाथ का त्रिभूमिका युक्त एक जिन मन्दिर बनवाया । विद्यानन्द के शिष्य सर्वशास्त्रावतार विशालकीर्ति उनके सधर्मा अमरकीर्ति । भैरवेन्द्रवंश के पाण्ड्य के राजा के द्वारा अर्थात् कलश-कारकल के शासक वीरभैररस ओडेय के भाजा वीर-पाण्ड्यप्प ओडेय द्वारा अर्चित देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य एव विद्यानन्द के सतीर्थ वर्धमान मुनीन्द्र इस ग्रन्थ के रचयिता हैं । इसलिए इस ग्रन्थ के प्रत्येक प्रकरण के अन्त मे इन्होने 'वर्धमान मुनीन्द्रेण विद्यानन्दार्य बधुवुना यो कहा है । एक बात है कि इस गुरु परम्परा को कहने वाले ये ही पद्म नगर के न ४६ वें शिलालेख मे यथावत् उत्कीर्ण मिलते हैं ।

अस्तु इस ग्रन्थ मे सामयिक पूर्वक (१) सिद्ध भक्ति, (२) श्रुतभक्ति, (३) चारित्र भक्ति, (४) योगभक्ति, (५) आचार्य भक्ति, (६) निर्वाण, भक्ति, (७) नन्दीश्वर भक्ति, (८) चैत्यभक्ति, (९) शांति भक्ति और समाधि भक्ति नामक इन दश भक्तियो के साथ-साथ (१) पच-गुरुभक्ति, (२) मगलस्तोत्र, (३) सुप्रभास्तव, (४) सिद्धार्थ-प्रियकारिण्या स्तव, (५) निश्चलात्म स्वरूप स्तवन, (६) वृषभ स्तुति, (७) विद्यानन्द महाचार्य पादपूजास्तवन, (८) विशालकीर्ति श्रीपादपूजास्तवन, (९) अतीतकालोत्पन्न चतुर्विशति-तीर्थकर पूजा प्रस्तावना पुष्पाजलि, (१०) वर्तमान काल चतुर्विशति तीर्थकर पूजा प्रस्तावना पुष्पाजलि, (११) भाविकाल चतुर्विशति तीर्थकर पूजा प्रस्तावना पुष्पाजलि, (१२) द्वासप्ततिजिनेन्द्र मगलस्तवन, (१३) पच कल्याण माला, (१४) देवेन्द्रकीर्ति गुरु सतति,(१५) विद्यानन्द स्तोत्र, (१६) नन्दिसघ सेनगण मुनियो का स्तवन, १७ जिनदर्शन शुद्ध्यादि यंत्र पूजा-विधि, (१८) क्षात्यादिदश धर्मोद्यत्र पूजा विधि, (१९) नदीश्वर नगेन्द्र श्रीजिन पूजा विधि, (२०) देशीगण जैन मुनीस्तवन, (२१) अकलक योगीन्द्रचन्द्र प्रभ गुरुस्तुति, (२२) काणूर्ग मुनीन्द्र स्वतन, (२३) नन्दिसघ मुनीन्द्र स्तवन, (२४) चंदनषष्ठी मे श्री चन्द्रनाथार्हणाक्रम, (२५) जीवदयाष्टमी पूजा-विधि, (२६) सिद्धस्तोत्र, (२७) दानपूजा गुणाढ्य श्रावक-स्तोत्र, (२८) वेणुपुर अर्थात मूडुविदिरे के श्रवको की स्तुति नामक ये विविध विषय शामिल है । इसलिए इसका नाम दशभक्त्यादि महाशास्त्र जो रखा गया है, वह ठीक ही है । क्योकि आदि शब्द से दशभक्तियो के अतिरिक्त अन्यान्य अनेक विषय शामिल किये जा सकते हैं ।

यह ग्रन्थ सस्कृत मे रचा गया है । इसका बंध रोचक है । किन्तु आदि मे जहाँ तहा थोडा प्राकृत भी है । बीच एव अंत मे कन्नड कंदपद्य, और वृत्त भी हैं । साथ-साथ शुद्ध कन्नड 'अंबु' शब्द (पृष्ठ ७७) और सस्कृत चन्द्र और 'खाद्य' शब्दो के कन्नड तद्भव 'चदिर' (पृष्ठ–२४९, २७१), तथा 'खज्जाय' (पृष्ठ १५५) शब्द भी इसमे सस्कृत मे उपयोग किये गये हैं । संस्कृत वृत्त होने पर भी सस्कृत मे अनुपलब्ध खासकर कन्नड मे ही उपलब्ध उत्पलमाला वृत्तो मे (पृष्ठ ९५, पद्य १४; पृष्ठ १११, पद्य १०-१२, पृष्ठ २९५ पद्य १३; पृष्ठ ५०९ पद्य ४८) कवि ने सस्कृत पद्यो को रचा है । इसी प्रकार कन्नड मे ही अनिवार्य रूप मे उपयोग किये

जाने वाले द्वितीयाक्षर प्रास को इन्होने संस्कृत पद्यो मे भी (पृष्ठ १४६-१६७, पद्य ११-१२, १४-१८, पृष्ठ १६६, पद्य २२, पृष्ठ २६७, पद्य १०४-१०५ उपयोग किया है। इन कारणो से इस ग्रन्थ के रचयिता वर्धमान जी संस्कृत के ही नहीं, कन्नड के भी विशिष्ट ज्ञाता और उच्च कन्नड कवि मालूम होते हैं। पर संस्कृत मे या कन्नड मे अभी तक इनकी और कोई रचना प्राप्त नही हुई है।

इस ग्रंथ के विद्यानंद मुनि स्तुतिपरक अनेक संस्कृत एवं कन्नड पद्य (पृष्ठ २४६-३०५) मैसूर राज्य के शिवमोग्गा जिला के, नगर तालुक के हम्बुच्च मे अवस्थित पद्मावती मंदिर के प्राकार मे वर्तमान शिलालेख मे भी हैं। (नगर न ४६) यद्यपि महाकवि अभिनव पंप या नागचन्द्र के मल्लि नाथ पुराण एवं 'रामचन्द्र चरितपुराण के कतिपय पद्य श्रवण बेलगोल के शिलालेखो मे (न० ६४, १२७; १४०) है अवश्य। फिर भी ये पद्य समग्र शासन के रूप मे नही हैं। परन्तु दशभक्त्यादि महाशास्त्र के ये पद्य आद्यंत नगर न० ४६ वें शिलालेख के रूप मे विद्यमान हैं। शिलालेख मे कन्नड पद्य प्रारंभ मे और संस्कृत पद्य बाद मे हैं। हा, यहा पर ऐसा नही हैं। इतना ही अन्तर है।

मालूम होता है कि यह ग्रन्थ एक ही बार नही रचा गया है। प्रथम मे दशभक्तिया रची गई होगी। बाद इसमे पूर्व या पश्चात् अन्यान्य समयो मे रचे गये। विद्यानंद पादपूजास्तव, विशाल कीर्तिपाद पूजास्तवन, पंचकल्याणमाला, देवेन्द्रकीर्ति गुरु संतति, विद्यानन्दस्तोत्र, यंत्रपूजाविधि, नंदीसंघ-सेन-गण-कानूर्गण जैन मुनिस्तवन, वेणपुरश्रावकस्तुति आदि विषयो को वर्धमान जी ने पीछे से जोडा होगा। हा, ग्रंथ मे पुनरुक्तिया भी (उदा पृष्ठ ४२३-४३३; ४४३-४४५) है। खैर, कवि दूसरी जगह के जिनमन्दिर एवं श्रावको की विशेष प्रशंसा न करके तुलुदेश (पृष्ठ ५७७, पद्य २) मूडुविदिरे मे स्थित (पृष्ठ ५७७, पद्य २) श्रीचन्द्रनाथ जिनालय (त्रिभुवन तिलक चूडामणि) (पृष्ठ ५८३-५८५, पद्य १२-१५), पार्श्वनाथ जिनालय (पृष्ठ ५८५, पद्य १६) और वहा के श्रावको (पृष्ठ ५७७-५८२, पद्य ३-७) की अत्यधिक प्रशंसा किये जाने के कारण वर्धमान जी जन्मतः तुलुदेश के रहने वाले मालूम होते हैं। अगर वहा के रहने वाले नही हो, वे यदा-कदा वहा पर अवश्य आते-जाते रहे होगे। और साथ ही साथ वहा के जिनालय एवं श्रावको से अत्यन्त मुग्ध रहे होगे।

कवि ने इसमे कतिपय देशो की स्त्रियो का वर्णन (पृष्ठ ५०७-५२२, पद्य ४६-५०) भी किया है। उसमे वर्णित तुलुदेश, केरल और होय्सल देश की स्त्रियो का वर्णन ठीक ही है। पर साथ-साथ इसमे सिंहल एवं सुमात्रा देश की स्त्रियो का भी वर्णन है। पर प्रश्न उठता है कि वर्धमानजी ने उन स्त्रियो को कहा देखा था? क्या वे सिंहल और सुमात्रा देशो मे गये थे? यहा पर सहसा यह भी प्रश्न उठता है कि इस दशभक्त्यादि महाशास्त्र मे इन स्त्रियो के वर्णन की क्या आवश्यकता थी? अर्थात् दशभक्त्यादि महाशास्त्र एवं इन विविध देशीय स्त्रियो के वर्णन से क्या सम्बन्ध है? इसी प्रकार इस ग्रन्थ के 'नागसेनार्यवर्यम् (पद्य ५७) आदि इस कन्नड कंदपद्य मे प्रतिपादित पैगु द्वीप कौनसा है? वह कहा पर है? क्या वह बर्मा (Burma) देश का पैगु (Pagu) हो सकता है? तब क्या वर्धमानजी के द्वारा स्तुत वह नागसेन वहा पर गये थे? इसमे इस प्रकार के कतिपय प्रश्न सहसा उठ खडे होते हैं।

इस ग्रंथ की आचार्य भक्ति मे हर एक तीर्थंकर के गणधरो की संख्या दी गई है। पर यहा पर एक बात है कि इस आचार्य-भक्ति के अन्त

मे 'आचार्य-भक्ति कथिता जिनसेनार्यसम्मता' यो लिखा हुआ है। इसका तात्पर्य क्या यह भक्ति जिनसेनाचार्य की कृति के आधार पर रची गई है? निर्वाणभक्ति के अंत मे इस ग्रंथ मे श्री रामचन्द्र सम्मेदशिखर से मुक्ति पाने का (पृष्ठ ५३ पद्य १२) उल्लेख पाया जाता है। यद्यपि यह उल्लेख गुणभद्राचार्य के उत्तर पुराण (पर्व ६६, पद्य ७१६) के अनुकूल है। परन्तु निर्वाणकाण्ड के प्रतिकूल है। क्योकि उसमे कहा गया है कि रामचंद्र तुगीगिरि से मुक्त हुए हैं। इसकी चैत्यभक्ति मे पंचमदराद्रि, तीस कुलाद्रि, रौप्याचल, वक्षारशैल और नदीश्वर द्वीप आदि के अकृत्रिम जिनालयो का वर्णन करते हुए गेरूसोप्पे (भल्लातकीपुर) का श्री पार्श्वनाथ, हाडुहल्ली (सगीतपुर) का श्री चन्द्रप्रभ, भट्कल का श्रीपार्श्वनाथ, वंसुपुर (बसरूर) का श्रीआदिनाथ, वरागका श्री—नेमिनाथ, कारकल का बाहुबली या गोम्मटेश्वर, कनकाचल (मलेयूर) का श्री पार्श्वनाथ कोपण का सागरदत्तपूजित श्री चन्द्रप्रभ आदि कृत्रिम जिन मन्दिरो का भी वर्धमानजी ने उल्लेख किया हैं।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे जहा-तहा भद्रबाहु, कुंडकुन्द, समतभद्र, अकलंक, विद्यानंदि, मणिक्यनदि, प्रभाचन्द्र, पूज्यपाद, सिद्धातकीर्ति, वर्धमान, वासुपुज्य, श्रीपाल, पात्रकेसरी, नेमिचद्र, माघवचन्द्र, अभयचन्द्र, जयकीर्ति, जिनचन्द्र, इन्द्रनदि, वसतकीर्ति, विशालकीर्ति, शुभकीर्ति, पद्मनदि, माघनदि, जटासिहनदि, पद्मप्रभ, वसुनदि, मेघचद्र, वीरनदि, धनजय, वादिराज, धर्मभूषण, सिंहकीर्ति, मेरुनदि, वर्धमान, प्रभाचद्र, अमरकीति और विशालकीर्ति नामक जैन यतियो को, नंदिसंघ के आचार्यो मे से धरसेन, समतभद्र, आर्यसेन, अजितसेन, वीरसेन, जिनसेन वादिराज, गुणभद्र, लोकसेन, आशाधर, कमलभद्र, नरेन्द्रसेन, धर्मसेन, रविषेण, कनकसेन, दयापाल, रामसेन, माधवसेन, लक्ष्मीसेन, जयसेन, नागसेन, मतिसागर, रामसेन, और सोमसेन आदि आचार्यों को,

संगीतपुर को भट्टाकलंक की परंपरा मे कुंडकुंद, चारुकीर्ति, विजयकीर्ति, श्रुतकीर्ति, विजयकीर्ति, अकलंक, चन्द्रप्रभ, नेमिचन्द्र, भट्टाकलंक, विजयकीर्ति, पाल्यकीर्ति, चन्द्रमत्यायिका आदि व्यक्तियो को, कविभाललोचन निरुदाकित कन्नड कवि जनार्दन या जन्न के द्वारा स्तुत[1] का पूर्गण के मुनियो मे से जयसिहनदि, गुणचद्र, माधव चन्द्र, कनकचन्द्र, रामचन्द्र, जावलिगे मुनिचन्द्र, सकलचन्द्र, माधवचन्द्र, बालचन्द्र इनको; इसी परम्परा मे मुनिचन्द्र, सकलकीर्ति, देवकीर्ति, अनंतकीर्ति, कल्याणकीर्ति, चन्द्रकीर्ति इनको; नदिसघ के बलात्कारगण की गुर्वावली मे वर्धमान, पद्मनदि श्रीधरराय, देवचन्द्र, कनकचन्द्र, नयकीर्ति, रविचन्द्र श्रुतकीर्ति, वीरनदि, जिनचन्द्र, वर्धमान, श्रीधर, वासुपूज्य, उदयचन्द्र, कुमुदचन्द्र, माघनदि, वर्धमान माणिक्यनदि, गुणकीर्ति, गुणचन्द्र, अभयनदि, सकलचन्द्र, वर्धमान, गण्डविमुक्त, त्रिभुवनचन्द्र, चन्द्रकीर्ति, श्रुतकीर्ति, वर्धमान, त्रैविध वासुपूज्य, कुमुदचन्द्र, नेमिचन्द्र, भुवनचन्द्र, बालचन्द्र इनको; विद्वत्स्तोत्र मे कई विद्वानो को दानपूजागुणाढ्य श्रावक स्तुति मे तुलुदेश और कर्णाटक के अनेक श्रेष्ठियो को वर्धमानजी ने उल्लेख किया है।

इनमे निम्नलिखित कतिपय गुर्वावलियां इस प्रकार है।

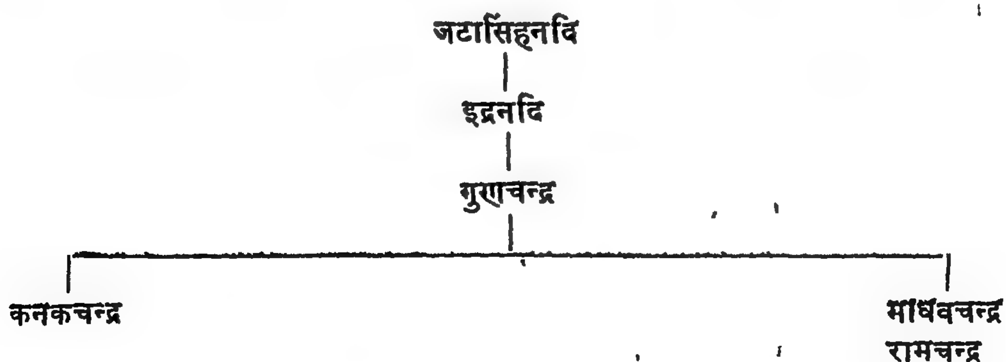
१, जन्न का कन्नड अनतनाथपुराण (आश्वास १, पद्य १८-३२)

(१) संगीतपुर या हाडुहल्लि के देशीगरण पुस्तकगच्छ की जैन गुर्वावली (पृष्ठ ४२३–४३७ और ४४१–४५५)[T]

कुंडकुंद
|
चारुकीर्तिपंडित
|
१ श्रुतकीर्ति
|
१ विजयकीर्ति
|
२ श्रुतकीर्ति
|
२ विजयकीर्ति
|
- ×पद्मप्रभ
- अकलंक
  - ३ विजयकीर्ति
  - ×विमलकीर्ति
  - ×पाल्यकीर्ति
  - ×चंद्रमत्यार्यिका
- चन्द्रप्रभ
  - ×नेमिचन्द्र

इनमे से अकलंक शालि. श. १४५७ जय स. । आश्वीज कृष्ण (बुधवार ई. सन्. १५३४ सितम्बर, ३० बुधवार के दिन स्वर्गवासी हुए । (पृष्ठ ४६३, पद्य २२), और चन्द्रप्रभ शालि. श. १४५५ नन्दन स० । मार्गशिर कृष्ण ७ बुधवार ई सन् १५३२ दिसम्बर २८ बुधवार के दिन दिवगत हुए । (पृष्ठ ४५२, पद्य २६)

(२) कवि जन्न के द्वारा स्तुत काणर्गणकी गुर्वावली* (पृष्ठ ४५५-४६६)



[T]'राष्ट्रबंधु युगादिय काणिके', १६२६ (पृष्ठ ४४-४५)

×इस चिह्नांकित नाम सिर्फ इस ग्रंथ में मिलते हैं बिलिगि कें शासनो में नहीं मिलते हैं ।

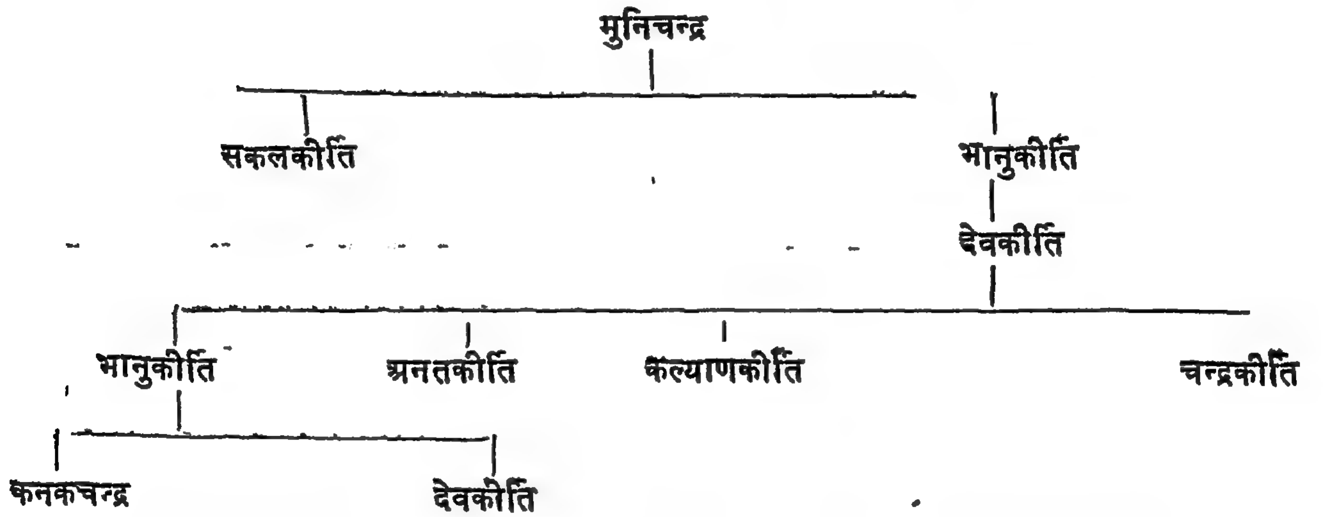
*कन्नड कवि जन्न का 'अनन्तनाथपुराण' आश्वास १, पद्य १७-३२)

यह रामचन्द्र जन्न के गुरु हैं।

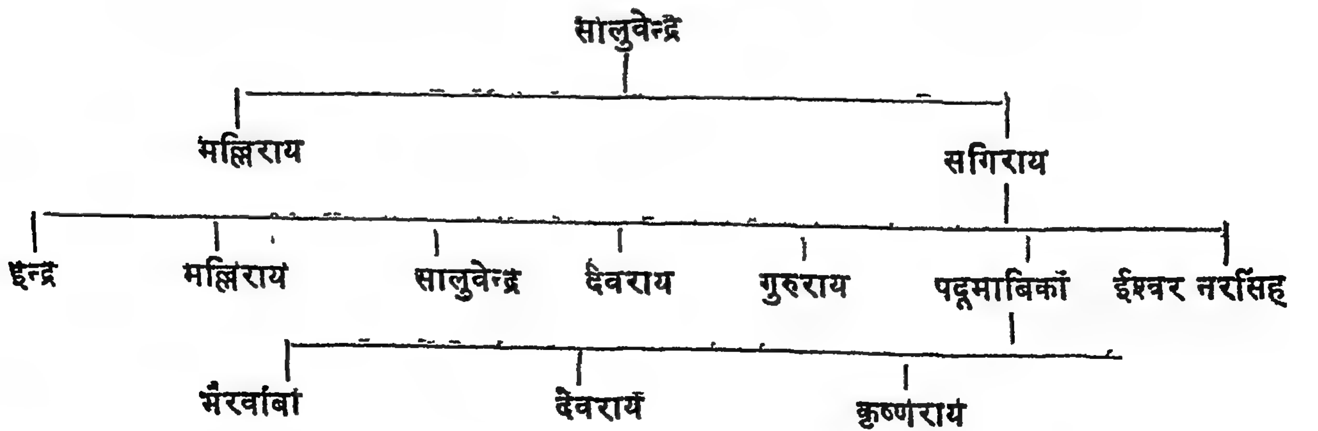
जावलिगे

मुनिचन्द्र
|
सकलचन्द्र
|
माघवचन्द्र
|
बालचन्द्र

लचन्द्र[१] जन्न की पत्नी लकुमादेवी के गुरु है। बालचन्द्र की परम्परा मे—

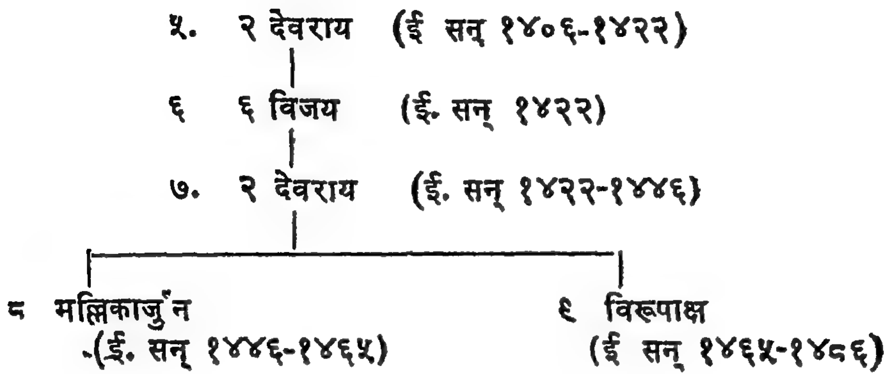


इस ग्रंथ मे उक्त संगीतपुर या हाडूहल्लि के राजाओ की वंशावलि इस प्रकार है—

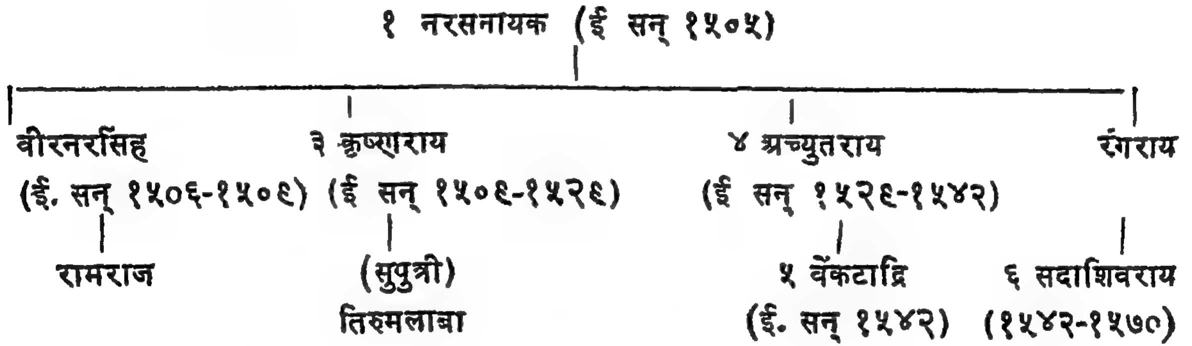


[१]आगे की परम्परा जन्न के ग्रंथ मे नही है।

विजयनगर के राजाओ मे संगमवश की वशावली इस प्रकार है—



अनतर के तुलुवश के राजाओ की वंशावली इस प्रकार हैं—



इस रामराज ने सदाशिवराय को विजयनगर के सिंहासन पर बैठाया। पृष्ठ ६०९-६११, पद्य २३-२७)

इस ग्रंथ मे मुनि वर्धमान जी ने विद्यानद की जो स्तुति की है, उन स्तुतिरूप कन्नड कद-पद्यो का अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) विद्यानन्दजी ने नजराय नगर के राजा नजदेव के आस्था मे मल्लिभट्ट को वाद मे जीता। (पद्य ४) यह नजदेव नज़राय नगर मे ई सन् १५०२ से १५३३ तक राज्य करने वाला चगाल्व वश का राजा है। पता नही है कि मल्लिभट्ट कौन है।

(२) विद्यानन्दजी ने श्रीरग नगर की विद्वत् सभा मे पेरगि मत अर्थात् ईसाई धर्म को परास्त कर, देवी शारदा को वश मे कर लिया था। (पद्य ५)। उस समय जेस्वित (Jeswits) दक्षिण भारत मे जहा-तहा ईसाई धर्म का प्रचार करते रहे। साथ ही साथ कतिपय राजसभाओ मे भी वे जाया करते थे।

(३) विद्यानंदजी ने केसरिविक्रम सालुवेन्द्र राजा के आस्थान मे साहित्य रचना की है (पद्य ६)। यह सालुवेन्द्र राजा, प्राय उपर्युक्त संगीतपुर के साल्व राजाओ की वंशावलि मे प्रतिपादित मल्लिराय का छोटा भाई एवं देवराय का बडा भाई है। इस राजा के आस्थान मे विद्यानन्द के द्वारा रचित साहित्य का पता नही लगता है।

(४) विद्यानन्दजी ने माल्व मल्लिराय की सभा मे शासनाधिकारियो के अतिरिक्त व्यक्तियो का मुह बद कर दिया था (पद्य ७)। यह साल्व मल्लिराय पूर्वोक्त सालुवेन्द्र का बडा भाई है।

(५) विद्यानन्दजी ने साल्व देवराय के आस्थान मे समस्त वादियो को परास्त किया था (पद्य ८)। यह साल्व देवराय उपर्युक्त मल्लिराय का छोटा भाई है।

(६) विद्यानन्दजी ने गुरुनृपाल के आस्थान मे कन्नड काव्य को रचकर यशस्वी हुए (पद्य ९)। यह गुरुनृपाल कौन है, मालूम नही होता है। साथ ही साथ विद्यानन्दजी का उस कन्नड काव्य का भी पता नही लगता।

(७) विद्यानन्दजी ने नगरी या नगिरे राज्य की राजसभाओ मे अपने वचन रूपी अमृत को वहा के विद्वानो को पिलाया (पद्य १०)। यहा पर वहा के राजाओ के नाम नही दिये गये हैं। पर शालि श. १४४२, ई सन् १५२० मे इम्मडि देवरस और शालि श १४५२ से १४७० तक ई. सन् १५३० १५४८ तक इम्मडि कृष्णदेवरस नगिरे राज्य मे शासन करते रहे।x

(८) विद्यानन्दजी ने बिलगि नरसिंह भूपाल के आस्थान मे जैन दर्शन को प्रकाशित किया (पद्य ११)। यह नरसिंह भूपाल बिलगि तिम्भरस ओडेय या तिम्भ भूपाल को अनुज एवं वीरेन्द्र या वीरप्पोडेय का पिता नरस अथवा नरसिंह भूपाल है।s

(९) विद्यानन्दजी ने कारकल के भैरव भूपाल के आस्थान मे जैन धर्म का उपदेश दिया (पद्य१२)। यह भैरव भूपाल ई सन् १५१६ से १५३० तक शासन करने वाला कलस-कारकल का राजा इम्मडि भैर रस ओडेय है।

(१०) विद्यानन्दजी ने विदिरे अर्थात् मूडुबिदिरे के भव्यजनो की सभा मे 'पदसिद्धातितमत' को प्रकट किया (पद्य १३)।*

(११) विद्यानन्दजी ने नरसिंह के सुपुत्र कृष्णराय की सभा मे परमत के वादि समूह को अपने वाग्बल से परास्त किया (पद्य १४)। मालूम होता है कि यह नरसिह का सुपुत्र कृष्णराय, विजयनगर के नरसनायक का पुत्र कृष्णराय है।

(१२) विद्यानन्दजी ने कोपण आदि जैन तीर्थ क्षेत्रो मे अपवर्ग के सुख के लिये अपरिमित द्रव्य व्यय किया (पद्य १४)।

(१३) विद्यानन्दजी ने श्रवणबेलगोल के गोम्मटेश्वर के चरणमूल मे जैन सघ को वस्त्र, आभूषण और सुवर्ण आदि की वृष्टि की (पद्य१६)।

x Annual Report on Kannada Research in Bombay Province for 1939-40 (p. 41).

s मंगलूर का 'राष्ट्रबंधु युगादि कारिणके' ई. सन् १९२९ (पृष्ठ ४२ और ४५)

* नगर नं ४६ के शासन मे।

(१४) विद्यानन्दजी गेरुसोप्पे मे योगागम मे आसक्त मुनिवृन्द की गणाग्रणी गुरु की तरह पालन करने के कार्य मे तत्पर हुए (पद्य १७)।

उपर्युक्त महत्वपूर्ण कार्यो को सपन्न करके विद्यानन्दजी (पृष्ठ ३१९, पद्य २२) शालि श. १४५३ शार्वरी संवत्सर, अर्थात् ई. सन् १५४० मे दिवंगत हुए।

इस ग्रथ के अन्त मे दिये गये (पृ ६११, पद्य३९) शार्दूलविक्रीडित वृत्त से यह ग्रथ शालि श १४६४, प्लव स.। (अभात) श्रावण कृष्ण अष्टमी (अर्थात् पूर्णिमात भाद्रपद कृष्ण अष्टमी) प्रभाकर अर्थात् आदित्यवार, ई. सन् १५४२, जुलाई १४ मे रचित सिद्ध होता है। परन्तु इसके पूर्व (पृष्ठ ६०९, पद्य २३) विजयनगर के कृष्णराय का भाजा रामराज ने सदाशिवराय को विजयनगर के सिंहासन पर बैठाने का उल्लेख इसमे किया गया है। सदाशिव-राय ई. सन् १५४२-४३ मे सिंहासन पर आरुढ होने के कारण यह उल्लेख इस ग्रथ रचना के द्वारा ग्रथ रचने के वाद किया गया होगा। इससे मालूम होता है कि यह ग्रंथ एक ही बार नही रचा गया है। इस बात को मैं ऊपर भी उल्लेख कर चुका हूं। यह ग्रथ अवश्य प्रकाशनीय है। प्रकाशको को इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये।



साधक

जीते क्रोध क्षमा से साधक
और मान को मार्दव से
माया को आर्जव से जीते
और लोभ को सन्तोष से।

अर्हत्

४३

पं० चैनसुखदास और 'भावना विवेक'

☐ पं० मिलापचन्द शास्त्री

श्रद्धेय प. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ का जीवन बाधाओ से परिपूर्ण था। शरीर से अपग वचपन मे ही माता पिता का वियोग, भाइयो की असमायिक मृत्यु तथा आर्थिक परिस्थिति के विषम होते हुए भी उन्होने इन अभाव अभियोगो का डट कर मुकाबला किया। वे जीवन पथपर हंसते हुए बढते रहे और जिस कार्य को भी उन्होने हाथ मे लिया उससे कभी पीछे नही हटे। कभी-कभी तो उन्हे प्रबल शक्तियो से भी जूझना पडता था। पर कर्त्तव्य के प्रति समर्पित होना सीख था व्यक्ति के प्रति नही। वास्तव मे महान आत्माए परिस्थितियो के प्रवाह मे न बह कर नवीन मार्ग का निर्माण किया करती हैं। जैसा कि एक डाक्टर ने कहा है —

है समय नदी की बाढ,
कि जिसमे सब बह जाया करते है,

लेकिन कुछ ऐसे होते हैं,
जो इतिहास बनाया करते है।

कविवर पं. चैनसुखदास उच्चकोटि के के साहित्यकार थे। उन्होने मौलिक संस्कृत साहित्य का निर्माण करके भारतीय साहित्य को पल्लवित और पुष्पित किया है। उनका प्राकृत तथा हिन्दी भाषा के साथ सस्कृत भाषा पर भी पूर्ण अधिकार था। सरल एव सुबोध सस्कृत मे कविता बनाने मे आप बडे कुशल और सिद्ध हस्त थे। उन्होने संस्कृत मे "जैनदर्शनसार, भावना विवेक, पावन प्रवाह एवं निक्षेप चक्र जैसे ग्रन्थो का निर्माण कर अपनी अद्भुत विद्वता का परिचय दिया है। इनमे से "जैनदर्शनसार" तो जैन दर्शन सम्बन्धी उच्चकोटि का ग्रंथ है। "पावन प्रवाह" भी उनकी एक अद्भुत आध्यात्मिक कृति है। कविवर की तीसरी स्वतन्त्र रचना "भावना विवेक" की समीक्षा पाठको के समक्ष प्रस्तुत है।

"भावना विवेक" दर्शन विशुद्धयादि सोलह कारण भावनाओ पर एक पद्यमय आध्यात्मिक रचना है। जैन धर्म मे इन भावनाओ का अत्यधिक महत्व है, क्योकि इनको भाए बिना कभी कोई तीर्थंकर नही बन सकता। सोलह कारण भावनाओ पर जैसा सर्वांगीण विशद विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ मे हुआ हैं वैसा अन्यत्र उपलब्ध नही होता। इन भावनाओ पर रइघू कवि की अपभ्रंश जयमाला अवश्य है और उसी जयमाला का विस्तृत स्पष्टी-

करण रत्नकरंड श्रावकाचार की हिन्दी टीका मे प. चैनसुखदासजी ने किया है, फिर भी उसमे विषय का सर्वांगीण वर्णन नही हो सका। उसमे तो मुख्यत इन भावनाओ की प्रशसा की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे विषय को विशद रूप से समझाने का प्रयास किया गया है और ग्रन्थकार किसी सीमा तक इसमे काफी सफल हुआ है।

जैनागम मे तीर्थंकर प्रकृति के कारण स्वरूप भावनाओ के अधिक से अधिक सोलह प्रकार सम्मत होने से प्रस्तुत पुस्तक सोलह अधिकारो मे विभक्त है। कुल श्लोक सख्या ३१० है।

प्रथम अधिकार मे ग्रन्थकार ने दर्शन विशुद्धि भावना को इतना खोलकर समझाया हैं कि वह पूर्ण पुस्तक का करीवन आधा कलेवर हो गया है, इसमे १३२ श्लोक हैं। सर्व प्रथम किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार न कर रत्नत्रय रूप शुद्ध भावो को ही नमस्कार का विषय बनाया है, क्योकि जीव की स्वतन्त्रता और परतन्त्रता के, बन्ध और मोक्ष के, सुख और दु ख के कारण उसके भाव ही है। "भावना भव नाशिनी" एव भावना भव वर्धिनी कहकर जैन धर्म ने परिणामो का वर्गीकरण किया है। मिथ्या दर्शन, ज्ञान चारित्र से वह परतन्त्र और दु ख का पात्र बनता है तो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप शुद्ध भावो से वह स्वतन्त्र एव सुखी होता है। वस्तुत जीव भावमय ही है तथा तीर्थंकर प्रकृति के कारण भूत सोलह भावनाए भी आत्म भावो को छोडकर और कुछ नही है। उस तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध ससार के प्राणियो के उद्धार करने रूप उपाय विचय नामक-धर्म ध्यान-से होना है और ऐसे भावो का चू कि केवली एव श्रुत केवली के पादमूल मे ही होना सम्भव है अत उन्ही के सानिध्य मे मात्र कर्मभूमि वाला मनुष्य ही इस प्रकृति के बन्ध का प्रारम्भ करता है। वह बन्ध क्षायिक, क्षायोपशमिक तथा पक्षयिक तीनो सम्यक्त्वो मे से किसी भी सम्यक्त्व मे हो सकता हैं। इन सोलह भावनाओ मे दर्शन विशुद्धि महान् है—वही सब भावनाओ का आधार हैं। आठ अग सहित एव पच्चीस दोष रहित सम्यग्दर्शन को दर्शनविशुद्ध कहा हैं। चू कि सम्यकत्व आत्मगुण हैं, वह बन्ध का कारण नही हो सकता, अत सम्यक्त्व के साथ रहने वाला शुभोपयोग ही तीर्थंकर प्रकृति का कारण है। वह बन्ध चौथे गुण स्थान से लेकर आठवें गुणस्थान के छठें भाग तक होता है।

सम्यग्दृष्टि की परिभाषा वतलाते हुए कवि ने कहा है कि जिसकी दृष्टि संसार प्रसिद्ध स्याद्वाद नामक श्रेष्ठ अजन से निर्मल हो गई है वही सम्यग् दृष्टि है। ससार के सपूर्ण पदार्थ अनेकान्तात्मक हैं। उनमे एक साथ परस्पर विरोधी अनेक धर्म उपलब्ध होते है। उन धर्मो का आपेक्षिक प्रतिपादन करना ही स्याद्वाद है। यह जैन दर्शन की अपनी विशेषता है। वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय अशान्ति का एकमात्र कारण आग्रह होता है। स्याद्वाद विशाल एवं उदार दृष्टि वाला है, अत विश्वशान्ति का यही एकमात्र कारण है।

आगे कविवर ने सम्यक्त्व के आठ अंग तथा सात भयो का विस्तृत स्वरूप समझाते हुए वतलाया है कि भय रहित होने से वास्तव मे सम्यग्दृष्टि ही सुखी है —

सद्दृष्टेस्तु विना भीति, यत्सुख शान्त चेतस
मिथ्यादृष्टेस्तु तत्सौख्यं, न कदापि भवेदिह।

अर्थात् सम्यग्दृष्टि दरिद्र भी हो तो वह अनन्त सम्पत्ति के स्वामी मिथ्या दृष्टि की अपेक्षा महा सुखी हैं। वह सम्यग्दर्शन सराग, वीतराग भेद से दो प्रकार का, वेदक–क्षायिक और क्षापोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का तथा आज्ञा मार्ग वगैरह

भेद से दश प्रकार का है। इन सबका विशद वर्णन ग्रन्थकार ने किया है।

उस सम्यकत्व को आठ अ ग सहित तथा २५ दोष रहित धारण करना चाहिए। सम्यकत्व के २५ दोष आठ अंगों के उल्टे आठ दोष तथा ८ मद, तीन मूढता और ६ अनायतन हैं। आत्मा मे धर्म का अकुर सम्यकत्व से ही उगता है; अतः सम्यग्दर्शन आत्मा का सबसे अधिक हितकारी है और मिथ्यात्व उसका बड़ा शत्रु है। अत' मिथ्यात्व को त्याग कर निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करने क' प्रयत्न दर्शन विशुद्धि भावना है।

२. विनय सम्पन्नता भावना

विनय शब्द का निरूक्ति सिद्ध अर्थ करते हुए दो तरह से अर्थ किया है। विनयतीति-अपनयनीति विनय अर्थात् जो बुरे कर्मों को दूर करता है उसे विनय कहते हैं। और दूसरा विनयत्ति–विशेषेण नयतीति–विनय. अर्थात् जो विशेष रूप से स्वर्ग मौक्षादि अभ्युदयो को प्राप्त करावे वह विनय है। विनय नम्रता को कहते है—उससे मुक्त जीव विनय सम्पन्न कहलाता है और उसके भाव को विनय सम्पन्नता कहते हैं। विनय की आराधना क्यो की जाय, बतलाते हुए कवि ने कहा है —

> विनयो मदमाहन्ति विनयेनाप्त भवन्ति सर्वगुण. ।
>
> विनयः शिक्षासार तत. समाराध्य इह विनय. ।

अर्थात् विनय के द्वारा अभिमान का नशा चूर-चूर हो जाता है तथा विनय के द्वारा ही सपूर्ण गुण प्राप्त हो सकते हैं एवं विनय के द्वारा ही शिक्षा की शोभा और प्रशंसा है। विनय हीन को दी गई शिक्षा मगलमय नहीं होती। विनय हीन तो जिनलिंग भी धारण करले तो वह मात्र आत्म विडम्बना का ही कारण होता है।

दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्र विनय तथा उपचार विनय के भेद से वह विनय चार प्रकार का है। सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाने के प्रयत्न को दर्शन विनय कहते हैं। सम्यग्यज्ञान को अष्ट अंग सहित धारण करने के प्रयत्न को ज्ञान विनय कहा जाता है। वे अ ग कालाचार, विनयाचार, उपधानाचार, बहुमानाचार, अनिह्नवाचार, व्यजनाचार अर्थाचार तथा उभयाचार है। चारित्र को निर्मल बनाने का प्रयत्न करना चारित्राचार है और वह अपनी प्रवृत्ति को सुधारने से ही सम्भव है। विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। पूज्य पुरुषो गुरुजनो का साक्षात्कार होने पर खड़ा होना, ऊंचा आसन देना, पीछे पीछे गमन करना नमस्कारादि करना-प्रत्यक्ष उपचार विनय है, गुरुजनो के परोक्ष होते हुए गुण स्तवन, जयघोष गुणचिंतन तथा नमस्कारादि करना परोक्ष उपचार विनय है। किन्ही-किन्ही ग्रंथो मे तप विनय को पाचवा भेद माना हैं। तपस्वियो की सेवा करना यथोचित सत्कार करना तप विनय है।

३. शीलव्रतेष्वनतिचार भावना

प्रायः करके इस भावना का अर्थ ब्रह्मचर्य व्रत को अतीचार रहित पालन करना किया है। पर इस ग्रंथ मे ग्रथकार ने अलग हष्टि अपनाई हैं। उन्होने तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो को शील माना है तथा व्रतेषु शब्द से अहिंसादि पाच व्रतो को ग्रहण कर बारह व्रतो को निरतिचार पालन करना इस भावना का अर्थ किया है।

४. अभीक्षण ज्ञानोपयोग भावना

निरन्तर ज्ञान प्राप्ति के लिए मनोयोग को प्रवृत्त करना अभीक्षण ज्ञानोपयोग है। ज्ञान आत्मा

का स्वभाव है और उसे प्राप्त कर ही आत्मा अपना उत्थान कर सकता है। ज्ञान के द्वारा ही वह हेया-हेय, कर्तव्याकर्त्तव्य तथा सत् असत् का निर्णय कर सकता है। ज्ञान के द्वारा ही उसे अपनी पहचान होती है। ज्ञान की अपार महिमा का दिग्दर्शन कराते हुए कवि ने क्या ही अच्छा कहा है—

ज्ञानादृते निवृत्तिरस्तिनैव
न लौकिकोत्थानमिद विनास्यात्
निरन्तराभ्यास वशात् ततोऽयम्,
ज्ञानोपयोग खलु वर्द्धनीय.

अर्थात् इह लौकिक तथा पारलौकिक उत्थान का यदि एक मात्र कोई साधन है तो वह ज्ञान ही है; क्योकि सासारिक जितने पद हैं वे सब ज्ञान के द्वारा अनायास प्राप्त हो जाते हैं, तथा मोक्ष प्राप्ति जो भेदज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होती है। वह भेद-अर्थात् स्वपर की पहिचान ज्ञान द्वारा ही सभव होती है अत कल्याण चाहने वालो को निरन्तर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करते रहना चाहिए।

५ संवेग भावना

संसार दु,खो का घर है। वे दु'ख शारीरिक और मानसिक दो कोटि मे विभाजित किए जा सकते हैं। इन दोनो प्रकार के दु खो से नित्य डरते रहना सवेग कहलाता है। जब प्राणी दु खो से भयभीत होगा। तो उन दु खो को उत्पन्न करने वाले विचारो तथा कार्यो से बचेगा और आत्मोत्थान की ओर प्रवृत्त हो सकेगा। ग्र थकार ने दु खो से डरते रहने की प्रशसा करते हुए कहा है—

वियोग सयोग परपरात्र
ददाति दुःख बहुशोकजेस्य
किञ्चिन्न नित्य खलु विद्यतेऽत्र
अस्माद्धि भीरुत्वमत प्रशस्तम्

संसार मे सयोग और वियोग की परम्परा अनादि काल से चली आई है। यह प्राणी मोहमत्त होकर सयोग और वियोग मे सुख दु ख की कल्पना कर दुखी होता है। वास्तव मे तत्त्वज्ञानी तो न सयोग मे आनन्द मनाता हैं और न वियोग मे दु ख क्योकि वह जानता है कि ये दोनो ही नश्वर हैं। साधारण प्राणी यह नही सोच पाता और इसीलिए निरन्तर दु खी रहता है। समझदार लोगो का कर्त्तव्य है कि इन सासारिक दु खो से डरकर ससार मे पतन कराने वाले पाप और विषयो से मुक्त होकर आत्मोत्थान मे प्रवृत्त होवे।

६ शक्तितस्त्याग भावना

अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार पदार्थो को छोडने का अभ्यास करना शक्तितस्त्याग भावना है। शक्ति का अर्थ है न तो सामर्थ्य को छिपाकर और न शक्ति का अतिक्रमण करके। प्राय' लोग दान के सम्बन्ध मे अपनी शक्ति का खयाल नही करते।

उस दान के आहार दान, औषधिदान, अभय दान और ज्ञानदान इस तरह चार भेद किए हैं। कोई कोई आचार्य आहार दान और औषधि दान को एक मानकर तीन भेद भी करते हैं। यो तो चारो दानो की ही अपनी जगह प्रमुखता हैं पर जितना महत्त्व ज्ञानदान को दिया जा सकता है उतना औरो को नही। शेष तीनो दान कुछ समय के लिए शारीरिक बाधा शान्त करने वाले है वहा ज्ञानदान सदा के लिए जीव को निर्भय और आत्म स्थित करता है—आत्मा का सर्वतोमुखी विकास करता है। ज्ञान की अपूर्व महिमा बतलाते हुए कहा है।

ज्ञानेन सर्वह्यु पभोग योग्यम्,
सप्राप्यते वस्तु बिना श्रमेण

ज्ञानेन संसार सुखापवर्गो,
ज्ञान पर मगलमस्ति लोके ।

अर्थात् अज्ञानी को जो पदार्थ बहुत परिश्रम द्वारा भी प्राप्त नही होते वे ज्ञानी को विना परिश्रम के प्राप्त हो जाते हैं । ज्ञान के द्वारा जहाँ सासारिक सुख सुलभ हैं वहा अविनाशी मोक्ष सुख भी । ज्ञान की सामर्थ्य से नहीं समझ मे आनेवाली बात भी सहज समझ मे आजाती है और जो चीजें अदृश्य हैं वे सब ज्ञान चक्षु के द्वारा हेय हो जाती हैं । आत्म दर्शन ज्ञान के द्वारा ही सभव है ।

७ शक्तितस्तप भावना

तप का विश्लेषण करते हुए ग्रन्थकार ने दो लक्षण प्रतिपादित किए हैं । कर्मों का नाश करने के लिए जो कसकर साधना की जाती है वह तप है, अथवा वाछा पिशाचिनी का विरोध करना–मन वचन काय पर पूर्ण नियंत्रण करना तप है । मूल तप के दो भेद किए हैं—बाह्य तथा अन्तरग । अनशन वगैरह बाह्य तप यदि आत्मा के उत्थान मे सहायक हो तभी वे तप कहलाने के अधिकारी है । उनके द्वारा चित्तवृत्तियो पर अंकुश लगना चाहिए, ध्यान की स्थिरता मे वे सहायक बने—तभी उनकी सार्थकता बतलाते हुए ग्रन्थाकार ने कहा है—

तपो ति तपनादुक्त मानसेन्द्रिययो स्तथा,
चित्त शुद्धि बिना योक्त, मुधा सर्व तपो यत ।

अर्थात् मन और इन्द्रियो को तपाने से तप होता है । जव चित्तवृत्ति शुद्ध नही हुई तब तप का क्या प्रयोजन । अत. जो आत्मा को ध्यान की ओर अग्रसर करे वही बाह्य तप है ।

८ साधु समाधि भावना

साधु किसे कहा जाय बतलाते हुए कवि ने कहा है :—

साध्नोतिय' स्वस्य परस्य कार्यं

लोकोत्तरं त' खलु वच्मि साधु । अर्थात् जो अपने तथा परके आत्मा के उत्थान का कार्य सम्पादन करता है वही साधु कहलाने का अधिकारी है समाधि का अर्थ है–समर्थन करना अर्थात् उनको अपने कार्य मे संलग्न रखना । चूंकि योगियो के द्वारा ही संसार का कल्याण होता है अत उन योगियो के तपस्या मे विघ्न उपस्थित हो जाने पर उसे यथोचित उपायो से दूर करना साधु समाधि है । जिस तरह जिस मकान मे कीमती वस्तुएं रखी होती है उसकी सर्व प्रथम रक्षा करना दायित्व होता है उसी प्रकार साधु भी रत्नत्रय का धारी होता है, अत उसको उपसर्गों से बचाया जाना अत्यावश्यक है ।

साधु की महिमा अपरम्पार है । परोपकार ही उसका धन है । वे नि स्वार्थ जगत के जीवो के हित की कामना करते है । वे राजा तथा रंक को समान दृष्टि से देखते हैं । सच्चे साधु की उपस्थिति मे न तो कोई उपद्रव होता है और न अराजकता । सारे ऐहिक तथा पारलौकिक सुख साधु समागम से अनायास प्राप्त हो जाते हैं । साधु की वाणी मे वह जादू होता है कि वह पतित तथा पथभ्रष्ट लोगो को क्षण मे सन्मार्ग पर लगा देता है । सैकडो वर्षों के मनमुटाव तथा झगडे उनकी वाणी से शान्त हो जाते है । भव्य जीव उनका ससर्ग पाकर किस तरह पवित्र हो जाते हैं कवि ने कहा है :—

अभ्यन्तर यस्य महापवित्र,
बाह्य तथा पूतत्तमं महर्षे
सयोगतस्तस्य कथ न लोका',
स्वय पवित्रा ह्रि भवन्ति भव्या. ।

अर्थात् जो साधु भीतर बाहर एक हैं, जिनकी कथनी करनी में कोई अन्तर नही है। उनकी सगति से भव्य जीवो का उद्धार तो हो जाता है। वे अपना भी आध्यात्मिक उत्थान करते हैं तो ससर्ग मे आने वालो का भी। वे जगत मे एक अलौकिक प्रकाश फैलाते हैं। ऐसे निज पर का उद्धार भी कामना करने वाले साधुओ पर आए हुए उपसर्गों को दूर करना साधु समाधि है।

६. वैयावृत्य भावना

वैयावृत्य का अर्थ प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थ कार ने कहा है कि व्यपनोद, व्यावृत्ति तथा वैयावृत्ति ये सब पर्यायवाची शब्द हैं— जिनका अर्थ है दूर करना हटाना अर्थात् दु खो को दूर करना। साधु तथा श्रावकादि के शारीरिक रोग तथा अन्य प्रकार दु ख आजाने पर उनको उचित अहिंसक उपायो से दूर करना वैयावृत्य कहलाता है। धर्मात्मा लोगो की सेवा टहल वन्दगी करके ही धर्म की रक्षा की जा सकती है क्योकि "न धर्मो धार्मिकै बिना"। विपत्ति आने पर महान से महान व्यक्ति धर्म से चलायमान होने लगता है। उस समय यदि सेवा करने वाला हो तो परिणामो के विगडने मे देर नही लगती। अत आपत्ति आने पर दु खी जीवो की सेवा सुश्रुषा करना परमावश्यक है जिसकी भावना साधुओ की सेवा करने की होती है उसे ही साधुओ का समागम होता है तथा उनकी सेवा का अवसर प्राप्त होना तो महान् पुण्य से ही संभव है।

श्रावक ही साधु का वैयावृत्य करें—यह नियम नही साधु भी परस्पर एक दूसरे की सेवा करते हैं और तभी सघ की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती है। साधु सेवा से महान् लाभ होता है। लोक मे भी कहावत है "करोगे सेवा पावोगे फल मेवा" कवि साधु सेवा का फल बतलाते हुए कहता है.—

संचारो हि गुणाना, वैयावृत्यादशसयं भवति।

अर्थात् साधुओ की सेवा से मनुष्य मे साधु के गुणो का संचार हुए बिना नही रहता। गुणो की प्राप्ति करना प्रत्येक मनुष्य का ध्येय होता है और वह जब साधु सेवा से सुलभ हो तो क्यो नही हम अपने नाशमान् शरीर द्वारा साधुओ की सेवा कर गुणो की प्राप्ति से लाभान्वित हो।

१० अर्हद् भक्ति भावना

जो चार घातिया कर्मों के नाश कर देने केकारण पूजनीय है—ऐसे तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान वर्ती जीव को अर्हन्त कहा जाता है। वे ही द्वादशाग के प्रवर्तक होते हैं ऐसे वे अर्हन्त भगवान ससार मे अधिक से अधिक कुछ कम एक करोड पूर्व तक रहते हैं।

वैसे आठ कर्मो का नाश करने के कारण सिद्ध अर्हन्तो से उत्कृष्ट हैं, अत नमस्कार मन्त्र मे पहले उन्हें नमस्कार किया जाना चाहिए था, परन्तु अर्हन्त ही धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करते हैं—अत वे सर्वप्रथम पूजनीय हैं। वे अर्हन्त सात प्रकार के हैं—पाच कल्याणधारी, तीन कल्याणधारी, दो कल्याण धारी, सातिशय केवली, सामान्य केवली, उपसर्ग केवली तथा अन्त कृत केवली। जिन्होने पहले जन्म मे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया हो वे पच कल्याणधारी तीर्थंकर होते हैं। जिन्होंने उसी भव मे गृहस्थ अवस्था मे बन्ध किया हो वे तीन कल्याण धारी तथा मुनि दीक्षा के पश्चात् बन्ध किया हो तो दो कल्याणधारी तीर्थंकर होते हैं। तीन तथा दो कल्याणधारी विदेह क्षेत्र मे ही होते हैं। अर्हन्तो के जो ४६ गुण बतलाये हैं वे पच कल्याणधारी के

ही होते है। तीन तथा दो कल्याण वालो के जन्म से १० अतिशय नही होने से ३६ ही होते है।

सातो प्रकार के अर्हन्तो की जो भक्ति की जाती है वह अर्हद् भक्ति कहलाती है। भक्ति क्यो की जाय उसका स्वरूप क्या हो—वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

पूज्याना गुण वृन्देष्वनुरागो भक्तिरूच्यते,
गुणलब्ध्यर्थमेवेय, क्रियते नान्यहेतुत.।

अर्थात् पूज्य महापुरुषो के गुणो मे अनुराग करना भक्ति है और वह उन गुणो की प्राप्ति के लिए ही की जाती है। गुणो के प्राप्त करने का प्रयत्न करना ही भक्ति है। पूज्य पुरुषो के मात्र शरीर का दर्शन या पूजन कर लेना भक्ति नही कहला सकती। भक्ति तभी सार्थक होती है जब पूज्य पुरुषो के समान पूजक बनता है।

जीवन मे आए नही सत्य और ईमान
तब आया किस काम मे, ईश्वर का गुणगान।

भगवान को जो पतितोद्धारक, तारण तरण, अधम उद्धारक कहा जाता है वह उपचार से है—वास्तव मे नही, क्योकि जिनेन्द्र भगवान वीतराग होते है। वे दूसरो के उद्धार की चिन्ता क्यो करेगे। उन्हे ससार के जीवो से क्या लेना देना है, अत भक्ति को जो ससार के सपूर्ण सुखो का कारण वतलाया है—वह इसी अर्थ मे है कि भगवान की निष्कपट भक्ति करने से प्राणी के विचार शुभ बनते हैं और उन शुभ भावो से पुण्य का आश्रय होता है और उससे स्वत सासारिक विभूतिया प्राप्त हो जाती है। भक्ति का साफल्य तभी है जव उपासना से आत्मा पवित्र बने और एक दिन वह नर से नारायण हो जाय।

११ आचार्य भक्ति भावना

सर्वप्रथम कवि ने आचार्य का लक्षण वतलाते हुए कहा है.—

पंचाचारान् महोत्कृष्टानाचरन्तो मनीषिण
आचारयन्त सघस्थान् आचार्या इह विश्रुता

जैन सिद्धान्त मे आचार पाच माने गए हैं—दर्शनाचार ज्ञानाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। जीवादि तत्वो की दृढ श्रद्धान परिणति दर्शनाचार है-इन्ही जीवो की ज्ञान रूप प्रवृत्ति ज्ञानाचार है। पापो के अभाव रूप प्रवृत्ति चरित्राचार है। अन्तरग तथा बाह्य तपो मे प्रवृत्ति तपाचार है तो आत्मोत्थान के कार्यों मे अपनी शक्ति को न छिपाने रूप प्रवृत्ति वीर्याचार है। इन पाच उत्कृष्ट आचारो का जो स्वयं आचरण करते है तथा संघस्थ साधुओ को आचरण कराते हैं वे आचार्य कहलाते हैं। 'परोपदेश पाडित्य'' सब के लिए आसान है पर स्वयं को आचारवान् बनाना बडा कठिन होता है।

यद्यपि आचार्यों के १२ तप १० धर्म, छ आवश्यक, पचाचार ३ गुप्ति ये ३६ गुण माने गये हैं; पर यह उनका लक्षण नही बन सकता, क्योकि वे गुण अन्य साधुओ मे भी पाए जाते हैं। आचार्यत्व की परिभाषा करते हुए कवि ने कहा है।—

नगाधीशा यथा लोके, प्रजाना शासका मता.
सयताना तथाचार्या., दण्डादिविधिशासने।

उनके आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान् प्रकर्त्ता अपायोपय विदर्शी, अवधीद्रक, अपरिभाषी और निर्यापक ये आठ गुण हैं। इन गुणो के द्वारा सघ की व्यवस्था सुचारू रूप से चलती है। ऐसे आचार्यों के गुणो मे अनुराग करना आचार्य भक्ति हैं।

१२ बहुश्रुत भक्ति भावना

बहुश्रुत शब्द उपाध्यायो के लिए रूढ हैं। वैसे आचार्य एवं साधु भी बहुश्रुत होते या हो सकते है पर समभिरूढ नय की अपेक्षा बहुश्रुत नाम से उपाध्यायो का ही ग्रहण होता है। वे व्दादशाग वाणी के ज्ञाता होने से या अधिक ज्ञानी होने के कारण बहुश्रुत कहलाते हैं। वे ११ अग तथा १४ पूर्वों का स्वयं पाठ करते हैं एव संघस्थ मुनियो को पढाते हैं, अत उन्हे पाठक भी कहा जाता है। उपाध्याय शब्द का निरुक्तिसिद्ध अर्थ "उपेत्याधीयते यस्मात् सोपाध्यायो गुरुर्मत" अर्थात् जिसके पास बैठकर पढा जाय वह उपाध्याय कहा जाता है और वह सघस्थ साधुओ का विद्या-गुरू होता है। आचार्य और उपाध्याय मे से आचार्य आदेश और उपदेश दोनो के अधिकारी है वहा उपाध्याय मात्र उपदेश देने के। सघ की शासन व्यवस्था आचार्यों के जिसे होती है तो पठन पाठन की व्यवस्था उपाध्याय के।

आचार्य, उपाध्याय एव साधु ये तीनो ही पद करणानुयोग एव चरणानुयोग दोनो की अपेक्षा से माने गए हैं। पर करणानुयोग की अपेक्षा कौन द्रव्य लिंगी हैं और कौन भाव लिंगी यह छद्मस्थ नही जान सकता। वह तो वाह्य चारित्र को देखकर ही पात्रापात्र की पहिचान करता है। वाह्य मे जिनका आचरण शुद्ध है ऐसे उपाध्यायो की भक्ति पूजास्तुति आदि करना वहुश्रुत भक्ति कहलाती है जो कि स्वर्ग मोक्ष प्रदान करने वाली कही जाती है। कहावत प्रसिद्ध है कि "गुरूविन कौन वतावे वात" और बिनामार्ग जाने मोक्ष नही अत ऐसे गुरूओ की भक्ति करना परमावश्यक है।

१३ प्रवचन भक्ति भावना

सर्वोत्कृष्ट वचन को प्रवचन कहा जाता है और वह जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा हुआ वचन ही हो सकता है। ग्रन्थाकार ने इसके दो कारण प्रस्तुत किए हैं। पहला यह कि —

तीर्थत्वात्तद वच प्रोक्तं, प्रकृष्टं हि गणाधिपैः।
भवाम्भोनिधितोभव्यान्, तारयत्याशु तज्जनान्।

अर्थात् गणधरो ने जिनेन्द्र भगवान की वाणी को प्रकृष्ट इसीलिए कहा है कि वह तीर्थ रूप हैं। वह भव्य जीवो को ससार सागर से पार उतार देने वाला है क्योकि वह एक श्रेष्ठ और सत्य मार्ग है—वहा असत्य का प्रवेश नही।

१४ आवश्यकापरिहाणि भावना

जो क्रियाएं प्रतिदिन करने की है उनको कभी न छोडना निरन्तर करते रहना आवश्यका परिहाणि भावना है। वे क्रियाए मुनि और श्रावक के भेद से दो प्रकार की है। आचार्यों ने साधु तथा श्रावक के छह छह आवश्यक प्ररूपित किए है। सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये साधु के छह आवश्यक है। सासारिक सभी पाप सामग्रियो से विरक्त होना सामायिक है। तीर्थंकर भगवान के गुणो का वर्णन करना स्तवन है। त्रिशुद्धि, दो आसन, चार शिरोनति तथा बारह आवर्त जिसमे किए जाय वह वन्दना है। भूतकाल मे किए गए पापो की निंदा करना प्रतिक्रमण है। भविष्यत् काल मे लगाने वाले दोषो का त्याग करना प्रत्याख्यान हैं। नियमित समय तक शरीर से महत्त्व न रखना कायोत्सर्ग कहलाता है। कुछ आचार्यों ने इस के स्थान पर स्वाध्याय को छटा आवश्यक माना है। श्रावक के छह आवश्यक देवपूजा, गुरूसेवा, स्वाध्याय, सयम तप और त्याग वतलाए गए है। भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करना—देवपूजा है। निग्रन्थ गुरू की सेवा करना गुरूसेवा है। आत्मोत्थान करने वाले शास्त्रो का पढना-स्वाध्याय है। इन्द्रिय और मन

को वश मे रखना तथा छह काय के जीवो की रक्षा करना संयम है। इच्छाओ पर नियंत्रण करना तप है एव शक्ति के अनुसार चार प्रकार का दान देना—दान कहलाता है मुनि और श्रावक को अपने अपने कर्तव्यो का प्रतिदिन पालन करना चाहिए अन्यथा वे मुनि और श्रावक कहलाने के पात्र नही।

१५ मार्ग प्रभावना भावना

प्रभावना का विश्लेषण करते हुए कवि ने कहा है —

मिथ्यामार्ग तिरस्कार, क्षमया विद्यया तथा
सद्धर्मद्योतन मार्ग, प्रभावनमिहोच्यते।

समीचीन धर्म का प्रकाश पाखड का खंडन करने से होता है अत सम्यग्ज्ञान के प्रकाश के द्वारा सत्य धर्म को प्रकट करना प्रभावना है। जो गन्तव्य स्थान मोक्ष को प्राप्त करावे वह मार्ग कहा जाता है और वह मार्ग जैन धर्म ही हो सकता है, क्योकि वह इह लोक और परलोक दोनो का कल्याणकारी है। प्रभावना कहा से चालू हो बतलाते हुए कवि ने कहा है

निजात्मा सर्वत पूर्वं, रत्नत्रयतेजसा
प्रभावनीयो लोकस्तु तपोज्ञानार्चनादिभि।

आगे कवि ने यह बताया है कि यह प्रभावना देश काल के अनुसार होनी चाहिए। कहा किस समय किस कार्य के करने से धर्म की प्रभावना होगी यह धर्म प्रभावक को अवश्य देखना चाहिए और तदनुकूल ही प्रवृति करना चाहिए। यदि वह परम्परा से जकडा रहा—रूढियो से ग्रस्त रहा तो वह कभी भी धर्म की प्रभावना नही कर सकता।

१६ प्रवचन वत्सलत्व भावना

प्रवचन वत्सलत्व भावना का लक्षण करते हुए कवि ने कहा है :—

स्यात्सधर्मी प्रवचन, वात्सल्य तत्र यद्भवेत्
धेनोर्वत्सेव तत्प्रोक्त, वात्सल्य परम खलु।

जिस प्रकार गाय अपने बच्चे से नि स्वार्थ प्रेम करती है—उसकी रक्षा के लिए वह शेर का भी मुकाबला करने पर कटिबद्ध हो जाती है उसी प्रकार समान धर्म के मानने वाले साधर्मी मनुष्यो से निष्कपट-बिना प्रति फल की वाछा के प्रेम करना प्रवचन वात्सल्य है। आचार्यों ने पन्द्रहवी भावना मे बताया कि ससार को जैन धर्म का सन्देश सुनाओ, अर्थात् ससार को जैनी बनाओ, पर यदि हमने उनके साथ वात्सल्य, सहानुभूति, प्रेम का व्यवहार नही किया तो क्या यह सम्भव है कि वे जैन बने रहे। वात्सल्य ही एक ऐसा गुण है कि जो उन्हे धर्म पर टिकाए रख सकता है। कवि ने वात्सल्य की महिमा कर गुणानुवाद करते हुए कहा है —

वत्सलत्वेन चैतेन, धर्मवृद्धि प्रजायते,
मिथ स्नेहाभिवृद्धिश्च, सधर्मजनतासुच।

अर्थात् धार्मिक जनो मे परस्पर प्रेम सचार से धर्म की वृद्धि होती है। आपस मे स्नेह सहानुभूति बढती है। उससे सगठन बढता है। ससार मे सगठन के द्वारा ही असभव कार्य भी सभव हो जाते है। प्रवचन वत्सलत्व के द्वारा वह सगठन अनायास सुदृढ होता है अत प्रवचन वात्सल्य को अपनाना महान् कार्यकारी है।

इस तरह ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ मे सरल एवं सुबोध सस्कृत मे सोलह कारण भावनाओ का सागोपाग एवं सविस्तृत वर्णन कर एक बहुत बडी कमी की पूर्ति की है। ग्रन्थ की प्रस्तुत समीक्षा मात्र बानगी है। पूरा आनन्द तो ग्रन्थ के आद्योपान्त स्वाध्याय से ही प्राप्त होना सभव है। यह ग्रन्थ पवित्र भावनाओ से ओतप्रोत है इसे एकाग्रचित्त होकर पढने से आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त होता है।



हिन्दी जैन काव्य में दार्शनिक शब्दावली

□कु० अरुणलता जैन, एम ए शोध छात्रा (कायमगंज)

किसी भी काव्य की विशिष्टता जानने के लिए उसके मूल मे निहित उस भावना का अवलोकन करना आवश्यक है जिससे प्रेरित होकर काव्य लिखा जाता है इसीलिये हिन्दी जैन काव्य मे दार्शनिक शब्दो का महत्त्व जानने से पूर्व हमे जैन दर्शन को समझना होगा जिससे अनुप्राणित हो काव्य रचना की जाती रही।

वस्तुत, दर्शन का क्षेत्र सत्य की खोज है। इसकी खोज मे मानव मस्तिष्क चिरकाल से लगा रहा है। वास्तविक सत्य की खोज मे दो प्रमुख विचार हैं। एक विचारधारा के अनुसार सत्य आत्मा है जो परम है। 'प्रवचन सार' मे वृन्दावन लाल ने आत्मा का स्वरूप इस प्रकार दर्शाया है।

"जामे मोह क्षोभ नही व्यापत,
चिद्विलास दुति वृन्द गहै।
सो परिनाम सहित आतम को
ज्ञान नाम अभिराम अहै।

दूसरी विचार धारा के अनुसार वास्तविक सत्य पदार्थ हैं जो इन्द्रिय जन्य है और जिसका विभिन्न दृष्टिगोचर रूप सृष्टि है। जैन दर्शन मे इन्हे निश्चयनय तथा व्यवहार नय के रूप मे सम्बोधित किया है। वनारसीदास जी ने लिखा है

"निहचे मे एक रूप, विवहार मे अनेक।
याही के विरोध मे जगत भरमायो है।।"

मानव जीवन और दर्शन का घनिष्ट सम्बन्ध है। दर्शन जीवन को गति देता है। उसकी धारा और प्रवाह को निश्चित करता है। मानव उसी को अपना जीवन आधार बना कर अपनी जीवन क्रिया सम्पन्न करता है। मानव जीवन मे उसके दर्शन का अनुमान कर सकते है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने 'स्व' के विकास के साथ साथ उसके जीवन के प्रति एक विचार धारा बन जाती है वही उसका दर्शन है। उसके विचारो, उसकी रचनाओ तथा प्रतिक्रियाओ मे उसका दर्शन झलकता है। साहित्य प्रेमियो को किसी भी साहित्य विशेष पढने से उसके रचयिता के जीवन-दर्शन की झलक मिल जाती है।

साहित्य अपनी सीमाओ के भीतर अध्यात्म के जिस रूप को विकसित करता है वह अध्यात्म का भाव पक्ष है। इस भावात्मक रूप की उपलब्धि के लिए व्यक्ति को अन्तमुर्खी होना पडता है। और व्यक्ति जब अन्तर्मुखी होता है तो वह अपनी प्रतिभा और प्रकृति के अनुरूप या तो श्रद्धा के माध्यम से आत्मा को पाता है या विवेक से। इस प्रकार अध्यात्म के दो रूप हो जाते हैं—भक्ति का

दूसरा ज्ञान का। श्रद्धा भक्ति मानव के विकास मार्ग की पहली मंजिल है ज्ञान दूसरी और विवेक पूर्ण आचरण की तीसरी मन्जिल है। श्रद्धा, ज्ञान, आचरण के सम्यक समन्वय का ही नाम मोक्ष है। भैया भगवतीदास ने द्रव्य सग्रह मे लिखा है—

"सम्यक् दरस प्रमाण, ज्ञान पुनि सम्यक् सोहै।
अरु सम्यक् चारित्र त्रिविधि कारण शिव जोहे।।

जैन काव्य पर दृष्टिपात करने से विदित हो जाता है कि वह धर्म तथा अध्यात्म प्रधान है। जैन कवियो पर जैन दर्शन का पूर्ण प्रभाव पडा और उन्होने शान्त रस मे आप्लावित हो जिस काव्य की रचना की तथा जैन दर्शन के जिन गहन तत्वो का विश्लेषण किया वह उनके जैन सिद्धांत विषयक गभीर ज्ञान का स्पष्टीकरण है। जैन कवियो की रचनाए किसी न किसी रूप मे अध्यात्म विषयों से ओत-प्रोत है। ऐसा लगता है मानो आत्मा परमात्मा के गुण गान मे कवि ऐसे सने हुए है कि उसका प्रत्येक शब्द अध्यात्म की छाया लेकर निकलता है।

"ऐसा योगी क्यो न अभय पद पावै।"

जैन साहित्य मे अध्यात्म का भक्ति मूलक भाव-पक्ष आदि काल से लेकर अब तक जिन रूपो मे हुआ हैं वे हैं—स्तोत्र, रासा, स्तवन, स्तुति पद भजन आदि। हिन्दी जैन कवियो के जो मधुरपद अब तक प्रकाशित हुए है उनमे भक्ति तथा ससार की नश्वरता का बडा सुन्दर चित्र उपस्थित हुआ है। इनमे भक्ति का जो रूप उभरा हैं उनमे आत्म निवेदन, विनीत भाव से किया गया है जिसका लक्ष्य, अष्टकर्मो को क्षय कर आवागमन के बन्धनो से मुक्ति पाना है। 'जैन रामायण' ग्रन्थ मे प. कस्तूरचन्द्र नायक ने लिखा है—

"जैन दिगम्बर मुनि यथा, करकें निर्मल ध्यान।
अष्टकर्म को छेद कर, पाते है निर्वाण।।"

जैन दार्शनिको ने मानवीय जीव के आध्यात्मिक और लौकिक या निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दो पक्ष खडे किए है। लौकिक पक्ष का लक्ष्य अभ्युदय और अध्यात्मिक पक्ष का निश्रेयस है। जहाँ इनका जन्म होता है वही धर्म है तथा लोक कल्याण हैं। इसी आशय को सम्मुख रख कर धर्म सर्वस्व की परिभाषा यह की गई है कि जो अपने को बुरा लगता हैं वह आचरण दूसरे के साथ न करे। भ० महावीर की वाणी थी "जियो और जीने दो" जिसका आधार अहिंसा है। यह सदेश जैन साहि- मे सर्वत्र विखरा पडा है।

जैन दर्शन जीव अजीव तत्व को स्वीकार करता है—यथा—

"जैसे-जल कर्दम कुतक फल भिन्न करै।
वैसे जीव अजीव विलछन करतु हैं।"

जिसके आधार तत्व अध्यात्म भावना, अहिंसा, अनेकान्त, तप, ज्ञान, कर्म तप, संयम आदि पर विशेष बल दिया गया है। वैदिक काल तक भारतीय भोजन मे मास चलता था। यज्ञो मे पशु वाधने के लिए यूपो की चर्चा मिलती है। यज्ञ शेष का भक्षण आदि का उल्लेख मिलता है जिससे स्पष्ट हैं कि वैदिक काल से स्मृति काल तक मानव मास भक्षी था किन्तु जैन की धार्मिक क्राति का वैदिक धर्म पर भी प्रभाव पडा और भारतीय धार्मिक आचार्यों ने जैन धर्म का सबसे महत्वपूर्ण दार्शनिक शब्द अहिंसा मे अध्यात्मिकता का पूर्ण समर्थन पा उसे अपने धर्म का अविभाज्य अंग वना लिया। जैन दर्शन मे अहिंसा के दो पक्ष हैं— विचार की अहिंसा और आचार की अहिंसा। प्रथम विचारो का क्षेत्र स्पष्ट [illegible] होता

चाहिये तभी आचार विशुद्ध हो सकेगा। विचारो मे तो कूडाकरकट भरा हो और जीवन व्यवहार मे निस्तेज अहिंसा का दिखावा करें तो यह अहिंसा का विशुद्ध रूप न होगा। जैन धर्म मे तो प्राणी-मात्र का अस्तित्व, महत्व स्वीकारा है। जैन धर्म ने अहिंसा का इतना सकुचित अर्थ नहीं लिया जितना लोक मे समझा जाता है। इसका व्यापार भीतर और बाहर दोनो है। बाहर से किसी भी छोटे वडे जीव को अपने मन, वचन, काय से किसी प्रकार की भी हानि या पीडा न पहुचाना तथा उसका दिल न दुखाना अहिंसा है और अन्त-रंग मे रागद्वेष परिणामो से निवृत होकर साम्य भाव मे स्थित होना अहिंसा है।

वास्तव मे अन्तरंग मे आशिक साम्यता आये विना अहिंसा सम्भव नही। इस प्रकार इसके अतिव्यापक रूप मे सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य सभी सद्गुण आ जाते हैं। इसलिए अहिंसा को "परम-धर्म" कहा गया गया है। जलथल आदि मे सर्वत्र ही क्षुद्र जीवो का सद्भाव होने के कारण यद्यपि बाह्य मे पूर्ण अहिंसा पालन असम्भव है। किन्तु यदि अन्तरग मे साम्यता और वाह्य मे पूरा-पूरा यत्नाचार रखने मे प्रमाद न किया जावे तो वाध्य जीवो के मरने पर भी अहिंसा ही रहेगी। जैन काव्य मे सर्वत्र ही सभी जैन कवियो ने अपनी रचनाओ मे अहिंसा का महत्व प्रतिपादित किया है—

"सब धर्मों मे श्रेष्ठ है, परम अहिंसा धर्म।
हिंसा के पीछे लगे, पाप भरे सब कर्म।।"

अनेकान्त विचारो को प्रकाशमान बनाता है। आचरण की अहिंसा से पूर्व विचार के क्षेत्र मे अनेकान्त का होना आवश्यक है। जो वस्तु एक दृष्टि से अनित्य प्रतीत होती है वह किसी अन्य दृष्टि से अनित्य प्रतीत हो सकतीहै। कोई विरोधी वस्तु अपेक्षा की दृष्टि से अविरोध भी वन सकती है। एक वस्तु मे वस्तुत्व को उपजाने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियो का प्रकाशित होना अनेकान्त एक दृष्टि है और इस दृष्टि को जिस भाषा पद्धति द्वारा अभिव्यक्ति मिलती है वही स्याद्वाद है। भारतीय दर्शनो मे अनेकान्तवाद जैन दर्शन की एक अपूर्व देन है। इसके द्वारा सामाजिक, पारवारिक, राजनीतिक, धार्मिक सभी विवादो को दूर किया जा सकता है। सभी जैन कवियो ने अनेकान्त दृष्टि का निरूपण किया है। निम्न लिखित दोहे मे इस भाव की पूर्ण रूप से पुष्टि मिलती है यथा—

"याही भाति प्ररूपता सिद्ध दशा के माह।
उत्पत व्यय ध्रुव, सधत है अनेकान्त की छाह।।

"जाके विवाद नाशिवे को जिन आगम है।
जामे स्याद्वाद नाम लक्षण सुहाए है।।"

अहिंसा और अपरिग्रह जैन धर्म का आधार है। आज के भौतिक युग मे इनकी वडी आवश्य-कता है। अहिंसा, प्रेम, बधुत्व का भाव ग्रहण कराती है और अपरिग्रह अनासक्ति की ओर ले जाती है। समाज की विषम समस्याओ को अहिंसा और अपरिग्रह से ही सुलझाया जा सकता है। जीवात्मा ससारिक वस्तुओ के प्रति जितना अना-सक्त होता है उतना अपरिग्रह के निकट पहुचता हैं जो उसके मुक्ति का द्वार खोलता है। आज जीवन मे जो खीचा तान पडी हुई है वह इसी कारण है कि व्यक्ति भौतिकवादी हो गया है और आवश्यकता से अधिक वस्तुओ मे उसकी आसक्ति है। ऐसी जटिल परिस्थितियो मे जैन दर्शन को महत्वपूर्ण तत्व अप-रिग्रह की महती आवश्यकता है। हमारे कवि मनी-षियो ने इस समस्या का अनुभव किया और अपनी भाव-लहरी द्वारा इस महत्ता का प्रतिपादन किया। जैन काव्य मे उनके ये भाव मोती की भाति झिल-मिलाते दृष्टिगोचर होते हैं—

"भोग सजोग, संग्रह मोह
विलास करे जहा ऐसे ।
पूछत शिष्य आचारज को यह
सम्यकवंत निराश्रव कैसे ।।"



सात पैड चल हरि को दीने,
नन्दनवन कल्याणक कीन्हे ।
लुंच केश प्रभु परिग्रह छोरे,
भक्त नृपति हु दीक्षा धारै ।।"

हिंसा अनृत तसकरी अब्रह्म परिग्रह पाप ।
दस अलव सब त्यागिवो धर्म दोय विधि थाप ।।"

जैन धर्म आचार-प्रधान है । अहिंसा तथा सदाचार को बडा महत्व दिया गया है । जैन मुनि छोटे से छोटा पाप कर्म भी महान अपराध बतलाते है । इस दृष्टि से अचौर्य का विशेष महत्व है । स्वेच्छा से न दी गई वस्तु के प्रति अग्रहण भाव होना चाहिए । यदि ऐसा नही तो उक्त दोष का प्रायश्चित अनेक जन्मो मे करना पडता है। इस प्रकार कर्म-विपाक ही पुर्नजन्म का एक मात्र कारण है । जैन दर्शन की मान्यता है कि जीव इस संसार मे कर्म मे प्रेरित हो चार कषाय, क्रोध, मान, माया लोभ में आसक्त एव मिथ्या संयम के वशीभूत होकर अनेक जन्म धारण करके ससार मे विचरता है । ये वासना रूप होते हैं व्यक्त रूप नही । जहा पर पदार्थों के प्रति 'स्व' 'पर' की वासना जीव मे पाई जाती है वहा पर अनन्तानुबन्धी कषाय है क्योकि वह जीव का अनन्त ससार से बन्ध कराती है ।

"चेतन परिणाम सो कर्म जिते बाधियत ।
ताको नाव भाव बन्ध ऐसो भेद कहिए ।।"

फिर जीव को मुक्ति कहां ?" त्रेपन क्रियाकोश मे श्रावक की त्रेपन क्रियायो का बडा सुन्दर निरूपण किया गया है ताकि जीव वैसा ही आचार विचार कर अशुभ कर्मों के बन्ध से मुक्त हो सके । इन चारो कषायो की जैन कवियो ने खूब भर्त्सना की है—

"क्रोध मान माया लोभ,
चारो मिलकर किया क्षोभ ।"

जैनागम मे पंचास्ति काय का निजी महत्व है । जीव, अजीव पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश, काल ये छः द्रव्य स्वीकार किए गए हैं । इनमे काल द्रव्य कायवान नही है । जीव चेतन अथा अजीव अचेतन पुद्गल का आकार है । इसलिए वह मूर्त रूप है शेष अमूर्त है । जीव आत्मा का ही स्वरूप है जो अनन्त दर्शन आदि गुणो से सम्पन्न है ।

"यह परमातम यह मम आतम,
भेद बुद्धि न रहाय रे ।"

पुद्गल परमाणुओ का पुंजीभूत है जिसकी प्रकृति बदल जाती है जिसके परिणामस्वरूप वह विभिन्न प्रकार के शरीर धारण कर ससार मे भ्रमण करता है—

"मूल अनादि थकी जग भटकत
लै पुद्गल जामा ।"

जीव और पुद्गल चिरकाल से साथ साथ है । पुद्गल द्वारा ही जीव का बंध होता है । मिथ्या दर्शन, ज्ञान तदनुसार आचरण कर जीवात्मा सत्पथ से भटक जाता है ।

"जीव पुद्गल मे विराजे दोउ परजाय ।
विभाव तथा सुभाव जीव जैसो लहै है ।।"

जैन दर्शन मे आठ प्रकार के कर्म बताए हैं यथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, भोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम एव गोत्र । इनमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, भोहनीय, अन्तराय कर्म जीव का घात

करने के कारण घाति कर्म कहलाते हैं। वेदनीय आयु, नाम, गोत्र द्वारा कर्मों का नाश सम्भव नहीं है। अत इन्हे अघाति कर्म कहते हैं। जैन काव्यो मे घातिया तथा अघातिया कर्मों की भलीभाति अभिव्यक्ति मिलती है।—

"जो चउ घातिया कर्म महामल,
घोई अनन्त चतुष्टय पाई।
धर्म दुधातम के करता प्रभु
तीरथ रूप त्रिलोक के राई॥"

\+ + +

"देश घाति की छब्बीस, बाकी एक सौ
अघाती।
तीनो घाती कर्म घात, आप शुद्ध जानिए॥"

ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान विकास मे बाधक बनते है। जीवात्मा अशुद्ध कर्म का क्षय तथा ज्ञान का प्रकाश अपने जीवन मे पाना चाहता है। जैन कवियो ने सम्यग्ज्ञान का महत्त्व इन शब्दो मे दिया है—

'ज्ञान दरश, चारित्र, तप वीरज परम
पुनीत।
ये ही पापाचार मे विचरहि श्रमण
सभीत॥"

\+ + +

"पच भेद जाके प्रगट, ज्ञेय प्रकाशन भान।
मोह तपन हर चन्द्रमा सोई सम्यक् ज्ञान॥"

दर्शनावरणी कर्म आत्मा के दर्शन गुण मे बाधक होते हैं। आत्मा के स यरूप के दर्शन जीव इस कर्म के प्रभाव मे नही कर पाता। जैन आम्नाय मे सम्यक् दर्शन को प्रधानता दी गई है। सम्यक् दर्शन करके ही जीवात्मा सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकता है और जब तत्निर्देश नियमो का आचरण करता है तभी सम्यक् ज्ञान अपने मे मुखरित होता है। इन तीनो के सम्मिलित रूप को जैन दर्शन मे 'रत्नत्रय' कहा गया है। रत्नत्रय मोक्ष मार्ग का प्रथम सोपान है। जैन काव्य मे रत्नत्रय का प्रतिपादन इस प्रकार मिलता है।

"रत्नत्रय की प्रापति लीन्हे,
दुर्लभ, सफल मनुज सब कीन्हे।"

\+ + +

"सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान,
सम्यग्चारित्र परम महान।

\+ + +

चहुगति फणि विष हरण मणि,
दुख पावक जलधार।
शिव सुख सुधा सरोवरी
सम्यक्त्रयीनिहार॥"

कर्म बन्धन तथा अनेक कारणो का अभाव होकर परिपूर्ण आत्मिक विकास ही निर्वाण है निर्वाण साधन मे निम्न तत्त्वो का समागम होता है—

'जीव, आश्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष'

कर्म पुद्गल की जीव द्रव्य के सयुक्त होने की अवस्था आश्रव कहलाती है। जीव के द्वारा प्रतिक्षण मन से, वचन से काम से. जो कुछ अशुभ या शुभ प्रवृत्ति होती है वही जीव का आश्रव है। सर्व साधारण जनो को कषायवश होने के कारण ये आश्रव आगामी ब्रन्ध का कारण बनता है। हिंसा, चौर्य, असत्य, परिग्रह कुशील ये आश्रव के पाच द्वार हैं।

आश्रव के कारण जीव का बन्ध होता है। जब जीव अपने अनन्त अनादि जैसे स्वाभाविक गुणो के स्मरण द्वारा कर्म बन्धन से मुक्त होने की चेष्टा करता है। तभी कर्म के आश्रव मे बाधा पडती है।

"कर्मन के आश्रव निरोधिवे के भाव भए।
तेहि परिणाम भाव सवर कहीजिए।।"

आश्रव का निरोध ही संवर है। सवर आश्रव के द्वार बन्द कर देता है नवीन कर्मो का आगम रुक जाता है। सवर के आश्रम मे गुप्ति, समिति अनुप्रेक्षा, परीषह, व्रत, चारित्र आते है। इनके पुंजीभूत रूप संवर है जिसके द्वारा आत्मा पुद्गल से अपनी रक्षा करता है। सवर के द्वारा नवीन कर्मों का आस्रव रुकता है तथा सचित कर्मो का क्षय होता है। कर्मों का क्षय होना ही निर्जरा है। निर्जरा की प्राप्ति तप, सयम से होती है। तप निर्जरा से जीवात्मा निर्मल हो जाती है और अपनी साधना द्वारा मोक्ष को प्राप्त करती है जो चिर-सत्य है और जिसे प्राप्त करने को मानव चिरकाल से प्रयत्नशील है।



मुनि श्रमण

सच्चा श्रमण वही है जिसका
नहीं किसी से द्वेष हो।
सारे जीव जिसे प्यारे हो।
समदर्शी परिवेश हो।।

—अर्हत्

Place of Jaina Acaryas and Poets in the history of Kannada Language, Literature and Culture

Dr. A. N Upadhye, Kolhapur

I have been, in my own humble way, associated with the Bharatiya Jnanapitha ever since its inception, a quarter of a century ago. when it was suggested that I should say a few words on the contributions of Jaina Poets and Aearyas to the enrichment of Kannada Language, literature and Culture I thought it was indeed my duty to do so Sahu Jain Charitable Society has established a Chair of Jainology in the University of Mysore, and there could be no better occasion than this to make an honourable mention of these contri-butions in general

History exists only for those who care to know it Any society which is unmindful of the achievements of its ancestors may be in danger of losing its individuality in the dismal abyss of time, and a creditable future cannot be built up except on the foundations of the past and without worthy efforts in the present Karnatak has its own past, and its future could not be anything but promising It is on the whole a territory of rich black soil, as its very name indicates, watered by rivers like the Krishna and the Kaveri it is but natural that it proved a fertile bed for the growth of prosperous Kingdoms and great cultural centres Jaina saints have been associted with this area right fron the days of Chandragupta Maurya who, as tradition tells us, abandoned his Kingdon and accompained Bhadrabahu to Kalbappu, the present site of Shravan Belgol

Wherever the Jaina saints went, they used the language of the local people and enriched it for effective expression For them language has been only a means to an end They never invested any language with sentimental importance, much less did they cultivate in isolation They wanted people to learn lessons in good behaviour for so-

cial stability, and they expected their energy in building up such literature as would inculcate ethical standards and moral values in the society.

Lord Mahavira was the first one to preach in the popular dialect of Magadha, and Buddha too adopted the same method. This example is followed by great men who had the interest of the common man uppermost in their minds Asoka and Kharavel recorded their inscriptions in Prakrit; and through our history, our Teachers, who wanted to good to the masses, always preferred the popular languanges we have glaring examples of Basavesvara, Jnanesvara, Tulasidasa, Vidyapati and others.

The example of Mahavira has been followed by subseqent Jaina teachers and authors, and they have enriched the language of the locality wherever they lived. This is true of Tamilnadu, Karnatak, Rajasthan, Gujarat and other parts of India.

The earliest known prose works in Kannada, the Vaddaradhane and Cavumdarayaurna (978 A. D.), are by Jaina authors. The former (to be assigned to c. 900) is a remarkable piece of literature both from the points of view of language and contents. The classical style developed in Kannada Kavyas we owe to three great Jaina poets, commonly known as ratna-traya, viz., Pampa (942 A. D.), Ponna (950 A. D.) and Ranna (993 A. D.). They were well acquainted with classical Sanskrit models. They cultivated Kannada language so effectively that in their expression is seen a classical perfection, a matter of envy among the contemporaries. They were not working in isolation but were just expressing the spirit of the golden age that was inaugurated during the Rashtrakuta period, in which Virasena and Jinasena (837 A D.) wrote their great commenteries, Dhavala, Jayadhavla and Mahadhavala, remarkable achievements in the history of Indian literature. what they did for Jaina Siddhanta in the Rashtrakuta kingdom, Sayanacarya subsequently achieved for the Vedas under the great Vijayanagar rule. The efforts of Jaina authors inenriching kannada language went side by side with what some of them were doing in Sanskrit and Prakrit. The kavirajamarga (850 A. D.) attributed to the Rashtrakuta king Nrpatuiga clearly show that rich Kannada literature was already available in his times In addition to there three great poets mentioned above, authors like Nagacandra (c. 1100 A. D.), Nayasena (1112 A. D.), Aggala (1189 A. D.) and others developed a catching style, and they were imitated by subseuent poets. Andayya's (c. 1235 A. D.) style and vocabulary strike a new note

in the development of Kannada, and its full linguistic implications are a matter of investigation In fact, he can be looked upon as one of the earliest of the purists.

Bhattakalanka (1604 A. D.) once raised a question whether Kannada could be considered dignified enough to be used for the Sastras and right answered it by pointing out to greet Kannada works of the past. Nemicandra, a contemporary of Camundaraya (978 A. D), wrote Gommatasara and other works in Prakrit, and Kesavavarni (1359 A. D) composed learned comm entaries on them in Kannada. It is an event in literary history that one Nemicandra, resident of Chittor (in Rajasthan came to Karntak, studied these Kannada commentaries under Visalakirti during the reign of Saluva Malliraya (beginning of 16th century A D), and rendered them into Sanskrit. It is this commentary and its Hindi translation by Pt. Todaramallaji of Jaipur that are studied even today, At present we are only talking of culturai integration, but our ancestors Just practised it as a part of their dignified intellectual living. It is no exaggeration to say that Kannada would not have developed it as rich vocabulary and chaste style but for the pioneer efforts of Jaina poets and authors.

The literary aptituds of Jaina authors were broad-based and covered subjects even outside their religion They could thus receive approbation of the intellectuals of their times. Apart from the Kavyas, the Jaina authors like Kesiraja (1260 A. D.) and Bhattakalanka (1604 A. D) wrote on grammar, Nagavarma (c. 990 A D.) on metrics, Rajaditya (c 1190 A. D.) on methematics and Manaraja (1380 A. D.) on medicine Eminent logicians like Akalanka, Vidyananda and Vadiraja who have to their credit Jaina Nyaya works in Sanskrit belong to this very area. Karnatak is rich in inscriptions as one can easily see from the volumes of the Epigraphia Carnatica. The number of these in Srvana Belgol is very large, and some of them are fine specimens of literature. The great poet Ranna has left his autograph Kavi Ratna on aboulder in Belgol, If this Ranna was the poet of the princes, Ratnakera (1530 A. D.) was the poet of people. Ratnakara's verses are sung by boys and girls in South Kanara; old ladies recite them on the grinding wheel, and elderly people make them a part of their daily study. Ratnakaras Bharatesa Vaibhava is a poetic prism in which manifold aspects of life duly reflected.

A fertile territory is often characterised by stable kingdoms which in turn

give rise to a number of cultural activities Though sudraka has dig at the Karnatak quarrel, the people of Karnatak have been, generally speaking, quite hospitable and peace-loving The Jain saint by his detachment and pious life has won respect from the entire society Acarya Simhanandi blessed the Ganga King Madhava, and what he has preached to him constitutes eternal moral guidance for any society. That famous verse runs thus :

नुडिदुद नारो ऊं नुडिदु तप्पिदोडं जिनशासन क्कोड
बडदोड मन्य नारि गेरेददद्दोड मधुमास सेवेगे
य्दोऽम कुली नरप्प वर कोट कोडेयदौ डम थिगर्थम
कुड दोड माह वागण दोलो डिदोड किडुगुं
कुलव्रत ।।

This passage can be freely rendered thus If you fail to keep your promise, if you reject the Jaina ethos, if you desire others' wife, if you eat flesh or drink, if you breed familiarity with the unworthy, if you refuse help to the needy, if ‹u desist the battle-field, you will-bring disgrace to your family.

Jinasena was respected by Amoghavarsha, and Ajitasena was revered by Camundaraya. A forlorn author from the North like Puspadanta (965 A.D.) came to Manyakheta (mod. Malakhed), the then capital of the Rashtrakutas, enjoyed patronage there and wrote his monumental works in Apabhramsa. This is a typical example of how the Karnatak rulers extended patronage to poetic talents wherever they were found. Jaina saints preached fourfold dana or gifts: ahara (food), abhaya (shelter), ausadha (medicine) and sastra (Knowledge), and these bestowed tremendous benefit on society In fact this is one of the important aspects of Jainism as its emphasis on social service, and this made it easily acceptable to any pecple The parctice of this religion was not merely a formality or social conformity, but it went deeper The Ganga ruler Marsimha (974 A. D) and the Rashtrakuta king Indra IV (982 A.D) relinquished their soveriegnty and practised the Jaina vow of Sellekhana on the eve of their life. the former died at Bank apur and the latter at Sravana Belgol. Temples of Jaina were built everywhere, and many of them are remarkable for their exquisite beauty and architectural skill It is from here that Gujarat took inspiration, and what was cut in black stone in Karnatak came to be chiselled in marble in Gujarat, Great rulars, generals, merchanis and eminent ladies had a warm sympathy for Jaina institutions. The monolithic image of Gommatesveara at Sravana Belgolgot carved by Gamundaray, who combined in himself an author in Kannda and Sanakrit and a general with great military feats to his credit, is a national monnment of universal interest Gommatesvara is standing on the peak of a hill facing the North. His benign fact with subdued smile quietly conveys the message that fraternal feuds cannot be-settled on the battle field. The freestanding pillars (manastambha) in front

of the Jaina temles, especialy in Karnataka, are a specimen of fine art. The collections of Mss in some of the Jaina Mathas and temples are part of our natinol wealth who does not know the name of that great lady, Attimabbe, the daughter of general Mallappa, under the western Chalukya ruler Tailapa (997 A.D) She wos a great lady of ideal piety. She was so pure and noble that a poet had compared her with the Ganges and a heap of snow-white cotton. She got prepared 1000 copies of Ponna's Santipurana and distributed them all over the country. Perhaps, Smt Ramaji here is emulating the great example of Attimabbe, and the Bharatiya Jnanapitha under her presidenntship is printing 1000 coipes of rara works The Jaina have thus contributed a great deal to the culture of Karnatak as much as they have done to some other part our country

I must also mention that Jains and their institutions have suffered a good bit in the socio-poltical upheavals in the history of the South, but the historians have recognised it to their credit that even when they enjoyed political patronage or weilded political power, there was not a single instance of religious persecution in the annals of Jaina history. Like the true sons of the soil they have been constantly loyal to their land, fostering meximum amity and tolerance with all those with whom they were destined to live A poet rightly speaks of the beautif Karnatak which has been the veritable home of Jainism

जिनधर्मावासमादन्त मल विनय-
दागार मादन्तु पद्मा-
सन निर्यासद्मादन्त तिवि
शदयशोधाम मादन्त विद्या-
धन जन्म स्थान मादन्त समतरल
गम्भीर सदेहमाद-
त्तं निय सत्कि तुल्ल नाना महिमे
योले सेगु चारू कर्णाटदेश ।

To render it freely, this charming Karnatak, the abode of Jainism, the h of pure modesty, is the favourite haunt of the Brhman This land shines in its many spelndoured glory, it is the fountainhead of all (the wealth of) Knowledge and it preserves its own solemn dignity

---

* This lecture was deliverd by Dr. A. N. Upadhye in Delhi.

४६

हरिवंश-कार जिनसेन की गुरु-परम्परा

□प्रेमचन्द जैन

आचार्य जिनसेन ने अनेक परम्पराओ का उल्लेख किया है। भार्गव ऋषि की शिष्य परम्परा के सम्बन्ध मे बताया गया है कि भार्गव का प्रथम शिष्य आत्रेय था उसका शिष्य कोथुमि-पुत्र, कौथुमि का अमरावर्त, अमरावर्त का सित, सित का वामदेव, वामदेव का कपिसूल, कपिसूल का जगत्स्यामा, जगत्स्थामा का सखट, सखट का शरासन, शरासन का रावण और रावण का विद्रावण और विद्रावण का पुत्र द्रोणाचार्य था। यह परम्परा इस रूप अन्यत्र देखने को नही मिलती।

हरिवश पुराण के ६६ वें सर्ग मे महावीर भगवान से लेकर लोहाचार्य तक की आचार्य परम्परा दी गई है। वहा बताया गया है कि भगवान महावीर के निर्वाण के वाद ६२ वर्ष मे क्रम से गौतम, सुधर्म और जम्बूस्वामी ये तीन केवली हुए। उनके वाद सौ वर्ष मे समस्त पूर्वो को जानने वाले नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाच श्रुत केवली हुए। उसके वाद १८३ वर्ष मे विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ग्यारह मुनि १० पूर्व के धारक हुए। तदनन्तर २२० वर्ष मे नक्षत्र, जयमाल, पाण्डु ध्रुवसेन और कमार्य ये पाच मुनि ग्यारह अंग के धारी हुए। उनके वाद ११८ वर्ष मे सुभद्रगुरु, जयभद्र, यशोवाहु और महापूज्य लोहार्य गुरु ये चार मुनि प्रसिद्ध आचाराग के धारी हुए।

इनके वाद महातपस्वी विनयधर, गुप्त श्रुति, गुप्तऋषि, मुनीश्वर, शिवगुप्त, अर्हद्वलि, मन्दरार्य मित्रवीरवि, बलदेव, मित्रक वढते हुए पुण्य से सहित रत्नत्रय के धारक एव ज्ञान लक्ष्मी से युक्त सिंहवल, वीरवित, गुणरूपी कमलो के समूह को धारण करने वाले पद्मसेन, गुणो मे श्रेष्ठ व्याघ्रहस्त, नागहस्ती, जितदण्ड, नन्दिषेण, स्वामी दीपसेन, तपोधन, श्रीधरसेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिषेण, ईश्वर सेन, सुनन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन जिनसेन और शांतिसेन आचार्य हुए।

इनके वाद जो अखण्ड मर्यादा के धारक होकर परिपूर्ण षट्खण्डो (१–जीवस्थान, २–क्षुद्रबन्ध–३ बन्धस्वामी, ४–वेदनाखण्ड, ५–वर्गणाखण्ड और ६–महाबन्ध) से युक्त समस्त सिद्धान्त को अर्थ रूप से धारण करते थे अर्थात् षट्खंडो के ज्ञाता थे, कर्म प्रकृति रूप श्रुति के धारक थे और इन्द्रियो की वृत्ति को जीतने वाले थे, ऐसे जयसेन नामक गुरु हुए। उनके शिष्य अमितसेन गुरु हुए जो प्रसिद्ध वैयाकरण, प्रभावशाली और समस्त सिद्धान्त रूपी सागर के पारगामी थे। ये पवित्र पुन्नाट गण के

अग्रणी-अग्रेसर आचार्य थे । जिनेन्द्र शासन के स्नेही, परम तपस्वी, सौ वर्ष की आयु के धारक एव दाताओ मे मुख्य इन अमितसेन ने शास्त्र दान के द्वारा पृथ्वी पर अपनी वदान्यता–दानशीलता प्रकट की थी । इन्ही अमितसेन के अग्रज धर्मबन्धु कीर्तिषेण नामक मुनि थे जो बहुत ही शान्त थे पूर्ण बुद्धिमान थे, शरीरधारी धर्म के समान जान पडते थे और जो अपनी तपोमयी कीर्ति को समस्त दिशाओ मे प्रसारित कर रहे थे उनके प्रथम शिष्य आचार्य जिनसेन हुए जो इस महान् ग्रन्थ के रचयिता हैं ।

उपर्युक्त वर्णित आचार्यो मे से प्रारम्भ के चार तो वही मालूम होते है जिन्हे इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार मे अगपूर्ण के एक दश को धारण करने वाले आरातीय मुनि कहा है और जिनके नाम विनयधर, श्रीधर, शिवदत्त और अर्हदत्त है । विनयन्धर और विनयधर मे तो कोइ फर्क नही है । शिवदत्त और शिवगुप्त भी एक हो सकते है । प्राकृत रूप 'गुप्त' भ्रमवश दत्त भी हो सकता है । बीच के दो नाम शकास्पद है । ,महातपोभृद् विनयधर श्रुतामृषिश्रूति गुप्तपदादिकां दधत्' इस चरण का ठीक अर्थ नही बैठता, [२] शायद कुछ अशुद्ध है । श्रुतिगुप्त और ऋषिगुप्त की जगह गुप्तऋषि और गुप्तश्रुति नाम भी शायद हो । यहा यह भी खयाल रखना चाहिए कि अक्सर एक ही मुनि के दो नाम भी होते हैं जैसे कि लोहार्य का दूसरा नाम सुधर्मा भी है ।

इसमे शिवगुप्त का दूसरा नाम अर्हद्वलि है और ग्रन्थान्तरो मे शायद इन्ही अर्हद्वलि को सघो का प्रारम्भ कर्ता बताया है अर्थात् इनके बाद ही मुनिसंघ जुदा–जुदा नामो से अभिहित होने लगे ।

वीर निर्वाण की वर्तमान कालगणना के अनुसार वि सवत् २१३ तक लोहार्य का अस्तित्व समय है और उसके बाद जिनसेन का समय वि. सवत् ८४० हैं । अर्थात् दोनो के बीच मे यह जो ६२७ वर्ष का अन्तर है जिनसेन ने उसी बीच के उपर्युक्त २६–३० आचार्य बतलाये हैं। यदि प्रत्येक आचार्य का समय इक्कीस बाईस वर्ष गिना जाये तो अन्तर लगभग ठीक बैठ जाता है ।

वीर निर्वाण से लोहार्य तक अट्ठाईस आचार्य बतलाये गये हैं और उन सबका सयुक्त काल ६८३ वर्ष अर्थात् प्रत्येक आचार्य की औसत २४ वर्ष के लगभग पडती है और इस तरह दोनो कालो की औसत भी लगभग समान बैठ जाती है ।

इस उपर्युक्त विवरण से हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि वीर निर्वाण के बाद से विक्रम सवत् ८४० तक की एक अविच्छिन्न–अखण्ड गुरु परम्परा इस ग्रन्थ मे सुरक्षित है, जो किसी अन्य ग्रन्थ मे नही देखी गई और इस दृष्टि से ग्रन्थ बहुत ही महत्व का है ।

१. देखिये–जैम हरिवंश पुराण–४५-४५-४७

२ इस चरण का अर्थ प गजाधरलाल शास्त्री ने 'नयधर ऋषि, गुप्तऋषि' इतना ही किया है और पुराने वचनिकाकार प दौलतराम जी ने 'नयन्धर ऋषि श्रूति ऋषि गुप्ति' किया है ।

